ॐ

पंचदशी

सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर हिमालय तक ख्याति पाया हुआ
अद्वैत वेदान्त का सर्वमान्य ग्रन्थ

मूललेखक—
परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविद्यारण्यमुनि

भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार
पं० रामावतार विद्याभास्कर

प्रणाम

हे अच्युत ! हे अनन्त ! आपको मेरा अनन्त वार प्रणाम हो। अब तो मेरी एकमात्र यही अभिलाषा रह गयी है कि आप को प्रणाम करना मेरे स्वभाव में प्रविष्ट हो जाय। मेरे सम्पूर्ण कर्म आप के लिये किये गये प्रणामों के रूप हो जांय। दिन रात के मेरे इक्कीस हज़ार छ सौ श्वास आप को किये गये प्रणामों का रूप धारण करलें। मेरे नेत्रों के निमेषोन्मेष आपके प्रणामों की माला बन जांय। मेरे मन के संकल्प विकल्पों पर आप को प्रणाम करने की ही एकमात्र धुन सवार हो जाय। मेरी नाडियों के स्पन्दन की गुंजार में आप को ही प्रणाम करने की रट सुनाई पड़ने लग जाय। कहां तक कहता जाऊं? यह सभी जगत् आप को प्रणाम करता हुआ स्पष्ट दीखने लग पड़े। ऐसा यदि हो जाय तो हे अच्युत ! हे अनन्त ! मेरे जीवन की पहेली ही हल हो जाय। मेरे जीवन की यह पहेली जिस दिन हल हो चुकेगी—जीवन को सर्वव्यापक अनुभव करना जिस दिन मुझे आ जायगा—सर्वव्यापक जीवन को शरीरमात्र में बन्दी बनाये रखने वाली 'मैं' की रूई को जिस दिन मुझे ज्ञान की आग में सुलगा कर राख बना देना आ जायगा— उस दिन 'मैं' आप अनन्त के अनन्तत्व में प्रवेश करने का दिव्य अधिकार पाकर अपने आप को 'मैं' कहने के झूठे अधिकार से सदा के लिए वंचित हो कर धन्य हो जाऊँगा। ओह ! ऐसा शुभ दिन कब आएगा? हे अच्युत ! हे अनन्त ! अब तो मैं उसी दिन को देख लेने की आशा से ही अपने इस जीवनरथ को आगे चलाना चाहता हूँ।

हे अच्युत ! हे अनन्त ! अपने ही ऊपर दाव लेकर दब मरने वाले अनाड़ी पहलवान की तरह, अपनी जीवनसमस्या को सुलझाने के लिए ही किए गए अपने ही प्रयत्नों से,बीते हुए अनन्त जन्मों में,मैंने इस अपनी जीवनसमस्या को उलझाया ही उलझाया है। मैंने अपने प्रत्येक उद्योग से इस जीवनसमस्या को शरीर और उसके उपकरणों में अनन्त गाँठ लगा लगा कर बांधा है। मैंने सर्वव्यापक सर्वभूतसाधारण जीवनरस को केवल शरीर के द्वारा ही अपने पास फटकने दिया है और इसी काम में अपना सम्पूर्ण बुद्धिवैभव व्यय किया है। मैंने अपने सर्वव्यापक तथा घट-घटवासी जीवनतत्व को सर्वव्यापक रूप में अनुभव न कर सकने के प्रत्येक संभव उद्योग किए हैं। संक्षेप में कहें तो अपने सर्वव्यापक सर्वभूत-गुहाशय जीवनतत्व को शरीरमात्र में ही संकुचित करके रखने में मैंने कोई भी कसर अपनी ओर से उठा नहीं रक्खी है। आप जगदात्मा के अनन्त-पने के साथ विद्रोह करने में ही मैं अब तक अपनी सम्पूर्ण शक्ति और सम्पूर्ण उत्साह को व्यय करता रहा हूँ और इसी निर्दय कर्म से मैं अपने को धन्य भी मानता रहा हूँ। परन्तु सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में जो कि सत्यान्वेषण का एक अखंड परन्तु अज्ञात आग्रह रहा करता है—जो कि प्राणी से पहली अवस्था और वस्तु को छुड़ा छुड़ा कर दूसरी अवस्था और दूसरी दूसरी वस्तुओं को सदा ही ग्रहण कराता जाता है—जब तक सत्य की प्राप्ति नहीं हो चुकती तब तक जो इस प्रकार के प्रयत्नों को कभी भी विश्राम लेने नहीं देता है—उसी मेरे अज्ञात आग्रह ने मुझे भी मेरे इस संकुचितपने के विरुद्ध—जीवनरस को शरीरमात्र में संकुचित मान रखने के विरुद्ध—विद्रोह करने पर विवश कर डाला है। जीवनतत्व को शरीरमात्र में संकुचित मान लेने से तीनों प्रकार के तापों के जो अनगिनत आक्रमण मुझे सहने पड़े हैं, उन आक्रमणों ने जो जो मूक सूचनाएं मेरे हृदयपटल पर लिख डाली हैं, मेरी बहती हुई जीवनधारा के सामने

उन्होंने जो कि अनन्त बांध अनन्त वार बांध बांध कर मुझे भयचकित कर डाला है, उन से सुखी जीवन को ढूँढ लेने की जो एक बलवती अभिलाषा मेरे हृदय में जाग कर खड़ी हो गई है, उसी ने मेरा विवेक का हाथ पकड़ कर, आप अनन्त की ओर आने वाले मार्ग का यात्री बनने के लिए मुझे विवश कर दिया है। मेरे अनन्त जन्मों के अनुभवों ने अब मेरे लिए आप के सिवाय सभी मार्गों को बन्द कर डाला है। परन्तु हे अच्युत ! हे अनन्त ! प्रेम के जिस आकर्षण से आप अनन्त में सरपट दौड़ लगाई जाती है—आप अनन्त में सर्वात्मना समाया जाता है—आप अनन्त में ऐक्यभाव से घुला जाता है—मुझे शक्ति और वर दीजिए कि मेरे सांख्य-योग नाम के लड़खड़ाते हुए पैरों में वह प्रेमबल आए और मैं मेरी अनन्तता को लूट लेने वालों के समूह में से दौड़ लगाकर बाहर आजाऊँ और आप के समान ही अनन्तता का निर्विघ्न आनन्द ले सकूँ। ऐसा यदि आप समर्थ की कृपा से हो जाय तो मेरी जीवनपहेली का उत्तर मुझे मालूम हो जाय। फिर तो—धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः

प्राक्कथन

पंचदशी से हमारे प्रथम परिचय को आज लगभग इक्कीस वर्ष बीत चुके हैं। यह हमारा अहोभाग्य है कि परिचय कराने में मध्यस्थता का काम प्रातःस्मरणीय श्री अच्युत मुनि जी ने किया था। उसी वर्ष उनके मुख से इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ लेने का सुअवसर भी हाथ लग गया था। तब से अब तक इस पर बीसों बार मनन हुआ है। यह विशेषता रही है कि मनन की प्रत्येक आवृत्ति में अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों के समान यह ग्रन्थ भी गंभीर गंभीरतर और गंभीरतम ही होता चला जा रहा है। और आगे को होने की आशा भी है। ऐसा मालूम होता है कि जैसे हमारा एक तो यह स्थूल शरीर है, दूसरा सुपने में या विचाररत होने की अवस्था में काम आने वाला सूक्ष्म शरीर होता है, तीसरा इन दोनों को इनके बाह्य रूप देने वाला कारण शरीर होता है, ठीक इसी प्रकार प्रत्येक विचार के भी क्रम से स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर होते हैं। ज्यों ज्यों प्राणी का अनुभव बल बढ़ता जाता है,त्यों त्यों विचारों के अन्दर के शरीरों में प्रवेश करने का अधिकार उसे मिलता जाता है—विचारों के अन्तरात्मा के दर्शन उसे मिलने लगते हैं। यों साधारण रूप से किसी बात को सुन लेने पर उसका सार समझ में नहीं आता। अनुकूल परिस्थिति आजाने पर, जब उस बात के प्राण तक—उसके सार तक—दृष्टि जा पहुँचती है, तब वही साधारण सी बात विचारक के जीवन की बहुमूल्य सम्पत्ति बन जाती है। विचारों का जो कारण शरीर है, वही तो अनुभव है। जिन विचारों के पीछे अनुभव का बल नहीं होता, वे विचार निस्तेज, अकार्यकारी और प्रभावहीन रह जाते हैं। विचारों में प्रभावशालिता, तेजोयुक्तता और कार्यकारिता आने के लिए यह आवश्यक है कि उन की पीठ पर अनुभव का हाथ रक्खा हुआ हो। इसी बात को दूसरे शब्दों कहें तो कोरे ज्ञानतृप्त होने से काम नहीं चलता

आनन्द नहीं आता—आनन्द आने के लिए तो विज्ञानतृप्त होना, अनुभवसंपन्न होना अत्यन्त आवश्यक होता है। परन्तु ज्ञान का विज्ञान यों ही नहीं बन जाता। उसके लिए कुछ तपस्यायें करनी पड़ती हैं। उस ढंग का वातावरण बना कर रखना पड़ता है। अपनी चर्या को वैसा बनाना पड़ता है कि हमारा पसन्द किया हुआ विषय बेरोकटोक हो कर हमारे अनुभव का अभेद्य, अच्छेद्य, अत्याज्य और अविस्मरणीय अंग बन जाय। ऐसा न करने से उसी विषय को सम्पूर्ण आयुष्य भर स्वयं देखते तथा औरों को सुनाते रहने पर भी वह विषय हमारे जीवन का उपयोगी भाग नहीं बन पाता है। यह हमने अपने ही ऊपर कई बार देखा है और देख रहे हैं। ज्ञान का विज्ञान बनाने के लिए आवश्यक तपस्या जब की जाती है और जब वह तपस्या पूरी उतर जाती है—जब ज्ञान को अनुभव का बल मिलजाता है—यही तो वह अवसर होता है जब कि अनादि काल से स्वच्छन्द दिशा में बहती रहने वाली प्राणी की विचारनदी का प्रवाह अपने प्रवाह कोण को सदा के लिए बदल बैठता है—जीवन में अकल्पित परिवर्तन हो जाते हैं—मनुष्य कुछ का कुछ हो जाता है। ऐसे ही रहस्यमय विचारों को अपने अन्दर रखने वाले, अनुभव का साथ कभी भी न छोड़ने वाले, प्रत्युत उत्तरोत्तर गंभीर होते जाने वाले, ऐसे उत्तम ग्रन्थ के टीकाकार होने के लोभ से प्रेरित होकर ही हमने इसकी टीका करने का साहस किया है। इस टीका को लिखते समय मनन को ही अपना प्रधान लक्ष्य रक्खा है—सोचा है टीका लिखने से इसका पूरा पूरा मनन भी हो जायगा और यों हमारे विचारकोष में इन विचारों को एक विशेष स्थान भी प्राप्त हो जायगा। साथ ही जो विचार आगे पहुँचाने के लिये ऋषि ऋण नाम की धरोहर के रूप में हमें परम्परा से मिले हैं, यह टीका उनके संक्रमण का एक द्वार बन जायगी और इससे हम अंशतः ऋण-मुक्त भी होंगे।

यह तो हमें भली प्रकार मालूम है कि हमारी तपस्या में जिस अनुपात से त्रुटियें हैं उसी अनुपात से हमारे मनन में और इसी अनुपात से मनन के द्वारा इस टीका में भी उन त्रुटियों का रहना अनिवार्य तो है ही, फिर भी अपनी ओर से तो यह ध्यान रक्खा ही है कि अनुभवानुमोदित बातें ही टीका में रक्खी जांय। परन्तु अनुवाद में तो ऐसी बहुत सी बातें रह ही गयी हैं कि जिनको कोरा ज्ञान ही ज्ञान कहा जा सकता है। विज्ञान किंवा अनुभव नहीं कहा जा सकता। लगन जब होती है तब मनुष्य की अवस्था और परिस्थितियें स्वयमेव ज्ञान का विज्ञान बनाती जाती हैं। इसके सिवाय इनका और काम ही क्या है? कहना चाहिये कि यह संपूर्ण संसार ज्ञान का विज्ञान बनाने के लिये ही तो है। परन्तु सब ज्ञानों को अनुभवानुमोदित कराने में जितना लम्बा समय अपेक्षित है उतना लम्बा धैर्य न रख सकने के कारण शीघ्र ही इस टीका को प्रकाशनार्थ आना पड़ रहा है।

पूज्य श्री अच्युतमुनि जी के शब्दों में "यह ग्रन्थ वेदान्त का प्रारम्भिक ग्रन्थ भी है और सर्वमान्य होने से अन्तिम ग्रन्थ भी है। अद्वैत वेदान्त पर अद्वैत सिद्धि नाम का जो प्रसिद्ध ग्रन्थ है उसको समग्र पढ़ लेने पर भी उतना आनन्द नहीं आता जितना इसके एक एक श्लोक को पढ़ लेने से आ जाता है।" इसकी टीका को लिखते समय मूल ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार रामकृष्ण विद्वान् की टीका से हमने बहुत सहायता ली है।

इस ग्रन्थ की आवृत्ति करते समय जो जो सूक्ष्म विचार समझ में आये हैं, उनको या तो टीका ही में या फिर संक्षेपों में जहाँ तहाँ लिख ही डाला है। फिर भी हमारे समझे हुए सम्पूर्ण ग्रन्थ के तात्पर्य को थोड़े से थोड़े शब्दों वाले एक वाक्य में, यहां भूमिका के रूप में कह देना इस लिये आवश्यक प्रतीत होता है कि इससे पाठकों को इस ग्रन्थ को पढ़ने का दृष्टिकोण हाथ आ जायगा और इस बहाने भूमिका लिखने के सदाचार का पालन भी हो जायगा।

गंभीर विचार जिस समय तक नहीं किया जाता, तब तक तो ऐसा प्रतीत होता है कि संसार में ये जितने भी उद्योग किये जा रहे हैं, ये सब के सब जीवन को चालू रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि ये उद्योग चालू न रक्खे जायंगे तो जीवनतत्व की समाप्ति ही हो जायगी। क्योंकि जीवन को स्थिर बनाये रखने वाला जो कि आनन्द नाम का तत्व है, इन उद्योगों के बिना, उसके मिलने का दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं। हम प्राणियों के हृदय पर इसी एक अविचारित भावना ने अपना अखण्ड आधिपत्य जमा कर रक्खा है। परन्तु जो लोग धीरज धर कर इन्द्रियजन्य अनुभूतियों से ऊपर उठकर शुद्ध अनुभूति में पहुँच चुके हैं, जो लोग साहस करके पंचभूतमिश्रित अनुभूतियों की परिधि से बाहर निकल गये हैं, उनके कहने से तो मालूम होता है कि बात इससे सर्वथा विपरीत है। जीवनतत्व को शरीर मात्र में स मत मान लेना ही, और यों जीवनतत्व को सर्वथा न समझना ही, इस भावना का सबसे बड़ा दोष है। संसार के ये जितने भी अयज्ञिय उद्योग हैं ये तो सबके सब ही जीवन को शरीरमात्र में बन्दी बनाये रखने वाले हैं, और उसी बन्दी जीवन के कारण आनन्द के व्यापक साम्राज्य को भोगना छुड़ा कर, उसी आनन्द के सैकड़ों बाधाओं से आक्रान्त और क्षुद्र से भी क्षुद्र कणों को चाट चाट कर, जीवन के दिन जिस किसी भी प्रकार काट देने के लिये हैं। यह सब उद्योग तो जीवन का जो सच्चा आनन्द है उससे—अपने ही घातक प्रयत्नों से—वंचित रह जाने के लिए हैं। परन्तु असल बात तो यह है कि हमारा प्यारे से भी प्यारा यह जीवनतत्व हमारे ही इस पंचभौतिक शरीर में सीमित नहीं है। औरों के शरीर में भी सर्वथा हमारे ही जैसा, प्यारों से भी प्यारा, यह जीवनतत्व रह रहा है। इतना ही क्यों जहां कोई भी शरीर नहीं है, ऐसा जो खाली स्थान हमें दीख पड़ता है, वहाँ भी तो यह जीवनतत्व ठसाठस भरा पड़ा ही है। यह तत्व तो शिला की तरह ठोस है—इसमें दूसरे तत्व के समाने की गुंजाइश ही

नहीं है। सारे संसार में से खोज कर तिल भर स्थान भी तो ऐसा नहीं निकाला जा सकता, जहाँ कि यह जीवनतत्व भरा न पड़ा हो—जहाँ सत्य न हो, जहाँ ज्ञान न हो, या जहाँ आनन्द न हो ऐसा कोई स्थान है ही नहीं। ऐसे स्थान का होना संभव है ही नहीं। सम्पूर्ण स्थान इसी भास्वान् ज्ञान-रूप जीवनतत्व से लिपटे पड़े हैं और इसीकी ज्ञानमयी गोद में बैठ जाने के कारण ही तो प्रकाशित हो रहे हैं। यह जीवनतत्व तो संसार भर में परिपूर्ण हो रहा है। कहना तो यों चाहिये कि सम्पूर्ण संसार पारावाररहित इसी जीवनतत्व के एक क्षुद्र अज्ञात कोण में रह रहा है। यह लम्बा चौड़ा संसार इसी देदीप्यमान जीवनतत्व का एक क्षुद्र बुद्बुद है। प्राणियों की ओर से जितने भी अयाज्ञिय उद्योग किये जा रहे हैं ये सब के सब तो इस जीवनतत्व की व्यापकता को भुला डालने के लिये हैं और उसको अपने ही शरीर में बन्दी बना डालने के लिये हैं तथा इसके परिणामस्वरूप अनन्त आधियों और व्याधियों को अपने में निमन्त्रण दे देने के लिये हैं। यह प्राणी जब तक अपने को उस व्यापक जीवन तत्व से पृथक् समझता रहेगा, तब तक दूसरों को भी उस व्यापक तत्व से पृथक् ही समझा करेगा। जब यह प्राणी जीवनतत्व को अपने ही शरीर में सीमित समझ लेता है, तब उसका दुष्परिणाम यह होता है कि वह दूसरों के जीवन से और परिणाम में तो अपने ही व्यापक जीवन से, प्रेमरहित वर्ताव बेखटके कर पड़ता है। फिर तो वह जो कुछ भी करता है, उसका कर्तव्याकर्तव्य, उसकी प्रवृत्ति निवृत्ति, उसका आचार आदि सभी कुछ शरीर के लाभालाभ पर निर्भर हो जाते हैं। यों इस विचार के परिणामस्वरूप प्राणी में आसुरी प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। संसार में जो बड़ी मार धाड़ जब तब होती रहती है वे ऐसे ही लोगों के कारण होती हैं। ऐसे लोग किसी भी वहम में फँस जाने पर फिर उल्टा सीधा कुछ भी नहीं देखते हैं; यह तो किसी भी प्रकार अपना काम बना लेना चाहते हैं भले ही उसके लिये दूसरों के कितने ही प्राणों और स्वार्थों

की आहुति दे देनी पड़ जाय। ये प्रलय तक के प्रबन्ध करते हैं, मानो यहां से कभी जाना ही नहीं है। ये अगले संसार के अस्तित्व को निर्भीकता से निषेध करते हैं। सैंकड़ों आशाओं से बद्ध होकर और काम क्रोध के दास होकर कामभोग के लिये अन्यायपूर्वक धनोपार्जन करने में थोड़ा सा भी संकोच इनको नहीं होता। इनकी दृष्टि में इनसे बड़ा कुलीन, बुद्धिमान, बलवान् कोई दूसर होता ही नहीं। दूसरों की प्रतिष्ठा का तो ये कुछ भी मूल्य समझते ही नहीं।

ऐसे जीवन में बस एक ही काम रह जाता है कि अपनी बेसमझी से प्रेरित होकर पहले तो कुछ इच्छा कर ली और पीछे उस इच्छा को पूरी करने में प्राणों तक की बाजी लगा बैठे और इच्छित विषय मिल गया तो उसे भोगने लगे। संक्षेप में ऐसों का जीवन कामोपभोगतत्पर जीवन बन जाता है। किसी भी भ्रान्त इच्छा के दास बन जाना और उसके पीछे सैंकड़ों उपद्रव खड़े कर देना बस इसी बात में इनके अनन्त आयुष्य समाप्त हो जाते हैं। इनकी इस प्रवृत्ति का पूरा पूरा दुष्परिणाम जब तक नहीं निकल आता और जब तक कि अन्दर से इस प्रवृत्ति की अस्वीकृति नहीं आजाती, तब तक यह आसुरी प्रवृत्ति बढ़ती ही जाती है। इसके विपरीत जब तो जीवन तत्त्व की सर्वव्यापकता समझ में आती है—जब जीवन तत्व का शरीर मात्र में सीमित होना किसी तरह समझ में आता ही नहीं—तब मनुष्य में स्वभाव से दैवी गुणों का प्रवेश होने लगता है। फिर किसी से भय नहीं लगता। संसार के रहस्य पर दृष्टि जम जाती है। अब वह क्षुद्र अहं का दास न रह कर पूर्ण अहं का उपासक बन जाता है। व्यापक जगदात्मा का मैं भी एक क्षुद्र अवयव हूँ इस भाव से प्रभावित होकर व्यापक जगदात्मा की सेवा के भाव से—उसको प्रसन्न करके इस का दर्शन लेने की भावना से—दूसरों की सहायता करता है। क्षुद्र अहं में बांध रखने वाली इन्द्रियों को तो दम की भारी बेड़ी में बांध कर रख देता है। जो काम करता है

उसी को व्यापक जगदात्मा की सेवा समझ कर करता है। सदा शुभ विचारों में रत रहता है। अपने में कभी भी किसी अनुदारता को आने नहीं देता। अपने उदार विचारों के अनुकूल अपनी जीवनचर्या बनाकर रखता है। घटघटवासी नारायण के दर्शन सब जीवों में करने के कारण सब के साथ निष्कपट बर्ताव करता है। अपने उदात्त विचारों को कभी भी काम क्रोध आदि विकारों से दबने नहीं देता। सत्य की रक्षा में सर्वात्मना तत्पर रहता है। अपकारक पर क्रोध करके कर्तव्यभ्रष्ट नहीं हो जाता है। अपनी जीवनयात्रा के उपकरणों के स्नेहपाश में बंध कर नहीं रहता। दिव्यता का आह्वान करने वाले इत्यादि सभी गुण उसमें आ बसते हैं। अब उसे मालूम हो जाता है कि ये सम्पूर्ण उद्योग इसी व्यापक जीवनतत्व को खोज निकालने के लिये हैं। अब तो वह जीवन के प्रत्येक अनुभव में सत्य के दर्शन करने लगता है। उसके जीवन की प्रत्येक घटना उसे सत्य और ज्ञान का पवित्र सन्देश ला ला कर सुनाने वाली बन जाती है। जब कोई प्राणी अपने यज्ञिय उद्योगों से, किंवा यज्ञमय जीवन से, अथवा व्यापक जगदात्मा को सर्वसाक्षी मान कर किये गये कर्मों से जीवनतत्व को खोज चुकता है, तब उसके उद्योग समाप्त हो जाते हैं। फिर तो देश और काल के अनन्त मैदान पर अखण्ड शासन करने वाला जीवन ही जीवन शेष रह जाता है। जीवन के लिये फिर कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहजाता। कर्तव्य तो जीवनतत्व के अज्ञान को जीवित रखने के लिए ही होते हैं या फिर जीवनतत्व का दर्शन कराने के लिए ही होते हैं। फिर इस अनन्त जीवन को मैं की छोटी चादर उढ़ाने वाला कोई नहीं रह जाता। यह सत्य और ज्ञान रूप व्यापक जीवन-तत्व हम किसी से भी भिन्न नहीं है। परन्तु इसका हमारे साथ कोई ऐसा सम्बन्ध भी नहीं है कि इसे हम 'मैं' या 'मेरा' कह सकें। जैसा यह हमको अपना आत्मा मालूम है, ऐसे ही यह औरों को भी अपना आत्मा-स्वरूप मालूम होता है। हममें से कोई एक जैसे इस शरीर को 'मैं' कह देते हैं

वैसे इस व्यापक आत्मा को 'मैं' नहीं कह सकते। साथ ही हममें से कोई भी अपने को इस से भिन्न कहने का उचित दावा भी नहीं कर सकता, तब तो केवल इसका दर्शन कर करके प्रमुदित रहना आ जाता है और इसी प्रमोद में 'मैं' का रहा सहा अस्तित्व भी सदा के लिये मिट जाता है। इस सत्य ज्ञान रूप व्यापक जीवनतत्व की बात जब मन और बुद्धि की समझ में आ जाती है और मन के समझे को जब अहंकार अपना लेता है और अहंकार के अपनाव चित्त की अखण्ड स्मृति पर जब चढ़ जाते हैं, तब संसार के सम्पूर्ण जीव और समस्त पदार्थ एकतत्व बन जाते हैं। परेऽव्यये सर्वं एकी भवन्ति की पहेली यहाँ आकर समझ में आने लगती है।

परन्तु व्यापक जीवनतत्व की बात समझ में आने में इस तत्व के आधार से प्रतीत होने वाली विश्वरचना ही सब से बड़ा विघ्न है। जैसे सांप रस्सी को दीखने नहीं देता और देखने वाले के तथा रस्सी के बीच में आकर खड़ा हो जाता है, इसी प्रकार इस व्यापक ज्ञानरूप जीवनतत्व के और हमारे बीच में आकर खड़ी हो गयी हुई विश्वरचना ने हमारा सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर खैंच कर, जो अतत्व है उसी का दर्शन हमें करा रक्खा है और तत्व की प्रतीति को रोक दिया है। इस ग्रन्थ में उस तत्व के दर्शन के विघ्नों को हटाने की विधि को बताते हुए तत्व दर्शन करने की विधि तत्वविवेक नाम के प्रथम प्रकरण में वर्णित है। दूसरे तीसरे और चौथे प्रकरणों में तत्व दर्शन के जो तीन प्रधान विघ्न हैं उनको ही तत्वदर्शन का सहायक बना लेने की विधि पर विचार किया है। पांचवें महावाक्यविवेक नाम के प्रकरण में आगम किंवा अनुभवप्रधान हो जाने पर अनुभूति का जो-जो व्यावहारिक रूप हो जाता है उसका वर्णन है। छठे चित्रदीप नाम के प्रकरण में अपनी ही अज्ञानतूलिका से लिखे हुए जगच्चित्र को अपने सत्यान्वेषी प्रयत्नों से मिटा कर स्वयं अकेला शेष रह जाने की विधि पर प्रकाश डाला है। तृप्तिदीप नाम के प्रकरण में बताया है कि व्यापक जीवनतत्व के स्वरूप

का परिज्ञान होने पर जब मन में किसी भी प्रकार के सुख की इच्छा शेष नहीं रह जाती तभी सच्चे सुख का आविर्भाव होता है। कूटस्थदीप में चेतनाकार बनी हुई बुद्धियों की संधियों को भी और बुद्धियों के अभावों को भी प्रकाशित करता रहने वाली सामान्य कूटस्थ चेतना का दर्शन कराया गया है। जो लोग ब्रह्मतत्व का विचार नहीं कर सकते परन्तु उसके दर्शन पर श्रद्धा रखते हैं उनके लिये उपासना किंवा योग की विधि बताने के लिये ध्यानदीप नाम का प्रकरण है। नाटकदीप प्रकरण में कुतूहल वश खेले गये इस जगन्नाटक के पटक्षेप करने की विधि पर विचार किया है। पिछले पांचों प्रकरणों में अनेक द्वारों से आनन्द रूप का दर्शन कराते हुए ब्रह्मतत्त्व का वर्णन किया है। यों इस ग्रन्थ में एक ही व्यापक जीवनतत्त्व को पन्द्रह प्रकार से दिखाया गया है।

अब संक्षेप में ग्रन्थकार का थोड़ा सा परिचय देना भी आवश्यक प्रतीत होता है—

पंचदशी के रचयिता श्री विद्यारण्य महामुनि अत्यन्त त्यागी अत्यन्त बुद्धिमान व्यवहारचतुर कर्तव्यदक्ष और महाविभूतियुक्त पुरुष थे। इन्होंने दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य की स्थापना बुक्क राजा के द्वारा करायी थी और उस साम्राज्य का संचालन भी ये स्वयं ही करते थे। ई० सन् १३३५ में हुकराय और बुकराय भाइयों ने सेना आदि जुटाकर इनकी सलाह से विजयनगर राज्य की स्थापना की थी। उसके बाद विजयनगर का साम्राज्य बढ़ने लगा और बड़े ठाट बाट से चलता रहा। ऐसे महान् राज्य की स्थापना और संचालना जिस महापुरुष के द्वारा हुई थी उन श्री विद्यारण्य मुनि का जन्म लगभग १३०० शालिवाहन में हुआ था। कम से कम १३९१ तक ये जीवित रहे हैं। अपने सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों में इन्होंने जो लिखा है उससे मालूम होता है कि इनका पूर्वाश्रम का नाम 'माधवाचार्य' था, ये माधव मन्त्री के नाम से उसी समय प्रसिद्धि पा चुके

थे। चतुर्थ आश्रम में इन का नाम 'विद्यारण्य' हो गया था। इनके पिता का नाम 'मायण' और माता का नाम 'श्रीमती' था। 'सायण' और 'भोगनाथ' नामक दो छोटे भाई थे। 'सर्वज्ञविष्णु' तथा 'भारतीतीर्थ' नाम के इनके दो गुरु थे। पूर्व आश्रम में राज्य के कार्य में परम प्रवीण रहते हुए इन्होंने असाधारण योग्यता से उच्च कोटि के ग्रन्थ बनाकर वेद शास्त्रों की प्रतिष्ठा भी बढ़ायी थी। फिर संसार से विरक्त होकर संन्यास दीक्षा लेकर विद्यारण्य मुनि नाम से शृङ्गेरी मठ के शंकराचार्य बने थे।

जिस कुटुम्ब में ये उत्पन्न हुए थे वह एक छोटा सा ब्राह्मणकुटुम्ब था। इस कुटुम्ब के सभी, बालक बड़े बुद्धिमान और कर्तृत्वशाली हुए। सायण तो वेदभाष्यकार के नाते प्रसिद्ध ही हैं। भोगनाथ भी शीघ्र ही संन्यासी हो गये थे। ये माधवाचार्य स्वयं पढ़ पढ़ाकर नयी अवस्था में ही तपस्या के लिये वन चले गये थे। जब ये वन में तपस्या कर रहे थे तब हुक बुक नाम के राजपुत्रों से भेंट होने के बाद सन् १३९१ तक इस महापुरुष का सारा ही समय भारी राजनैतिक कारबार, अत्यन्त गहन और उपयुक्त ग्रन्थों के निर्माण और शृंगेरी पीठ के स्वामी की हैसियत से धर्माधिकार चलाने में बीता था। उन्होंने एक श्रेष्ठ कर्मयोगी की भाँति निष्काम बुद्धि से राज्यस्थापन और धर्म रक्षण के कार्य करके आर्य संस्कृति को जीवित रक्खा था। वे किस मनोभावना से अपना निष्काम कर्म करते थे यह इनके पंचदशी के—

"ज्ञानिनाचरितुं शक्य सम्यग् राज्यादि लौकिकम्"

"ज्ञानी लोग राज्य आदि लौकिक कामों को अच्छी तरह से चला सकते हैं। ज्ञानी का ज्ञान यदि परिष्कृत है सच्चा है तो राज्य के गहन कारबार भी उसे दबा नहीं सकेंगे" इस वाक्य से बहुत ही स्पष्ट हो जाता है। इन्होंने उस राज्य में किस प्रणाली से क्या क्या सुधार किये इसका ब्योरा अभी तक भी इतिहासज्ञ लोग नहीं बता सके हैं।

निम्नलिखित ग्रन्थों से ग्रन्थकार के नाते श्रीविद्यारण्यमुनि का सम्बन्ध जाना गया है—

१ ऋग्वेद भाष्य, २ यजुर्वेद भाष्य, ३ सामवेद भाष्य, ४ अथर्ववेद भाष्य, ५ चारों वेदों के शतपथ ऐतेरय तैत्तिरीय ताण्य आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का विचार, ६ दशोपनिषद्दीपिका, ७ जैमिनीय न्यायमालाविस्तर, ८ पंचदशी, ९ अनुभूतिप्रकाश, १० ब्रह्मगीता, ११ पाराशर स्मृति भाष्य, १२ मनुस्मृति-व्याख्यान, १३ सर्वदर्शनसंग्रह, १४ माधवीय धातुवृत्ति, १५ शंकरदिग्विजय, १६ कालनिर्णय।

कई लोगों के मत से वेदभाष्यकर्ता इनके छोटे भाई 'सायणाचार्य' ही थे। इन ग्रन्थों को सायणमाधवीय कहने से यह मालूम होता है कि वेदभाष्य से इनका रचयिता का सम्बन्ध न भी हो तौ भी उसमें इनका हाथ अवश्य था।

विद्यारण्य स्वामी की पंचदशी जिस पर कि यह भाषा टीका लिखी गई है सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर हिमालय तक अद्वैतवेदान्त पर सर्वमान्य ग्रन्थ समझा जाता है।

निवेदक—
रामावतार
रतनगढ़ (जि० बिजनौर)
हिन्दप्रान्त

लेखन स्थान—
श्रद्धेय श्री अच्युतमुनि जी का
आश्रम, गंगातीर

विषयसूची

	पृष्ठ से	पृष्ठ तक
प्रणाम	क—	ग
प्राक्कथन	घ—	ढ
१. तत्वविवेकप्रकरण	१—	३२
२. पंचभूतविवेकप्रकरण	३३—	७१
३. पंचकोशविवेकप्रकरण	७२—	९०
४. द्वैतविवेकप्रकरण	९१—	११७
५. महावाक्यविवेकप्रकरण	११८—	१२३
६. चित्रदीपप्रकरण	१२४—	२२१
७. तृप्तिदीपप्रकरण	२२२—	३२९
८. कूटस्थदीपप्रकरण	३३०—	३५५
९. ध्यानदीपप्रकरण	३५६—	४०४
१०. नाटकदीपप्रकरण	४०५—	४१३
११. ब्रह्मानन्द में योगानन्दप्रकरण	४१४—	४६७
१२. ब्रह्मानन्द में आत्मानन्दप्रकरण	४६८—	५००
१३. ब्रह्मानन्द में अद्वैतानन्दप्रकरण	५०१—	५३७
१४. ब्रह्मानन्द में विद्यानन्दप्रकरण	५३८—	५५६
१५. ब्रह्मानन्द में विषयानन्दप्रकरण	५५७—	५६६
१६. पंचदशी के प्रत्येक प्रकरण के भावपूर्ण संक्षेप	१—	१३८

अद्वैतवाद पर कुछ उपयुक्त ग्रन्थावलि

उपनिषदें	वैज्ञानिक अद्वैतवाद
भगवद्गीता उपनिषत्	संक्षेप शारीरिक
शारीरिक भाष्य	वाक्यसुधा
शंकराचार्य के प्रकरणग्रन्थ	उपदेश-साहस्री
पंचदशी	सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह
दक्षिणामूर्ति और वार्तिक	विवेक-चूडामणि
पंचीकरण और वार्तिक	वोधसार
आत्मपुराण	स्वामी रामतीर्थ के लेख आदि
भागवत	योगवासिष्ठ
अनुभूतिप्रकाश	सनत्सुजात संवाद(शंकराचार्य कृत टीका)
दासबोध	
त्रिपुरारहस्य	ज्ञानेश्वरी गीता टीका
वार्तिकसार	अध्यात्म पटल
जीवन्मुक्तिविवेक	स्वराज्य सिद्धि
उपनिषदों के उपदेश	शतश्लोकी

ओम्

पञ्चदशी

तत्वविवेकप्रकरणम्

नमः श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने ।
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥ १ ॥

विलास [अर्थात् अपने कार्य] सहित जो महामोह [किंवा मूलाज्ञान] रूपी महादुःखदायी ग्राह है, उस को ग्रस लेना ही जिस चरण-कमल का एक मुख्य काम है, श्री शंकरानन्द नाम के गुरुदेव के उस चरण-कमल को हमारा प्रणाम हो— अर्थात् हम अपने आप को गुरुदेव के चरणों में अभेद भाव से अर्पण किये देते हैं।

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम् ।
सुखबोधाय तत्वस्य विवेकोऽयं विधीयते ॥२॥

ऐसे गुरु के चरण-कमलों की सेवा से जिनका चित्त निर्मल [रागादि शून्य] हो चुका हो, उनको सुखबोध [सरलता से तत्व-ज्ञान] कराने के लिए, अब तत्व [अनारोपित किंवा सत्यस्वरूप] का विवेचन किया जाता है। [पंचकोश नाम के इस आरोपित जगत् में से अब उस अनारोपितस्वरूप अखण्ड सच्चिदानन्द वस्तु को पृथक् करके दिखाया जाता है]।

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक् ।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ॥३॥

जागरण अवस्था में, शब्द स्पर्श आदि वेद्य पदार्थ विचित्रता के कारण पृथक्-पृथक् होते हैं, परन्तु उनका ज्ञान उनसे विभक्त रहना है। एक रूप होने के कारण उस ज्ञान में कभी भेद नहीं होता।

इन्द्रियों से विषयों के ग्रहण को 'जागरण' कहते हैं। उस जागरण नाम की अवस्था में वेद्य कहाने वाले जो शब्द स्पर्श आदि पदार्थ हैं तथा उनके आश्रय जो आकाशादि पदार्थ हैं, वे विचित्रता के कारण परस्पर भिन्न भिन्न होते हैं। परन्तु उन शब्दादियों का [बुद्धि की सहायता लेकर उनसे पृथक् किया हुआ] ज्ञान, एक ही रूप का होने के कारण, अथवा ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान-इस समान रूप से प्रतीत होने के कारण, आकाश के समान ही भिन्न नहीं हो जाता। दूसरे शब्दों में इसे यों कहना चाहिये कि ज्ञान में स्वभाव से कोई भेद ही नहीं है। क्योंकि आकाश के समान उपाधि के परामर्श [कथन] के विना उसमें भेद की संभावना ही नहीं रहती। शब्द-ज्ञान में स्पर्श-ज्ञान से स्वयं कोई भेद नहीं है, क्योंकि ज्ञान ज्ञान सब एक से ही होते हैं। उनमें जो भेद प्रतीत होने लगा है, वह तो औपाधिक भेद है। ऐसे तो एक अखण्ड आकाश में भी घटाकाश मठाकाश आदि भेद पाये जाते हैं। परन्तु वह सच्चे भेद नहीं होते। उन औपाधिक भेदों से जैसे आकाश में भेद नहीं आता, इसी प्रकार औपाधिक भेदों से ज्ञान में भी भेद को अवकाश नहीं मिलता।

तथा स्वप्ने, ऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते ॥४॥

स्वप्न में भी यही होता है, [वहां भी ज्ञान में भेद नहीं होता। विशेषता इतनी है कि] इस स्वप्न-काल में वेद्य पदार्थ स्थिर नहीं होते, [प्रातिभासिक होते हैं] जागरण में तो वे स्थिर [व्यावहारिक] होते हैं। इस कारण स्वप्न और जागरण का तो भेद हो जाता है। परन्तु इन दोनों अवस्थाओं में होने वाला 'ज्ञान' तो एकरूप ही है। इसी से उसमें भेद नहीं होता।

जिस प्रकार जागरण में विचित्रता के कारण, विषयों का तो भेद है, तथा एकरूपता के कारण ज्ञान का अभेद है, ठीक यही अवस्था स्वप्न की भी है। इन्द्रियों का उपसंहार हो जाने पर जागरण के संस्कारों से उत्पन्न हुआ विषय सहित ज्ञान 'स्वप्न' कहाता है। उस स्वप्नावस्था में भी केवल विषय ही परस्पर भिन्न होते हैं। ज्ञान में तब भी कोई भेद नहीं होता। स्वप्न और जागरण में भेद तो केवल इतना ही है कि स्वप्न में दृश्यमान वेद्य पदार्थ स्थिर नहीं होते, वे केवल प्रातीतिक होते हैं। जागरण में तो दीखने वाली वस्तुयें स्थायी होती हैं। वे कालान्तर में भी देखी जा सकती हैं। केवल अस्थिरता और स्थिरता के कारण ही इन दोनों में भेद है। परन्तु उन दोनों के ज्ञान में भेद नहीं है क्योंकि वह तो एकरूप ही है।

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत् स्मृतिः।
सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः ॥५॥

सोकर उठे हुए पुरुष को जब सुषुप्ति काल के अज्ञान का बोध होता है तो वह उसकी स्मृति होती है, वह स्मृति जाने बूझे विषय की ही होती है। [जिसका मतलब यह है कि] उसने सोते समय तम अथवा अज्ञान को जाना था।

सोकर उठे हुए पुरुष को जो सुषुप्ति काल के अज्ञान का ज्ञान है जिससे वह कहता है कि 'मैंने सोते समय कुछ भी जाना नहीं' वह उसका एक स्मरण ही है । वह स्मरण तो अनुभव किये हुए विषय का ही होता है । जो भी कोई स्मृति होती है उससे प्रथम अनुभव का होना सर्वमान्य सिद्धान्त है । इससे यही सिद्ध होता है कि सुषुप्ति में रहने वाले उस तम को अर्थात् अज्ञान को तब उसने अनुभव किया था।

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात् स्वप्नबोधवत् ।
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित् तद्वद्दिनान्तरे ॥६॥
मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा ।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ॥७॥

सुषुप्ति समय का वह ज्ञान अपने विषय [सुषुप्तिकाल के अज्ञान] से तो भिन्न होता है परन्तु वह (स्वप्नबोध) के समान ही बोध से भिन्न कदापि नहीं होता। इस प्रकार एक दिन की जाग्र-दादि तीनों अवस्थाओं में, दूसरे दिनों में, मास, वर्ष, युग तथा कल्पों तक में, जो बीत चुके या आगे आयेंगे, एक ही ज्ञान बना रहता है ।) इसका कभी उदय या विनाश नहीं होता। यह ज्ञान एक स्वयंप्रकाश तत्व है ।

सुषुप्ति काल के अज्ञान का वह बोध [अनुभव] भी अपने अज्ञान नाम के विषय से भिन्न तो होना ही चाहिये। परन्तु स्वप्नबोध के समान दूसरे बोध से [उसके] भिन्न होने का कोई कारण ही नहीं है । इस प्रकार एक दिन की जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में एक ही ज्ञान रहता है । इसी रीति से दूसरे दिन में भी ज्ञान की अभिन्नता को समझ लेना चाहिये। जैसे एक दिन की तीनों अव-

स्थाओं में एक ही ज्ञान बना रहता है, इसी प्रकार दूसरे दिन में तथा अनेक प्रकार से बीते हुए तथा आगामी महीनों वर्षों युगों और कल्पों तक में एक अभिन्न ज्ञान ही बना रहता है। ज्ञान के विषय तो भिन्न भिन्न होते जाते हैं, परन्तु ज्ञान में भेद कभी नहीं आता। दीपक के समान एक होने के कारण यह ज्ञान न तो उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है। यदि इस ज्ञान के भी उत्पत्ति और विनाश मानोगे, तो इन उत्पत्ति विनाशों को देखने वाला [साक्षी] कौन होगा ? अपने उत्पत्ति विनाशों को स्वयं वह ज्ञान ही देखे, यह बात भी संभव नहीं है। इन उत्पत्ति विनाशों को ग्रहण करने वाला दूसरा कोई, ज्ञान भी नहीं पाया जाता। इस कारण इस ज्ञान को उदय अस्त से रहित तत्व माना जाता है। यह ज्ञान तो स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश हो कर भासित होने वाला यह ज्ञान ही, इस सकल जगत् का प्रकाश कर रहा है। इसी कारण यह जगत् अन्धा होने से बच रहा है। यदि यह ज्ञान न होता तो यह जगत् अन्धा होता।

इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥८॥

(यह ज्ञान ही आत्मा है) और यह परमानन्द स्वरूप भी है। क्योंकि यह परमप्रेम का आस्पद है। "मैं न रहूँ ऐसा कभी न हो किन्तु मैं सदा बना रहूँ" ऐसा प्रेम आत्मा से सभी करते हैं।

यह संवित् [ज्ञान] ही आत्मा है और यह परमानन्द स्वरूप भी है क्योंकि यह परमप्रेम अथवा निरतिशय [सर्वाधिक] प्रेम का विषय है। इसको सब से अधिक प्रेम किया जाता है। "मैं कभी न रहूँ ऐसा कभी न हो किन्तु मैं सदा ही बना रहूँ" ऐसा

एक सर्वाधिक प्रेम आत्मविषय में सभी का देखा जाता है। ऐसी अवस्था में 'मुझको धिक्कार है' ऐसा जो एक द्वेष कभी कभी आत्मा के विषय में पाया जाता है वह तो दुःख के सम्बन्ध के कारण से दूसरी तरह से भी सिद्ध हो जाता है। इस कारण यह द्वेष आत्मा की प्रेम-पात्रता को हटाने में असमर्थ रह जाता है। क्योंकि यह प्रेम तो आत्मविषय में सब के अनुभव से सिद्ध हो रहा है।

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि ।
अतस्तत् परमं तेन परमानन्दतात्मनः ॥९॥

वह प्रेम अपने लिए तो दूसरों से भी कर लिया जाता है, परन्तु दूसरों के लिए अपने आप से प्रेम करने की बात ठीक नहीं जँचती। इस कारण आत्मप्रेम ही परमप्रेम है। इसीसे आत्मा की परमानन्दता सिद्ध हो जाती है।

अपने से भिन्न पुत्र आदि में भी जब प्रेम दीख पड़ता हो तब धोखे में आकर उसको स्वाभाविक प्रेम नहीं मान बैठना चाहिये। क्योंकि वह प्रेम पुत्रादियों में आत्मार्थ ही होता है। उनमें स्वाभाविक प्रेम किसी को नहीं होता। इसके विपरीत लोगों को जो आत्मा में प्रेम होता है वह प्रेम किसी दूसरे के लिए नहीं होता। किन्तु वह अपने लिये ही होता है। यों निरुपाधिक [अथवा निर्व्याज] होने के कारण यह आत्म-प्रेम ही परम [अर्थात् निरतिशय] प्रेम कहाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि निरतिशय प्रेम का आस्पद होने से, आत्मा ही परमानन्द स्वरूप [किंवा निरतिशय सुखरूप] है।

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या, तथाविधम् ।
परं ब्रह्म, तयोश्चैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते ॥१०॥

इस प्रकार युक्ति से आत्मा सच्चित् तथा परानन्दरूप सिद्ध हो गया। वेदान्तों में परब्रह्म को भी सच्चिदानन्द स्वरूप ही बताया गया है तथा उन वेदान्तों ने उन दोनों की एकता का उपदेश भी कर दिया है।

इस प्रकार आत्मा की सत् चित् तथा परमानन्दता का समर्थन युक्ति से हो गया। परब्रह्म भी वैसा ही सच्चिदानन्द स्वरूप है वेदान्तों में आत्मा और ब्रह्म की [जिनको 'त्वं और तत्' भी कहते हैं] एकता [किंवा अखण्ड एकरसता] का ही प्रतिपादन किया गया है। इस एकता का प्रतिपादन करके ही वेदान्तों पर प्रामाण्य आया है। आत्मा की सच्चिदानन्दरूपता का ज्ञान तो युक्ति से भी हो जाता है, परन्तु आत्मा और ब्रह्म एक है इस बात का ज्ञान वेदान्तों के सिवाय किसी और से होना संभव नहीं है।

अभाने न परं प्रेम, भाने न विषये स्पृहा।
अतो भानेऽप्यभातासौ परमानन्दतात्मनः ॥११॥

आत्मा की परमानन्दरूपता का अभान होने पर तो आत्मा से परम प्रेम नहीं होना चाहिये, तथा भान होने पर विषयों की इच्छा क्यों होनी चाहिये? इस कारण यह मानना पड़ता है कि परमानन्दरूपता, ज्ञात होने पर भी अज्ञात ही बनी हुई है।

आत्मा की परमानन्दरूपता के विषय में यह आक्षेप है कि उसकी परमानन्दरूपता की उसे प्रतीति नहीं होती है अथवा हो जाती है? यदि प्रतीति का होना नहीं मानते तो आत्मा से परम प्रेम नहीं होना चाहिये। क्योंकि प्रेम तो विषय की सुन्दरता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला एक पदार्थ है। यदि तो परमानन्दरूपता की प्रतीति मानी जाय तो सुख के साधन स्रक्,चन्दन,वनिता आदि

भोगों की तथा उनसे उत्पन्न होने वाले सुखों की इच्छा ही प्राणी को नहीं होनी चाहिये। क्योंकि जिसको साक्षात् फल प्राप्त होचुका हो उसको साधनोंकी इच्छा ही कैसी? जिसको नित्य तथा निरतिशय आनन्द का लाभ हो चुका हो उसे क्षणिक साधनों की पराधीनता आदि दोषों से दूषित, विषयसुखों की स्पृहा ही क्यों होनी चाहिये? इस कारण आत्मा की परमानन्दरूपता युक्तिसंगत बात नहीं है। इस आक्षेप का समाधान यों करना चाहिये कि भान और अभान दोनों पक्षों के दोषों को देखकर यों मानना पड़ता है कि आत्मा की यह परमानन्दरूपता प्रतीत होने पर भी प्रतीत नहीं होती है। जभी तो प्राणिवर्ग दो विरुद्ध कार्य एक साथ करते हैं—वे अपने आप से परम प्रेम भी करते हैं और उन्हें विषयों की इच्छा भी बनी ही रहती है। वे आत्मा को 'मैं' इस रूप में तो जानते हैं परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं होता कि 'मैं' परमानन्दरूप हूँ।

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत्।
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते॥ १२॥

बहुत से पढ़ने वालों के बीच में बैठे हुए पुत्र के पढ़ने की आवाज को जैसे उसका पिता जानता भी है और नहीं भी जानता। इसी प्रकार आनन्द का भान होजाने पर भी अभान हुआ रहता है। प्रतिबन्ध के कारण भान होना रुक जाता है और ऊपर की बात युक्त हो जाती है।

बहुत से पढ़नेवालों के बीच में बैठे हुए पुत्र के पढ़ने का शब्द जैसे उसके पिता को सामान्यतया भासमान होने पर भी विशेष रूप से भासमान नहीं होता 'कि यह मेरे पुत्र का शब्द

है। इसी प्रकार आनन्द का सामान्यतया भान रहने पर भी विशेष रूप से अभान हो जाता है। उसका कारण यह है कि [जिस प्रतिबन्ध का वर्णन हम अगले श्लोक में करेंगे उस] प्रतिबन्ध के प्रताप से 'मैं हूँ' इस सामान्य रूप से आत्मा का भान होते रहने पर भी वह विशेष रूप से [कि मैं सच्चिदानन्द हूँ] अप्रतीत रह ही जाता है।

प्रतिबन्धोऽस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि ।
तन्निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते ॥१३॥

जिस आत्मवस्तु का व्यवहार 'है और प्रतीति भी हो रही है' ऐसे स्पष्ट शब्दों में होना चाहिये था, उस आत्मवस्तु के उस उचित व्यवहार को हटाकर उसके उलटे 'न तो है ही और न मुझे प्रतीति ही हो रही है' ऐसे एक मिथ्या व्यवहार को उत्पन्न कर देना ही 'प्रतिबन्ध' कहाता है।

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ ।
इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम् ॥१४॥

पुत्र शब्द-श्रवण [वाले दृष्टान्त] में तो उस प्रतिबन्ध का कारण समानाभिहार [बहुतों के साथ मिलकर पढ़ना] होता है तथा इस [दार्ष्टान्तिक] में तो समस्त विपरीत ज्ञानों का एक मुख्य कारण अनादि [उत्पत्ति रहित] अविद्या ही प्रतिबन्ध का कारण है [अनादि अविद्या का वर्णन आगे किया गया है]।

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥१५॥

चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त, तम रज तथा सत्त्वगुण वाली, एक वस्तु 'प्रकृति' कहाती है। वह दो प्रकार की होती है [जिनका कि कथन अगले श्लोक में किया जायगा]।

सत्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाविम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६॥

सत्व की शुद्धि से उस प्रकृति को 'माया'और सत्व की अशुद्धि [मलिनता] से उस प्रकृति को 'अविद्या' मान लिया गया है। माया में पड़ा हुआ विम्ब उस माया को वश में कर रहा है और इसी कारण से वह सर्वज्ञ ईश्वर बना बैठा है।

प्रकाशात्मक सत्व गुण की शुद्धि से जब कि सत्व गुण दूसरे गुणों से कलुषित नहीं हो जाता—तब वह प्रकृति 'माया' कही जाती है। जब तो वह सत्व गुण दूसरे गुणों से कलुपित होकर अशुद्ध हो जाता है तब वही प्रकृति 'अविद्या' कहाने लगती है। संक्षेप यह है कि विशुद्ध-सत्व-प्रधान प्रकृति को'माया' तथा मलिन सत्व-प्रधान प्रकृति को'अविद्या'कहते हैं। माया में प्रतिफलित उस आत्मा ने माया को अपने स्वाधीन कर रक्खा है और वही सर्वज्ञता आदि गुणों वाला ईश्वर होगया है।

अविद्यावशगस्त्वन्य स्तद्वैचित्र्यादनेकधा।
सा कारण शरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् ॥१७॥

दूसरा तो अविद्या के वश में फँस गया है। अविद्या की विचित्रता के कारण वह अनेक होजाता है। उस अविद्या को 'कारण शरीर' कहते हैं। उस कारण शरीर कहानेवाली अविद्या में अभिमान करनेवाले को 'प्राज्ञ' मानते हैं।

अविद्या में प्रतिबिम्बित होकर उसके पराधीन होजानेवाला आत्मा तो जीव कहाने लगता है। वह जीव तो उस अविद्या रूपी उपाधि की विचित्रता [किंवा अशुद्धि की न्यूनाधिकता] के कारण अनेक प्रकार का हो जाता है। उसके देवता मनुष्य पशु

पक्षी आदि अनेक भेद हो जाते हैं। वह अविद्या ही 'कारण शरीर' कहाती है, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल सूक्ष्म भूतों का वही कारण मानी गयी है। उस कारण शरीर में अभिमान करने वाले अथवा उसी में 'मैं' भावना करने वाले जीव को 'प्राज्ञ' नाम से कहा जाता है।

तमःप्रधानप्रकृते स्तद्भोगायेश्वराज्ञया।
वियत्पवनतेजोऽम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥१८॥

उन [प्राज्ञों] के भोग के लिये ईश्वर की आज्ञा से तमः-प्रधान प्रकृति में से आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा भूमि नाम के पांच महाभूत उत्पन्न हुए।

उन प्राज्ञ नामक जीवों के सुख-दुःख-साक्षात्काररूपी भोग के लिये उस प्रकृति में से [जिस में कि तमोगुण की प्रधानता है] ईशान आदि शक्ति वाले जगत् के अधिष्ठाता की आज्ञा से [जिसको उसका ईक्षण भी कहा जाता है] आकाश आदि पांच भूत उत्पन्न होगये।

सत्वांशैः पंचभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम्।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ॥ १९ ॥

उन आकाश आदि पांच भूतों के पृथक् पृथक् पांच सत्व भागों से क्रमानुसार श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना तथा घ्राण नाम की पांच ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न हो जाती हैं। [अर्थात् एक एक भूत के पृथक् पृथक् सत्वांश से एक एक इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है]

तैरन्तःकरणं सर्वैं वृत्तिभेदेन तद् द्विधा।
मनो विमर्शरूपं स्याद् बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका॥२०॥

उन पांचों भूतों के पांचों सत्वांशों से मिलकर एक अन्तः-

करण नाम का द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। वह अन्तःकरण अपने वृत्तिभेद के कारण दो प्रकार का होता है। जब वह विमर्श किंवा संशयात्मिका वृत्ति करता है अथवा यों कहो कि जब वह विमर्श रूप हो जाता है तब उसको 'मन' कहा जाता है। निश्चयस्वरूप हो जाने पर उसी को 'बुद्धि' नाम से कहने लगते हैं।

रजोंशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात् कर्मेन्द्रियाणि तु।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥२१॥

उन आकाशादि पांच भूतों के पृथक्-पृथक् पांच रजो भागों से क्रमानुसार वाक्, पाणि, पाद, पायु, तथा उपस्थ नाम की पांच कर्मेन्द्रियां उत्पन्न हो जाती हैं।

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात् स पंचधा।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ॥२२॥

उन पांचों भूतों के पांचों रजो भागों से मिलकर एक प्राण का जन्म हो जाता है। वह प्राण वृत्तिभेद किंवा प्राणनादि व्यापारों के भेद से, पांच प्रकार का होता है। वे पांच प्रकार ये हैं—प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान।

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकै र्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते ॥२३॥

(पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन तथा बुद्धि इन सतरह पदार्थों से मिलकर 'सूक्ष्म शरीर' बनता है। उसी को वेदान्तों में 'लिंग शरीर' भी कहते हैं)

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते।
हिरण्यगर्भतामीश स्तयो र्व्यष्टिसमष्टिता ॥२४॥

(वह प्राज्ञ नाम का जीव उस लिंगशरीर में अभिमान करने

से 'तैजस' हो जाता है तथा जब वह ईश्वर उस लिंग देह में अभिमान करता है तव वह 'हिरण्यगर्भ' हो जाता है। उन दोनों में भेद केवल इतना ही है कि तैजस 'व्यष्टि' है और हिरण्यगर्भ 'समष्टि' है) इसके अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है।

मलिनसत्वप्रधान अविद्यारूपी उपाधि वाला जीव जब लिंग शरीर में अभिमान करता है, जब वह उसी को अपना आत्मा मान लेता है तव उसे 'तैजस' कहने लगते हैं। विशुद्ध सत्व प्रधान मायारूपी उपाधिवाला परमेश्वर उसी लिंग शरीर में जब 'मैंपने' का अभिमान करता है तव उसका नाम 'हिरण्यगर्भ' हो जाता है। तैजस और हिरण्यगर्भ दोनों ही यद्यपि लिंग शरीर पर अभिमान करने वाले हैं परन्तु उनमें से एक 'व्यष्टि' है दूसरा 'समष्टि' है। इसी से दोनों में भेद हो गया है।

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।
तदभावात् ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥२५॥

वह ईश्वर—जिसे हिरण्यगर्भ कहा गया है—लिंगशरीर उपाधि वाले सभी तैजसों के साथ अपने आत्मा की एकता को समझता रहता है। वह समझता है कि ये सब मिलकर 'मैं' हूँ। इसी से वह 'समष्टि' होता है। उस ईश्वर से अन्य जो जीव हैं वे तो उस तादात्म्यवेदन के अभाव से [उन सब के साथ एकत्व ज्ञान के न होने से] 'व्यष्टि' नाम से कहे जाते हैं।

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने ।
पञ्चीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ॥२६॥

भगवान् परमेश्वर उसके बाद उन जीवों के भोग के लिये ही भोग्य [अन्नपानादि] तथा भोगमन्दिरों [जरायुज आदि चार

प्रकार के शरीरों की उत्पत्ति करने के लिये, आकाश आदि पांच भूतों में से प्रत्येक भूत को [जो कि अभी तक अपंचात्मक ही थे] पंचात्मक कर देता है [जिससे कि उनसे जीवों के भोग के लिये भोग्य अन्नपानादि तथा भोग्य मन्दिर शरीरादि का निर्माण हो सके]।

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशै योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥५७॥

आकाशादि प्रत्येक भूत के पहले दो दो भाग किये जाँय। फिर उनमें के पहले एक भाग के तो चार चार भाग किये जाँय [तथा दूसरे आधे भागों को पूरा ही रक्खा जाय] उसके पश्चात् अपने अपने से भिन्न दूसरे दूसरे भागों के साथ योग करने से ये पांचों भूत पंचीकृत हो जाते हैं।

पंचीकरण का चित्र

प्रत्येक भूत में आधा भाग अपना है तथा
आधे में शेष ४ भूत हैं

आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथिवी
आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथिवी
वायु अग्नि जल पृथिवी	आकाश अग्नि जल पृथिवी	आकाश वायु जल पृथिवी	आकाश वायु अग्नि पृथिवी	आकाश वायु अग्नि जल

तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः ।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत् ॥ २८ ॥

उन पंचीकृत भूतों से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है । ब्रह्माण्ड में भुवन, प्राणियों के भोगने योग्य भोग्यपदार्थ तथा उन उन लोकों के अनुकूल शरीर [ईश्वर की आज्ञा से] उत्पन्न हो जाते हैं। इस सम्पूर्ण स्थूल [विराट्] शरीर में अहंभाव से बैठने वाला हिरण्यगर्भ 'वैश्वानर' कहाने लगता है ।

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ।
ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्वबोधविवर्जिता ॥२९॥

इस स्थूल शरीर में आते ही तैजस 'विश्व' हो जाते हैं, जिनको देव तिर्यङ् तथा मनुष्यादि कहा जाने लगता है। वे सभी बहिर्मुख हैं। इन किसी को भी आत्मतत्व का बोध नहीं है।

इस स्थूल शरीर में अहंभाव से निवास करने वाले 'तैजस' ही 'विश्व' कहाने लगते हैं। देवता पशु पक्षी तथा मनुष्यादि भेद इन विश्वों के ही होते हैं। तैजसों में इस तरह का कोई भेद नहीं होता। कारणशरीर तथा लिंगशरीर तो सब प्राणियों का एक समान ही होता है। इनके केवल स्थूल शरीर ही भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। वे देवादि सभी पराग्दर्शी [बाह्यदर्शी] हैं। ये बाह्य शब्दादि विषयों को ही देखा करते हैं। अपने दुर्भाग्य के कारण ये प्रत्यगात्मा को नहीं देख पाते हैं। इन सभी को आत्मतत्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। यद्यपि तार्किक आदि लोग देह से भिन्न आत्मा को पहचानते हैं परन्तु श्रुतिप्रतिपादित असंग आत्मरूप का यथार्थ ज्ञान उन को भी नहीं है।

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते।
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते॥
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्॥२०॥

[सुखादि को] भोगने के लिये तो ये कर्म करते हैं [आगे को] कर्म करने के लिये ये भोगों को भोगते हैं। ऐसे ये जीव नदी के उन कीड़ों की तरह हैं जो एक आवर्त से निकलकर झट-पट दूसरे आवर्त में जा फँसते हैं। ऐसे ही ये जीव भी जन्म से जन्म को पाते रहते हैं। इन्हें कभी भी विश्राम किंवा सुख नहीं मिलता।

क्योंकि उनको आत्मतत्व का यथार्थ ज्ञान तो होता ही नहीं इस कारण वे लोग भोग [सुख आदि के अनुभव] के लिये [मनुष्यादि शरीरों में बस कर उन उन शरीरों के अनुकूल] कर्म किया करते हैं। फिर कर्म करने के लिये [मनुष्यादि शरीरों के द्वारा] उन उन फलों को भोगा करते हैं। फल को भोगना इस-लिये आवश्यक होता है कि, यदि कर्म करने के बाद उन को फल का अनुभव न हुआ करे, तो फिर उन प्राणियों को उस तरह की इच्छायें ही पैदा न हुआ करें और फिर वे प्राणी उन उन साधनों के अनुष्ठान में भी न लगा करें। यों जब कोई प्राणी किसी भोग को भोग लेता है तब फिर वह शतगुण उत्साह से वैसे वैसे कर्मों में जुट जाता है और जब कर्म कर चुकता है तब हजारों आशाओं से भोगों की बाट देखा करता है। यों यह कर्म और भोग का अनन्त चक्कर कभी समाप्त होने में ही नहीं आता। ऐसे जीवों की गति नदी के बहाव में बहने वाले कीड़ों की सी होती है, जो कभी एक भंवर में से निकलते हैं तो

तुरन्त ही दूसरे में जा पड़ते हैं और कभी भी विश्राम नहीं पाते हैं। इसी प्रकार ये प्राणी कर्म और भोग के इस भँवर में फँस कर जन्म से जन्म को पाते हैं। इन हतभागियों को सुख के चिरस्थायी दर्शन कभी भी नहीं होते।

सत्कर्मपरिपाकात्ते करुणानिधिनोद्धृताः।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम्॥ २१॥

नदी के ये कीड़े अपने किसी पुण्य कर्म का परिपाक होने पर किसी कृपालु के द्वारा नदी में से बाहर निकाले जाकर किसी किनारे के पेड़ की छाया में सुखपूर्वक विश्राम पा लेते हैं।

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात् तत्वदर्शिनः।
पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम्॥ २२॥

इसी प्रकार जब किन्हीं के पूर्वोपार्जित कोटि पुण्य कर्मों का परिपाक होता है तब वे प्राणी किसी तत्वदर्शी आचार्य से उपदेश [श्रवण] को पाकर [आगे बतायी विधि से] पांच कोशों का विवेक कर लेने पर, परानिर्वृति [मोक्ष सुख] को पा लेते हैं।

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च ते।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत्॥ २३॥

अन्न, प्राण, मन, बुद्धि [विज्ञान] तथा आनन्द ये पांच कोश कहाते हैं। [इनको कोश कहने का कारण यह है कि] इन कोशों से आच्छादित हुआ अपना आत्मा, अपने स्वरूप को भूल जाने के कारण, जन्म मरण रूपी संसार में फँस जाता है।

कोश [बन्दा] जैसे कोश बनाने वाले कीड़े के क्लेश का कारण होता है अथवा जैसे कोश [म्यान] के अन्दर रक्खी हुई तलवार का रूप छिप जाता है इसी प्रकार इन अन्नादि कोशों ने,

अद्वयानन्द आत्मतत्त्व को ढक दिया है और आत्मा को क्लेश पहुँचा रक्खा है इसी से इनको भी 'कोश' कहा जाता है।

स्यात् पंचीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः ।
लिङ्गे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेन्द्रियैः सह ॥ ३४ ॥

पंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुआ यह स्थूल देह 'अन्नमय कोश' कहाता है। लिङ्ग शरीर में के राजस [रजोगुण से बने हुए] पांच प्राणों से तथा वागादि कर्मेन्द्रियों से मिलकर 'प्राणमय कोश' हो जाता है।

सात्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः ।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥२५॥

विमर्शात्मा मन तथा सात्विक ज्ञानेन्द्रियां मिलकर 'मनोमय कोश' कहाते हैं। उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिली हुई निश्चयात्मिका बुद्धि 'विज्ञानमय कोश' कही जाती है।

कारणे सत्त्वमानन्दमयो मोदादिवृत्तिभिः ।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥२६॥

कारण शरीर में मोदादि वृत्तियों के साथ रहनेवाले [मलिन] सत्त्व को 'आनन्दमय कोश' कहते हैं। यह हमारा आत्मा उन उन कोशों के साथ तादात्म्य कर लेने पर तत्तन्मय [उन उन के रूप का] सा हो जाता है।

कारण शरीर कहानेवाली अविद्या में जो कि मलिन सत्त्व रहता है, वह जब उन उन प्रिय मोद तथा प्रमोद नाम की वृत्तियों से युक्त हो जाता है [जो कि वृत्तियें क्रम से इष्ट पदार्थ के मिलने की आशा से, इष्ट पदार्थ के मिलने से तथा इष्ट पदार्थ के भोगने से, पैदा हुआ करती हैं] तब 'आनन्दमयकोश' कहाने लगता है।

वह आत्मा उस उस कोश के साथ जब तादात्म्याभिमान कर लेता है तब उस उस कोशमय सा हो जाता है । परन्तु असल में तो वह उन उन कोशों से अत्यन्त विलक्षण ही रहता है।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः ।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ॥३७॥

अन्वयव्यतिरेक नाम की युक्ति से, या तो पांच कोशों को आत्मा से पृथक् पहचान कर या आत्मा को उन पांच कोशों में से पृथक् पहचान कर अपने आत्मा को उनमें से बाहर करके, परब्रह्म ही हो जाता है ।

आगे बतायी हुई अन्वय-व्यतिरेक नामकी युक्तियों से पांचों कोशों का विवेक कर लेने पर [उनको आत्मा से पृथक् कर लेने पर] अथवा आत्मा को ही उनमें से पृथक् कर लेने पर, बुद्धि की सहायता से अपने आत्मा को उन कोशों में से बाहर निकालकर, अपने चिदानन्द स्वरूप का निश्चय करके अधिकारी पुरुष परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, किंवा स्वयं परब्रह्म ही हो जाता है ।

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद् भानमात्मनः ।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम् ॥३८॥

स्वप्नावस्था में जब इस स्थूलदेह का तो भान नहीं रहता, किंतु आत्मा का भान बना रहता है [उस समय स्वप्न के साक्षी के रूप में जो आत्मा का स्फुरण होता है] यह तो आत्मा का 'अन्वय' [अर्थात् अनुवृत्त होना] कहाता है । तथा उसी स्वप्नावस्था में उस आत्मा की स्फूर्ति होने पर, जब इस स्थूलदेह का भान नहीं रह जाता है तब यही स्थूलदेह का 'व्यतिरेक' [अर्थात् अनुवृत्त न

रहना अर्थात् छुट जाना] कहाता है। [इस प्रकरण में अन्वय-व्यतिरेक का अभिप्राय अनुवृत्ति और व्यावृत्ति से है]

लिङ्गाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः ।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिङ्गस्याभानमुच्यते ॥३९॥

सुषुप्ति अवस्था आजाने पर लिङ्गदेह का तो अभान [अप्रतीति] हो जाता है और आत्मा का तब भी भान बना रहता है यों [सुषुप्ति अवस्था के साक्षी के रूप में] आत्मा का स्फुरण होते रहना ही आत्मा का 'अन्वय' [अर्थात् अनुवृत्त रहना] कहाता है। तथा उस समय आत्मा का भान होते रहने पर भी लिङ्गदेह की प्रतीति न होना, लिंगदेह का 'व्यतिरेक [अर्थात् अनुवृत्त न रहना] कहाता है ।

तद्विवेकविविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः ।
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात् पृथक् कृताः ॥४०॥

लिंगदेह का विवेक कर लेने से ही प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय ये तीनों ही कोश विविक्त हो जाते हैं। क्योंकि वे तो गुणों की अवस्था की भिन्नता के कारण ही उस लिङ्गदेह से पृथक् से हो रहे हैं।

लिङ्गदेह का विवेचन इसलिये किया है कि 'प्राणमय' 'मनोमय' तथा 'विज्ञानमय' कोश इसीमें अन्तर्भूत हो रहे हैं। इस लिङ्गदेह का विवेक कर लेने पर प्राण,मन तथा विज्ञानमय नाम के तीनों कोश स्वयमेव विविक्त किंवा आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। क्योंकि वे प्राणमय आदि कोश उस लिंग शरीर में सत्व और रज नामक गुणों की केवल अवस्था की भिन्नता से [उनके गुण-प्रधानभाव के कारण प्राप्त हुई विशेष अवस्था के कारण ही] भेद

से कह दिये गये हैं। असल में वे उससे पृथक् कुछ नहीं हैं। वे सब लिंग देह की अवस्था विशेप ही हैं।

सुपुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः।
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुपुप्त्यनवभासनम् ॥४१॥

समाधि के समय सुपुप्ति का अभाव हो जाने पर भी आत्मा का भान होते रहना, आत्मा का 'अन्वय' कहाता है। तथा उस समय आत्मा का भान होते रहने पर भी सुपुप्ति का भास न होना सुपुप्ति का 'व्यतिरेक' कहाता है।

समाधि में [जिसका कि वर्णन आगे किया जायगा] सुपुप्ति [कारणदेह नामक अज्ञान] का तो अभाव [अप्रतीति] रहता है, परन्तु आत्मा का भान अथवा स्फुरण होता रहता है। यही आत्मा का 'अन्वय' कहाता है। यों आत्मा का भान होने पर सुपुप्ति किंवा अज्ञान की प्रतीति न होना ही, सुपुप्ति का 'व्यतिरेक' कहाता है। जिसका सारांश यह होता है कि, (यह आत्मा अन्नमयादि कोपों से भिन्न है। क्योंकि उन अन्नमयादि के व्यावृत्त हो जाने पर भी वह आत्मा कभी व्यावृत्त नहीं होता है। वह तो सब में अनुवृत्त हो रहा है) जो जिसके हट जाने पर भी न हट जाता हो, वह उन [हटने वालों] से भिन्न होता है। जैसे कि माला के फूलों से माला का सूत्र भिन्न होता है अथवा जैसे काली पीली गायों से गोत्वजाति भिन्न होती है।

यथामुञ्जादिपीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ॥४२॥

मूँज में से सींक की तरह जब धीर लोग तीनों शरीरों में से अपने आत्मा का उद्धार [ऊपर ही अन्वय व्यतिरेक नाम की]

युक्ति से कर लेते हैं तब उस समय उनका आत्मा परब्रह्म ही हो जाता है।

जैसे मूंज में से सींक को युक्ति से बाहर निकाल लेते हैं इसी प्रकार आत्मा को भी अन्वयव्यतिरेक नामक युक्ति के सहारे से धीर [ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्न अधिकारी] लोग यदि प्रथम कहे हुए तीनों शरीरों में से पृथक् कर लें तो उनका वह आत्मा परब्रह्म ही हो जाता है। फिर तो चिदानन्दरूपी लक्षण उन दोनों में समान ही हो जाता है, फिर उसके ब्रह्म होने में संशय नहीं रहता।

परापरात्मनोरेवं युक्त्या संभावितैकता।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते ॥४३॥

इस प्रकार 'पर' और 'अपर' आत्मा की एकता को युक्ति से अंगीकार किया गया। उसी एकता को 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भागत्याग लक्षणा से लक्षित कर रहे हैं।

यहां तक पर और अपर आत्मा की [जिनको 'परमात्मा' और 'जीवात्मा' भी कहा जाता है] एकता की संभावना [लक्षण की समानता आदि उपायों से] की गयी है। उसी एकता को 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य भागत्याग लक्षणा [विरोधी भाग को छोड़कर अविरोधी भाग को लेने वाली लक्षणा] से स्पष्ट ही लक्षित कर रहे हैं।

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम्।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ॥४४॥

तमःप्रधान माया को लेकर जो जगत् का उपादन हो जाता है, तथा जो शुद्धसत्वप्रधान माया को लेकर जगत् का निमित्त

बन जाता है उस ब्रह्म को ही तत्त्वमसि के 'तत्' शब्द से कहा जाता है।

सच्चिदानन्दस्वरूप जो ब्रह्म तमोगुण प्रधान माया को लेकर [उसको उपाधि भाव से स्वीकार करके] तो इस चराचरात्मक जगत् का उपादान [अथवा अध्यास का अधिष्ठान] हो जाता है, तथा विशुद्धसत्वप्रधान उसी माया को लेकर [उसको अपनी उपाधि मानकर] निमित्त [किंवा उपादानादि को जाननेवाला कर्ता] हो जाता है, वह निमित्त तथा उपादान उभयरूपी 'ब्रह्म' ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के 'तत्' पद से कहा गया है। घट आदि पदार्थों के जैसे निमित्त और उपादान कारण अलग अलग होते हैं, वैसे जगत् का निमित्त और उपादान पृथक् पृथक् नहीं है।

यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम्।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते ॥४५॥

वही ब्रह्म जिस अवस्था में मलिनसत्वप्रधान होने के कारण ही कामकर्मादि से दूषित उस अविद्या नामवाली माया को उपाधिभाव से स्वीकार कर बैठता है तब उसी ब्रह्म को 'त्वं' पद से कहा जाने लगता है।

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम्।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते ॥४६॥

परस्पर विरुद्ध उस तीन प्रकार की माया को छोड़ देने पर तो तत्त्वमसि आदि महावाक्य अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म को लक्षित कर देते हैं।

तमःप्रधान, विशुद्धसत्वप्रधान और मलिनसत्वप्रधान इन तीनों प्रकार की परस्परविरोधिनी उस पूर्वोक्त माया का जब

परित्याग कर दिया जाता है उस समय तत्त्वमसि आदि महा-वाक्य आते हैं और अधिकारी के सामने भेदरहित सच्चिदानन्द ब्रह्म को लक्षित करके चले जाते हैं। अनधिकारी लोग उस समय पागलों की तरह देखते ही रह जाते हैं।

सोयमित्यादिवाक्येषु विरोधात्तदिदन्तयोः ।
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ॥४७॥

'सोयंदेवदत्तः' इत्यादि वाक्यों में 'तत्ता' और 'इदन्ता' का विरोध होने से इन दोनों विरोधी भागों का त्याग करके, इनके आश्रय, एक देवदत्त की लक्षणा जैसे हो जाती है—

'यह वह देवदत्त है' इस वाक्य में 'यह' का मतलब है, इस देश और इस काल का देवदत्त तथा 'वह' का मतलब होता है उस देश तथा उस काल का देवदत्त। यों 'यहपन' और 'वहपन' नाम के धर्मों का विरोध होने से, जब देवदत्त की एकता नहीं हो सकती, तब इन दोनों विरोधी भागों का त्याग करके, देवदत्त रूपी एक आश्रय का बोध जैसे लक्षणा से हो जाता है—

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥४८॥

ठीक इसी प्रकार 'पर' और 'जीव' की जो उपर्युक्त 'माया' तथा 'अविद्या' नाम की उपाधि हैं उन दोनों को छोड़ देने पर अखण्ड [अर्थात् भेदरहित] सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म ही महा-वाक्यों से लक्षित हो जाता है।

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता ।
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि ॥४९॥

प्रश्न—जिस तत्व को तुम महावाक्य का लक्ष्य बताते हो, वह

सविकल्प है अथवा निर्विकल्प है ? सविकल्प को लक्ष्य मानने में महावाक्य का लक्ष्य ब्रह्म अवस्तु [मिथ्या] हो जायगा [क्योंकि वेदान्त मत में सविकल्प वस्तु मिथ्या हुआ करती है] अब यदि निर्विकल्प को लक्ष्य कहें सो तो कहीं देखा नहीं गया और न ऐसा सम्भव ही है। [क्योंकि लक्ष्य पदार्थ में रहनेवाला 'लक्ष्यत्व' भी तो एक विकल्प ही है]।

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत्।
आद्ये व्याहति रन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ॥५०॥

उत्तर—अच्छा बताओ तुम्हारा यह विकल्प निर्विकल्प के विषय में है ? या सविकल्प के विषय में है ? प्रथम पक्ष में व्याघात दोष आता है [निर्विकल्प पर विकल्प कैसा ?] दूसरे पक्ष में अनवस्था और आत्माश्रय आदि दोष आते हैं।

सिद्धान्ती प्रतिबन्दी से उत्तर देता है कि तेरे मत में सविकल्प शब्द का क्या अर्थ है ? 'विकल्पेन सह वर्तते इति सविकल्पः' इस विवरण से दो पदार्थ प्रतीत होते हैं एक तो आधेयविकल्प तथा दूसरा उसका आधार विकल्प। इसमें यह प्रश्न होता है कि तुम्हारे इस विकल्प का जो आधार है वह निर्विकल्प है या सविकल्प है ? प्रथमपक्ष तो असम्भव ही है। क्योंकि विकल्प का आधार होते हुए निर्विकल्प तो हो ही नहीं सकता। द्वितीय पक्ष में यह बताओ कि वह किस विकल्प से सविकल्प है, तृतीयान्त पदवाच्य जो प्रथम विकल्प है उसीसे सविकल्प है अथवा किसी दूसरे विकल्प से ? प्रथम पक्ष में आत्माश्रय दोष है। क्योंकि विकल्प का आधार सविकल्प पदार्थ है, विशिष्ट की आधारता विशेषण में भी हुआ करती है। जैसे कि आसन वाले भूतल पर

बैठा हुआ पुरुष आसन पर भी बैठा होता है, इसलिये सविकल्प का आधेय जो विकल्प है वह विकल्प का भी आधेय हुआ, तो प्रथम विकल्प और द्वितीय विकल्प दोनों का अभेद होने से अपने में अपने की स्थिति हो गयी और यों आत्माश्रय दोष आगया। इस दोष की निवृत्ति के लिये आधार के विशेषण विकल्प को यदि विकल्पान्तर मानें तो उस पर भी यह प्रश्न हो सकता है कि उस विकल्प का आधार निर्विकल्प है कि सविकल्प है? प्रथम पक्ष तो असम्भव ही है। द्वितीयपक्ष में द्वितीय विकल्प के आधार का विशेषण विकल्प प्रथम विकल्प है अथवा द्वितीय विकल्प है? प्रथम पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष है क्योंकि, प्रथम विकल्प का आधार द्वितीय विकल्प और द्वितीय का तृतीय और वह तृतीय प्रथम विकल्पस्वरूप है तो अर्थात् यह सिद्ध होगया कि प्रथम विकल्प का आधार द्वितीय विकल्प तथा द्वितीय विकल्प का प्रथम विकल्प इसलिये अन्योन्याश्रय दोष है। द्वितीय विकल्प स्वरूप मानें तो आत्माश्रय दोष है। इस दोष की निवृत्ति के लिये तृतीयविकल्प को यदि विकल्पान्तर मानें तो उस पर भी यही प्रश्न हो सकता है कि तृतीय विकल्प का आधार निर्विकल्प है अथवा सविकल्प है? प्रथम पक्ष तो असम्भव ही है। द्वितीय पक्ष में फिर प्रश्न हो सकता है कि चतुर्थ विकल्प प्रथम विकल्पस्वरूप है या विकल्पान्तर है। प्रथम पक्ष में चक्रक दोष है क्योंकि प्रथम विकल्प का आधार द्वितीय विकल्प, द्वितीय का तृतीय, तृतीय का चतुर्थ, चतुर्थ प्रथम स्वरूप है। यों अर्थात् सिद्ध हो गया कि प्रथम का आधार द्वितीय, द्वितीय का तृतीय, तृतीय का प्रथम। इस दोष की निवृत्ति के लिये चतुर्थ विकल्प को यदि विकल्पान्तर मानें तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि

चतुर्थ विकल्प के आधार का विशेषण विकल्प यदि विकल्पान्तर है तो उसमें भी इन दोषों का प्रसंग होने से उसके आधार का विशेषण विकल्प भी विकल्पान्तर ही मानना होगा। इस प्रकार अनेक विकल्पों के होने से अनवस्था होगी। कहीं भी जाकर स्थिति नहीं हो सकेगी।

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु।
समं, तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम् ॥५१॥

गुण, क्रिया, जाति, द्रव्य तथा सम्बन्धादि सभी वस्तुओं में यह दोष तुल्य ही है। इसलिये [ऐसे निरर्थक प्रश्न न करके] यही मान लेना चाहिये, कि ये गुण आदि सब स्वरूप में ही रहते हैं।

विकल्पतदभावाभ्यामसंस्पृष्टात्मवस्तुनि।
विकल्पतत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्यास्तु कल्पिताः ॥६२॥

जो आत्मवस्तु विकल्प और विकल्पाभाव दोनों के ही सम्बन्ध से रहित रहती है, उसी आत्मवस्तु में 'सविकल्पकत्व' 'लक्ष्यत्व' 'निर्विकल्पकत्व आदि सब धर्म [उसी तरह] कल्पित कर लिये गये हैं [जैसे कि आकाश आदि सब जगत् उसमें कल्पित कर लिया गया है]।

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत्।
युक्त्या संभावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत् ॥५३॥

इस प्रकार वाक्यों के द्वारा उनके अर्थों का ज्ञान 'श्रवण' कहाता है। युक्ति से उसी अर्थ की सम्भावना का ज्ञान 'मनन' कहा जाता है।

'जगतो यदुपादानम्' [४४] इत्यादि श्लोकों से प्रतिपादित रीति से 'तत्वमसि' आदि वाक्यों की सहायता से, इन वाक्यों

का जो जीव ब्रह्म की एकता रूपी अर्थ है उसका अनुसन्धान [अन्वेषण] करना ही 'श्रवण' कहाता है। 'शब्दस्पर्शादयो वेद्या' [तत्वविवेक ३] इत्यादि से लेकर 'पराग्प्रत्यगात्मनोरेवं युक्त्या संभावितैकता [तत्वविवेक ४३] पर्यन्त श्लोकों के कहे प्रकार से श्रवण किये हुए इसी अर्थ के संभावितपने का अनुसन्धान [किंवा श्रवण किये हुए अर्थ की संभावना का मन में बैठाना] 'मनन' कहाता है।

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासन मुच्यते ॥५४॥

श्रवण और मनन से जो अर्थ निःसंशय हो चुका है, उसी अर्थ [विषय] में धारण किया हुआ चित्त, जब एकतान हो जाय [जब उस चित्त में उसी विषय की एकाकार वृत्ति का प्रवाह बहने लग पड़े] तब इसी को [योगशास्त्र में] 'निदिध्यासन' नाम से कहा जाता है।

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥५५॥

क्रम से 'ध्याता' और 'ध्यान' को छोड़ कर, जब चित्त केवल 'ध्येय' को ही विषय कर लेता है, जब चित्त निवात स्थान में रखे हुए दीपक की प्रभा के समान निश्चल हो जाता है तब यही अवस्था 'समाधि' कहाती है।

'निदिध्यासन' में तो 'ध्याता' 'ध्यान' तथा 'ध्येय' ये तीनों ही प्रतीत होते रहते हैं। परन्तु जब अभ्यास के प्रभाव से वही चित्त क्रम से पहले तो 'ध्याता' और पीछे से 'ध्यान' को छोड़ देता है और 'ध्येयैकगोचर' हो जाता है [केवल ध्येय को ही

विषय करने लगता है] और वायुरहित प्रदेश में रक्खे हुए दीपक के प्रकाश के समान निश्चल हो जाता है, तब कहा जाता है कि 'समाधि' हो गयी।

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ॥ ५६ ॥

समाधि से उठे हुए पुरुष को जो स्मरण आता है उससे इस बात का अनुमान किया जाता है कि उस समय वृत्तियां ज्ञात तो नहीं होतीं, परन्तु वे आत्मा को विषय किया करती हैं।

समाधि अवस्था में जब कि वृत्तियों की उपलब्धि नहीं होती तब 'वह चित्त ध्येयैकगोचर हो रहा है' ऐसा निश्चय होने का कारण तो यह है कि उस समय की आत्मा को विषय करने वाली वृत्तियां यद्यपि समाधि काल में अज्ञात ही रहती हैं, परन्तु जब वह समाधि से उठता है और उसे स्मरण आता है कि 'मैं इतने समय तक समाधि में डूबा रहा' तब इस स्मरण से उन वृत्तियों का अनुमान हो जाता है।

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात् प्रथमादपि।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद् भवेत् ॥ ५७ ॥

समाधि के समय वृत्तियों की जो अनुवृत्ति होती रहती हैं, वह योगी के समाधि से पहले किये हुए प्रयत्न से, उस के अदृष्ट से तथा उस के वार-बार के समाधि के अभ्यास के संस्कारों से होती रहती हैं।

यद्यपि समाधि के समय वृत्तियों को पैदा करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया जाता, फिर भी जो ध्येयैकगोचर वृत्तियों का तांता बंधा रहता है, वृत्तियों का वह तांता, समाधि से पूर्वकाल

में किये हुए प्रयत्न से, योगियों के अशुक्ल कृष्ण नामक कर्म के प्रताप से [जिसको 'अदृष्ट' भी कहते हैं] तथा बार-बार समाधि का अभ्यास करते रहने से उत्पन्न हुए भावना नाम के संस्कार से बंधा रहता है, अर्थात् इन तीन कारणों से आत्माकार वृत्तियों का प्रवाह बहता रहता है, चाहे उस समय उन वृत्तियों को पैदा करने के लिये भले ही कोई प्रयत्न न भी किया जाता हो।

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥ ५८ ॥

'यथा दीपो निवातस्थः [गीता] इत्यादि श्लोकों के द्वारा अनेक प्रकार से भगवान् ने इसी निर्विकल्प समाधि रूपी अर्थ को अर्जुन के प्रति निरूपण किया है [इससे इस समाधि को अप्रामाणिक समझ लेने का कोई कारण नहीं रहता]

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥ ५९ ॥

अनादिकाल से चलते आते हुए इस संसार में, संचित किये हुए जो अनगिनत पुण्यापुण्य कर्मों के ढेर हैं वे इसी समाधि के प्रताप से नष्ट होते हैं तथा इसी समाधि के प्रताप से शुद्ध धर्म वृद्धि को प्राप्त होने लग जाता है [जिससे कि विलास (कार्य) सहित अविद्या को हटाने वाला साक्षात्कार आ धमकता है]।

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥ ६० ॥

योग के मर्मज्ञ लोग, [जिन को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है], इस निर्विकल्प समाधि को ही 'धर्ममेघ' अर्थात् धर्म को बरसाने वाला कहते हैं। क्योंकि यह समाधि धर्मरूपी अमृत

की हज़ारों धारा बरसाने लग पड़ती है [धर्मामृत की मूसलाधार वृष्टि करने लगती है । साधक को अभ्यास करते करते आनन्द में नित्य ही हज़ारों तरह से नवीनता आती जाती है]

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥६१॥
वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक्परोक्षावभासिते ।
करामलकवद् बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥६२॥

इस समाधि के प्रताप से वासनाजालके सम्पूर्ण नष्ट हो जाने पर,पुण्य पाप नाम के कर्म संचय के समूल उखाड़ दिये जाने पर,'तत्वमसि' आदि वाक्य, बे-रोकटोक होकर, जो तत्व अब तक परोक्ष रूप से ज्ञात हो रहा था, उसी तत्व के विषय में, हाथ पर रक्खे आमले की तरह, प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न कर देते हैं।

इस समाधि का परम प्रयोजन तो यही है कि इसके प्रताप से अहंकार ममकार तथा कर्तृत्व आदि अभिमान का कारण जो ज्ञान का विरोधी संस्कारसमूह है वह जब निःशेष नष्ट हो जाता है तथा जब पुण्य पाप नाम के कर्मों का ढेर समूल उन्मीलित हो चुकता है तब फिर ऐसा अनुकूल वातावरण उत्पन्न होता है कि 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के अर्थ के समझने में जो सत्कर्म तथा वासना अब तक रुकावट डाल रही थीं [अर्थ को समझने नहीं देती थीं] वे सब रुकावटें हट जाती हैं। जो तत्व अब तक परोक्ष रूप से प्रकाशित हो रहा था अब उसी तत्व का प्रत्यक्ष ज्ञान 'तत्वमसि' आदि वाक्य करा देते हैं। अब ज्ञान का विज्ञान बन जाता है ।

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥६३॥

गुरु के मुख से प्राप्त हुआ, 'तत्वमसि' आदि शब्द प्रमाण से उत्पन्न हुआ जो, परोक्ष ब्रह्मविज्ञान है, वह जानकर किये हुए सम्पूर्ण पापों को अग्नि के समान जला डालता है। यही परोक्ष ज्ञान का फल है।

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥६४॥

गुरु-मुख से प्राप्त हुआ, शब्द-प्रमाण से उत्पन्न हुआ, आत्मा का संशय और विपर्यय से रहित यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही संसार का कारण जो अज्ञानरूपी अन्धकार है, उसके लिये चण्डभास्कर अर्थात् दोपहर का सूर्य बन जाता है [बाह्यान्धकार को जैसे दोपहर का सूर्य नष्ट कर देता है, इसी प्रकार अज्ञानान्धकार को यह अपरोक्ष आत्मा का ज्ञान निवृत्त कर देता है]।

इत्थं तत्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय।
विगलितसंसृतिबन्धः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात्॥६५॥

जब कोई विवेकी मनुष्य इस प्रकार से [ब्रह्मात्मैकता रूपी] तत्व का [पाँचों कोशो में से] विवेक कर लेता है और फिर [उसी गम्भीर तत्व में शास्त्रोक्त विधि से] मन को समाहित कर बैठ जाता है तब [अपरोक्ष ज्ञान के प्रताप से] उसका संसार-बंधन निवृत्त होजाता है और वह मनुष्य फिर तुरन्त ही परमपद किंवा निरतिशयानन्दरूपी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है [अथवा यों कहो कि वह सत्य ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है]

श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं तत्वविवेकप्रकरणं समाप्तम्.

ओम्

पञ्चभूतविवेकप्रकरणम्

(अद्वैतबोध का उपाय)

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत् पञ्चभूतविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपञ्चकं प्रविविच्यते ॥१॥

श्रुतियों में जिस सत् अद्वैत का प्रतिपादन किया गया है उसको पंचभूत विवेक से ही जान सकते हैं। इससे अब पाँचों भूतों का विवेक किया जाता है ।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' [छा. ६-२-१] इस श्रुति के द्वारा जगत् की उत्पत्ति से पहले, जगत् के कारण जिस सद्रूप अद्वितीय ब्रह्म की सूचना हमें मिलती है, मन और वाणी का विषय न होने के कारण उस ब्रह्म का सीधा ज्ञान किसी को भी स्वतः नहीं हो सकता। इसलिये उसके कार्य होने से उसकी उपाधि बने हुए पाँचों भूतों का विवेक करके ही हम उसे जान सकते हैं। इसी से अब पाँच भूतों का विवेक किया जाता है। यह पाँचों भूतों का विवेक उस ब्रह्म को जानने का ही उपोद्घात है ।

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो भूतगुणा इमे ।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणा व्योमादिषु क्रमात् ॥२॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये आकाशादि पाँचों भूतों के गुण हैं। इन आकाशादियों में क्रम से एक दो तीन चार तथा पाँच गुण हैं।

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ वीसीति शब्दनम्।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो वन्हौ भुगुभुगुध्वनिः ॥३॥
उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलबुलध्वनिः।
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् ॥४॥
भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ॥५॥
सुरभीतरगन्धौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः।

आकाश में प्रतिध्वनि नाम का शब्द ही एक गुण है। वायु में 'वी सी' ऐसा शब्द तथा अनुष्णाशीत [न गरम न ठण्डा] स्पर्श ये दो गुण हैं। वन्हि में 'भुगुभुगु' शब्द, उष्ण स्पर्श तथा भास्वर रूप ये तीन गुण हैं। जल में 'बुलबुल' शब्द, शीतस्पर्श, शुक्लरूप, तथा मधुर रस, ये चार गुण हैं। पृथिवी में 'कडकडा' शब्द, कठिन स्पर्श, नीलादि चित्ररूप, मधुरअम्लादि रस, तथा सुरभि असुरभि गन्ध, ये पाँच गुण हैं। यहाँ तक गुणों का विवेचन समाप्त हुआ।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेन्द्रियपंचकम् ॥६॥
कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात्।
सौक्ष्म्यात् कार्यानुमेयं तत् प्रायो धावेद्बहिर्मुखम् ॥७॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये पाँच इन्द्रियाँ क्रम से कान आदि छिद्रों में रहती हैं। और शब्दादि गुणों को ग्रहण किया करती हैं। [क्योंकि] वे इन्द्रियाँ [अपंचीकृत भूतों से

वनी हैं इसलिये] इतनी सूक्ष्म हैं कि दिखाई नहीं पड़तीं। केवल [उनके] कार्य से ही इन का अनुमान किया जा सकता है। ये इन्द्रियाँ प्राय: करके बहिर्मुख हो जाती हैं और बाह्य विषय समूह में ही दौड़ लगाया करती हैं।

कदाचित् पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आन्तरः।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे ॥८॥
व्यज्यन्ते ह्यान्तराः स्पर्शा मीलने चान्तरं तमः।
उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रहः ॥९॥

[पहले श्लोक में जो कि इन्द्रियों को प्राय: बहिर्मुख बताया गया है उस प्राय: का तात्पर्य यह है कि] कभी कान को बन्द कर लेने पर प्राणवायु तथा पेट की अग्नि का आन्तर शब्द भी सुनाई पड़ा करता है ॥८॥ जल पीते समय तथा अन्न खाते समय अन्दर के स्पर्श भी प्रतीत हुआ करते हैं। उद्गार [डकार] आने पर तो अन्दर के रस तथा गन्ध दोनों ही ग्रहण में आते हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ अन्दर के विषयों का ग्रहण भी किया करती हैं।

पञ्चोक्त्यादानगमनविसर्गानन्दकाः क्रियाः।
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पञ्चस्वन्तर्भवन्ति ते ॥१०॥

वचन, आदान, गमन, विसर्ग तथा आनन्द ये पाँच क्रिया प्रसिद्ध ही हैं। खेती, वाणिज्य तथा सेवा आदि दूसरी क्रियायें भी इन्हीं पाँच क्रियाओं में अन्तर्भूत हो जाती हैं। [इसलिये मुख्य क्रिया पाँच ही हैं]

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्तत्क्रियाजनिः।
मुखादिगोलकेष्वास्ते तत् कर्मेन्द्रियपंचकम् ॥११॥

वाक्,पाणि,पाद, पायु तथा उपस्थ नाम की इन्द्रियों से उन उन क्रियाओं की उत्पत्ति होती हैं। इन क्रियाओं के द्वारा ही इन कर्मेन्द्रियों का अनुमान होता है। मुख,कर,चरण,गुदा तथा उपस्थ नाम के गोलकों में ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ निवास किये रहती हैं।

मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम्।
तच्चान्तःकरणं, बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः ॥१२॥
अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद् गुणदोषविचारकम्।
सत्वंरजस्तमश्चास्य गुणा, विक्रियते हि तैः ॥१३॥

इन दसों इन्द्रियों का प्रेरक मन तो हृदय के पद्माकार गोलक में रहता है। उसको अन्त:करण अर्थात् अन्दर की इन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि वह इन्द्रियों के विना बाह्य विषयों में स्वतन्त्र नहीं होता ॥१२॥ इन्द्रियों को जब विषयों में भेज दिया जाता है तब यह मन उन विषयों के गुण दोष का विचार किया करता है [कि यह विषय अच्छा है या बुरा] सत्व, रज तथा तम ये तीनों इस मन के गुण हैं। क्योंकि इन गुणों के कारण यह मन विकार को प्राप्त होता [बदलता] रहता है। [इन तीनों गुणों के कारण वैराग्य काम तथा निद्रा आदि अनेक वृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं और मन को विकृत कर देती हैं]

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्वसंभवाः।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः ॥१५॥
आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः।
सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः ॥१६॥
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुःक्षपणं भवेत्।
अत्राहंप्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ॥१७॥

वैराग्य, क्षमा, उदारता इत्यादि मनोविकार सत्व गुण के हैं। काम, क्रोध, लोभ, तथा यत्न आदि विकार रजोगुण से उत्पन्न हो जाते हैं ॥१४॥ आलस्य, भ्रान्ति तथा तन्द्रा आदि विकार तमोगुण से उठा करते हैं। सात्विक विकारों से पुण्य की निष्पत्ति होती है। राजस विकारों से पाप की उत्पत्ति होती है ॥१५॥ तामस विकारों से पुण्य या पाप कुछ भी नहीं होता। किन्तु व्यर्थ ही आयु के दिन कट जाते हैं। इन सब [ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, प्राणों तथा अन्तःकरणों] में से 'मैं' भाव करने वाले को 'कर्ता' अर्थात् प्रभु [मालिक] कहा जाता है। क्योंकि लोक में भी कार्य करने वाले को ही प्रभु कहा जाता है।

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम्।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम् ॥१७॥

जिन वस्तुओं में शब्दस्पर्शादि गुण स्पष्ट ही दीख रहे हैं वे तो स्पष्ट ही भौतिक हैं। जो इन्द्रियां दृष्टिगोचर नहीं होती हैं, उनके भौतिक होने का निश्चय शास्त्र तथा युक्ति से कर लेना चाहिये।

'अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक्' मन अन्न से बना है, प्राण जलमय है, वाणी अग्निमयी है इत्यादि शास्त्र से इन्द्रियों का भौतिक होना सिद्ध होता है। जब हम बहुत दिनों तक नहीं खाते तब मन आदि सभी इन्द्रियां अपना अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं, जब फिर खाने लगते हैं तब फिर हरी-भरी हो जाती हैं, इस युक्ति से भी मन आदि इन्द्रियों का भौतिक होना सिद्ध होता है।

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते।
यावत्किञ्चिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ॥१८॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली इस श्रुति के 'इदं' शब्द का अर्थ इस श्लोक में बताया गया है कि ग्यारह इन्द्रियों से, युक्तियों से, शास्त्रों से तथा अर्थापत्ति आदि प्रमाण ज्ञानों से, जितना भी कुछ जगत् जाना जाता है, वह सब का सब इस श्रुतिवाक्य के 'इदं' शब्द का ही अर्थ है।

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम्।
सदेवासीन्नामरूपे नास्तामित्यारुणेर्वचः ॥१९॥

उद्दालक आरुणि ने (छा०२-१ में) यह बात कही है कि सृष्टि के उत्पन्न होने से पहले यह सब जगत् जो दीख रहा है इस रूप में नहीं था। किन्तु उस समय एक अद्वितीय सद्वस्तु ही थी। उस समय नाम या रूप [आकार] कुछ भी नहीं था।

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥२०॥
तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥२१॥

वृक्ष का 'स्वगतभेद' पत्र फूल फल आदि से होता है। दूसरे वृक्षों से 'सजातीय भेद' रहता है। पत्थर आदि से 'विजातीय भेद' होता है। इसी तरह सद्वस्तु में प्राप्त हुए सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद का निवारण क्रम से ऐक्य, अवधारण, तथा द्वैत का प्रतिषेध करने वाले 'एकम्', 'एव', 'अद्वितीयम्' ये तीनों पद कर रहे हैं।

इस श्रुति में जो 'एकम्' 'एव' 'अद्वितीयम्' ये तीन पद हैं वे सद्वस्तु में के तीनों भेदों का निवारण करते हैं। लोक में तीन प्रकार का भेद होता है एक 'स्वगत' दूसरा 'सजातीय' तीसरा

'विजातीय'। वृक्ष का स्वगत भेद अपने ही पत्ते फूल फल आदियों से होता है। आम्र वृक्ष का सजातीय भेद अपने सजातीय शिंशपा वृक्ष से होता है तथा उसी का विजातीय भेद पत्थर आदि से होता है ॥२०॥ अन्यान्य पदार्थों में पाया जाने वाला इस तरह का एक भी भेद इस सद्वस्तु में नहीं है। इन तीनों तरह के भेद को हटाने के लिये ही इस श्रुति ने ये तीन पद कहे हैं। वस्तुत्व रूपी समानता को देख कर अन्यान्य पदार्थों के समान ही सद्रूप आत्मवस्तु में भी जब स्वगतादि तीनों भेदों की प्रसक्ति होती है तब स्वगत भेद को 'एकम्' यह पद हटाता है, सजातीय भेद को 'एव' यह पद दूर कर देता है, तथा विजातीय भेद को 'अद्वितीयम्' यह तीसरा पद रहने नहीं देता।

सतो नावयवाः शङ्क्यास्तदंशस्यानिरूपणात्।
नामरूपे न तस्यांशौ तयो रद्याप्यनुद्भवात् ॥२२॥

सद्वस्तु के भी अवयव होते हों, ऐसी शंका मत करना क्योंकि उसके अंश का निरूपण हो ही नहीं सकता। नाम और रूप [आकार] भी उसके अंश नहीं हैं। क्योंकि अभी तक अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के प्रथम तक, वे नाम रूप उत्पन्न नहीं हो पाये हैं।

स्वगत-भेद मान सकने के लिये जिन अवयवों की आवश्यकता होती है वे अवयव तो सद्वस्तु में होते ही नहीं। क्योंकि उसके अवयवों के स्वरूप का निरूपण—कि वे कैसे हैं—आज तक नहीं हो सका है। यदि नाम रूप को उसके अंश मानो तो जब कि अभी तक सृष्टि ही उत्पन्न नहीं हुई है तब ये सृष्टिकाल में होने वाले नामरूप उस समय की शुद्ध सद्वस्तु के अंश कैसे हो जायँगे?

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात् सृष्टितः पुरा ।
न तयोरुद्भवस्तस्मान्निरंशं सद्यथा वियत् ॥२३॥

नाम तथा रूप का उद्भव हो जाना यही तो 'सृष्टि' कहाती है। बस इसी से समझ लो कि सृष्टि से प्रथम नाम और रूप की उत्पत्ति नहीं हुई थी। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि सद्वस्तु आकाश के समान निरवयव पदार्थ ही है --अर्थात् उसके अन्दर 'स्वगतभेद' को गुंजाइश है ही नहीं।

सदन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात् ।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा ॥२४॥

विलक्षणता न होने से इस सत् की जाति का दूसरा कोई सत् पदार्थ होता होगा यह भी नहीं माना जाता। नामरूप नाम की उपाधि के भेद के विना सत् पदार्थ में तो भेद है ही नहीं।

सत् की जाति का ही दूसरा कोई सत् पदार्थ होता होगा इस बात को कैसे मान लिया जाय ? क्योंकि इस दूसरे सत् पदार्थ में इस सत् पदार्थ से कुछ विलक्षणता तो होती ही नहीं। इस में स्वयं भी कुछ विलक्षणता नहीं होती। जो भी कुछ विलक्षणता देख पड़ती है वह सब नामरूप की उपाधियों के भिन्न भिन्न होने से ही है। सद्वस्तु में स्वभाव से आकाश के समान कोई भी भेद नहीं है। जैसे कि आकाश में स्वतः तो कोई भी भेद नहीं है परन्तु घट मठरूपी उपाधियों के भेद से उसमें भेद की भ्रान्त प्रतीति होने लगती है।

विजातीयमसत् तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते ।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ॥२५॥

सत् का विजातीय जो कोई पदार्थ होगा वह तो असत्

ही होगा। असत् शब्द ही से यह प्रतीत होता है कि वह पदार्थ है ही नहीं। इस कारण यह असत् पदार्थ तो उसका प्रतियोगी [सम्बन्धी] हो ही नहीं सकता। फिर बताओ कि विजातीय वस्तु से भी सद्वस्तु में भेद कैसे आयेगा ?

एकमेवाद्वितीयं सत् सिद्धमत्र तु केचन।
विह्वला असदेवेदं पुरासीदित्यवर्णयन् ॥२६॥

इस प्रकार यहां तक यह सिद्ध हो गया कि सत् एक ही अद्वितीय वस्तु है—[उस में स्वगत, सजातीय तथा विजातीय किसी प्रकार का भी भेद नहीं है] परन्तु इस सद्वस्तु के विषय में भी किन्हीं विह्वल [उन्मार्गगामी] पुरुषों ने यह कहा है कि यह सब पहले असत् ही था अर्थात् था ही नहीं।

मग्नस्याब्धौ यथाक्षाणि विह्वलानि तथास्य धीः।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निःप्रचारा बिभेत्यतः ॥२७॥

समुद्र में डूबे हुए पुरुष की इन्द्रियां जैसे व्याकुल हो (घबरा) जाती हैं, इसी प्रकार इस अविचारशील असद्वादी का मन, अखण्डैकरस वस्तु को सुन कर, निःप्रचार [गतिरहित] होकर डरा करता है। [साकार वस्तु में जैसे मन चक्कर लगाया करता है, समुद्र के समान अखण्ड एकरस वस्तु में वैसा विचरण करना नहीं मिलता। यही कारण है कि अपनी दुर्वासनावश वे लोग इस सद्वस्तु को सुन कर चौंक उठते हैं।]

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम्।
साकारब्रह्मनिष्ठाना मत्यन्तं भयमूचिरे ॥२८॥

गौडाचार्य ने यह बात कही है कि इस निर्विकल्प समाधि में दूसरे साकार ब्रह्म के उपासक योगियों को बहुत ही भय लगा करता है।

निर्जन वन में भय का कोई भी कारण न होने पर, वहां की सुनसान परिस्थिति से, जैसे अबोध बालक डरा करता है, इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि के शान्त वायुमण्डल से ही दूसरे योगियों को भय मालूम होने लगता है। उनका उस में जी नहीं लगता।

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥२९॥

गौडपादाचार्य के शब्द ये हैं कि—यह जो अस्पर्श योग नाम की निर्विकल्पसमाधि है, साकार ब्रह्म का ध्यान करने वाले किसी भी योगी को इस के दर्शन नहीं हो पाते। क्योंकि वे सभी प्रकार के भेददर्शी योगी लोग [निर्जन वन में बालकों की तरह] इस भयशून्य समाधि में भय को देखते हैं [किंवा भय के कारण की कल्पना कर लेते हैं] और इस अस्पर्श योग से डरा करते हैं।

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून्।
आहुर्माध्यमिकान् भ्रान्तानचिन्त्येऽस्मिन् सदात्मनि ॥३०॥

भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्य जी ने तो इन सूखे तर्ककुशल माध्यमिक बौद्धों के विषय में यह कहा है कि ये लोग अचिन्त्य सदात्मा के विषय में सदा ही भ्रान्त बने रहते हैं। [इन्हें यह तत्व कभी भी समझ नहीं पड़ेगा।]

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः।
आपेदिरे निरात्मत्व मनुमानैकचक्षुषः ॥३१॥

भगवत्पूज्यपाद के शब्द ये हैं कि—ये तमोगुणी बौद्ध लोग अपनी बेसमझी से, श्रुति की परवाह न कर के, निरात्मवाद को मान बैठे हैं। क्योंकि उन्होंने शास्त्र को छोड़कर, अनुमान

को ही अपनी आंख बना लिया है [अनुमान से जो बात सिद्ध हो जाती है उसे ही ये मानते हैं]

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ।
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वतः ॥३२॥

हे असद्वादी ! अच्छा तू यह बता कि जब तू 'शून्य था' यह कहता है तब क्या तू शून्य के साथ सत्ता [होने] का योग मानता है ? या शून्य को सदात्मा ही मान लेता है ? परन्तु व्याघात होने से शून्य में तो ये दोनों ही बातें युक्त नहीं हैं [न तो शून्य के साथ सत्ता का सम्बन्ध ही हो सकता है और न शून्य कभी सद्रूप ही हो सकता है]

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ।
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत् कथं वद ॥३३॥

जैसे अन्धकार से न तो सूर्य युक्त ही हो सकता है और न वह सूर्य कभी तमोमय ही हो सकता है। इसी प्रकार सत् और शून्य का विरोध होने से शून्यवादी यह बताये कि 'शून्य-था' यह असंगत बात संगत कैसे होगी ?

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ।
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥३४॥

[यदि शून्यवादी यह कहता हो कि] आकाशादि के नाम-रूप जैसे माया से [निर्विकल्प ब्रह्म में] कल्पित कर लिये गये हैं, इसी प्रकार शून्य के भी नाम और रूप [सद्वस्तु में ही] कल्पित कर लिये गये हैं, तो हम कहेंगे कि ऐसा कहने वाला बौद्ध जुग जुग जिये। क्योंकि वह तो अपने भ्रामक सिद्धान्त से गिर गया है और उसे तत्त्व का परिज्ञान हो गया है ।]

वेदान्त मत में जब आकाश आदि सभी जगत् मिथ्या है फिर 'आकाश है' इत्यादि रूप में उसमें सत्ता कहां से आयी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अधिष्ठान का धर्म अध्यस्त पदार्थों में प्रतीत हुआ करता है, रस्सी की सत्ता सांप में प्रतीत हो जाती है, यदि उसी तरह की शून्य की भी सत्ता मानते हो तो हमें कुछ कहना नहीं है ।

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद ।
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते ॥३५॥

यदि शून्यवादी यह कहता हो कि ऐसे तो सत् के भी नाम और रूप दोनों ही कल्पित हैं, तो वह बताये कि सत् के नाम रूप किस में कल्पित हैं ? क्योंकि बिना अधिष्ठान का भ्रम तो कहीं भी नहीं देखा जाता ।

सदासीदिति शब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत् ।
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ॥३६॥

'असदेवेदमग्र आसीत्' इस में जैसे शून्यावादी के पक्ष में व्याघात दोष बताया गया है इसी प्रकार 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस वाक्य में भी तो यह एक बड़ा दोष है । क्योंकि जब कहा जाता है कि 'सत् आसीत्=सत् था' तब हम पूछते हैं कि 'सत् आसीत्' इन दोनों शब्दों का अर्थ भिन्न भिन्न है या नहीं ? यदि कहो कि अर्थ भिन्न है तब तो विगुणता आजाती है [अथवा यों कहो कि अद्वैतवाद फिर कहाँ ठहरता है !] यदि अर्थ को अभिन्न [एक] ही माना जाय तो पुनरुक्ति दोष आता है । पूर्वपक्षी का यह सब कथन ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसे वाक्यों में कभी भी पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता । लोक में ऐसे [समानार्थक] शब्दों का प्रयोग बार बार देखा ही जाता है ।

कर्तव्यं कुरुते, वाक्यं ब्रूते, धार्यस्य धारणम् ।
इत्यादिवासनाविष्टं प्रत्यासीत् सदितीरणम् ॥३७॥

देखो, 'कर्तव्य को करता है' 'वाक्य को बोलता है,' 'धार्य को धारण करता है' इत्यादि समानार्थक दो दो शब्दों का प्रयोग करने की वासना जिन [अधिकारियों] के मन में बैठी हुई है उनसे [उनके ही मुहावरे में] श्रुति ने यह कह दिया है कि उस समय सत् ही था ।

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् ।
शिष्यं प्रत्येव, तेनात्र द्वितीयं नहि शंक्यते ॥३८॥

[आसीत् का मतलब है भूतकाल में विद्यमान होना] जब कि काल नाम का कोई सत्य पदार्थ नहीं है, फिर 'अग्रेआसीत्= पहले था' यह कथन काल की वासना से युक्त शिष्य के लिये किया गया है [द्वैत वासानाओं से दबे हुए श्रोताओं को समझाना ही तो श्रुति का अभिप्राय है । वे श्रोता जैसी टूटी फूटी अधूरी भाषा में बोलने के आदी हैं, उसी भाषा में श्रुति ने उनके हित की बात उनसे कह दी है ।] इस मुहावरे के कारण द्वितीय के होने की शंका नहीं की जा सकती ।

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया ।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ॥३९॥

आक्षेप या परिहार द्वैत की बोली में ही तो किया जा सकता है । [व्यवहार दशा के रहते रहते ही 'चोद्य' या 'परिहार' आदि करना चाहिये] । अद्वैत [की नीरव भाषा] में तो न कुछ आक्षेप ही बनता है और न उसका कुछ उत्तर ही होता है ।

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किंचिदवशिष्यते ॥४०॥

तब स्तिमित और गम्भीर तेज और तम से भिन्न, व्यापक अकथनीय और अप्रकट सत् नाम का कुछ पदार्थ शेष रह जाता है।

स्मृति में भी कहा है कि तब स्तिमित [निश्चल] तथा गम्भीर [अज्ञेय] जिसको मन से भी नहीं जान सकते, जिसको न तेज ही कह सकते हैं और न तम ही कहते बनता है, किन्तु जो इन दोनों ही से विलक्षण सर्वत्र व्यापक तत्त्व है; वह अनाख्य और अनभिव्यक्त तत्त्व है। उसका न तो शब्दों से कथन हो सकता है और न वह चक्षु आदि इन्द्रियों से व्यक्त ही होता है। वह सत् अर्थात् शून्य से विलक्षण है। इसी से कहते हैं कि ऐसा ही कुछ तत्त्व—जिसके विषय में कुछ भी शब्द कहा नहीं जा सकता—शेष रह जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण द्वैत का निषेध करते करते, निषेध की अवधि के रूप में जो तत्त्व शेष रह जाता है—जिसका निषेध हो ही नहीं सकता—जिसका निषेध करने का साहस करते ही निषेध भी नहीं रहता—उस समय शेष रहे हुए ऐसे तत्त्व को जान लो।

ननु भूम्यादिकं मा भूत् परमाण्वन्तनाशतः ।
कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ॥४१॥

अब पूर्वपक्षी यह प्रश्न करता है कि—परमाणुपर्यन्त पदार्थों का नाश हो जाने से भूमि, जल, अग्नि और वायु न रहें, यह तो हम मान सकते हैं। किन्तु नित्य आकाश का असत्त्व (न

रहना) तुम्हारी समझ में कैसे आ जाता है ? यह तो हमारी समझ में नहीं आता ।

अत्यन्तं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ।
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥४२॥

सिद्धान्ती दृष्टान्त देकर उत्तर देता है कि—जैसे तेरी बुद्धि को यह समझ पड़ता है कि कभी यह आकाश सम्पूर्ण जगत् से रहित हो सकता है [जगत् न रह कर आकाश ही आकाश रह जाता है] इसी प्रकार तू ज़रा और ऊपर क्यों नहीं चढ़ जाता ? यह बात तेरी समझ में क्यों नहीं आ जाती कि इस सद्वस्तु में तो आकाश तत्व भी नहीं है ? निराकाश सत् पदार्थ को तू क्यों नहीं समझ लेता है। [जैसे बिना जगत् का आकाश हो सकता है,इसी प्रकार बिना आकाश की सद्वस्तु भी हो सकती है।]

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत् प्रकाशतमसी विना ।
क्व दृष्टं किंच ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत् खलु ॥४३॥

यदि तू कहे कि मैंने बिना जगत् का आकाश देखा है इसी से मैं आकाश को निर्जगत् मान लेता हूं, तो हम पूछते हैं कि प्रकाश या अन्धकार के बिना तुम ने अकेले आकाश को कहां देखा है ? इनके बिना तो आकाश कभी रहता ही नहीं। एक और भी बात है कि तुम्हारे मत में तो आकाश का प्रत्यक्ष दर्शन होता ही नहीं है । ऐसा कहते हुए तुम तो अपसिद्धान्ती हो जाते हो ।

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभि र्निश्चितैरनुभूयते ।
तूष्णीं स्थितौ, न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात् ॥४४॥

[हमारी सद्वस्तु के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उस

का भी तो दर्शन आकाश के समान ही नहीं होता है क्योंकि] हम राजयोगी लोग चुपचाप बैठकर जब निश्चिन्त हो गये होते हैं तब उस शुद्ध सद्वस्तु का अनुभव किया ही करते हैं। मौन हो जाने के समय, और किसी की प्रतीति न होने से शून्य ही रह गया है, ऐसा मानना ठीक नहीं। क्योंकि शून्य को भी तो शून्य की प्रतीति नहीं हो सकती? इस कारण वह प्रतीत होने वाला जो पदार्थ है वह शून्य नहीं हो सकता। वह तो सद्वस्तु ही है। 'निश्चितैः' के स्थान पर "निश्चिन्तैः" पाठ प्रतीत होता है।

इस में ध्यान देने की बात वह है कि सम्पूर्ण दृश्यों को छोड़ चुकने के बाद गम्भीर विचार करें तो शून्यावस्था की प्रतीति होने लगती है और इस शून्य अवस्था से प्रायः साधक लोग घबरा जाते हैं। इस में उन का जी नहीं लगता। परन्तु ऐसे समय अत्यन्त सावधान हो कर इस शून्य अवस्था का ज्ञान कराने वाले ज्ञानरूप साक्षी आत्मा तक पहुँचना चाहिये। इस शून्य में ही नहीं रुक जाना चाहिये। इस शून्य तथा इस शून्य को पहचानने वाले साक्षी में राजहँस की तरह विवेक कर लेना चाहिये। इस साक्षी को यदि आप भुला डालेंगे तो अवश्य ही शून्य ही शून्य दिखाई देगा। जो आत्मा नहीं है वह शून्य तो है ही। परन्तु आप ध्यान रक्खें कि शून्य को तो शून्य का ज्ञान हो ही नहीं सकता। इस शून्य का ज्ञान जिस को हो रहा है, वही तो हम राज-योगियों की प्यारी सद्वस्तु है।

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः।
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात् सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥४५॥

यदि कहो कि समाधि अवस्था में तो सद्बुद्धि भी नहीं रह

जाती है [उस समय तो यह भी खयाल नहीं रहता है कि सत् नाम की भी कोई वस्तु इस संसार में है] तो इसका समाधान यह है कि यदि उस समय सद्बुद्धि नहीं रहती है तो भले ही न रहे। यह सत् तत्व तो एक स्वयंप्रकाश पदार्थ है। उस के विषय की बुद्धि न रहने पर भी उस का ज्ञान होने की रीति यह है कि] वह सद्वस्तु तो उस समय [समाधि अवस्था] की निर्मनस्कस्थिति का साक्षी है। इस कारण सन्मात्र वस्तु का परिज्ञान होना मनुष्यों को बड़ा ही, सुगम है। निर्मनस्क अवस्था को जो जानता रहता है वही सद्वस्तु है।

मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः।
मायाजृम्भणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ॥४६॥

मनोव्यापार जब नहीं होते, तब जैसे साक्षी [आत्मा] निराकुल होता है, इसी प्रकार [सृष्टि की उत्पत्ति से पहले] जब माया का जृम्भण ही नहीं हो पाया था—यह सद्वस्तु भी निराकुल ही थी यह बात जानी जा सकती है।

निस्तत्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।
न हि शक्तिः क्वचित् कैश्चिद् बुध्यते कार्यतः पुरा ॥४७॥

पृथक् तत्व रहित तथा कार्यों को देखकर ही पहचानने योग्य जो इस सद्वस्तु की शक्ति किंवा सामर्थ्य है उस को ही 'माया' कहते हैं। वह माया ऐसी है जैसी अग्नि की शक्ति। क्योंकि कहीं भी कोई शक्ति को कार्य की उत्पत्ति से प्रथम नहीं जान सकता।

[अब माया का लक्षण बताया जाता है कि जगत् के कारण सद्वस्तु से पृथक् जो कोई भी तत्व नहीं होती है तथा आकाशादि कार्यों को देखकर ही जिस का अनुमान कर सकते हैं, आकाशादि

कार्यों को उत्पन्न करने वाली सद्वस्तु की ऐसी शक्ति किंवा ऐसे सामर्थ्य को ही तो 'माया' कहते हैं। अग्नि की शक्ति जैसे अग्नि से पृथक् कोई तत्त्व नहीं होती है, अग्नि की शक्ति को जैसे उस के दाहादि कार्यों को देखकर ही जान सकते हैं ऐसी ही यह माया भी है। कार्यों के उत्पन्न हो जाने से पहले कोई भी कभी शक्ति को पहचान नहीं सकता है।]

न सद्वस्तु सतः शक्ति र्न हि वन्हेः स्वशक्तिता।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्व मुच्यताम् ॥४८॥

वह सत् की शक्ति, सद्वस्तु ही हो, यह नहीं हो सकता देखते हैं कि वन्हि स्वयं अपनी शक्ति नहीं होती। उसको सत् से विलक्षण किसी तरह की मानने पर तो शक्ति का स्वरूप बताना चाहिये कि वह कैसा होगा?

[वह शक्ति यद्यपि कार्यरूपी लिंग से जानी जाती है, परन्तु वह असल में निस्तत्वरूप ही है। यह बात इन दो श्लोकों में सिद्ध की गई है। वह शक्ति भी कोई दूसरी सद्वस्तु ही हो, तब तो सत् से भिन्न हो जाने के कारण, उस की शक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि देखते हैं कि अग्नि ही अग्नि की शक्ति नहीं होती है। यदि उसको सत् से विलक्षण तत्त्व मानोगे तो शक्ति का स्वरूप बताना चाहिये कि वह कैसा होगा?]

शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम्।
न शून्यं नापि सद्यादृक् तादृक् तत्वमिहेष्यताम् ॥४९॥

यदि उस शक्ति का रूप शून्य को बताया जाय तो शून्य तो माया का कार्य ही है। यह बात इसी प्रकरण के चौंतीसवें श्लोक में कही गयी है। इस कारण यही कहना पड़ता है कि वह माया

न तो शून्य ही है और न सत् ही है । ऐसा कोई सदसद्विलक्षण तत्व अगर तुम समझ सकते हो तो वैसा तत्व ही माया को समझ लो। उस माया का निर्वचन सत् और असत् इन दो शब्दों से नहीं हो सकता है ।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं किंत्वभूत्तमः ।
सद्योगात्तमसः सत्वं न स्वत स्तन्निषेधनात् ॥५०॥

'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' इस श्रुति ने भी इस बात का अनुमोदन किया है । वह कहती है कि 'उस समय न तो सत् ही था', और 'न असत् ही था' । किन्तु बस तम ही तम था। इस सत् का योग हो जाने से ही तो उस तम में सत्ता आ गयी थी। उस तम में स्वतः सत्ता नहीं थी । उसके सत् होने का तो इस श्रुति ने अपने मुख से ही स्पष्ट निषेध कर डाला है ।

अत एव द्वितीयत्वं शून्यवन्नाहि गण्यते ।
न लोके चैत्रतच्छक्त्यो र्जीवितं लिख्यते पृथक् ॥५१॥

इस सब का फलित यही हुआ कि क्योंकि माया की स्वतः सत्ता [स्वतन्त्र सत्ता] मानी ही नहीं जाती है ,इसलिये जैसे शून्य को दूसरा पदार्थ नहीं माना जाता इसी प्रकार माया को भी कोई दूसरा पदार्थ नहीं गिना जाता है । लोक में भी देखते हैं कि चैत्र तथा उसकी शक्ति का पृथक् पृथक् उल्लेख कहीं नहीं किया जाता । [चैत्र और चैत्र की शक्ति को कोई भी दो पदार्थ नहीं गिनता है ।]

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद् वर्धते तत्र वृद्धिकृत् ।
न शक्तिः, किन्तु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा ॥५२॥

शक्ति की अधिकता होती है तो जीवन की वृद्धि पायी जाती

है । इस दृष्टान्त से शक्ति का जीवित [सत्ता] पृथक् मान लेना ठीक नहीं है । क्योंकि शक्ति से किसी के जीवित की वृद्धि नहीं होती है । किन्तु शक्ति के कार्य जो कुश्ती तथा खेती आदि हैं उन से जीवन की वृद्धि हो जाती है । [इसी प्रकार प्रकृत में भी समझ लेना चाहिये कि उस ब्रह्म में उसकी शक्ति के कारण से द्वितीयपन (द्वैतभाव) नहीं आ जाता है ।]

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित् ।
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शङ्क्यते कथम् ॥५३॥

केवल शक्ति की तो पृथक् गणना [गिनती] कहीं होती ही नहीं। यदि यह कहो कि शक्ति के कार्यों से ही उस ब्रह्म में सद्वितीयता [द्वैतभाव] आ जायगी तो उसका उत्तर यह है कि उस समय [सृष्टि की उत्पत्ति से प्रथम] तो शक्ति का कार्य भी कुछ नहीं था। फिर [उस समय] द्वितीय [दूसरे] के होने की शंका क्यों करते हो ?

प्रलय काल में ब्रह्म और उसकी शक्ति दोनों होते तो हैं, परन्तु किसी की भी शक्ति की गिनती उससे पृथक् नहीं की जाती है। सृष्टि बनने के बाद शक्ति के नाना कार्य हो तो जाते हैं, परन्तु सृष्टि बनने के पीछे के कार्यों से, सृष्टि बनने से प्रथम काल में, द्वितीयपन कैसे आ सकेगा ?

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किन्त्वेकदेशभाक् ।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ॥५४॥

ब्रह्म की वह शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म में नहीं रहती है। किन्तु उस ब्रह्म के एक देश में ही रहती है । जिस प्रकार घड़ा मिट्टी से बनता है, परन्तु घट को उत्पन्न करने की शक्ति केवल चिकनी मिट्टी में ही रहती है ।

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः।
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ॥५५॥

'पादोस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' [यजुर्वेद ३१] ये सम्पूर्ण भूत इसके एक चतुर्थांश में ही हैं। इसका तीन चौथाई भाग तो अभी भी अमर और स्वयं प्रकाश ही है। यह श्रुति कह रही है कि ब्रह्म की माया ब्रह्म के किसी एक देश में रहती है, सम्पूर्ण में नहीं रहती।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ॥५६॥

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [गीता १०-४२] मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से धारण किये हुए हूँ यों कृष्ण भगवान ने भी अर्जुन के प्रति जगत् की एकदेशता का ही वर्णन किया है।

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः ॥५७॥

'स भूमिं विश्वतो वृत्वा' [श्वे० ३-१४] यह मन्त्र तथा विकारावर्ति यह वेदान्तसूत्र ब्रह्म के निर्माय स्वरूपको बता रहे हैं।

ब्रह्म का निर्माय स्वरूप भी है, इसमें प्रमाण की दर्कार हो तो 'स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' उसने समस्त लोक लोकान्तरों को चारों तरफ से लपेट लिया है, फिर भी वह उसके बाहर दशाङ्गुल रह ही गया है' इस श्रुति ने तथा 'विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह' (ब्रह्मसूत्र ४-४-१९) विकारों में न रहनेवाला नित्य मुक्त भी परमेश्वररूप है। केवल विकारों में रहनेवाला ही परमेश्वररूप नहीं है। क्योंकि वेद ने स्वयं अपने श्रीमुख से

इस परमेश्वर की दो रूप की स्थिति का वर्णन किया है कि, 'तावानस्यमहिमाऽतो ज्यायांस्पूच पूरुष:पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' यह सब उस ब्रह्म की विभूति का विस्तार ही है। वह स्वयं तो इस नामरूपधारी जगत् से बहुत ही बड़ा है। उस ब्रह्म पुरुष में किसी प्रकार का विकार नहीं है। तेज, जल, पृथिवी आदि सब के सब उसके एक चतुर्थांश में ही हैं। इस अमृत पुरुप का तीन चौथाई भाग तो अभी भी अपने प्रकाशशील स्वत:प्रभ आत्मरूप में स्थित है।

निरंशेप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः ।
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृ हितैपिणी ॥५८॥

है तो वह असल में निरंश ही। परन्तु पहले उसमें अंश का आरोप कर लिया गया है और फिर यह पूछा गया है कि शक्ति कृत्स्न [सम्पूर्ण] में रहती है या अंश में रहती है? श्रोताओं का हित चाहने वाली श्रुति ने, उनकी ही भाषा में उसका उत्तर दे डाला है [इस कारण श्रुति की भापा में और ब्रह्म के निरंशपने में कोई भी विरोध नहीं है]।

सत्तत्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत् सति विक्रियाः ।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा ॥५९॥

उस सत् तत्व में रहने वाली वह शक्ति, उस सत् में ही विक्रिया अर्थात् कार्यविशेषों को उत्पन्न किया करती है। जैसे कि भीत पर पोते हुए लाल पीले आदि नानाविध रंग नाना-विध चित्र को भित्ति पर ही उत्पन्न किया करते हैं।

आद्यो विकार आकाशः सोवकाशस्वरूपवान् ।
आकाशोऽस्तीति सत्तत्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति ॥६०॥

उस शक्ति का सब से पहला विकार ['कार्य'] तो आकाश ही होता है। वह अवकाश स्वरूप है। [वह आकाश उस सत् ब्रह्म का कार्य है। इस बात को तो हम इस हेतु से जानते हैं कि] यह सत् तत्व आकाश में भी अनुगत हो रहा है। जभी तो कहा जाता है कि 'आकाऽशोस्ति" अर्थात् आकाश है [यदि आकाश सत् से बना न होता तो 'आकाशोऽस्ति' में आकाश के साथ सत्ता का योग कैसे हो जाता]

एकस्वभावं सत्तत्वमाकाशो द्विस्वभावकः।
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम्॥६१॥

सत् तत्व तो एक स्वभाव वाला है। आकाश दो स्वभाव वाला हो गया है। [इसी को विस्तार से यों समझो कि] सद्वस्तु में अवकाश [छेद] कहीं भी नहीं है [वह सर्वत्र ठसाठस भरी हुई है]। उसका तो सत् ही एक स्वभाव है। परन्तु आकाश में तो वह सत्स्वभाव तथा यह अवकाश स्वभाव दोनों ही रहते हैं।

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते।
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं, द्विगुणं वियत्॥६२॥

अथवा इसी विषय को यों समझना चाहिये कि—प्रतिध्वनि आकाश का गुण है। यह प्रतिध्वनि [शब्द] सद्वस्तु में नहीं पायी जाती। परन्तु आकाश में तो सत् तथा शब्द दोनों ही पाये जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि सत् तो एक स्वभाव वाला है तथा आकाश दो स्वभाव का है।

या शक्तिः कल्पयेद् व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम्।
आपाद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत्॥६३॥

माया नाम की जो शक्ति, सद्वस्तु में आकाश की कल्पना कर लेती है, वही शक्ति यह भी करती है कि पहले सत् तथा आकाश के अभेद की कल्पना करके फिर उनके धर्मधर्मिभाव को भी उलट-पुलट कर देती है। [यही कारण है कि 'सत् का आकाश' ऐसी प्रतीति के स्थान पर 'आकाश की सत्ता' ऐसी उलटी प्रतीति लोगों को होने लगी है]।

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः।
तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत् ॥६४॥

सत् का ही आकाशभाव होगया है। परन्तु लौकिक और तार्किक लोग उसको 'आकाश की सत्ता' ऐसा उलटा समझ बैठे हैं। यह विपरीत भाव कर देना माया के लिये कोई बड़ी बात नहीं है।

वस्तु तत्व का विचार करने पर ज्ञात होता है, कि जैसे मिट्टी घटरूपी होगई है इसी प्रकार सत् ही आकाशभाव को प्राप्त हो गया है। परन्तु लौकिक प्राणी तथा तर्कशास्त्री लोग उसके कितना विरुद्ध समझ बैठे हैं कि वे सत्ता को आकाश का धर्म ही मानने लगे हैं। ऐसा विपरीत दर्शन करा देना माया के लिये उचित ही है। माया से और आशा ही क्या की जा सकती थी ?

यद् यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः।
अन्यथात्वं भ्रमणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ॥६५॥

जो [रस्सी आदि] जैसा [रस्सी आदि रूप में] है उसका वैसापन तो प्रमाण से प्रकट हुआ करता है। परन्तु उस [रस्सी] का अन्यथाभाव [सर्परूपता] भ्रान्ति से प्रतीत हुआ करता है।

यह एक सर्वलोकप्रसिद्ध न्याय है। [इसी से समझ लनो कि माया से विपरीत प्रतीति हो जाती है।]

एवं श्रुतिविचारात् प्राग्यथा यद्वस्तु भासते।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिन्त्यतां वियत् ॥६६॥

इस प्रकार यह निश्चय होगया कि श्रुति का विचार करने से पहले पहले जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वह विचार करने पर वैसी नहीं रह जाती। इसी से उस आकाश का चिन्तन करो कि वह असल में क्या है।

उस विपरीतभान की निवृत्ति का उपाय अब बताया जाता है—इस प्रकार श्रुति के अर्थों का विचार न करने तक जो वस्तु [जो सद्रूप ब्रह्म] भ्रान्ति के प्रताप से जैसी [आकाशादि के रूप में] हो गई है, वही वस्तु श्रुति के अर्थ का पर्यालोचन करने पर विपरीत हो जाती है—किंवा आकाशादि भाव को छोड़ कर फिर वही सद्रूप ब्रह्म ही हो जाती है। श्रुति का विचार करने पर ही वस्तु के यथार्थ रूप का परिज्ञान हो सकता है। इसी से कहते हैं कि आकाश का चिन्तन करो। विचार के द्वारा उसके पारमार्थिक रूप को टटोल लो। देखो कि विचार करने पर आकाश का पारमार्थिक रूप क्या सिद्ध होता है।

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद् बुद्धेश्च भेदतः।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्नतु व्योमेति भेदधीः ॥६७॥

आकाश और सत् भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि इन दोनों के वाचक शब्द भी भिन्न-भिन्न हैं, तथा इन शब्दों से उत्पन्न होने वाली बुद्धियें भी भिन्न-भिन्न होती हैं। देख लो कि सत् वस्तु तो वायु आदि में भी अनुवृत्त हो रही है [' कहा जाता है कि

'सत् वायुः' 'सत्तेजः' 'वायु है' 'तेज है' इत्यादि] परन्तु व्योम [आकाश] की अनुवृत्ति इस तरह कहीं भी नहीं होती। वस यही बुद्धि का भेद कहा जाता है [जिस का कथन इसी श्लोक के दूसरे चरण में किया गया है]।

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद् धर्मि, व्योम्नस्तु धर्मता।
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम् ॥६८॥

अधिक में वृत्ति वाली होने से सद्वस्तु तो धर्मी है तथा अल्पदेशवृत्ति होने से आकाश उसका धर्म माना जाता है। अब तुम बुद्धि की सहायता से सत् को पृथक् करके वताओ कि आकाश का आत्मा [रूप] क्या है ?

देखो रूपरसादि सभी में रहने वाला, द्रव्य कहाने वाला पदार्थ,जैसे धर्मी होता है,इसी प्रकार आकाशादि सभी में अनुवृत्त हुआ सत् ही धर्मी है, तथा रसादि से व्यावृत्त रहने वाला 'रूप' जैसे धर्म है इसी प्रकार वायु आदि से व्यावृत्त होने वाला आकाश भी 'धर्म' ही है। अब तुम अपनी बुद्धि से आकाश में से सत्ता को तो पृथक् करलो और फिर वताओ कि वह विचारा आकाश किस स्वरूप का रह गया है ? [सत् को बुद्धि से पृथक् करने की वात इसलिये कही है कि वैसे तो सत् किसी वस्तु से पृथक् हो ही नहीं सकता]।

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तादिति चिन्त्यताम्।
भिन्नं सतो ऽसच्च नेति वक्षि चेद्व्याहतिस्तव ॥६९॥

यदि तुम उस आकाश को [सत्स्वरूप न वता कर] अवकाश रूप वताओ तो [सत् से विलक्षण होने से] उसे असत् ही तो समझना पड़ेगा [क्योंकि सत् से भिन्न असत् ही होता है।]

यदि यह कहो कि वह सत् से विलक्षण भी है और असत् भी नहीं है तो यह तो तुम्हारी उल्टी बात है [भला इसे कौन मान सकता है ?]

भातीति चेद् भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ।
यदसद् भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ॥७०॥

यदि यह आकाश असत् होता तो प्रतीत भी न होता ! परन्तु यह तो प्रतीत हो रहा है । इसका उत्तर यह है कि यह प्रतीत होता है तो हुआ करो । यह [असत् होने पर भी प्रतीत होना] तो मायवादी का भूपण ही है । देखो जो वस्तु असत् हो [स्वरूप से तो न हो] परन्तु प्रतीत होती हो, वह सुपने के हाथी आदि पदार्थों की तरह मिथ्या होती है ।

जातिव्यक्ती, देहिदेहौ, गुणद्रव्ये यथा पृथक् ।
वियत्सतो स्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः ॥७१॥

तुम्हारे [नैयायिक वैशेषिक के] मत में [नियम से सदा साथ दीखने वाले भी] जाति और व्यक्ति, देहधारी और देह तथा गुण और द्रव्य, जैसे पृथक् पृथक् हैं [जैसे ये भिन्न भिन्न हैं] इसी प्रकार [नियम से सदा साथ ही दीखने वाले भी] आकाश और सत् पृथक् पृथक् हैं। इस में विस्मय की कौन सी वात है ।

बुद्धोपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत्तदा ।
अनैकाग्रयात् संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ॥७२॥

यदि समझा हुआ भी यह भेद [किसी दुर्वलता के कारण] चित्त में जमता नहीं है, तो वताओ कि उस वात के जी में न वैठने का कारण तुम्हारी अनेकाग्रता है अथवा कोई संशय है ।

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्ये ऽन्यस्मिन् विवेचनम् ।
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां, ततो रूढतमो भव ॥७३॥

यदि इस अरूढि का कारण अनेकाग्रता हो, तब तो [प्रत्यय की एकाकारता रूपी] 'ध्यान' की सहायता से अपने मन को सावधान कर लो। यदि कोई संशय रह गया हो तो प्रमाण और युक्ति के द्वारा उस का विवेचन कर डालो। यों दोनों रुकावटों को हटा कर रूढतम हो जाओ।

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः ।
न कदाचिद् वियत्सत्यं सद्वस्तु छिद्रवन्न च ॥७४॥

ध्यान [प्रत्यय की एकतानता] से मान [६७ श्लोक में कहे गये] से तथा ६८ वें श्लोक में कही हुई युक्ति से, जब आकाश और सत् का भेद चित्त में भले प्रकार जम जाय, तब फिर यह आकाश कभी भी सत्य नहीं रहता [फिर तो यह सदा ही मिथ्या भासा करता है] तब यह भी ज्ञात हो जाता है कि सद्वस्तु में छिद्र [अर्थात् आकाश नाम की भी कोई वस्तु] है ही नहीं।

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम् ।
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरःसरम् ॥७५॥

[जिस प्रकार किसी दुष्ट के याद आ जाने पर उसके दुर्गुण याद आ जाते हैं इसी प्रकार] ज्ञानी पुरुष को व्यवहार में जब आकाश की प्रतीति होती है तब उसे आकाश की निस्तत्वता का परिज्ञान भी उस के साथ ही साथ हुआ करता है तथा जब उस ज्ञानी को सद्वस्तु का विभान होता है तभी उसे यह ज्ञान भी साथ ही हो जाता है कि सद्वस्तु में आकाशादि नाम की कोई भी वस्तु नहीं होती।

वासनायां प्रवृद्धायां, वियत्सत्यत्ववादिनम् ।
सन्मात्रबोधमुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ॥७६॥

[जो सदा आकाश को मिथ्या भाव से तथा सत् को वस्तु भाव से चिन्तन किया करता है तो इस चिन्तन से यह होता है कि] इस वासना के अत्यन्त बढ़ जाने पर आकाश और सत् के तत्व को समझ लेने वाला वह बुध, फिर जब कभी किसी ऐसे पुरुष को देखता है, जो आकाश को तो सत्य मानता हो और उसे आकाशरहित सद्वस्तु का बोध बिलकुल भी न हो, तब उसे बड़ा ही आश्चर्य होने लग पड़ता है [कि ओहो इसे सर्वभासक, सर्वाधिष्ठान, सर्वाधार, सत् का तो ज्ञान नहीं है, किन्तु यह अपने अज्ञान के कारण, भास्य,अधिष्ठेय किंवा आधेय पदार्थों को ही जान रहा है ।

एवमाकाशमिथ्यात्वे तत्सत्यत्वे च वासिते ।
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ॥७७॥

इस प्रकार जब आकाश का मिथ्यापन तथा सत् का सत्यपन भले प्रकार जी में बैठ जाय, तब फिर इसी न्याय से वायु आदि शेष भूतों में से भी सद्वस्तु को पृथक् कर लेना चाहिये ।

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया, तत्रैकदेशगम् ।
वियत् तत्राप्येकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ॥७८॥

माया सद्वस्तु में उसके किसी एक देश में ही पड़ी हुई है । उस माया के किसी एक देश में यह आकाश रह रहा है । उस आकाश के किसी एक देश में इस वायु की कल्पना हो गयी है [यों इस वायु का भी सत् के साथ परम्परा से सम्बन्ध है । इससे इसका विवेचन भी कर ही डालना चाहिये ।]

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः ।
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपि वायुगाः॥७९॥

शोष तथा स्पर्श, गति तथा वेग ये चार धर्म वायु के अपने धर्म कहाते हैं । [सत्ता, निस्तत्वरूपता तथा शब्द नाम के] जो तीन अन्य स्वभाव वायु में पाये जाते हैं, वे सत्–माया–तथा आकाश के हैं; वे भी वायु में आ गये हैं ।

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते ।
निस्तत्वरूपता मायास्वभावो, व्योमगो ध्वनिः ॥८०॥

'वायुरस्ति' वायु है इस व्यवहार की कारण जो सद्रूपता है वह सद्वस्तु का धर्म वायु में आ गया है । सद्वस्तु से वायु के पृथक् कर लेने पर जो निस्तत्वरूपता [मिथ्यात्व] शेष रह जाती है वह वायु में दूसरा माया का धर्म है तथा आकाश से आया हुआ शब्द यह तीसरा वायु का धर्म है ।

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेति पुरेरितम् ।
व्योमानुवृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः ॥८१॥

इसी प्रकरण के ६७ वें श्लोक में कहा है कि सत् की ही सर्वत्र अनुवृत्ति है आकाश की नहीं । अब उसके विपरीत वायु आदि में आकाश की अनुवृत्ति कर रहे हो, फिर तुम्हारे कथन में व्याघात [किंवा पूर्वोत्तरविरोध] क्योंकर नहीं है ?

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुनात्वियम् ।
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः ॥८२॥

इस का उत्तर यह है कि पहले [६७ श्लोक में] यह कहा गया था कि छिद्र अर्थात् आकाश की अनुवृत्ति नहीं होती। अब तो केवल शब्द की अनुवृत्ति की बात कही जा रही है । अर्थात्

अब केवल धर्म की अनुवृत्ति की जा रही है। फिर हमारे वचन में पूर्वोत्तरविरोध कैसे हो ?

ननु सद्वस्तुपार्थक्यादसत्वं चेत्तदा कथम् ।
अव्यक्तमायावैषम्यादमायामयतापि नो ॥८३॥

हे सिद्धान्ती, यह बताओ कि वायु को सद्ब्रह्म से विलक्षण होने के कारण यदि तुम असत [किंवा मायामय] मानते हो तो यह वायु तो अव्यक्तरूप माया से भी विलक्षण ही है [क्योंकि यह तो व्यक्त है] फिर इसे अमायामय [सत्य] भी क्यों नहीं मान लेते हो ?

निस्तत्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका ।
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः ॥८४॥

सिद्धान्ती का उत्तर यह है कि—अव्यक्तता तो मायामय होने का कारण ही नहीं है। किन्तु निस्तत्वता के कारण इस वायु को मायामय किंवा असत् कहा गया है। वह निस्तत्वरूपता अव्यक्त माया में भी है और माया के कार्य व्यक्त वायु आदि में भी पाई जाती है [माया और माया के कार्यों में, केवल अव्यक्तता और व्यक्तता का ही भेद है। इस कारण इस की मायामयता किसी युक्त्याभास से टलने वाली वस्तु नहीं है।]

सदसत्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात् स चिन्त्यताम् ।
असतोऽवान्तरो भेद आस्तां तच्चिन्तयात्र किम् ॥८५॥

इस समय सत् और असत् का विवेक ही प्रस्तुत हो रहा है। उसी का विचार हमें करना चाहिये। माया और माया के कार्यरूपी असत् पदार्थों के, जो कि व्यक्तता और अव्य-

क्ततारूपी अवान्तर भेद है, उसका प्रकृत में कुछ भी उपयोग नहीं है इसलिये उसका विचार भी कर के क्या करें ? [हम यह इस जगह क्यों बतायें कि यह माया अव्यक्त क्यों है ? तथा उसके कार्य व्यक्त क्यों कर हो गये हैं ?]

सद्वस्तु ब्रह्म, शिष्टांशो वायुर्मिथ्या यथा वियत् ।
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत् ॥८६॥

वायु में जो सदंश [सद्भाग] है वह तो ब्रह्मरूप है। शेष रहा हुआ जो [निस्तत्व आदि] अंश है वही वायु का अपना स्वरूप है । निस्तत्वरूप होने के कारण, यह वायु भी आकाश के समान ही मिथ्या है । इस प्रकार वायु के मिथ्याभाव की वासना चिरकाल तक कर करके, वायु को छोड़ दे [अर्थात् वायु के सत्य होने की बुद्धि का परित्याग कर डाले] उस में से अपनी आस्था को हटा ले ।

चिन्तयेद् वन्हिमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम् ।
ब्रह्माण्डावरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ॥८७॥

वायु से न्यून देश में रहने वाली वन्हि को भी इसी प्रकार से चिन्तन करे और अन्त में उस की भी सत्य बुद्धि का इसी प्रकार परित्याग कर दे । यह न्यूनाधिक का विचार ब्रह्माण्ड के सभी आवरणों में किया जाता है । [लोक में ऐसा विचार नहीं होता । पृथिवी,जल,अग्नि,वायु आदि ब्रह्माण्ड के आवरण कहाते हैं ।]

वायोर्दशांशतो न्यूनो वन्हिर्वायौ प्रकल्पितः ।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपञ्चके ॥८८॥

अग्नि वायु के दसवें भाग के बराबर है [यदि दस भाग

वायु है तो एक भाग अग्नि है] वह वन्हि भी वास्तव पदार्थ नहीं है, वह भी वायु में कल्पित है । पुराणों के कथनानुसार इन पांचों भूतों में $\frac{1}{10}$ भाग के अनुसार क्रम से न्यूनाधिक भाव है ।

वन्हिरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च ।
अस्ति वन्हिः स निस्तत्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि॥८९॥

वन्हि उष्ण है और प्रकाशस्वरूप है । इस में भी वायु की तरह पूर्वानुगति अर्थात् कारण के धर्मों की अनुगति हो ही रही है । जभी तो कहा जाता है कि वन्हि है । वह निस्तत्व [मिथ्या] है शब्द और स्पर्श भी उस में रहते हैं ।

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः ।
रूपं, तत्र सतः सर्वमन्यद् बुद्धया विविच्यताम्॥९०॥

सत् माया आकाश तथा वायु के अंशों से युक्त जो अग्नि है, उस का अपना गुण तो 'रूप' ही है। उन में से सद्वस्तु को छोड़ कर और जितने भी धर्म हैं वे सब मिथ्या हैं। इस बात का विवेचन [पृथक्करण] बुद्धि के अवष्टम्भ से कर लेना चाहिये।

सतो विवेचिते वन्हौ मिथ्यात्वे सति वासिते ।
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिन्तयेत् ॥९१॥

सत् से वन्हि के विविक्त कर लेने पर और वन्हि के मिथ्यात्व के वासित हो जाने पर फिर यह चिन्तन करना चाहिये कि जल भी वन्हि से दशांश कम है और वह भी कल्पित किंवा मिथ्या ही है ।

सन्त्यपोऽमूः शून्यतत्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः ।
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयो रसो गुणः ॥९२॥

दूसरों के धर्मों की अनुवृत्ति के कारण कहा जाता है कि 'यह जल है' 'यह शून्यतत्व है' यह शब्द, स्पर्श तथा रूप वाला है। इसका अपना गुण तो केवल 'रस' ही है।

सतो विवेचिताखप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते।
भूमि र्दशांशतो न्यूना कल्पिताप्स्विति चिन्तयेत् ॥९३

विवेक और ध्यान से जल के मिथ्यात्व का निश्चय करके फिर यह निश्चय करे कि भूमि भी जल से दस भाग कम है और वह भी जल में कल्पित किंवा मिथ्या ही है।

अस्ति भूस्तत्वशून्यास्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ।
रसश्च परतो गन्धो नैजः, सत्ता विविच्यताम् ॥९४॥

भूमि है, वह निस्तत्व है, इस में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस ये गुण दूसरों से आये हैं [क्योंकि कारणों के धर्म कार्य में आया करते हैं]। गन्ध इसका निज गुण है। इन सब में से सत्ता का विवेक अथवा पृथक्करण कर डालना चाहिये।

पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्याऽवशिष्यते।
भूमे र्दशांशतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमिमध्यगम् ॥९५॥

सत्ता के पृथक् कर लेने पर भूमि नाम का पदार्थ मिथ्या हो जाता है [अब आगे भौतिक ब्रह्माण्डादियों से सत् का विवेक कैसे करें? वह दिखाया जाता है कि] भूमिमध्यग अर्थात् आकाश में घूमते रहने वाले भूमि के खण्डों [परमाणुओं] से बना हुआ यह ब्रह्माण्ड भूमि से दस भाग कम है।

ब्रह्माण्डमध्ये तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश।
भुवनेषु वसन्त्येषु प्राणिदेहा यथायथम् ॥९६॥

उस ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन निवास करते हैं। इन भुवनों में ही प्राणियों के देह अपनी अपनी व्यवस्था के अनुकूल निवास कर रहे हैं।

ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते।
असन्तोऽण्डादयो भान्तु तद्भानेऽपीह का क्षतिः ॥९७॥

ब्रह्माण्ड लोक तथा देहों में से सद्वस्तु के पृथक् कर लेने पर भी यदि असत् अण्डादियों का भान होता रहे, तो होता रहो। उन का वैसा [असद्रूप से] भान होते रहने पर भी फिर कुछ हानि नहीं होती।

भूतभौतिकमायानामसत्वेऽत्यन्तवासिते।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ॥९८॥

भूत [आकाशादि] भौतिक [ब्रह्मांड आदि] तथा माया [जिस ने इन भूत भौतिकों को बनाया है] के मिथ्यात्व की वासना [विवेक और ध्यान के द्वारा] जब चित्त में दृढ रीति से वासित हो जाय तब फिर 'सद्वस्तु अद्वैत ही है' [वह कभी द्विधाभाव को प्राप्त नहीं होती है, वह वैसी की वैसी ही रहती है] यह बुद्धि कभी भी विपरीत नहीं हो सकती [फिर इस बुद्धि का विघात कभी भी नहीं होता है।]

सदद्वैतात् पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा ॥९९॥

भूमि आदि रूपधारी यह द्वैत, जब सत् अद्वैत से पृथक् कर लिया जाता है, तब फिर लोक में विशेष विशेष प्रयोजन के लिये जो जो काम जैसे जैसे देखे जाते हैं [जैसे जल से प्यास की शान्ति, भोजन से भूख की निवृत्ति] वे वैसे के वैसे

ही [स्वप्न की तरह] बने रह सकते हैं [तात्पर्य यह है कि विवेक के द्वारा मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर भी वह विवेक भूमि आदि के स्वरूप का उपमर्दन नहीं कर देता है। इस से व्यवहार के सहसा लुप्त हो जाने का प्रसंग नहीं आता है। विवेक व्यवहार को रोकता नहीं है, विवेक तो केवल सार्वात्म्य को जगाता है। जो काम क्षुद्र देहाभिमान की प्रेरणा से होते थे वे अब सार्वात्म्य की दृष्टि से होने लग पड़ेंगे। यही विवेक हो जाने की पहचान है।]

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा।
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्वेष तथा तथा ॥१००॥

सांख्य, काणाद तथा बौद्धादि दार्शनिक लोग जिस जिस रीति से जगद्भेद की उत्प्रेक्षा अनेकानेक युक्तियों से करते हैं, यह जगत् वैसा ही रहो [वैसा वैसा व्यावहारिक भेद तो हम भी मानते ही हैं। इस कारण उन के खण्डन करने का प्रयत्न हम नहीं करते।]

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशङ्कैरन्यवादिभिः।
एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैत मवजानताम् ॥१०१॥

प्रमाणसिद्ध सत् अद्वैत की अवज्ञा, अन्य सांख्यादि वादियों ने निःशङ्क होकर की ही है। फिर [श्रुति युक्ति और अनुभव के बल से चलने वाले] हम लोग यदि उन के द्वैत की अवज्ञा करते हैं तो इस से हमारी क्या हानि है?

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत्।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ॥१०२॥

[प्रत्युत उस अवज्ञा से एक महालाभ यह होता है कि]

द्वैत की अवज्ञा जब पूर्ण रूप से स्थित हो जाती है, तब साधक की बुद्धि अद्वैत में स्थिर हो जाती है । इस बुद्धि के स्थिर हो जाने पर फिर यह [स्थिर बुद्धि वाला] पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहाने लगता है । [अर्थात् जीवन्मुक्ति रूपी प्रयोजन के विद्य-मान होने के कारण यह द्वैतापमान कोई निष्प्रयोजन बात नहीं है । हां, उन लोगों का अद्वैतापमान उन के कल्याण मार्ग का घातक अवश्य ही है] ।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥१०३॥

['जीवन्मुक्ति ही नहीं विदेहमुक्ति भी इसी द्वैतावज्ञा का फल है' यह बात भगवद्गीता (२–७२) में कही गई है] हे पार्थ, यहां तक ब्रह्मनिष्ठा का वर्णन किया गया। [परमेश्वर की आराधना से शुद्ध अन्तःकरण का] मनुष्य जब इस स्थिति को पा लेता है, तब फिर वह कभी संसारमोह को प्राप्त नहीं होता है । यदि अन्तकाल में भी इस स्थिति में ठहर सके तो वह ब्रह्म में निर्वाण किंवा लय को पा लेता है । [अथवा मरते समय क्षण भर के लिये भी इस स्थिति में ठहर सके तो वह ब्रह्म में निर्वाण किंवा विदेहमुक्ति को पा लेता है, फिर जो पुरुष बचपन से ही इस स्थिति में रहने लगा हो तो उस का कहना ही क्या है ?]

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैकवीक्षणम् ।
तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ॥१०४॥

[भगवद्गीता के उपर्युक्त श्लोक में अन्तकाल शब्द से क्या अभिप्राय है सो अब बताया जाता है] 'सद्रूप अद्वैत' तथा 'अनृतरूप द्वैत' में जो अब तक अन्योन्यैकवीक्षण [किंवा

अन्योन्याध्यासरूपी ऐक्यज्ञान] हो रहा था उस भ्रमज्ञान का अन्तकाल तो यही है कि उनकी भेदबुद्धि उत्पन्न हो जाय [अर्थात् उन अद्वैत और द्वैत को क्रम से सत्य और अनृत समझ लिया जाय]। इस श्लोक में अन्तकाल शब्द का अभिप्राय वर्तमान देहपात से नहीं है ।

यद्वान्तकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः।
तस्मिन् कालेऽपि न भ्रान्तेर्गतायाः पुनरागमः॥१०५॥

अथवा लोकप्रसिद्धि के अनुसार प्राणों के वियोग को ही अन्तकाल मान लो। उस में भी कोई दोष नहीं है । क्योंकि जो भ्रान्ति उस समय नष्ट हो जायगी वह भ्रान्ति फिर कभी भी लौट कर आने वाली नहीं है ।

इस लोक तथा परलोक की सन्धि 'मृत्यु' होती है । मृत्यु समय में जिसकी भ्रान्ति नष्ट हो जायगी दूसरे शब्दों में उस की परलोकसामग्री जल कर भस्म बन जायगी। फिर उसे विदेह मुक्ति मिल जानी अत्यन्त सुकर होगी।

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् भुवि ।
मूर्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान् भ्रान्तिर्न सर्वथा॥१०६॥

[जिस पुरुष की द्वैतावज्ञा स्थित हो गयी हो अथवा जिसे ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति हो चुकी हो फिर] वह चाहे तो नीरोग होकर, चाहे बैठे बैठे, चाहे रोगी रहकर, या भूमि पर पड़े पड़े, अथवा मूर्छा अवस्था में प्राणों का त्याग करदे, उसे फिर कभी भी भ्रान्ति नहीं हो सकती [मूर्छा आदि में ब्रह्म-विषयक बुद्धिवृत्ति न भी हो तो भी ब्रह्मज्ञान के संस्कार तो रहते ही हैं, उन्हीं से मुक्ति मिलकर रहेगी।]

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम् ।
परेद्युर्नानधीतः स्यात्तद्वद्विद्या न नश्यति ॥१०७॥

स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था के आने पर प्रतिदिन पढ़े हुए पाठ के भूल जाने पर भी, अगले दिन जब वह पाठक उठता है तब अनधीत [अनपढ़] नहीं हो जाता है । इसी प्रकार मरते समय मूर्छादि के कारण तत्व का विचार न कर सकने पर भी, ज्ञानी का ज्ञान नष्ट नहीं होता है । [वह संस्कार रूप से तो रहता ही है ।]

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं विना ।
न नश्यति न वेदान्तात् प्रबलं मानमीक्ष्यते ॥१०८॥

जिस विद्या को प्रमाणों ने उत्पन्न किया है, वह किसी प्रबल प्रमाण के बिना नष्ट नहीं हो सकेगी । वेदान्तों से प्रबल प्रमाण तो कोई देखा ही नहीं जाता । [फिर यह ज्ञान मूर्छा आदि में कैसे नष्ट हो सकेगा ?]

तस्माद् वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते ।
अन्तकालेऽप्यतो भूतविवेकान्निर्वृत्तिः स्थिता ॥१०९॥

इससे यही सिद्ध हुआ कि वेदान्तसिद्ध सत् अद्वैत की बाधा अन्तकाल में भी नहीं होगी । इसी से यह कहना सर्वथा ठीक है कि भूतविवेक कर लेने पर ही निवृत्ति [किंवा मुक्ति] की स्थिरता हो जाती है ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं पंचभूतविवेकप्रकरणं समाप्तम्

ओम्

पंचकोशविवेकप्रकरणम्

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत् पञ्चकोशविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपंचकं प्रविविच्यते ॥१॥

गुहा में छिपा हुआ जो ब्रह्मतत्व है वह पंचकोशविवेक के करने पर भी जाना जा सकता है । इसलिये पांचों कोशों का विवेक किया जाता है ।

यह प्रकरण तैत्तरीय उपनिषत् के तात्पर्य का व्याख्यान रूप है—'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' जो गुहा में छिपे हुए ब्रह्म को पहचानता है, इस श्रुति में जिस गुहाहित ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है उस ब्रह्म का ज्ञान पांचकोश नामक गुहाओं के विवेक से ही हो सकता है । इसी कारण उन पांचों कोशों को आत्मा से पृथक् करके अव दिखाया जाता है ।

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः ।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ॥२॥

देह से अन्दर प्राण, प्राण से अन्दर मन, मन से अन्दर बुद्धि, तथा बुद्धि से अन्दर आनन्द, वस यह परम्परा ही तो 'गुहा' कहाती है ।

देह [अन्नमय कोष] से प्राण [प्राणमय कोश] अन्दर है । प्राण से मन अर्थात् मनोमय अन्दर है । मनोमय से 'कर्ता'

जिसको 'विज्ञानमय' भी कहते हैं अन्दर है । उस विज्ञानमय से 'भोक्ता' अर्थात् 'आनन्दमय' अन्दर का है । सो यह 'अन्नमय' से लेकर 'आनन्दमय' तक की परम्परा ही 'गुहा' कहाती है । इसी में ब्रह्म लुक छिप गया है । इन पांचों कोशों का विवेक कर लेने पर फिर भी उस के शुद्ध रूप के दर्शन मिल ही सकते हैं ।

पितृभुक्तान्नजाद् वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक्चोर्ध्वं तदभावतः ॥३॥

माता और पिता जिस अन्न को खाते हैं, उस से जो वीर्य वनता है,' उस से यह देह उत्पन्न होता है । उत्पन्न होने के पश्चात् यह फिर अन्न से ही वृद्धि को पाने लगता है । सो यह तो स्पष्ट ही अन्न का विकार है । इस कारण यह अन्नमय देह आत्मा नहीं है । देखते हैं कि जन्म होने से पहले भी यह देह नहीं था, तथा मरने के पश्चात् भी यह देह नहीं रहेगा । [तात्पर्य यह है कि घटपदादि के समान उत्पत्ति वाला होने से यह देह आत्मा नहीं है]

पूर्वजन्मन्यसन्नेतज्जन्म संपादयेत् कथम् ।
भाविजन्मन्यसत् कर्म न भुञ्जीतेह संचितम् ॥४॥

यदि वह पूर्व जन्म में नहीं था तो इसने इस जन्म को पाया ही कैसे ? यदि इसका भावि जन्म नहीं होगा तो यहाँ संचित किये पुण्य पापों को नहीं भोग सकेगा । [इस कारण आत्मा को देह से पृथक् और नित्य मानना चाहिये ।]

जब आत्मा को देहरूप ही माना जाता है तब यह स्पष्ट ही है कि यह पूर्वजन्म में नहीं था और इस जन्म को उत्पन्न

करने वाला अदृष्ट भी नहीं था। फिर इस जन्म की उत्पत्ति इस देहरूप आत्मा ने स्वयं कैसे करली? इस पक्ष में तो 'अकृताभ्यागम' दोष आता है अर्थात् जो इस शरीरात्मा ने किया नहीं था उसे अब यह विचारा भोग रहा है। यह देह-रूप आत्मा तो भाविजन्मों में भी नहीं रहेगा। यह तो यहाँ ही गाड़ डाला या जला दिया जायगा। तब इस जन्म में किये भले-बुरे कामों के फल को भोगने वाला कोई न रहेगा। सो यह 'कृतविनाश' नाम का महादोष आजायगा। इन दोनों दोषों के कारण आत्मा को कार्य किंवा उत्पत्ति वाला मानना ठीक नहीं है।

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥५॥

पैर से लेकर मस्तकपर्यन्त देह में पूर्ण होकर [व्यानरूप से] बल किंवा सामर्थ्य को देता हुआ जो वायु, चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रेरक होता है, वह वायु ही 'प्राणमय' कोश कहाता है। चैतन्य रहित किंवा जड होने के कारण वह भी तो आत्मा नहीं है।

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः॥६॥

देह में 'मैं' भाव और गृहादि में 'मेरेपन का अभिमान' जो किया करता है वह मनोमय भी आत्मा नहीं है। क्योंकि वह तो कामादि अवस्थाओं से भ्रान्त हुआ रहता है। [काम क्रोध आदि विकारों के कारण उस मनोमय का स्वभाव नियत नहीं रहता है। वह तो विकारी हुआ रहता है। फिर वह आत्मा कैसे हो। क्योंकि आत्मा तो निर्विकार तत्व है।]

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा ।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक् ॥७॥

चिच्छाया से युक्त जो बुद्धि, सुषुप्तिकाल में लीन होजाती है, तथा जागने पर नखाग्र तक शरीर को व्याप्त किये रहती है, वह विज्ञानमय कहाने वाली बुद्धि भी तो आत्मा नहीं है [बताओ कि विलय आदि अवस्थाओं में फंस जानेवाली बुद्धि आत्मा कैसे हो ?]

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम् ।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम् ॥८॥

[मनोमय तथा विज्ञानमय का भेद इस श्लोक में बताया जाता है] अन्दर की इन्द्रिय जिसे मन भी कहते हैं, कभी तो कर्ता-रूप से तथा कभी करणरूप से परिणत होती रहती है । जब कर्तारूप से परिणत होती है तब उसको 'विज्ञानमय कोश' कहते हैं । जब करणरूप से परिणत होती है तब उस को 'मनोमय कोश' कहा जाता है । ये दोनों आपस में अन्दर बाहर रहा करते हैं [बुद्धि अन्दर रहती है, मन बाहर रहता है, इसी से एक के ही दो कोश हो गये हैं ।]

काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक् ।
पुण्यभोगे, भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥९॥

जब हम किसी पुण्यकर्म के फल का अनुभव करते हैं, तब कोई बुद्धिवृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है और उस पर आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, तथा भोगों के शान्त हो जाने पर वही बुद्धिवृत्ति निद्रारूप से विलीन हो जाती है । [उस लीन बुद्धिवृत्ति को ही 'आनन्दमय' कहा जाता है ।]

कादाचित्कत्वतो नात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम् ।
बिम्बभूतो य आनन्द आत्मासौ सर्वदा स्थितेः॥१०॥

यह 'आनन्द' भी कादाचित्क[कभी कभी होने वाला=सदा न रहने वाला] होने से [मेघ आदि कादाचित्क पदार्थों के समान] आत्मा नहीं है । किन्तु बुद्धि आदि में प्रतिबिम्बित होकर बैठे हुए आनन्दमय का बिम्बभूत अर्थात् कारणभूत जो आनन्द है, वही तो सच्चा आत्मा है । क्योंकि वह सदा ही बना रहता है [नित्य है]

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु ।
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ॥११॥

अन्नमय देह से लेकर निद्रा तथा आनन्द पर्यन्त पदार्थों में आत्मभाव नहीं है तो न सही, परन्तु इन के अतिरिक्त और भी तो कोई वस्तु अनुभव में नहीं आती है [जिसे आत्मा कहा जा सकता हो] ।

बाढं, निद्रादयः सर्वेऽनुभूयन्ते न चेतरः ।
तथाप्येतेऽनुभूयन्ते येन तं को निवारयेत् ॥१२॥

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—"निद्रानन्द से लेकर देह पर्यन्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं और कुछ भी पदार्थ उपलब्ध नहीं होता" तुम्हारा यह कहना तो बिलकुल ठीक है । परन्तु इन सब पदार्थों का अनुभव जो करता है उस को कौन हटा सकता है ।

[तात्पर्य यह है कि यह तो ठीक है कि इन के अतिरिक्त और कोई उपलब्ध नहीं होता है परन्तु जिस अनुभव के बल से इन सब आनन्दमयादि में उपलभ्यमानता आ गयी है उस अनुभव की सत्ता का निषेध तुम कैसे कर सकते हो]

स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाव्यता ।
ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ॥१३॥

स्वयं अनुभूतिरूप होने से वह तत्त्व किसी का अनुभाव्य नहीं होता है । उस से भिन्न ज्ञाता और उस से भिन्न ज्ञान दूसरा न होने से वह अज्ञेय रहता है । उस के अज्ञेय होने का कारण असत्ता नहीं होती।

इन आनन्दमयादियों का जो साक्षी है वह क्योंकि अनुभव रूप है इसी से वह अनुभाव्य कभी नहीं होता है । उस के 'अज्ञेय' होने का कारण उसकी असत्ता नहीं है । किन्तु उस से भिन्न ज्ञाता और उस से भिन्न ज्ञान कोई होता ही नहीं है इस कारण से वह अज्ञेय वना हुआ है । ऐसी अवस्था में केवल अनुपलब्ध होने से ही उसे असत् नहीं मान बैठना चाहिये। उपलब्ध तो विषय हुआ करते हैं। वह किसी का विषय नहीं है । इसी से वह किसी को उपलब्ध नहीं होता है । वह तो उपलब्ध करने वालों का स्वयं आत्मा [आपा] ही होता है ।

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम् ।
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो, न चास्त्यन्यदर्पकम् ॥१४॥

माधुर्य आदि स्वभाव वाले [गुडादि पदार्थ] जो चने आदि में, अपने माधुर्य आदि गुणों को डाल देते हैं, वे अपने आप में तो उन मधुरता आदि की जरूरत ही नहीं रखते [वे गुडादि यह कभी नहीं चाहते कि कोई हमको आकर मीठा कर दे] इसके अतिरिक्त गुडादि में मधुरता को उत्पन्न करने वाली कोई वस्तु भी तो नहीं है ।

अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता ।
माभूत्तथाऽनुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ॥१५॥

उनमें माधुर्यादि पैदा करने वाले किसी दूसरे पदार्थ के न होने पर भी इन गुडादियों में माधुर्यादिस्वभावता है ही। इसी प्रकार आत्मा भले ही [किसी के] अनुभव का विषय न होता हो, परन्तु उसकी अनुभवरूपता तो रहती ही है । उसे कौन हटा सकता है ?

स्वयंज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद् भासतेऽखिलात् ।
तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत् ॥१६॥

"अत्रायं पुरुष: स्वयं ज्योतिर्भवति, अस्मादखिलात्पुरत: भासते, तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (काठ २-३-१५) इत्यादि श्रुतियें आत्मा को स्वप्रकाश बता रही हैं।

येनेदं जानते सर्वं तत् केनान्येन जानताम् ।
विज्ञातारं केन विन्द्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ॥१७॥

जिस से इस सब [पसारे] को जान रहे हैं, उस [ज्ञाता] को दूसरे किस से जानें ? जानने वालों को किस से पहचानें ? क्योंकि जानने के साधन भी तो वेद्य पदार्थ को ही जानने में शक्त हैं।

जिस साक्षिचैतन्य रूप आत्मा से, प्राणी इस समस्त दृश्य जगत् को जानते हैं, उस साक्षी आत्मा को किस साक्ष्य जड पदार्थ से जानें ? तात्पर्य यह है कि—इस दृश्य जगत् के ज्ञाता को किस दृश्य से जाना जाय ? अर्थात् वह किसी से भी नहीं जाना जा सकता। ज्ञान का साधन यह विचारा मन भी तो वेद्य पदार्थ में ही समर्थ है । ज्ञाता आत्मा में तो उस से भी कुछ नहीं होता। देखो बृहदारण्यक ४-५-१५ ।

स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता ।
विदिताविदिताभ्यां तत् पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥१८॥

आत्मा को स्वप्रकाश सिद्ध करने के लिये 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता'(श्वे० ३-१९)'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केन-१-३) इन दोनों वाक्यों के अर्थ का उल्लेख इस श्लोक में किया गया है—वह आत्मा, जो भी कुछ वेद्य पदार्थ हैं, उन सभी को जाना करता है । परन्तु उस आत्मा का ज्ञाता और कोई भी नहीं है । ज्ञानस्वरूप वह ब्रह्म विदित [ज्ञान से विषय किये हुए] तथा अविदित [अज्ञान से ढके हुए] दोनों से ही विलक्षण है । क्योंकि वह तो साक्षात् बोधस्वरूप ही ठहरा । [विदित तो इसलिये नहीं कि वह बुद्धिवृत्ति का विषय नहीं होता । अविदित इसलिये नहीं कि उस से भिन्न और कोई जानने वाला ही नहीं है ।]

बोधे ऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्ठं नरसमाकृतिम् ॥१९॥

जिस मूर्ख को तो [घटादि की प्रतीति रूपी] बोध का अनुभव [साक्षात्कार] किसी प्रकार भी नहीं होता है, उस मनुष्याकार ढेले को विचारा शास्त्र भी कैसे समझायेगा ? [तात्पर्य यह है कि "ज्ञात और अज्ञात पदार्थ ही अनुभव में आते हैं । ज्ञान किंवा बोध तो कहीं भी दीखता नहीं है" ऐसी यदि कोई शंका करे तो उस को कहना चाहिये कि, ज्ञात किंवा विदित का विशेषण जो ज्ञान तथा वेदन है वही तो बोध है । उस बोध का अनुभव जिस मूर्ख को न होगा, उस को तो ज्ञात या विदित का भी अनुभव नहीं हो सकेगा ।

इस कारण बोध के अनुभव को तो अवश्य ही मानना पड़ता है]।

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्ति लज्जायै केवलं यथा।
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ॥२०॥

"मेरे जिह्वा है या नहीं" यह कहना जैसे केवल लज्जा के लिये ही होता है [ऐसा कहने वाला मूर्ख समझा जाता है। उस को कोई भी बुद्धिमान् नहीं मान सकता] क्योंकि जिह्वा के विना तो भाषण ही नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार 'मैं बोध को अब तक नहीं जानता, उस बोध को तो मुझे अभी जानना है' यह कथन भी वैसा ही लज्जाजनक है। क्योंकि बोध के विना तो यह वात भी नहीं कही जा सकती है।

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे।
यद् बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः ॥२१॥

लोक में जिन घटादि नाम वाले विषयों का ज्ञान होता है, उन उन विषयों की उपेक्षा किंवा अनादर कर देने पर [घटादि सभी पदार्थों में अनुस्यूत] जो केवल ज्ञानरूप एक स्फूर्ति [शान्त भाव से विराजती हुई] दीखने लगती है वही ब्रह्म तत्व है, ऐसा यदि किसी की बुद्धि को पता चल जाय, तो हम इसी को 'ब्रह्मनिश्चय' कहते हैं [हम समझते हैं कि ऐसा निश्चय कर लेने वाले को ब्रह्मज्ञान हो चुका है]।

पञ्चकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ॥२२॥

अन्नमयादि पांचों कोशों का परित्याग जब हम कर देते हैं, [जब हम अध्यात्म योग के अभ्यास से इन पांचों कोशों

में से निकल बाहर होना जान जाते हैं] किंवा बुद्धि से उन [पांचों कोशों] को अनात्मा समझ लेते हैं, तब इन कोशों का साक्षी जो बोध शेष रह जाता है, वह साक्षिरूपी बोध ही तो 'निज रूप' अथवा 'ब्रह्म' है। उस साक्षिरूपी बोध को शून्य [अर्थात् कुछ नहीं] कह देना हँसी खेल नहीं है। यह एक बड़ा ही दुर्घट काम है।

अस्ति तावत् स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः।
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत् प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ॥२३॥

स्वयं [अपना आपा] नाम की कोई चीज़ तो, क्या लौकिक और क्या वैदिक सभी के मत में है ही। क्योंकि वह कभी विवाद का विषय ही नहीं होती है। अपने आपे में कभी किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होती कि मैं हूँ या नहीं हूँ? यदि किसी को अपने आपे में भी विप्रतिपत्ति होती हो, तो बताओ कि इस विप्रतिपत्ति का प्रतिवादी कौन होगा?

स्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना।
अतएव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चासत्त्ववादिनः ॥२४॥

भ्रान्ति [पागलपन] को छोड़कर और किसी भी दशा में अपना अभाव किसी को भी अच्छा नहीं लग सकता। यही कारण है कि अगले श्लोक में उद्धृत श्रुति असत्त्ववादी का बाध कह रही है।

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत्।
अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्त्वं त्वभ्युपेयताम् ॥२५॥

यदि कोई यह समझता है कि 'ब्रह्म असत् है' तो वह [ब्रह्म को असत् जानने वाला] स्वयं भी असत् ही हो जाता

है [क्योंकि वह स्वयं भी तो ब्रह्मरूप ही है। उसके 'ब्रह्म नहीं है' इसे कहने का यही अभिप्राय होता है कि मैं स्वयं ही नहीं हूँ] इसलिये यह वेद्य तत्व भले ही न हो परन्तु अपनी सत्ता तो तुम्हें मान ही लेनी चाहिये [कि तुम्हीं ब्रह्म हो]।

कीदृक्तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि।
यदनीदृगतादृक् च तत् स्वरूपं विनिश्चिनु ॥२६॥

जब यह आत्मा वेद्य भी नहीं है तब फिर वह कैसा है ? ऐसा एक प्रश्न स्वभाव से उठ सकता है। इसका उत्तर यह है कि उस आत्म तत्व में 'ईदृक्ता' अर्थात् 'ऐसापन' तो है ही नहीं। [यदि उसमें 'ऐसापन, मान लेंगे तो फिर उसे वेद्य होने से कौन रोक सकेगा ?] जो ऐसा भी नहीं और वैसा भी नहीं उसी को आत्मा का [अपना] स्वरूप समझ लो।

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते।
विषयी नाक्षविषय स्वत्वान्नास्य परोक्षता ॥२७॥

जिसको इन्द्रियाँ विषय करती हैं, उसे तो 'ईदृक्' कहा जाता है। जो तो परोक्ष अर्थात् इन्द्रियों की गति से बाहर रह जाता है, उसे 'तादृक्' कहते हैं। विषयी अर्थात् ज्ञाता या द्रष्टा आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं होता [इससे वह 'ईदृक्' अर्थात् 'ऐसा' नहीं कहाता है] तथा स्वयं वही होने से वह परोक्ष भी नहीं होता, [इससे उसे 'तादृक्' अर्थात् 'वैसा' कहते भी नहीं बनता। इसी कारण से पहले श्लोक में आत्मा के 'ऐसा' 'वैसा' होने का निषेध किया है।]

अवेद्योप्यपरोक्षोतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ॥२८॥

वह आत्मा अवेद्य होकर भी [अर्थात् इन्द्रियजन्यज्ञान का विषय न होकर भी] अपरोक्ष रहता है इसी से वह स्वयं-प्रकाश माना जाता है। श्रुति ने ब्रह्म का जो कि सत्य ज्ञान तथा अनन्त लक्षण बताया है वह लक्षण इस आत्मा में भी है। इस कारण उस स्वयंप्रकाश तत्व को ब्रह्म मान लेना चाहिये।

सत्यत्वं बाधराहित्यं, जगद्बाधैकसाक्षिणः।
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि, नत्वसाक्षिक इष्यते ॥२९॥

[सत्य और अबाध्य, मिथ्या और बाध्य ये सब पर्याय-वाची शब्द हैं] सत्य उसी को कहते हैं जिसकी बाधा न होती हो। [जिस के मिथ्यापन का निश्चय कभी न होता हो] इस सकल जगत् की बाधा का जो एक मात्र साक्षी है, उस के बाध का साक्षी कौन होगा उसे हमें बताओ? क्योंकि बिना साक्षी का तो कोई बाध माना ही नहीं जाता।

तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति, मूर्छा तथा समाधि के समय, जब यह स्थूल सूक्ष्म शरीरादि नाम का जगत् नहीं रहता, उस जगत् के न रहने को जो जानता है अथवा शास्त्रीय शब्दों में यों कहो कि जो आत्मा इस बाध का साक्षी है, उस आत्मा के बाध का साक्षी [उस आत्मा के न रहने को जानने वाला] कौन होगा? उसका तो कोई भी साक्षी नहीं हो सकता। बिना साक्षी के ही आत्मबाध मान लेना ठीक नहीं है। अतिप्रसक्ति के डर से साक्षिरहित बाध को कोई भी नहीं मानता है।

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत्।
शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत् ॥३०॥

मूर्त पदार्थों के हटा दिये जाने पर जैसे अमूर्त आकाश शेष रह जाता है, इसी प्रकार बाधा करने योग्य पदार्थों की बाधा कर देने पर पीछे से जो अबाध्य तत्व शेष रह जाता है, वही ब्रह्म है।

घर में रक्खे हुए घटादि मूर्त पदार्थ, जब उसमें से बाहर निकाल दिये जाते हैं, तब जैसे हटाया न जा सकने वाला एक आकाश ही घर में शेष रह जाता है। इसी प्रकार आत्मा से भिन्न देहेन्द्रियादि मूर्त और अमूर्त पदार्थों के—जिनका कि निराकरण हो सकता है—'नेति नेति' श्रुति से हटा दिये जाने पर, पीछे से सम्पूर्ण निराकरणों [निषेधों] का साक्षी जो भी बोध शेष रह जाता है, बाधरहित वही तत्व 'आत्मा' कहाता है।

सर्वबाधे न किञ्चिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत् ।
भाषा एवात्र भिद्यन्ते निर्बाधं तावदास्ति हि ॥२१॥

'तुम्हारी कही विधि से सब की बाधा कर देने पर तो, कुछ भी नहीं रहता है' ऐसा यदि कोई कहने लगे, तो उस से कहो कि जो 'कुछ भी नहीं है' उसी को ब्रह्म जान लो। 'न किंचित्' इस शब्द से जिस चैतन्य का उल्लेख किया जाता है उसी को ब्रह्म मान लेना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य यह कहता है कि 'कुछ भी शेष नहीं रहता' उस को सकलाभाव विषय का [सब कुछ न होने का] ज्ञान तो अवश्य ही मानना होगा। बस तब हम कहेंगे कि यह ज्ञान ही हमारे आत्मा का स्वरूप है। अरे भाई, इस बाधसाक्षी प्रत्यगात्मा के विषय में 'न किंचित्' आदि

भाषा ही भिन्न भिन्न हो गई हैं । वाधरहित साक्षिचैतन्य तो एक ही है । यह और वात है कि उस चैतन्य का वर्णन हम भले ही 'न किंचित्' इस अभाववाचक शब्द से कर डालें। वाध का साक्षी तो हमें प्रत्येक अवस्था में मानना ही पड़ेगा। उस के वाचक शब्दों में झगड़ा हो सकता है । वाच्य आत्मतत्व में तो किसी प्रकार की भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती ।

अत एव श्रुतिर्वाध्यं वाधित्वा शेषयत्यदः ।
स एप नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ॥२२॥

क्योंकि यह साक्षिचैतन्य एक अवाध्य वस्तु हैं इसलिये 'स एप नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३–९–२६) इस श्रुति ने, अनात्म पदार्थों का निपेध करते करते, निपेध करने योग्य सव अनात्म पदार्थों की वाधा करके, निराकरण के अयोग्य, इस प्रत्यक् स्वरूप को शेप रख लिया है ।

इदं रूपं तु यद्यावत् त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम् ।
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा वाधवर्जितः ॥२३॥

जो 'इदं' है [जो दृश्य रूप से हमारे अनुभव में आता है] वह जितना भी [देहेन्द्रियादि सम्पूर्ण दृश्य जगत्] है वह तो सव का सव ही त्याग किया जा सकता है । परन्तु प्रत्यग्रूप होने से जिस को 'इदं' नहीं कह सकते, उस साक्षी आत्मा का त्याग तो हो ही नहीं सकता [क्योंकि वह तो त्याग करने वाले का अपना स्वरूप ही है, फिर उस का त्याग कैसे किया जा सकता है ?] निष्कर्प यही निकलता है कि वह वाधरहित [सत्य] साक्षी ही आत्मा है [अहंकारादि दृश्य पदार्थ आत्मा नहीं हैं]।

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं, ज्ञानत्वं तु पुरेरितम्।
स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ॥३४॥

ब्रह्म के लक्षण में जिस सत्यता का वर्णन आया है वही सत्यता आत्मा में भी है यह यहां तक सिद्ध हो गया। इसी प्रकरण के 'स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता' इत्यादि तेरहवें श्लोक में आत्मा की ज्ञानरूपता भी पहले भले प्रकार कही जा चुकी है।

न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः।
न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्या दानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥३५॥

व्यापक होने से देशकृत अन्त नहीं, नित्य होने से कालकृत अन्त नहीं, सर्वात्मा होने से वस्तुकृत अन्त नहीं, यों ब्रह्म में तीन प्रकार की अनन्तता होती है।

'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' (मुण्ड० १-१-६) 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (कठ० २-४-१३) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २-४-६) 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' (माण्डू० २) 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म की व्यापकता नित्यता और सर्वात्मकता का उल्लेख किया गया है। इस से ब्रह्म में तीन प्रकार की अनन्तता माननी चाहिये कि यह ब्रह्म देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है। व्यापक होने के कारण उस का देशकृत अन्त कहीं नहीं होता—'कि यहां वा यहां ब्रह्म नहीं है'। नित्य होने के कारण उस का कालकृत अन्त कभी नहीं होता कि—'तब ब्रह्म नहीं था, अब ब्रह्म नहीं है, तब ब्रह्म नहीं रहेगा इत्यादि'। सब का आत्मा होने के कारण उस का वस्तुकृत अन्त भी नहीं

होता। जैसे यह कहा जाता है कि घट पट नहीं है तो यह घट का वस्तुकृत अन्त हो गया। ऐसे ब्रह्म को यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म घट नहीं है ब्रह्म पट नहीं है। वह तो सर्वात्मा होने से घट भी है और पट भी है। यों ब्रह्म में तीन प्रकार की अनन्तता रहती है।

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया।
न देशादिकृतोऽन्तोस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः ॥३६॥

देश काल तथा अन्य वस्तुओं की कल्पना माया ही ने तो कर डाली है। इससे ब्रह्म में उन [देश कालादि] का किया हुआ अन्त नहीं हो सकता। यों ब्रह्म की अनन्तता समझ में आ सकती है।

परिच्छेद कर डालने वाले देश, काल तथा अन्य पदार्थ सब माया ही ने तो कल्पित कर लिये हैं। सो जैसे गन्धर्व नगर से आकाश में जब देशादिकृत अन्त प्रतीत होने लगता है; वह अन्त जैसे पारमार्थिक नहीं होता, इसी प्रकार माया के बनाये देशादि का किया हुआ परिच्छेद [खण्ड] ब्रह्म में नहीं होता। इससे ब्रह्म की अनन्तता सब को स्पष्ट हो जाती है। उस ब्रह्म तथा आत्मा को 'अयमात्मा ब्रह्म' [बृ० २-५-१९] इत्यादि श्रुतियें एक बता रही हैं, इस कारण आत्मा की अनन्तता तो स्वतः ही सिद्ध हो जाती है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म तद्वस्तु, तस्य तत्।
ईश्वरत्वं च जीवत्व मुपाधिद्वयकल्पितम् ॥३७॥

जो ब्रह्म नाम की वस्तु सत्य, ज्ञान तथा अनन्त है, वही एक पारमार्थिक वस्तु इस संसार में है। उस ब्रह्म को जब

'ईश्वर' वा 'जीव' कहा जाता है, वह आगे कही दो उपाधियों से कल्पित किया हुआ होता है [कल्पित होने से ही ये जीवेश्वर भी उस ब्रह्म के परिच्छेदक नहीं वन सकते हैं]

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित् सर्ववस्तुनियामिका ।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ॥३८॥

ऐश्वरी अर्थात् ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाली [ईश्वर की उपाधि बनी हुई] कोई एक ऐसी शक्ति है [जिसका सत् या असत् किसी भी रूप से निर्वचन नहीं हो सकता] जो [पृथिवी आदि] सम्पूर्ण नियम्य वस्तुओं को नियम में रख रही है । वह शक्ति आनन्दमय से लेकर [ब्रह्माण्ड पर्यन्त] सभी वस्तुओं में गूढ भाव से छिपी बैठी है [यही कारण है कि वह दीख नहीं पड़ रही है]।

वस्तुधर्मा नियम्येरन् शक्त्या नैव यदा तदा ।
अन्योऽन्यधर्मसांकर्याद् विप्लवेत जगत् खलु ॥३९॥

यदि यह शक्ति, पृथिवी आदि वस्तुओं के [काठिन्य द्रवत्व आदि] धर्मों को नियम में न रखती होती तो अन्योऽन्य धर्म की संकरता किंवा मिश्रण हो जाने से [किसी एक जगह नियत भाव से न रहने से] जगत् में विप्लव मच जाता।

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा ।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥४०॥

चिच्छायावेश [किंवा चिदाभासके प्रवेश] से यह शक्ति चेतन सी प्रतीत हुआ करती है [इसी से वह नियामक हो सकती है] उस शक्ति रूपी उपाधि के सम्बन्ध से [सत्यादि रूप] ब्रह्म ही ईश्वरभाव को प्राप्त हो जाता है [किंवा सर्वज्ञत्व आदि धर्मों से युक्त हो जाता है]।

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ।
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति ॥४१॥

कोश रूपी उपाधि की पर्यालोचना जब की जाती है, तब सत्यादिलक्षण 'ब्रह्म' ही 'जीव' बन जाता है । जैसे कि एक ही देवदत्त एक ही समय पुत्र के प्रति तो पिता तथा पौत्र के प्रति पितामह हो जाता है [इसी प्रकार ब्रह्म भी कोशरूपी उपाधि की विवक्षा में तो 'जीव' होजाता है तथा उसी समय शक्तिरूपी उपाधि की विवक्षा में 'ईश्वर' बन जाता है] ।

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः ।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे ॥४२॥

पुत्रादि की जब विवक्षा नहीं रहती, तब न तो यह देवदत्त पिता ही होता है और न पितामह ही कहाता है । ठीक इसी प्रकार जब शक्ति और कोश की विवक्षा किसी चतुर साधक को नहीं रह जाती [जब वह इन उपाधियों की ओर को दृष्टि ही नहीं डालता] तब वह ब्रह्म, 'ईश्वर' या 'जीव' कुछ भी नहीं रहता ।

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ॥४३॥

जो ब्रह्म को इस तरह जान लेता है वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है । ब्रह्म का जन्म नहीं होता इससे फिर वह भी उत्पन्न नहीं होता । चारों साधनों से युक्त जो कोई महापुरुष इस प्रकार पांचों कोशों का विवेक करलेने के पश्चात् सत्यादिस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है । 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-

२–९) ब्रह्मविदाप्नोति परम् (तै० २–१) ये श्रुतियां भी इसी अर्थ को कह रही हैं। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कां० १–२–१८) यह श्रुति कह रही है कि ब्रह्म का जन्म नहीं होता। यही कारण है कि विद्वांन् पुरुष भी अपने आत्मा को ब्रह्मरूप समझ लेने से फिर कभी जन्मता नहीं। यही बात 'न स पुनरावर्तते' (छा० ८–१५–१) इस श्रुति ने भी कही है।

इति श्री मद्विद्यारण्यमुनिविरचितं पंचकोशविवेकप्रकरणं समाप्तम्।

ओम्

द्वैतविवेकप्रकरणम्

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत् ॥१॥

[कारणोपाधि] ईश्वर तथा [कार्योपाधि] जीव के बनाये हुए द्वैत को अब पृथक् पृथक् कर के दिखाया जाता है [कि कौन सा द्वैत ईश्वरकृत है तथा कौन सा जीव का बनाया हुआ है]। जीव और ईश्वर के बनाये हुए द्वैत का विवेक हो जाने पर यह मालूम हो जायगा कि जीव को इस बन्ध [किंवा बन्धहेतु द्वैत] को छोड़ देना चाहिये। [तब यह निश्चय हो सकेगा कि जीव को इतना द्वैत तो छोड़ देना चाहिये और इतने द्वैत को छोड़ना नहीं चाहिये। इस द्वैत को हटाना हमारे बस का नहीं है क्योंकि वह द्वैत ईश्वर के संकल्प से बना है। हमें तो अपना द्वैत हटाना है।]

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥२॥

प्रकृति को तो 'माया' समझना चाहिये तथा महेश्वर को 'मायी' (माया का मालिक) जानना चाहिये। वह मायी ही इस जगत् का सर्जन किया करता है, ऐसा श्वेताश्वतर शाखा वाले कहते हैं [इस प्रमाण के रहते हुए जीवों के अदृष्टादि किसी को भी जगत् का कारण मानना ठीक नहीं है]।

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत् स ईक्षत सृजा इति ।
संकल्पेनासृजल्लोकान् स एतानिति बह्वृचाः ॥३॥

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमांल्लोकानसृजत' (ऐतरेय २-१-१) इस श्रुति के द्वारा बह्वृच शाखा वालों ने कहा है कि यह सब पहले आत्मा ही आत्मा था। उस ने ईक्षण किया कि जगत् का सर्जन करूँ। बस उस ने संकल्प से ही इन लोकों को उत्पन्न कर डाला।

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ।
संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ॥४॥

तैत्तिरीय में कहा गया है कि उस इस ब्रह्म नाम के आत्मा से ही ये सब आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ओषधि, अन्न, तथा देह क्रमानुसार उत्पन्न हो गये हैं।

बहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ।
तपस्तप्त्वाऽसृजत् सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥५॥

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६) मैं बहुत हो जाऊं—प्रजा रूप से उत्पन्न हो जाऊं—इस कामना से तप को तप कर [विचार करके] इस सब जगत् को उत्पन्न कर डाला। यों "जगत् के सर्जन की इच्छा और विचारात्मक तप से जगत् का स्रष्टृत्व ब्रह्म में है" यह बात तित्तिरि ने कही है। [उसका तप 'यस्य ज्ञानमयं तपः' के अनुसार विचार रूप में ही होता है। साधारण पुरुष जिस काम को शरीरबल से करते हैं महापुरुष उसको विचाररूप में किया करते हैं। महापुरुषों के संकल्प में ही कर्म का बल रहता है। ज्यों ज्यों बहिर्मुखता बढ़ती

जाती है त्यों त्यों संकल्प का वल घटने लगता है और अगत्या कर्म वल से कार्य चलाना पड़ता है। परमेश्वर में वह संकल्प वल अत्यधिक मात्रा में रहता है इस कारण वे विचार-मात्र से सब कुछ वना लेते हैं।

इदमग्रे सदेवासीद् वहुत्वाय तदैक्षत।
तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः॥६॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसी देकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६-२-१) में सद्रूप ब्रह्म का उल्लेख करके सामगों ने कहा है कि उसने वहुभाव का विचार किया और फिर तेज, जल, पृथिवी, अन्न तथा अण्डजादि प्राणियों को उत्पन्न करडाला।

विस्फुलिङ्गा यथा वन्हे र्जायन्तेऽक्षरतस्तथा।
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः॥७॥

'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० २-१-१) इस आथर्वण श्रुति में कहा गया है कि जैसे वन्हि से चिनगारी निकल पड़ती है, इसी प्रकार अक्षर तत्व से विविध प्रकार के चेतन और जड पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं।

जगदव्याकृतं पूर्व मासीद् व्याक्रियताधुना।
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे॥८॥
विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा।
पिपीलिकावधि द्वन्द्वमिति वाजसनेयिनः॥९॥

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामा-

यमिदंरूप इति' [बृ० १-४-७] इस प्रकरण में वाजसनेयियों ने यह कहा है कि यह जगत् पहले अव्याकृत था अब [उस में केवल उतना ही परिवर्तन और हुआ है कि] वह दृश्य नाम तथा दृश्य रूप से व्याकृत होगया है। वे नाम और रूप विराट् आदि स्थूल कार्यों में स्पष्ट ही दीखते हैं। विराट्, मनु, मनुष्य, गाय, गधा, घोड़ा, बकरी, भेड़ तथा पिपीलिका पर्यन्त जितने भी मिथुन [जोड़े-दम्पति] हैं वे सब विराडादि कहे जाते हैं।

कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः।
इति ताः श्रुतयः प्राहु र्जीवत्वं प्राणधारणात् ॥१०॥

उन्हीं श्रुतियों ने यह बात भी कही है कि वही ईश्वर अपना रूपान्तर कर के अर्थात् जीव रूप को धारण कर के देहों में प्रवेश कर गया है अर्थात् जीव बन गया है। प्राणों को धारण करने किंवा स्वामी होकर उन का प्रेरक होने से ही जीवभाव आजाता है [इसी से कहा है कि जैव रूप करके प्रविष्ट होगया है]।

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥११॥

लिङ्ग देह की कल्पना का आधार जो कि अधिष्ठान चैतन्य है एक तो वह, दूसरे उस में कल्पित जो कि लिङ्गदेह है, तीसरे उस लिङ्गदेह में जो चिदाभास पड़ा हुआ है, इन तीनों का संघ ही 'जीव' कहा जाता है।

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत्।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥१२॥

महेश्वर की जो माया है, उस में जैसे जगत् के सर्जन का सामर्थ्य है, इसी प्रकार उस में मोहन का सामर्थ्य भी रहता है। उस माया की वह मोहन शक्ति उस विचारे जीव को मोहित कर देती है। [उस के मोहन प्रभाव में आकर उसे अपने चिदानन्दादिस्वरूप का ज्ञान ही नहीं रह जाता है।

मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ॥१३॥

मोह में फंसकर अनीश बनकर [इष्टकी प्राप्ति में और अनिष्ट के परित्याग में बेबस (असमर्थ) होकर] शरीर में ही अहंभाव से डूबकर, शोक किया करता है किंवा [इसकी टूट फूट और इसकी आवश्यकताओं से] अपने आपको दुःखी मान बैठता है। यही बात 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः' [मु० ३-२-१] इस श्रुति में कही गयी है। ईश्वर के बनाये हुए द्वैतको यहाँ तक संक्षेप से कह दिया गया है।

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपञ्चितम् ।
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत् पिता ॥१४॥

'यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता' (बृ० १-५-१) इस श्रुति वाले सप्तान्न ब्राह्मण में जीव के बनाये हुए द्वैत का प्रपंच किया है कि पिता [अर्थात् अदृष्ट रूपी भाग (अपना हिस्सा) दे कर उसके द्वारा इस जगत् को उत्पन्न करके सकल लोक के पालने वाले इस जीव] ने ज्ञान और अपने कर्म के द्वारा सात अन्नों को उत्पन्न किया।

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम् ।
अन्यत्त्रितयमात्मार्थं मन्नानां विनियोजनम् ॥१५॥

'एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्' (बृ० १-५-२) इस वाक्य में उन सातों अन्नों का विनियोग यों किया गया है कि—उनमें से एक तो मर्त्यान्न है। दो देवताओं के अन्न हैं। एक पशुओं का अन्न है। शेष तीन को उसने केवल आत्मा के लिये रख लिया है।

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः।
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्व मन्नाना मवगम्यताम् ॥१६॥

व्रीह्यादिक, दर्श, पूर्णमास, दुग्ध, मन, वाक् तथा प्राण ये सात अन्न कहाते हैं।

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः।
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम् ॥१७॥

ईश्वर ने यद्यपि इनका स्वरूप ही बनाया था। परन्तु इनका अन्नपन अर्थात् भोग्याकार तो जीव ने ही बना लिया है। उसने ज्ञान और कर्म के सहारे से इन व्रीही आदि प्राणान्त पदार्थों को अपना अन्न किंवा भोग्य बना डाला है।

जब उस जीव को देवताध्यान आदि विहित ज्ञान तथा परस्त्रीध्यानादि प्रतिषिद्ध ज्ञान होता है, जब यह जीव यज्ञादि विहित कर्म और हिंसा आदि प्रतिषिद्ध कर्म कर बैठता है तब ईश्वर की बनाई ये सब वस्तुयें उसके भोग के साधन बन जाती हैं। फिर ये चीजें भोग्य बन कर उसके काम में आने लगती हैं। यदि उस जीव को वैसा ज्ञान न हो और उस ज्ञान से वह जीव वैसे-वैसे कर्म न करे तो ये वस्तुयें उसकी भोग्य किंवा उस के अन्न कदापि न बनें। इसी से कहा गया है कि ईश्वर ने तो इनका केवल स्वरूप ही बनाया था। अपने

ज्ञानों से और अपने कर्मों से जीव ने इन को अपना अन्न बना लिया है।

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद् द्वाभ्यां समन्वितम्।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित् तथेष्यताम्॥१८॥

[सप्तान्नरूप में वर्णन किया हुआ] जगत् ईश्वर का उत्पन्न किया हुआ है और जीव का भोग्य है। यों यह जगत् ईश्वर और जीव दो से सम्बद्ध है। एक तो इस जगत् का बनाने वाला है और दूसरा इसको भोगने वाला है [एक चीज़ दो से सम्बद्ध रहती है इसके लिये दृष्टान्त यह है कि] जैसे स्त्री अपने पिता से तो उत्पन्न होती है और पति की भोग्य होती है। इसी तरह इस जगत् को भी दो से सम्बद्ध समझ लेना चाहिये।

मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ।
मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम्॥१९॥

जब ईश्वर मायावृत्त्यात्मक संकल्प करता है, तब तो यह जगत् उत्पन्न हुआ करता है। जब यह जीव मनोवृत्ति नाम का संकल्प करता है, तब यह जगत् उस का भोग्य बन जाता है [यों ईश्वर और जीव के संकल्प से ही इस जगत् का सर्जन और भोग होता है। अज्ञान से यह जगत् बनता है और मन से यह जगत् भोगा जाता है]।

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात् तद्भोगो बहुधेष्यते॥२०॥
हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति॥२१॥

[ईश्वर के बनाये हुए वस्तुस्वरूप से भिन्न भी कोई भोग्यत्व आकार होता है इसे निश्चय करना हो तो यों समझना चाहिये कि] जभी तो ईश्वर की बनायी हुई मणि आदि वस्तु, भले ही एक प्रकार की रहो, परन्तु भोक्ता लोगों की बुद्धि-वृत्तियों के नाना प्रकार की होने पर, उस एक ही मणि का नाना प्रकार का भोग होजाता है ॥२०॥ देखते हैं कि मणि का लालची तो उसे पाकर हृष्ट होता है, दूसरे लालची को जब वह मणि नहीं मिलती तब उसे क्रोध आता है, मणि के विषय में जो लापरवाह है वह तीसरा उदास मनुष्य तो उस मणि को देखता ही देखता है [मणि मिलने से] न उसे हर्ष होता है और [मणि के न मिलने से] उसे क्रोध भी नहीं आता है ।

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ।
सृष्टा जीवै रीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥२२॥

[जीव के बनाये हुए आकारभेदों का वर्णन इस श्लोक में किया गया है] प्रिय, अप्रिय तथा उपेक्ष्य ये तीन आकार मणि में पाये जाते हैं। ये तीनों ही आकार जीवों के बनाये हुए हैं। इन तीनों में साधारण रीति से अनुस्यूत जो मणि का स्वरूप है वही ईश्वर का बनाया हुआ रूप कहाता है।

भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा ।
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः ॥२३॥

[एक ही वस्तु में जीव के बनाये हुए आकार किस प्रकार भिन्न भिन्न होते हैं, यही बात इस श्लोक में दूसरा उदाहरण देकर समझायी गयी है] देखा जाता है कि सम्बन्धियों की भिन्न भिन्न बुद्धि के कारण एक ही स्त्रीशरीर 'भार्या' भी

कहाता है 'स्नुषा' [पुत्रवधू] भी कहा जाता है 'ननान्दा' भी समझा जाता है 'याता' [देवर की स्त्री] भी मान लिया जाता है और 'माता' भी कहलाने लगता है। ईश्वर ने इसे स्वरूप से तो केवल स्त्री ही बनाया था परन्तु प्राणियों ने अपने भिन्न भिन्न भावों के अनुसार उस एक ही स्त्री को पत्नी, पुत्रवधू, ननान्दा [पति की बहन] याता, तथा माता मान लिया है।

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ॥२४॥

शंका होती है कि—स्त्री विषयक ज्ञान ही तो भिन्न भिन्न उपलब्ध होते हैं, उन ज्ञानों का विषय बनी हुई स्त्री का स्वरूप तो भिन्न नहीं होता है। वह तो वैसे का वैसा ही रहता है। [फिर यह क्यों कहा जाता है कि सम्बन्धियों की भिन्न भिन्न बुद्धि से स्त्री भी भिन्न भिन्न हो जाती है ?]

मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ॥२५॥

[ज्ञेय पदार्थ की विलक्षणता के विना ज्ञान में विलक्षणता आती ही नहीं इस सिद्धान्त के कारण ज्ञेय में आकार का भेद मानना ही चाहिये, इस अभिप्राय से पूर्वोक्त आक्षेप का परिहार इस श्लोक में किया जाता है कि] तुम्हारा आक्षेप ठीक नहीं। क्योंकि एक स्त्री में दो स्त्रियां रहती हैं, एक मांसमयी दूसरी 'मनोमयी'। 'मनोमयी' स्त्री उस 'मांसमयी' स्त्री से सर्वथा भिन्न होती है। 'मांसमयी' स्त्री तो यद्यपि एक ही रहती है परन्तु 'मनोमयी' स्त्री भिन्न भिन्न हो जाती हैं।

भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिष्वस्तु मनोमयम् ।
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ॥२६॥

फिर शंका होती है कि भ्रान्ति, स्वप्न, मनोराज्य तथा स्मृति के समय [जब कि बाह्य विषय नहीं होते] तब वहां की वस्तुयें 'मनोमय' हुआ करें, परन्तु जो वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमेय है उस वस्तु को 'मनोमय' क्योंकर मान लिया जाय ?

बाढं, माने तु मेयेन योगात् स्याद् विषयाकृतिः ।
भाष्यवार्तिककाराभ्या मयमर्थ उदीरितः ॥२७॥

यह तो ठीक है कि प्रमिति के स्थल में बाह्य विषय रहता है [उस विषय को जब हम मनोमय कहते हैं तब उसका कारण हमसे सुन लो कि] मान [प्रमाण] में जो विषयाकार आता है वह तो मेय पदार्थ के संयोग से ही आता है [उस को (मान में आये हुए विषयाकार को) ही हम मनोमय पदार्थ कहते हैं] भाष्यकार श्री शंकराचार्य तथा वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी यही बात कही है ।

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते यथा ।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥२८॥

भाष्यकार ने कहा है कि जैसे पिघला हुआ तांबा मूपा [मूस] में जब ढाल दिया जाता है तब वह उसी के आकार का होजाता है इसी प्रकार रूपादि विषयों को व्याप्त करने किंवा अपना विषय बनाने वाला चित्त भी अवश्य ही उन जैसा ही दीखने लगता है ।

व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥२९॥

[विषय को व्याप्त करने वाली बुद्धि स्वयं भी विषय के आकार की हो जाती है इस बात को सिद्ध करनेवाला दूसरा दृष्टान्त यह है कि] जिस प्रकार व्यञ्जक [आतप आदि] प्रकाश व्यङ्ग्य [घटादि] के आकार का हो जाता है, इसी प्रकार, सकल पदार्थों का व्यञ्जक होने के कारण यह बुद्धि भी पदार्थ के आकार की सी दीखने लगती है। जैसा आकार पदार्थ का होता है वैसा ही आकार उस पदार्थ को देखनेवाली बुद्धि का भी हो जाता है। [बुद्धि का वह आकार ही मनोमय पदार्थ कहाता है। यही जीवों का वन्धक होता है। जिन पदार्थों का हम अधिक संकल्प करते हैं उन पदार्थों के आकार हमारी बुद्धि में जम जाते हैं। फिर उनके विषय के बहुत से संकल्प वनते हैं। वे ही हमें बाँध रखते हैं। यों ईश्वर की बनायी वस्तु हमें नहीं बाँधती किन्तु हमारी बनाई मनोमय वस्तु ही हमें बाँधनेवाली है।]

मातु र्मानाभिनिष्पत्ति र्निष्पन्नं मेयमेति तत्।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥२०॥

इसी विषय में वार्तिककार ने भी कहा है कि—पहले माता [अर्थात् प्रमात] से [अन्तःकरणवृत्ति रूपी] प्रमाण की उत्पत्ति हुआ करती है। जब वह प्रमाण उत्पन्न हो जाता है तब वह [घटादि] मेय पदार्थों के पास जाता है। मेय पदार्थ से सम्बद्ध हुआ वह प्रमाण उसी आकार का दीखने लग पड़ता है, जिस आकार का कि प्रमेय पदार्थ होता है।

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः ॥२१॥

इस सब कथन से यही सिद्ध होता है कि—घट दो प्रकार का होता है—एक 'मृन्मय' दूसरा 'धीमय'। मृन्मय घट तो प्रमाणों से जाना जाता है तथा धीमय घट साक्षिभास्य होता है। जब किसी घड़े को देखते हैं तब वहाँ दो घड़े होते हैं एक तो मिट्टी का घड़ा तथा दूसरा मनोमय घड़ा। मिट्टी के घड़ों को तो हम प्रमाणों से जानते हैं। उस मिट्टी के घड़े से जो मनोमय घड़ा बनता है उसको तो हम साक्षीतत्व से जाना करते हैं।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत्।
सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्त स्तस्मिन्नसति न द्वयम् ॥२२॥

अन्वय और व्यतिरेक से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जीव का बनाया हुआ धीमय (मनोमय) द्वैत ही जीव को बन्धन में डालनेवाला है [इस लिये वही हेय भी है।] वे अन्वय व्यतिरेक ये हैं कि—जीव के बनाये हुए इस मानस-जगत् के विद्यमान रहने पर ही सुख दुःख होते हैं। उसके न होने पर तो सुख या दुःख कुछ भी नहीं होते।

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः।
समाधिसुप्तिमूर्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ॥२३॥

सुपने आदि में बाह्य पदार्थ के न होने पर भी, मनुष्य सुखी दुःखी होता है। समाधि सुप्ति या मूर्छा में बाह्यार्थ के होने पर भी सुखी दुःखी नहीं होता है।

मनुष्यादि प्राणी स्वप्न या स्मृति आदि के समय, जब कि अनुकूल स्त्री आदि सच्चा बाह्यार्थ नहीं होता, अथवा जब कि प्रतिकूल व्याघ्रादि सच्चा पदार्थ नहीं होता तो भी सुखी या दुःखी

हुआ ही करता है । इसके विपरीत समाधि सुषुप्ति तथा मूर्छा के समय, इन बाह्य पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी, सुखी या दुःखी नहीं होता । इससे यही सिद्ध होता है कि सुख दुःख के साथ बाह्य पदार्थ के अन्वय व्यतिरेक हैं ही नहीं । किन्तु सुख दुःख के साथ मानस पदार्थ के ही अन्वय व्यतिरेक हैं। उन्हीं से जीव सुखी या दुःखी हुआ करता है । (केवल बाह्यार्थ से कोई भी सुखी या दुःखी नहीं होता है ।)

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता ।
विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥३४॥
मृतेऽपि तस्मिन् वार्तायामश्रुतायां न रोदिति ।
अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत् ॥३५॥

[मनोमय प्रपंच ही बन्धक होता है । उसी के साथ सुख दुःख का अन्वयव्यतिरेक है । यह बात एक अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण से इस श्लोक में समझायी गयी है] (जब किसी का पुत्र किसी दूरदेश को चला गया होता है और वहाँ भला चंगा ही रहता है परन्तु घर बैठा हुआ उसका पिता किसी धोखेबाज के झूठ-मूठ ही यह कह देने से कि तुम्हारा पुत्र तो मर गया अपने मनोमय पुत्र को मरा हुआ मान कर, फूट फूट कर रोने लगता है। [३४] तथा उसी पुत्र के परदेश में यथार्थ ही मर जाने पर भी उसके मरने की बात न सुनने पर रोता नहीं है ।) इस बात को देख कर यही निश्चय करना पड़ता है कि जीव को मानस जगत् ही सब को बन्धन में डाला करता है ।

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात् स्यादिहेति चेत् ।
न हृद्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्वतः ॥३६॥

'यदि धीमय जगत् को ही बन्धन का कारण मानें तो बाह्यार्थ की कुछ जरूरत नहीं रह जाती। फिर ऐसी अवस्था में विज्ञानवाद आ खड़ा होता है' ऐसी किसी को शंका हो तो उस से कहो कि—हृदय में आकार को बैठाने [जमाने] के लिये तो बाह्य पदार्थ की अपेक्षा होती ही है। [तात्पर्य यह है कि यद्यपि बन्ध का कारण तो मानस प्रपंच ही है। परन्तु मानस प्रपंच को उत्पन्न करने वाला तो बाह्य प्रपंच ही होता है। यों बाह्यार्थ को भी स्वीकार करने के कारण हम विज्ञान-वादी नहीं हो जाते हैं]।

वैयर्थ्यमस्तु वा, बाह्यं न वारयितुमीश्महे।
प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः ॥३७॥

अथवा बाह्यार्थ व्यर्थ भी रहो, तो भी हम [विज्ञानवादी की तरह] बाह्य पदार्थ का वारण नहीं कर सकते हैं। [विज्ञान-वादी तो बाह्यार्थ का अपलाप करते हैं। वैसा हम नहीं करते। यही हमारा उन का भेद है] सिद्धान्त तो यह है कि प्रमाण प्रयोजन की अपेक्षा (परवाह) ही नहीं करते हैं।

किसी भी वस्तु की सिद्धि प्रयोजन के अधीन नहीं होती है। किन्तु प्रमाण के अधीन होती है। जिस पदार्थ को प्रमाणों ने सिद्ध कर दिया हो, फिर भले ही उस का कुछ भी प्रयोजन न हो, उस को असत् नहीं माना जा सकता है।

बन्धश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति।
अभ्यसेद् योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ॥३८॥

मानस द्वैत ही यदि बन्ध का कारण है, तो बस केवल उस मन का निरोध करने से ही वह बन्ध शान्त हो सकता

है । इस कारण मनोनिरोध रूपी योग का ही अभ्यास कर डालना चाहिये। इस विचारे ब्रह्मज्ञान से क्या होगा सो बताओ ? [ब्रह्मज्ञान को बन्ध का निवर्तक मानना ठीक बात नहीं है] ।

तात्कालिकद्वैतशान्तावप्यागामिजनिक्षयः ।
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३९॥

सुनो, योग से तात्कालिक द्वैत तो शान्त हो सकता है, परन्तु आगामी जन्मों का नाश तो ब्रह्मज्ञान के बिना हो ही नहीं सकता । यह बात 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (वे० ५-१३) 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति। यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।' (श्वे० ६-२०) इत्यादि श्रुतियों में डंके की चोट कही गई है । ये श्रुतियां ब्रह्मज्ञान से बन्ध की निवृत्ति को कहती हैं ।

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् ।
बुद्ध्वा ब्रह्म द्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ॥४०॥

एकवस्तुवादी के मत में, ईश्वर का बनाया हुआ द्वैत भले ही बना रहो, उस को तो मिथ्या समझ लेने मात्र से ही अद्वितीय ब्रह्म का बोध हो सकता है । [ईश्वर के बनाये हुए द्वैत की मौजूदगी में ही यदि उस द्वैत को मिथ्या समझ लिया जाय तभी अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व जाना जा सकता है । ईश्वर का बनाया हुआ द्वैत न रहेगा तो अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व समझ में आ ही नहीं सकेगा । क्योंकि तब उस को जानने का साधन कुछ भी नहीं रहेगा । ईश्वर के द्वैत पर जब हम अपना द्वैत बनाने लगते हैं तब तो यह हमें बांधता है । जब हम इस को हटा कर

इस के मूलाधार को टटोलते हैं तब हमारी दृष्टि ब्रह्मतत्त्व पर जा पड़ती है। यों इस की सत्यता से हम बंधते हैं और इस के नकार से हम छुट जाते हैं। यों ईश्वर का द्वैत तो हमारे बड़े ही काम की वस्तु है]।

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः।
विरोधिद्वैताभावेपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ॥४१॥

प्रलय काल में, जब कि द्वैत छिप जाता है, और अद्वैत ज्ञान का विरोधी द्वैत नहीं रह जाता, तब भी अद्वय भाव को जाना नहीं जा सकता। क्योंकि अद्वय भाव को जताने वाले गुरु या शास्त्र उस समय नहीं रहते।

जो यह समझा बैठा है कि द्वैत को मिथ्या समझने से अद्वैत ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु अद्वैत ज्ञान के लिए द्वैत का निवारण कर डालना—द्वैत को मार भगाना—ही अत्यावश्यक होता है, उसको यों समझाना चाहिये कि—प्रलयकाल में, जब कि तुम्हारे भी मत में द्वैत की निवृत्ति हो जाती है, जब कि विरोधी द्वैत का सर्वथा निवारण हो जाता है, जब कि अद्वैत ज्ञान का विरोध करनेवाला द्वैत शेष ही नहीं रह जाता है, तब ज्ञान के साधन गुरु अथवा शास्त्रादि के न रह जाने के कारण ही से, अद्वय वस्तु का बोध किसी को भी नहीं हो सकता। इसी से कहते हैं कि द्वैत का निवारण करना कोई आवश्यक बात नहीं है। उसको तो मिथ्या समझने से ही साधक का काम चलता है। यों मिथ्या समझने में ईश्वर के द्वैत का उपयोग है ही।

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम्।
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद् द्विष्यते कुतः ॥४२॥

['द्वैत के रहते रहते अद्वैतज्ञान कैसे हो सकता है' इसका समाधान यह है कि] ईश्वर का बनाया हुआ द्वैत तो अद्वैत के ज्ञान में बाधा नहीं डालता। उसको ही तो मिथ्या समझने से अद्वैत ज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है। इस कारण वह तो अद्वैत ज्ञान की उत्पत्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकता। प्रत्युत गुरुशास्त्रादिरूपी जो द्वैत है वह तो अद्वैत ज्ञान का साधक होता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर के बनाये हुए आकाशादि रूप द्वैत को हम क्षुद्र संकल्प वाले लोग हटा भी तो नहीं सकते हैं [क्योंकि वह सत्य संकल्प है। उसका संकल्प हमसे नहीं तोड़ा जा सकता] इन हेतुओं से उस विचारे द्वैत को रहने दो, उससे द्वेष मत ठानो।

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा।
उपाददीत शास्त्रीयमातत्वस्यावबोधनात् ॥४३॥

'शास्त्रीय' और 'अशास्त्रीय' भेद से जीव का बनाया हुआ द्वैत भी दो प्रकार का होता है। उसमें से तत्व का ज्ञान होने तक शास्त्रीय द्वैत को तो पकड़े ही रहना चाहिये।

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत्।
बुद्धे तत्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ॥४४॥

प्रत्यग्रूप ब्रह्म का विचार या श्रवण आदि जिसको कहते हैं वह शास्त्रीय मानस जगत् [द्वैत] कहाता है। जब तत्व का [पूरा पूरा] परिज्ञान हो चुके तब तो उस शास्त्रीय द्वैत का परित्याग कर ही डालना चाहिये। यह बात श्रुति ने कही है।

साधक लोग तत्व के समझ में आजाने पर भी शास्त्रवासना में उलझे न रहकर ब्रह्माभ्यास को बढ़ाते जायँ यही इसका भाव है।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत् तान्यथोत्सृजेत् ॥४५॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ॥४६॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् वहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ।४७।

[तत्व बोध के बाद शास्त्रीय द्वैत को छोड़ ही देना चाहिये यह बात इन श्रुतियों में कही गयी है] मेधावी पुरुप शास्त्रों को पढ़े, उनका वार वार अभ्यास करे, जव परब्रह्म को पहचान ले, उसके पश्चात् मार्ग देखकर निकम्मी हुई उल्का के समान उन्हें तुरन्त फेंक दे ॥४५॥ ग्रन्थों का अभ्यास करके जव ज्ञान तथा विज्ञान में तत्पर हो जाय तो फिर मेधावी पुरुष ग्रन्थों का पूर्ण परित्याग इस प्रकार कर दे जैसे धान्यार्थी लोग धान्य निकाल कर पुराल को कहीं भी पड़ा छोड़ देते हैं। [फिर साधकों को ग्रन्थव्यसन में नहीं उलझे रहना चाहिये। ग्रन्थ तो इस मार्ग तक हमें पहुँचा देने के लिए थे। इस परमपद को देखकर भी ग्रन्थों में फँसे रहना तो ऐसा है जैसे पार जाकर नाव पर से कोई उतरना ही न चाहता हो] ॥४६॥ धीर ब्राह्मण उसी आत्म-तत्व को जान कर अपनी बुद्धि को सदा तदाकार बना डाले। शास्त्रों की खटपट में या बहुत सी वातों की उलझन में फँसा न रह जाय। क्योंकि वह वाणी की कोरी कसरत ही तो है ॥४७॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ॥४८॥

'तमेवैकं जानथ आत्मान मन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः' [मुण्ड. २-२-५] इस श्रुति में कहा गया है कि उसी एक तत्व को जान लो। उससे भिन्न समस्त वाणियों का परित्याग कर डालो। 'यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञः' (कठ१-३-१३) ज्ञानी पुरुष वाणियों को रोककर मन में बन्द कर दे [फिर निरर्थक हो चुके हुए वाग्व्यापार में फँसा न रह जाय]। इत्यादि श्रुतियों में इसी बात का प्रतिपादन स्पष्ट रीति से किया गया है।

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥४९॥
उभयं तत्वबोधात् प्राङ् निवार्यं बोधसिद्धये।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥५०॥

अशास्त्रीय द्वैत भी 'तीव्र' और 'मन्द' दो प्रकार का होता है। कामक्रोधादि 'तीव्र द्वैत' कहाता है। मनोराज्य को 'मन्दद्वैत' कहते हैं ॥४९॥ ज्ञान की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि—इन दोनों ही प्रकार के द्वैत का निवारण कर दिया जाय। क्योंकि ब्रह्मज्ञान के साधन जो नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि हैं, उनमें शान्ति और समाधि दोनों ही सुने जाते हैं। [इसका अभिप्राय यही है कि जब तक शान्ति और समाधान नहीं होगा, तब तक तत्वज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा। इस कारण तत्वज्ञान से प्रथम प्रथम ही तीव्र और मन्द दोनों प्रकार के द्वैत का परित्याग कर देना चाहिये।]

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये।
कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य नहि मुक्तता ॥५१॥

जब बोध हो चुके तब भी, इन दोनों प्रकार के द्वैतों का, परि-

त्याग ही रखना चाहिये। नहीं तो जीवन्मुक्ति का मजा हाथ ही नहीं आयगा। क्योंकि कामादि रूपी जो महाक्लेशकारक वन्धन है, जो पुरुप उससे युक्त हो रहा है वह पुरुप मुक्त कैसे हो सकेगा? [वोध का इतना प्रताप तो होना ही चाहिये कि गीतोक्त दैवी संपत्ति का ज्ञानी में विकास हो जाय। ज्ञान के वाद यदि दैवी-संपत्ति नहीं आयी है तो वह ज्ञान ज्ञान नहीं है ज्ञानाभास है। "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्"। जो दुश्चरितों से हटा नहीं है, जो शान्त नहीं है, जो समाधि नहीं करता है, जिसका मन शान्त नहीं हुआ है, वह पुरुप सूखे तत्वज्ञान से इस तत्व को पा नहीं सकता है। कोरे तत्वज्ञान से तो तत्व ज्ञानी स्वयं ही आत्मवंचन करता रहता है और परमार्थ पद को पाने से वंचित रह जाता है।]

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात् कृती भवान्॥५२।

"यह जीवन्मुक्ति न मिले तो पड़ी मत मिलो, मैं तो केवल आगामी जन्म न मिलने से ही धन्य हो जाऊँगा" यह विचार दोप-युक्त है, क्योंकि स्वर्ग अर्थात् वैपयिक सुख से धन्यता मान लेने वाले तुम जन्म के वन्धन से छुट नहीं सकोगे। जन्म भी तुम्हारा होगा ही।

"जो मैं जन्म-मरण लक्षण संसार से घवरा उठा हूँ, उस मुझे तो विदेह मुक्ति ही चाहिये। मुझे वार वार जन्म लेना न पड़े उसी से मैं कृतकृत्य हो जाऊंगा। इस, वीच की जीवन्मुक्ति से मुझे क्या लेना है? यह मुझे न मिले तो न सही।" ऐसा जिसको भ्रम हो गया हो उससे कहो कि—ऐहिक तुच्छ भोगों के छूटने के डर

से जब कि तुम जीवन्मुक्ति जैसे पद का त्याग कर रहे हो, तब क्या तुम स्वर्ग सुख के लोभ में फँसकर विदेहमुक्ति को छोड़ नहीं बैठोगे ? यों बार बार तुम्हारा जन्म होता ही रहेगा। क्योंकि तुम तो स्वर्ग मात्र से ही सन्तुष्ट होने वाले प्राणी ठहरे। जो तुम ऐहिक भोगों का लालच भी नहीं छोड़ सकते हो उस तुम्हें मुक्ति का ढोंग छोड़ देना चाहिये।

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा।
स्वयं दोषतमात्मायं कामादिः किं न हीयते ॥५३॥

"क्षय की अधिकतारूपी दोष से [अथवा नाश और दूसरे की अधिकता की ईर्षा से] हम स्वर्ग का परित्याग करते हैं" ऐसा यदि कहो तो बताओ फिर सकल पुरुषार्थों के विघातक इस दोषरूप कामादि को ही क्यों नहीं छोड़ देते हो ? [दोषी स्वर्ग को छोड़ने वाले को अत्यन्त दोषी कामादि तो छोड़ ही देने चाहियें।]

तत्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत्।
यथेष्टाचरणं ते स्यात् कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः ॥५४॥

आत्मतत्व को जानकर भी यदि तू पूर्णरूप से कामादि को नहीं छोड़ेगा तो इस का परिणाम यही होगा कि तत्वज्ञानीपने के अभिमान में आकर तू कर्मशास्त्र [कर्तव्य बताने वाले शास्त्र] की आज्ञाओं को टालने लगेगा और यों तू एक यथेष्टाचारी हो जायगा [सो भाई! यह भला तत्वज्ञान हुआ यों तो तू संसारियों से भी गया बीता हो जायगा। तीर्थ के कव्वों की तरह तू भी ज्ञान का भांड, या राम राम रटने वाला तोता हो जायगा।]

बुद्धाद्वैतस्वतत्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥५५॥

सुरेश्वराचार्य ने कहा कि—अद्वैतरूप आत्मतत्व को जान चुका हुआ भी यदि अभी तक यथेष्टाचारी ही है, तो फिर वह अशुचिभक्षणादि गर्हित से गर्हित काम भी करेगा ही। फिर बताओ कि विधि निषेध की आज्ञा न मानने वाले ऐसे तत्व ज्ञानियों में और कुत्तों में क्या भेद रह गया ?

'सर्वं ब्रह्म वदिष्यन्ति संप्राप्ते हि कलौ युगे। तानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः' कलयुग जब आयगा तब ब्रह्म की चर्चा तो बहुतायत से होगी, परन्तु उपस्थ और पेट के गुलाम बनकर करें धरेंगे कुछ भी नहीं। ऐसी शोचनीय अवस्था जिस की है वह ज्ञानी नहीं है वह तो ज्ञानिविदूषक है। ऐसे ज्ञानी से तो अज्ञानी ही अच्छे हैं। क्योंकि वे अपने दोष को स्वीकार तो करते हैं। औषध खाकर जैसे पथ्य न किया जाय ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी हो कर यदि व्यवहार शुद्धि नहीं है, यदि दैवी संपत्ति नहीं आयी है, तो इस सूखे ब्रह्मज्ञान से क्या होना है ? प्रत्युत ऐसा ब्रह्मज्ञान घातक हो सकता है। सरकण्डे के फूल पर जैसे फल नहीं लगता इसी प्रकार ऐसे शुष्क ब्रह्मज्ञान रूपी पुष्प पर मुक्तिरूपी फल नहीं लगता।

बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्लिश्नास्यथाधुना।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ॥५६॥

जब तक तुझे तत्वज्ञान नहीं हुआ था तब तक तो तुझे केवल काम क्रोधादि मनोदोष ही क्लेश पहुँचाया करते थे। परन्तु अब तत्वज्ञान हो जाने पर वे कामादि मनोदोष तो हैं ही, उनके साथ ही साथ अब तेरी सर्वलोकनिन्दा भी होने लगी है [कि देखो तत्वज्ञानी हो कर भी यह बुरे बुरे काम करता है] यों

तुझे दुगना क्लेश अब हो गया है। अरे भाई, तेरा बोधवैभव भी विचित्र ही है [परमात्मा करे ऐसा बोध किसी को भी न हो।]

विड्वराहादितुल्यत्वं मा कांक्षीस्तत्वविद् भवान् ।
सर्वधीदोषसन्त्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥५७॥

(तुम अब तत्वज्ञानी हो गये हो तो मैला खाने वाले सूकरादि अधम प्राणियों के समान होना मत चाहो) किन्तु सब ही दोषों को छोड़ कर देवताओं की तरह पुजो।

यदि तुम तत्वज्ञानी हो गये हो—सर्वाधिक उत्कर्ष का कारण ज्ञान यदि तुम्हें प्राप्त हो गया है—तो कामादि को त्याग देने की असमर्थता के कारण, निकृष्ट से निकृष्ट ग्रामसूकर आदि के तुल्य मत हो जाओ। जिन काम क्रोधादि में ग्राम के सूकर आदि अधम प्राणी भी फँस रहे हैं, तत्वज्ञानी होकर तुम उन काम क्रोधादि में मत फँसे रहो। किन्तु कामादि नाम के जितने भी मनोदोष हैं, उन सब को छोड़ कर देवता के समान सब लोगों के पूज्य हो जाओ। तत्वज्ञान का इतना तो दृष्ट फल भी होना ही चाहिये। (तत्वज्ञान की चार बातें मुँह से निकालकर भी यथेष्टाचारी होने से हमारी अपनी ही हानि नहीं होती, प्रत्युत तत्वज्ञान का मार्ग बदनाम होता है) इससे लोगों को घृणा होती है और बहुत से साधक हमारे पापाचार को देखकर इस मार्ग में आने से परहेज़ करने लगते हैं। यों हमारे यथेष्टाचरण से अकल्पित अनन्त हानियाँ होती हैं।

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः ।
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ॥५८॥

काम्य और द्वेष्य पदार्थों में जो (अनित्यता तथा सातिशयता आदि) दोष भरे पड़े हैं, उन दोषों पर दृष्टि रखना आदि बातें, कामादि के त्याग करने के साधन हैं। ये साधन मोक्ष-शास्त्रों में जहां-तहां कहे गये हैं। उन सब साधनों को वहां से ढूंढ लो [वैसे बनो] और सुखी हो जाओ।

त्यज्यतामेष कामादि मनोराज्ये तु का क्षतिः ।
अशेषदोषबीजत्वात् क्षतिर्भगवतेरिता ॥५९॥

"अनर्थ के कारण इन कामादियों को तो हम त्याज्य मान लेते हैं। परन्तु मनोराज्य तो वैसा नहीं है। सो हम मनोराज्य करते रहें, उस में भला क्या हानि है ?" यह विचार भी ठीक नहीं है क्योंकि—यद्यपि मनोराज्य से साक्षात् तो कोई अनर्थ नहीं होता है, परन्तु परम्परा से तो सम्पूर्ण दोषों का मूलकारण यह मनोराज्य ही है। इस से मनोराज्य से बड़ी हानि होती है यह बात भगवान् कृष्ण ने कही है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥६०॥

जो पुरुष विषयों का ध्यान करता [किंवा मनोराज्य करता] रहता है, वह फिर उन विषयों को अच्छा समझने लगता है [अर्थात् उसे उन विषयों में संग हो जाता है]। संग से कामना की उत्पत्ति होती है [वह फिर उन विषयों को अपने लिये मांगने या चाहने लगता है] उस कामना से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। [उस कामना के पूरा होने में जो रुकावट डालता है उस पर क्रोध आता है] यों मनोराज्य ही तो सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ है।

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ।
सुसंपादः क्रमात् सोऽपि सविकल्पसमाधिना ॥६१॥

केवल निर्विकल्प समाधि से ही मनोराज्य जीता जा सकता है। वह निर्विकल्प समाधि धीरे धीरे सविकल्प समाधि करते करते प्राप्त हो सकती है।

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना ।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ॥६२॥

जिस को आत्मतत्व का ज्ञान हो चुका हो—जिस को आत्मद्रव्य की सूचना सद्गुरु से मिल चुकी हो—बुद्धि के काम क्रोधादि दोषों से जो रहित हो चुका हो, जो विजन देश (हृदय) में रहने लगा हो, ऐसा पुरुष [चार छ आठ दस किंवा बारह मात्रा] लम्बे प्रणव का उच्चारण कर करके मनोराज्य को जीत सकता है।

जिते तस्मिन् वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ॥६३॥

उस मनोराज्य के जीत लेने पर मन के सकल व्यापार इस प्रकार बन्द हो जाते हैं जैसे कि गूंगा आदमी सम्पूर्ण वाग्व्यवहार से रहित होकर चुपचाप बैठा होता है। ऐसे शान्त पद का वर्णन वशिष्ठ ने राम के प्रति अनेक प्रकार से किया है। [इस कारण इस दशा को परम पुरुषार्थ मानना चाहिये]।

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥६४॥

'नेह नानास्ति किंचन'(बृ०४-४-१९) इस श्रुति के अनुसार जब यह ज्ञान हो जाय कि 'दृश्य नहीं है' और इस ज्ञान के

प्रताप से जब मन में से दृश्य का निवारण हो चुका हो [जब बोधरूपी झाड़ू से मनरूपी घर में से दृश्यरूपी कूड़े को बुहार डाला हो] तब यह जान लेना चाहिये कि परा निर्वाण निर्वृति किंवा निरतिशय मोक्ष सुख प्राप्त हो चुका है।

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः।
सन्त्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥६५॥

अद्वैत शास्त्र को हमने खूब विचार कर देख लिया है, गुरु शिष्यादि संवाद के द्वारा आपस में बहुत दिनों तक एक दूसरे को समझा देखा है, इतना सब करने पर हम तो इसी निश्चय पर पहुँचे हैं कि वासनारहित मौन से उत्तम कोई पद ही नहीं है [तात्पर्य यह है कि कामादि वासनाओं के निकल जाने से मन में जब तूष्णींभाव किंवा मौनावस्था आ जाती है तब इस दशा से उत्तम दशा कोई भी नहीं है]।

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना।
पुनः समाहिता सा स्यात् तदैवाभ्यासपाटवात् ॥६६॥

[वृत्तिरहित हुआ भी चित्त प्रारब्ध कर्मों से जब कभी विक्षिप्त होने लगे तब उस का इलाज बताया जाता है कि] भोगदायी प्रारब्ध कर्म के बल से यदि कभी बुद्धि विक्षिप्त हो जाती हो तो वह बुद्धि प्रबल अभ्यास के सामर्थ्य से फिर भी समाहित हो जाती है। [इस से साधकों को अभ्यास को बढ़ाना चाहिये]।

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते।
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ॥६७॥

जिस को कभी विक्षेप ही नहीं होता है उस को तो ब्रह्मवित्

नहीं माना जाता। वेदान्त के पारदर्शी मुनि लोग तो कहते हैं कि वह तो साक्षात् ब्रह्म ही है। [उस महापुरुष को पूर्वाभ्यास-वश गौणरूप से ही 'ब्रह्मवित्' कहा जा सकता है]।

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम्॥६८॥

वशिष्ठ ने भी कहा है कि—ब्रह्म को जानता हूँ या ब्रह्म को नहीं जानता हूँ इन दोनों ही झगड़ों को छोड़ कर जो महा पुरुष स्वयं केवल अद्वितीय चैतन्य रूप से अवस्थित हो बैठता है, अथवा केवल बन जाता है हे ब्रह्मन्! वह तो साक्षात् ब्रह्म ही है [ऐसे महापुरुष को ब्रह्मज्ञानी कह कर छोटा सा बना देना ठीक नहीं है]।

जीवन्मुक्तेः पराकाष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात्।
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेद मीशद्वैताद्विवेचितम्॥६९॥

उक्त प्रकार की जीवन्मुक्ति की अन्तिम अवस्था किसी को जभी मिल सकती है जब वह जीव के द्वैत [किंवा मनोमय प्रपंच] का परित्याग कर चुका हो। इसी कारण से हमने ईश्वर के बनाये हुए द्वैत से जीव के द्वैत को पृथक् करके मुमुक्षु लोगों को दिखा दिया है।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं द्वैतविवेकप्रकरणं समाप्तम्

ओम्

महावाक्यविवेकप्रकरणम् ॥५॥

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च ।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥१॥

जिस से देखता है, सुनता है, सूंघता है, बोलता है, स्वादु अस्वादु को जानता है, उसी को 'प्रज्ञान' कहा जाता है ।

'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० ५-१) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०) 'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २-५-१९) ये चार महावाक्य हैं। जिन से मुमुक्षु को मोक्ष के साधन ब्रह्मात्मैकता का ज्ञान हो जाता है । इन्हीं चारों वाक्यों के अर्थों का निरूपण इस प्रकरण में किया है । सब से प्रथम ऋक्शाखा के ऐतरेयारण्यक के 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस महावाक्य का अर्थ करते हुए प्रज्ञान शब्द का अर्थ बताया जाता है कि—चक्षु और श्रोत्र के द्वारा बाहर निकली हुई अन्तःकरण की वृत्ति से उपहित जिस चैतन्य से यह संसार रूपादि पदार्थों को देखा करता और शब्दों को सुना करता है, नासिका के द्वारा बाहर निकली हुई अन्तःकरण वृत्ति को उपाधि बनाये हुए जिस चैतन्य से भले बुरे गन्ध सूंघे जाते हैं, वागिन्द्रिय से ढके हुए जिस चैतन्य से शब्द बोले जाते हैं, रसना से निकले हुए अन्तःकरण की वृत्ति को अपनी उपाधि बनाये हुए जिस चैतन्य से स्वादु और

अस्वादु रस पहचाने जाते हैं, एवं और भी सकलेन्द्रियों तथा अन्तःकरण की भिन्न भिन्न वृत्तियों से जिस चैतन्य की सूचना तत्वदर्शी को जब तब मिला करती है, उसी चैतन्य को इस महावाक्य में 'प्रज्ञान' कहा गया है।

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ॥२॥

अब ब्रह्म शब्द का अर्थ बताया जाता है [उत्तम कहाने वाले] चतुर्मुख इन्द्र तथा देवों में [मध्यम कहाने वाले] मनुष्यों में तथा [अधम कहाने वाले] घोड़े गाय आदि में [एवं आकाशादि भूतों में] जो एक चैतन्य व्याप्त हो रहा है [जिस से इस जगत् के जन्म स्थिति और प्रलय हो भी रहे हैं और प्रतीत भी हो रहे हैं] वही ब्रह्मतत्व है। क्योंकि सब जगह रहने वाला 'प्रज्ञान' ही 'ब्रह्म' है। इसी से कहता हूँ कि मुझ में भी जो 'प्रज्ञान' है वह भी 'ब्रह्म' ही है [क्योंकि मेरे और उनके 'प्रज्ञान' में कोई भी भेद नहीं है]।

परिपूर्णः परात्मास्मिन् देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥३॥

[अब यजुः शाखा की बृहदारण्यक उपनिषद् के 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य के अर्थ को प्रकट करने के लिये इस श्लोक में 'अहं' शब्द का अर्थ बताया जाता है] यों तो सभी देहों में परात्मा परिपूर्ण हो रहा है और वह सभी की बुद्धियों का साक्षी भी है, परन्तु जब किसी अधिकारी देह में परिपूर्ण हुआ वह परमात्मा, बुद्धि के साक्षिरूप में अधिकारी को भासने भी लग पड़ता है तब उसी स्फूर्तियुक्त परात्मा को इस वाक्य में 'अहं' [मैं] कहा गया है।

यद्यपि परात्मतत्व समस्त देशों, सम्पूर्ण कालों, तथा सकल वस्तुओं से अपरिच्छिन्न ही है, परन्तु वह इस मायाकल्पित जगत् में माया की ओढ़नी ओढ़ कर छिप कर बैठ गया है। जब तो वही परमात्मा शमदमादि साधनों से युक्त होने के कारण, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के योग्य बने हुए, और श्रवण मननादि किये हुए, मनुष्यादि के अधिकारिशरीर में, बुद्धि किंवा सूक्ष्म शरीर का भासक होकर फिर प्रकाशित होने लग पड़ता है— अपनी माया की ओढ़नी को उतार कर फेंक देता है—इस महावाक्य का 'अहं' शब्द उसी परात्मा की ओर को इशारा कर रहा है।

स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥४॥

[अब इसी 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य में के ब्रह्म शब्द का अर्थ बताया जाता है] स्वभाव से ही [देशकालादि के परिच्छेद में न आने वाले] परिपूर्ण परात्मा को इस महावाक्य में 'ब्रह्म' कहा गया है। इसी महावाक्य में जो कि 'अस्मि' [हूँ] पद है, उस से जीव और ब्रह्म की एकता का परामर्श किया गया है। जिस का यही सारांश होता है कि मैं ब्रह्म ही हूँ। [मनुष्यादि देहों की दुर्वलताओं से दब कर मरने वाला—मनुष्यादि देहों के परिच्छेद में आकर क़ैदी वना हुआ—इन देहेन्द्रियादिरूपी उपनेत्र की क्षुद्र और संकीर्ण दृष्टि से ही विचार करने वाला—क्षुद्र प्राणी मैं नहीं हूँ]।

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥५॥

[अब सामवेद शाखा के छान्दोग्य उपनिषत् के 'तत्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ बताने के लिये पहले 'तत्' पद का लक्ष्य अर्थ बताया जाता है] सृष्टि से पहले जो सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से शून्य, तथा नामरूप से रहित सद्वस्तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति में बतायी गई है, सृष्टि बन जाने के बाद अब भी वह सद्वस्तु वैसी की वैसी ही है, यह बात विचार दृष्टि से ही देखने की है। उस सद्वस्तु में अब भी कोई विकार नहीं आया है 'तत्वमसि' इस महावाक्य का 'तत्' शब्द उसी की ओर को इशारा कर रहा है [तत् शब्द के उस लक्ष्यार्थ तक केवल अधिकारी की ही उदार दृष्टि पहुँच सकती है। जिसका यह देह अन्तिम देह हो, जिसको इस देह के पश्चात् दूसरा देह मिलना ही न हो, उसी को हम अधिकारी देह कहते हैं। सब से पिछले देह को ही विद्याधिकारी देह भी कहा जाता है।]

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम्
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥६॥

[अब 'तत्वमसि' के 'त्वं' पद का लक्ष्यार्थ बताया जाता है] श्रवणादि का अनुष्ठान करके जिसने इस महावाक्य को समझना है, उसके देहेन्द्रियों किंवा तीनों देहों से अलग रहने वाला, उसके तीनों देहों का साक्षी, जो कोई भी पदार्थ है, उसीको इस महा वाक्य का 'त्वं' पद लक्षणा से कह रहा है। इसी वाक्य के 'असि' पद से 'तत्' और 'त्वं' दोनों पदों में रहने वाली एकता का ग्रहण अधिकारी को कराया जाता है। मुमुक्षु लोगों को चाहिये कि उन 'तत्' और 'त्वं' पदार्थों की जो एकता अब प्रमाण-पुष्ट हो चुकी है उसका दिव्यानुभव वे भी ले लें।

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहंकारादिदेहान्तात् प्रत्यगात्मेति गीयते ॥७॥

[अब क्रमानुगत अथर्ववेद के अयमात्माब्रह्म इस वाक्य के अर्थ का व्याख्यान करते हुए 'अयम्' और 'आत्मा' इन दोनों का जो अभिप्राय है उसको क्रम से दिखाया जाता है] जो तत्व स्वयं प्रकाश होने के कारण ही प्रत्यक्ष हो रहा हो, उसको इस महावाक्य का 'अयम्' शब्द कह रहा है। क्योंकि यह तत्व धर्माधर्मादि के समान सदा परोक्ष रहने वाला नहीं है तथा घटादि के समान दृश्य पदार्थ भी नहीं है । अहंकार से लेकर देहपर्यन्त (अहंकार प्राण मन इन्द्रिय तथा देह का) जो संघात है,उस सभी का अधिष्ठान तथा सभी का साक्षी होने के कारण जो तत्व सभी से प्रत्यक् है, किंवा सभी का आन्तर है, इस महावाक्य में उसी को 'आत्मा' कहा गया है । क्योंकि वह तो सभी के अन्दर व्याप्त रहने वाली वस्तु है ।

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन, तद् ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥८॥

[अब 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्य के ब्रह्म शब्द का जो अर्थ विवक्षित है उसका वर्णन किया जाता है] इस दृश्यमान क्षणभंगुर जगत् का जो सत्य तत्व है, उसी को 'ब्रह्म' शब्द कह रहा है । स्वयंप्रकाश तथा आत्मरूप जो ब्रह्म है वह यह आत्मा ही तो है । सब को सदा प्रत्यक्ष रहने वाले इस आत्मा से भिन्न कोई भी ब्रह्म नामका तत्व नहीं है ।

आकाशादि जगत्,जो कि दृश्य होने के कारण ही मिथ्या है, इस जगत् का जो अधिष्ठान है—इस जगत् की बाधा हो

जाने पर भी जो पारमार्थिक तत्व शेप रह जाता है, जिसको सच्चिदानन्दस्वरूप भी कहा जाता है, वही तो इस वाक्य के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है। महावाक्य का संपिण्डित अर्थ तो यह हुआ कि—ऐसा जो स्वयं प्रकाश तथा आत्मरूप ब्रह्म है वह यही आत्मा है। इस आत्मा से भिन्न किसी को ब्रह्म समझना भारी भूल है।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं महावाक्यविवेकप्रकरणं समाप्तम्

ओम्

चित्रदीपप्रकरणम्

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथावस्थाचतुष्टयम् ॥१॥

चित्रयुक्त पट में जैसे [आगे कही हुई] चार अवस्थायें देखी जाती हैं, इसी प्रकार परमात्मा की भी [आगे कही] चार अवस्थायें जाननी चाहियें ।

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपञ्च्यते' क्योंकि आत्मतत्व निष्प्रपंच है, इस कारण उसका सीधा निरूपण तो हो ही नहीं सकता, परन्तु अध्यारोप तथा अपवाद नाम के दो ऐसे सहारे अध्यात्मशास्त्र ने ढूँढ निकाले हैं कि उन से उसका वर्णन शक्य हो गया है । इस न्याय के अनुसार जो जगत् परमात्मा में आरोपित हो रहा है, उसकी स्थिति कैसी है, इस का स्पष्टीकरण इस प्रकरण में किया गया है । इस निरूपण से यह होगा कि इस आरोपित जगत् का निषेध करने में बड़ी सुकरता हो जायगी ।

यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः ।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥२॥

(जैसे (१) धुला हुआ, (२) मांडी दिया हुआ, (३) चित्रों की रेखों वाला, तथा (४) रंग भरा हुआ—ये चार अवस्थायें छींट के कपड़े की होती हैं, इसी प्रकार परमात्मा में भी पहली चित्, दूसरी अन्तर्यामी, तीसरी सूत्रात्मा, चौथी विराट्, ये चार अवस्थायें होती हैं।)

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद् घट्टितोऽन्नविलेपनात् ।
मष्याकारैर्लाञ्छितः स्याद् रञ्जितो वर्णपूरणात् ॥३॥

जो वस्त्र स्वतः [अर्थात् दूसरे द्रव्य से सम्बन्ध हुए विना] ही शुभ्र है उसको यहाँ 'धौत' कहा जाता है। अन्न [अर्थात् मांडी] से पुतने पर उसको 'घट्टित' कहते हैं। स्याही से जिस पर [खाली] आकार बना दिये गये हों वह 'लाञ्छित' कहाता है। [यथायोग्य] रंग भर देने पर वही 'रञ्जित' कहाने लगता है।

स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी, सूक्ष्मसृष्टितः ।
सूत्रात्मा, स्थूलसृष्टयैव विराडित्युच्यते परः ॥४॥

वह परमात्मा जब स्वतः हो [जब उसमें माया और माया के कार्यों का मिश्रण न हुआ हो] तब 'चित्' कहाता है। माया का योग हो जाने पर वही परात्मा 'अन्तर्यामी' हो जाता है। जब उसका सूक्ष्म सृष्टि से योग हो जाता है [किंवा जब उसे अपंचीकृत भूतों से बना हुआ समष्टि सूक्ष्म शरीर मिल जाता है] तब वही 'सूत्रात्मा' कहा जाता है। स्थूल सृष्टि [किंवा पंचीकृत भूतों के बने हुए समष्टि स्थूल शरीर] के कारण वही परमात्मा अन्त में 'विराट्' कहाने लगता है।

ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि ।
उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत् ॥५॥

ब्रह्मा से लेकर स्तम्वपर्यन्त चेतन प्राणी तथा गिरि नदी आदि जड जगत्, जो कि इस परमात्मा में ऊँच नीच भाव से रह रहा है, ठीक ऐसा ही है जैसे कि कपड़े के चित्र हों और वे आपस में एक दूसरे से उत्तम वा अधम हों। [कपड़े के चित्रों का उच्च नीच भाव जैसे परिणाम में निकम्मा है इसी प्रकार प्राणियों का उच्च नीच भाव भी वेमतलव है। उच्च नीच कोई नहीं है, ये सव जीव अनन्त को पाने में लगे हुए हैं, जिसने उसे जितना पा लिया है वह उतना उच्च है। न पानेवाला नीच है। उच्च नीच उसको पाने या न पाने की ही अवस्थायें हैं। विद्यालय और महाविद्यालय में पढ़ने वाले छोटे वड़े छात्रों में जैसे उच्च नीच भाव नहीं गिना जाता है। यही अवस्था इस संसार रूपी महाविद्यालय के विद्यार्थी सव प्राणियों की है।]

चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक्।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥६॥
पृथक् पृथक् चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम्।
कल्प्यन्ते जीवनामानो वहुधा संसरन्त्यमी ॥७॥

[यों तो चित्र में पर्वत, वृक्ष, मनुष्य आदि सभी होते हैं परन्तु] चित्र में जो मनुष्यशरीर होते हैं उस चित्र में केवल उनके ही पृथक् पृथक् रंग विरंगे कपड़े, उस चित्र के आधार-वस्त्र के समान दीखनेवाले वनाये जाते हैं [उस चित्र में पर्वतादि के कपड़े नहीं वनाये जाते। चित्र के वे कपड़े भी कपड़े नहीं होते। वे तो वनावटी कपड़े होते हैं। उन कपड़ों से किसी के शीत आदि का निवारण नहीं होता]। ठीक इसी प्रकार [परमात्मा में यद्यपि देव पर्वतादि सभी आरोपित हैं, परन्तु

पर्वतादि का चिदाभास नहीं होता है किन्तु] जो देवादि देहधारी चैतन्य में अध्यस्त हैं, उन्हीं के पृथक्-पृथक् जीवनामक चिदाभास कल्पित कर लिये जाते हैं। [उनके चिदाभास की कल्पना का कारण तो यह है कि देव, तिर्यङ्, मनुष्यादि के शरीर को पाकर] ये जीव ही तो अनेक प्रकार से संसार में चक्कर लगाया करते हैं [निर्विकार रहने के कारण वह परमात्मा संसार में नहीं फंसता]।

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ।
वदन्त्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ॥८॥

उन बनावटी कपड़ों में जो रंग भरे हैं उनको भी जैसे अज्ञ लोग आधार वस्त्र के ही रंग कहने लगते हैं, ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण वादी लोग तथा सब लौकिक लोग मिलकर, अपने अज्ञान से वृथा ही कहने लगे हैं कि चेतन आत्मा ही संसार में फंस गया है [विचार कर देखने से तो यह संसार जीव का ही है। आत्मा नाम का तत्व कभी संसार में नहीं फंसता।]

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ।
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा न हि ॥९॥

चित्र में जो पर्वतादि होते हैं उनका जैसे चित्र में वस्त्राभास नहीं खींचा जाता, इसी प्रकार सृष्टि में जो मिट्टी आदि हैं उनमें भी चिदाभास नहीं होता।

संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि ।
इति भ्रान्तिरविद्या स्याद् विद्ययैषा निवर्तते ॥१०॥

[देहादि को ही आत्मा मानने वाले कहते हैं कि] यह संसार परमार्थ है। अपने आत्मा में [आत्माराधन में] ही यह संसार

लगा हुआ है। बस उनकी यह भ्रान्ति ही [इस संसार का मूल कारण] अविद्या कहाती है। [इस भ्रान्ति ने ही इस संसार को चला रक्खा है] विद्या से ही यह अविद्या निवृत्त हुआ करती है।

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः।
इति बोधो भवेद् विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥११॥

'यह संसार तो आत्माभास [चिदाभास] जीव का ही है। आत्मवस्तु का संसार नहीं है' ऐसा ज्ञान ही 'विद्या' कहाती है। अध्यात्म विचार करते रहने से [कालान्तर में] यह विद्या हाथ आजाती है। [सूखे अध्ययन से इसकी प्राप्ति नहीं होती।]

सदा विचारयेत् तस्माज्जगज्जीवपरात्मनः।
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥१२॥

क्योंकि विचार से विद्या मिलती है, इसलिये सदा ही जगत्, जीव और परात्मा का विचार करता रहे [कि इनका कैसा कैसा स्वरूप है इत्यादि। यहाँ पर प्रश्न होता है कि मोक्षावस्था मिल जाने पर फलरूप में हाथ आने वाले परात्मा का विचार तो ठीक है, परन्तु जगत् और जीव का विचार करके हम क्या करें? उसका उत्तर यह है कि—] जीव भाव और जगद्भाव की जब बाधा होजाती है, किंवा जब जीवभाव और जगद्भाव का अपवाद कर दिया जाता है उस समय केवल अपना आत्मा ही शेष रह जाता है [इसी से कहते हैं कि परमात्मा के विचार के साथ जीव और जगत् का विचार भी करना ही चाहिये]।

नाप्रतीति स्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः ।
नो चेत् सुषुप्तिमूर्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः ॥१३॥

जीव और जगत् की प्रतीति के बन्द हो जाने को हम उनका 'बाध' नहीं कहते हैं। किन्तु उन दोनों के मिथ्याभाव का निश्चय कर लेना ही हमारे मत में 'बाध' कहाता है। यदि तो प्रतीति न होने को ही बाध कहते हों तब तो सुषुप्ति या मूर्छा आदि के समय [जब कि स्वतः ही द्वैत की प्रतीति नहीं होती] तब बिना ही यत्न किये [तत्वज्ञान का सम्पादन बिना किये ही] मनुष्य मुक्त हो जाया करें।

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ।
न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥१४॥

पिछले बारहवें श्लोक में जो कि 'स्वात्मैव शिष्यते' कहा गया है उस स्वात्ममात्र शेष रहजाने का मतलब भी केवल उसी को सत्य समझ लेने से ही है। 'परमात्मा से भिन्न सब जगत् को भूल जाना उसका मतलब कदापि नहीं है। यदि स्वात्ममात्र शेष रह जाने का अभिप्राय जगद्विस्मरण से हो तब तो जीवन्-मुक्ति कोई चीज ही न रहे। [जीवन्मुक्ति का मतलब यही है कि—संसार की खटपट में भी बुद्धि स्थिर रह सके। गम्भीर से गम्भीर और उत्तेजक से उत्तेजक अवस्था में भी परमात्म-तत्व को याद रखते हुए उस पर मजबूत दृष्टि जमाये हुए संसार की यात्रा की जाय]

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा ।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ॥१५॥

[जीव जगत् तथा परात्मा का विचार कब तक करते रहें?

उसकी अवधि इस श्लोक में बतायी गयी है]—विचार से उत्पन्न होने वाली विद्या दो प्रकार की है—एक 'परोक्ष' दूसरी 'अपरोक्ष'। जब अपरोक्ष विद्या की प्राप्ति किसी को हो जाती है, तभी विचार की यह खटपट बन्द हो जाती है।

अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद् वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥१६॥

यदि कोई [किसी के समझाने से] यह समझ जाय कि 'ब्रह्म तत्व है' बस इसी को 'परोक्ष ज्ञान' समझा जाता है। जब तो किसी को यह दृढ विश्वास हो जाय कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इसी को 'साक्षात्कार' कहते हैं।

तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थ मात्मतत्वं विविच्यते।
येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते ॥१७॥

जिस साक्षात्कार के प्रभाव से यह मनुष्य सब संसार से तुरन्त ही [साक्षात्कार होते ही] मुक्त हो जाता है, उसी साक्षात्कार को सिद्ध करने के लिये अब हम आत्मतत्व का विवेचन करते हैं।

कूटस्थो, ब्रह्म, जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ॥१८॥

(जैसे एक ही आकाश घटाकाश, महाकाश, जलाकाश, तथा मेघाकाश चार प्रकार का होता है, इसी प्रकार एक ही चेतन कूटस्थ, ब्रह्म, जीव तथा ईश भेद से चार प्रकार का है।)

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥१९॥

[प्रसिद्ध होने के कारण 'घटाकाश' और 'महाकाश' का

निरूपण करना छोड़कर जलाकाश का निरूपण इस श्लोक में किया जाता है] घट के अन्दर के आकाश में जो जल भरा है, उस जल में जो मेघ और नक्षत्र सहित आकाश प्रतिबिम्बित हो रहा है, उसी को यहाँ 'जलाकाश' कहा जाता है ।

महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते ।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥२०॥

इस महाकाश में जो मेघमण्डल दीखता है [उस मेघ-मण्डल में जो जल रहता है] उस जल में प्रतिबिम्बित जो आकाश है वही 'मेघाकाश' कहाता है ।

मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् ।
तत्र खप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥२१॥

मेघ का अंश रूपी जो जल होता है वह तुषार के [बहुत छोटे से] आकार में रहता है । जल होने के कारण यह अनु-मान कर लिया जाता है कि उसमें भी आकाश का प्रतिबिम्ब होगा ही ।

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः ।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥२२॥

[स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के देह अविद्याकल्पित हैं, उन] दोनों देहों का अधिष्ठान होने से जो चेतन दोनों देहों से अवच्छिन्न (घिरा हुआ) हो रहा है, उसी चेतन को 'कूटस्थ' कहते हैं । क्योंकि वह लुहारे के कूट [ऐरन= जिस लोहे पर रखकर दूसरे लोहे ठोके पीटे जाते हैं, परन्तु जो स्वयं सदा एक सा बना रहता है] के समान निर्विकार रहता है इससे उसे 'कूटस्थ' कहा जाता है ।

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः ।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥२३॥

बुद्धि उस कूटस्थ में कल्पित है । उस बुद्धि में चेतन का जो प्रतिबिम्ब है, वह जब प्राणों को धारण कर लेता है तब उसको 'जीव' कहने लगते हैं । यह जीव ही संसार में फँसा करता है । [कूटस्थ आत्मा संसार से युक्त कभी नहीं होता]

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः ।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योऽन्याध्यास उच्यते ॥२४॥

जैसे जलाकाश सम्पूर्ण घटाकाश को ढक देता है [उसे दीखने नहीं देता] इसी प्रकार इस जीव ने कूटस्थ आत्मा को तिरोहित कर डाला है [उसे प्रकट नहीं रहने दिया है] इसी तिरोधान को [भाष्यादि में] 'अन्योन्याध्यास' कहा गया है ।

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ।
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम् ॥२५॥

यह जीव कभी भी उस कूटस्थ तत्व को पृथक् नहीं पहचानता है । अनादि काल से चली आने वाली उसकी यह जीव और कूटस्थ की भेदा प्रतीति ही 'मूलाविद्या' कहाती है [इस अविद्या से ही अन्योन्याध्यास की उत्पत्ति हुआ करती है]

विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनमावृतिः ॥२६॥

'विक्षेप' और 'आवृति' इन दो भेदों से अविद्या दो प्रकार की होती है । 'कूटस्थ नाम की चीज न तो प्रतीत ही होती है और न वह है ही' ऐसा मिथ्या व्यवहार करानेवाला 'आवरण' कहाता है ।

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि ॥२७॥

अज्ञानी से जब विद्वान् पूछता है तो वह कूटस्थ को नहीं जानता [यही उसका अविद्या का अनुभव हुआ] मुझे कूटस्थ न तो प्रतीत ही होता है और न वह है ही, यों आवरण को अनुभव करके उसका वर्णन भी वह करता ही है ।

अविद्या तथा उसके आवरण का प्रमाण जानना हो तो लोकानुभव को ही प्रमाण मानना चाहिये यही बात इस श्लोक में कही है—जब कोई विद्वान् किसी अज्ञानी से यह पूछता है कि 'क्या तू कूटस्थ को जानता है ?' वह अज्ञानी उस कूटस्थ को नहीं जानता—अर्थात् उसे कूटस्थ का अज्ञान रहता है । इस अज्ञान किंवा अविद्या को अनुभव करके ही वह चुप नहीं हो जाता । वह यह भी कह देता है कि—तुम्हारा बूझा हुआ वह कूटस्थ न तो मुझे प्रतीत ही होता है और न वह है ही । यों इस रूप में उस आवरण का भी अनुभव होता है । यों अविद्या और आवरण दोनों में अनुभव को ही प्रमाण मानना चाहिये ।

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः ।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥२८॥

स्वप्रकाश पदार्थ में अविद्या कहाँ से आयी ? तथा अविद्या के बिना आवरण कैसे हुआ ? इत्यादि तर्कों को तो स्वानुभव ही ग्रस लेता है ।

आप आत्मा को स्वयंप्रकाश मानते हो । इसी से उसमें अविद्या का होना ठीक नहीं है । प्रकाश और अन्धकार के समान विरुद्ध स्वभाव वाले होने से इन दोनों का परस्पर

सम्बन्ध ही नहीं बनता। उस आत्मा में जब अविद्या नहीं रह सकती तब अविद्या का किया हुआ आवरण भी कैसा ? जब आवरण ही नहीं रहा तो विक्षेप भी कहाँ ठहरेगा ? जब विक्षेप न रहेगा तब ज्ञान से नष्ट करने योग्य अनर्थ भी नहीं रहेंगे। यों ज्ञान भी व्यर्थ हो जायगा तथा ज्ञान को बनानेवाले शास्त्र भी प्रमाण नहीं रहेंगे। इन सब शंकाओं का एकमात्र समाधान स्वानुभव ही है। जब यह सब अनुभव में आ ही रहा है तो इसे अनुपपन्न कैसे कह बैठें। अनुभव से बड़ा तो कोई प्रमाण है ही नहीं। अन्तिम निर्णय तो अनुभव ही करता है।

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः।
कथं वा तार्किकंमन्य स्तत्वनिश्चयमाप्नुयात् ॥२९॥

यदि तो [तर्क के मुक़ाबले में] अपने अनुभव पर विश्वास नहीं किया जायगा तो तर्क भी तो अनवस्थित है। फिर तार्किक-म्मन्य को तत्व का निश्चय कैसे हुआ करेगा ?

जो जितना बड़ा तार्किक होता है उसका तर्क उतना ही प्रबल होता जाता है। ऐसी अवस्था में केवल अपना अनुभव ही एक ऐसी वस्तु है जिससे किसी बात का निर्णय किया जा सकता है। जब उस अनुभव पर ही तार्किक विश्वास न करेगा तो उसे तत्व का निश्चय कैसे होगा ?

बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ॥३०॥

बुद्धि में आने के लिये तर्क की अपेक्षा आवश्यक हो तो अपने अनुभव के अनुसार ही तर्क करना चाहिये। कुतर्क करना ठीक नहीं है।

यद्यपि अनुभव से ही तत्व का निश्चय होता है। परन्तु "अनुभव किया हुआ पदार्थ हो भी सकता है या नहीं" यह संभावना जब करनी हो तब तो तर्क को मानना ही पड़ेगा ऐसा यदि कहा जाय तो हम कहेंगे कि अनुभव के अनुसार ही तर्क का वर्णन करना चाहिये। अनुभव के विरोधी तर्कों का करना ठीक नहीं है।

स्वानुभूति रविद्याया मावृतौ च प्रदर्शिता।
अतः कूटस्थचैतन्य मविरोधीति तर्क्यताम् ॥२१॥

अविद्या तथा आवरण के विषय के अनुभव का प्रदर्शन हमने इसी प्रकरण के 'अज्ञानी विदुषा पृष्टः' इस २७वें श्लोक में किया है। इससे ऐसी तर्कणा करनी चाहिये कि वह कूटस्थ चैतन्य आवृति का तो विरोधी ही नहीं है। [जैसे सूरज अपना आवरण करनेवाले मेघमण्डल का भी विरोधी नहीं है, इसी प्रकार कूटस्थतत्व आवरण का भी विरोधी नहीं है किन्तु वह तो उस आवरण को भी जतलाता रहता है।]

तच्चेद्विरोधि, केनेयमावृतिर्ह्यनुभूयताम्।
विवेकस्तु विरोध्यस्यास्तत्वज्ञानिनि दृश्यताम् ॥२॥

[वह तर्क ऐसा होना चाहिये] यदि वह कूटस्थ चैतन्य इस अविद्या नाम के आवरण का विरोधी है तो इस आवरण को कौन अनुभव करता है उसे बताओ? [कूटस्थ चैतन्य इसका विरोधी नहीं है] इस अविद्या का विरोधी तो विवेक ही है यह बात तत्व-ज्ञानी पुरुष में स्पष्ट ही देख लो कि उसके विवेक ने अविद्या को मार डाला है। [जो चैतन्य अविद्या के आवरण को सिद्ध किया करता है, वही यदि उसका विरोधी भी हो, तब तो अविद्या की

प्रतीति ही नहीं होनी चाहिये। विवेक [अर्थात् उपनिषदों के विचार से उत्पन्न हुआ ज्ञान] ही अविद्या का विरोधी होता है यह बातें तत्वज्ञानी में देखी जा सकती हैं।

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि ॥३३॥

[अब क्रमप्राप्त विक्षेपाध्यास को कहते हैं]—दोनों देहों से युक्त जो चेतन है वह अविद्या से आवृत जो कूटस्थ है उसमें, शुक्ति में रूप्य की तरह अध्यस्त हो जाता है, बस उसी को 'विक्षेपाध्यास' कहते हैं।

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते।
स्वयन्त्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ॥३४॥

जैसे सीप का इदं भाग तथा सत्यता [अबाधितता] दोनों ही धर्म उस में आरोपित रजत में प्रतीत होने लगते हैं, इसी प्रकार चिदाभास में भी दूसरे [कूटस्थ] की स्वयन्ता तथा वस्तुता दीख पड़ रही हैं।

शुक्ति की इदन्ता [अर्थात् पुरोदेशादि से सम्बन्धित्व] तथा सत्यता [अर्थात् अबाधितत्व] जैसे आरोपित रजत में भासा करता है इसी प्रकार कूटस्थ की स्वयन्ता तथा वस्तुता भी आरोपित चिदाभास में भासने लगी हैं।

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथाशुक्तौ तिरोहितम्।
असङ्गानन्दताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ॥३५॥

जैसे शुक्ति की नीली पीठ और त्रिकोणपना ढक गया है, इसी प्रकार कूटस्थ की असङ्गता तथा आनन्दता आदि भी तिरोहित हो गयी हैं। [यों दोनों ही अध्यासों में विशेषअंश की अप्रतीति हो रही है।]

आरोपितस्य दृष्टान्ते रूप्यं नाम-यथा तथा।
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ॥३६॥

शुक्तिरजत के दृष्टान्त में जैसे आरोपित पदार्थ का नाम 'रूप्य' होता है इसी प्रकार कूटस्थ में कल्पित जो विक्षेप [चिदाभास] है उसका ही नाम 'अहम्' होता है।

इदमशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते।
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ॥३७॥

'इदं' भाग को स्वतः [आंखों से] देखता हुआ भी जैसे झूठ मूठ ही यह अभिमान कर लेता है कि यह तो 'रूप्य' है, इसी प्रकार अपने आपको स्वतः देखकर भी वृथा ही 'मैं' ऐसा अभिमान कर बैठता है। [जब हम अपने आप को देखते हों तब हमको 'अहं' आदि कोई भी शब्द बोलने की आवश्यकता नहीं होती है तो भी यह जीव 'मैं' कह ही बैठता है]

इदन्त्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहन्ते तथेष्यताम्।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ॥३८॥

इदन्ता तथा रूप्यता जैसे भिन्न भिन्न हैं, इसी प्रकार स्वत्व और अहन्ता भी भिन्न भिन्न ही हैं। परन्तु इन दोनों [दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक] में ही सामान्यविशेषभाव तो समान ही है।

शंका यह है कि स्वयं और अहं शब्द एकार्थक हैं, फिर दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समता कैसे होगी? इसका उत्तर यह दिया गया कि—इदं और और रूप्य शब्दार्थों में तथा स्वयं और अहं शब्दार्थों में सामान्य विशेष भाव तो समान ही है। उसी समता को लेकर यह दृष्टान्त दिया गया है।

देवदत्तः स्वयं गच्छेत् त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥३९॥

देवदत्त स्वयं जाता है तो जाय, तू स्वयं देखता है तो दे‥ पर मैं तो स्वयं ऐसा नहीं कर सकता हूँ, ऐसे प्रयोग लोक‥ होते हैं [इससे स्वयं शब्दार्थ सामान्यरूप होता है और अहं [मैं] उसका विशेष है यह बात प्रकट होगयी]।

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा ।
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ॥४०॥

'यह रूप्य है' 'यह वस्त्र है' इत्यादि उदाहरणों में जैसे इदं शब्दार्थ सामान्य है, इसी प्रकार असौ [यह] त्वम् [तू] अहम् [मैं] इन तीनों ही में [के साथ] स्वयं यह शब्द कहा जाता है। [इससे स्वयं का अर्थ भी सामान्य ही समझना चाहिये और अहं का अर्थ विशेष लेना चाहिये]।

अहन्त्वाद्भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव ।
स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत् ॥४१॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि—'स्वपन' 'अहं' से भिन्न है तो हुआ करो, इससे कूटस्थ आत्मा के विषय में क्या सिद्ध करना चाहते हो? उत्तर यह है कि—'यह सामान्य रूप जो स्वयं शब्दार्थ है वह ही तो कूटस्थ है' यह मेरी बात सिद्ध हो जाती है।

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम् ।
कूटस्थस्यात्मतां वक्तु रिष्टमेव हि तद्भवेत् ॥४२॥

स्वत्व तो अन्यत्व का वारण किया करता है, ऐसा यदि

कहा जाय तो कूटस्थ को आत्मा बतानेवाले मेरे मत में यह अन्यत्व का वारण तो इष्ट ही होता है ।

शंका यह है कि स्वत्वरूपी धर्म,अन्यता का वारण करता है अर्थात् जो 'स्व' है वह अन्य नहीं हो सकता, परन्तु वह कूटस्थता का बोध तो नहीं कराता । इसका समाधान यह है कि स्वयं शब्द का अर्थ जो कूटस्थ तत्व है वही तो आत्मा है इस कारण स्वत्व से यदि अन्य का वारण होता है तो यह इष्ट ही है । [जो अनात्मा है उसका वारण कर देने से आत्मा तो स्वयं ही शेष रह जाता है फिर उसके लिये कुछ भी करना नहीं पड़ता । यों जब यह स्वयं शब्द अन्यों को हटा देता है तब अर्थात् ही इससे कूटस्थ का बोध हो जाता है ।]

स्वयमात्मेति पर्यायौ, तेन लोके तयोः सह ।
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ॥४३॥

स्वयम् और आत्मा इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है । यही कारण है कि लोक में इन दोनों शदों का एक साथ प्रयोग नहीं होता । निचोड़ तो यही है कि स्वत्व और आत्मत्व दोनों ही अन्य के वारक हैं । यों स्वयं शब्द का अर्थ कूटस्थ आत्मा ही है, क्योंकि ये दोनों पर्यायवाचक हैं ।

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु ।
अचेतनेषु दृष्टं चेद् दृश्यतामात्मसत्त्वतः ॥४४॥

यदि कहो कि 'घट स्वयं नहीं जानता' इस वाक्य में अचेतन घटादि पदार्थों में भी स्वत्व देखा जाता है फिर स्वत्व और आत्मत्व भिन्न भिन्न क्यों नहीं है ? तो इसका समाधान यह है कि—घटादि जड पदार्थों में भी स्फुरण रूप से आत्म

चैतन्य तो रहता ही है [इस कारण उन जड पदार्थों को भी स्वयं कह देने से कोई विरोध नहीं होता । यों भी स्वयन्ता और आत्मता एक ही बात हो जाती है ।]

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि ।
किन्तु बुद्धिकृताभासकृतैवेत्यवगम्यताम् ॥४५॥

घट आदि जड पदार्थों में भी जब आत्मचैतन्य है तो फिर चेतन और अचेतन का भेद क्यों है ? इसका उत्तर दिया जाता है कि—चेतन और अचेतन का भेद बुद्धिकृत आभास [चिदाभास] के कारण से ही है [जहाँ चिदाभास होता है उसे चेतन कहा जाता है । जहाँ चिदाभास नहीं होता उसे अचेतन कहते हैं । यह चेतन और अचेतन का भेद तो चेतन के आभास के पड़ने और न पड़ने से हो जाता है । यह भेद कूटस्थ आत्मा का किया हुआ नहीं है]

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः ।
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ॥४६॥

जैसे चेतन आभास कूटस्थ में भ्रान्ति से कल्पित है, ठीक इसी तरह अचेतन घटादि भी उसी कूटस्थ में भ्रान्ति से कल्पित है ।

भाव यह है कि यह तो ठीक है कि चेतन और अचेतन के विभाग का कारण कूटस्थ तत्व नहीं है, परन्तु अचेतन पदार्थों की कल्पना का अधिष्ठान तो वह ठीक वैसे ही है जैसे कि यह चिदाभास की कल्पना का अधिष्ठान है । इस कारण से अचे-तनों में भी आत्मा की सत्ता को मानना पड़ता है ।

तत्तेदन्ते अपि स्वत्वमिव त्वमहमादिषु ।
सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ॥४७॥
ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तदन्ते ततस्तयोः ।
आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ॥४८॥

शंका होती है कि—यदि स्वपन और आत्मा एक ही पदार्थ हैं तो यह बताओ कि—त्वम् [तू] अहम् [मैं] आदि में सर्वत्र रहने वाले स्वपन को जैसे तुम आत्मा मानते हो इसी प्रकार सर्वत्र अनुगत तत्ता और इदन्ता [वह और यहपने] को भी तुम आत्मा क्यों नहीं मान लेते हो ?॥४७॥ इसका समाधान—वे तत्ता और इदन्ता तो आत्मत्व रूपी जाति में भी रहते हैं। यों आत्मा में तथा आत्मा से अन्यत्र भी रहने के कारण इन को ठीक इसी प्रकार आत्मरूप नहीं माना जा सकता जैसे कि सम्यक्पन आदि को आत्मा नहीं मानते हैं। ['आत्मत्व सम्यक् है' 'आत्मत्व असम्यक् है' इस व्यवहार के प्रताप से आत्मत्व में भी अनुवृत्त हुए हुए सम्यक्त्व और असम्यक्त्व को जैसे कोई आत्मा नहीं मानता, इसी प्रकार आत्मा में रहने वाली इन तत्ता और इदन्ता को आत्मा नहीं मान सकते हैं]

तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ताहन्ते परस्परम् ।
प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥४९॥

तत्ता और इदन्ता [वह और यह] स्वत्व तथा अन्यत्व [खुद और दूसरा] त्वन्ता और अहन्ता [तू और मैं] ये परस्पर प्रतिद्वन्द्वी [विरोधी] रूप से प्रसिद्ध हैं। इन में तो कोई संशय ही नहीं है।

अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम् ।
त्वन्तायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ॥५०॥

अन्यता [दूसरेपन] का प्रतिद्वन्द्वी [प्रतियोगी] जो स्वयं [खुदपन] है उस को तो कूटस्थ मानना चाहिये । त्वन्ता का प्रतियोगी जो कि अहम् है [जिस को चिदाभास कहा जाता है] वह तो कूटस्थ आत्मा में कल्पित कर लिया हुआ है ।

अहन्तास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदन्तयोरिव ।
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥५१॥

रूप्यता और इदन्ता में जिस तरह का भेद है, उसी तरह का भेद अहन्ता और स्वत्व में भी स्पष्ट ही है, तो भी भ्रान्त लोगों ने इन्हें एक ही मान लिया है । [तात्पर्य यह है कि जीव और कूटस्थ का भेद होने पर भी, सब किसी को इस बात का ज्ञान न होने का कारण तो यह है कि बुद्धि का साक्षी जो कूटस्थ है उसका प्रत्यक्ष बुद्धि से नहीं हो सकता, इस कारण 'अहं' इस शब्द से जोकि जीव और कूटस्थ दोनों प्रतीत हो रहे हैं उन दोनों को भ्रान्ति से एक मान लिया गया है।]

तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः ।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥५२॥

[जीव और कूटस्थ की एकता का जो भ्रम हो गया है अब उस का कारण बताया जाता है] 'अनादिरविवेकोऽयम्' इस २५ वें श्लोक में जिस अविद्या का कथन किया है, उस अविद्या ने ही तादात्म्याध्यास [एकत्व का भ्रम] कर रक्खा है । यह अविद्या जब निवृत्त हो जाती है तब अविद्या का [कार्य यह एकत्वभ्रम

भी] भाग जाता है। तात्पर्य यह कि जो ज्ञान अविद्या को हटाता है उस ज्ञान से ही यह तादात्म्याध्यास [एकत्व भ्रम] भी निवृत्त हो जाता है।

अविद्यावृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥५३॥

अविद्या का उत्पन्न किया हुआ आवरण और तादात्म्य ये दोनों तो विद्या [ज्ञान] से ही नष्ट हो जाते हैं। परन्तु विक्षेप का जो स्वरूप है यह तो प्रारब्धक्षय की बाट देखा ही करता है।

शंका यह है कि—अविद्या का कार्य होने से, अविद्या के हटते ही, अध्यास भी हट जाता है, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्वविद्या जब उत्पन्न हो जाती है, तब भी अविद्या के कार्य देहादि तो दीखते ही रहते हैं। इसका समाधान यह है कि—केवल अविद्या से उत्पन्न होने वाले जो आवरण और तादात्म्य हैं वे तो विद्या [ज्ञान] के उत्पन्न होते ही निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु जिस विक्षेप के बनने में अकेली अविद्या ही नहीं किन्तु कर्म और अविद्या दोनों मिल कर कारण होते हैं वह 'विक्षेप' तो तब तक बना ही रहेगा, जब तक कि भोग के द्वारा उस विक्षेप को बनाने वाले प्रारब्ध कर्म पूरे पूरे क्षीण नहीं हो जायंगे। तात्पर्य यह है कि अकेली अविद्या के नष्ट होने से ही विक्षेप नष्ट नहीं होगा, किन्तु कर्म और अविद्या दोनों ही जब नष्ट हो चुकेंगे तभी इस 'विक्षेप' की निवृत्ति होगी।

उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते।
इत्याहुस्तार्किका स्तद्वदस्माकं किं न संभवेत् ॥५४॥

[प्रश्न यह है कि—प्रारब्ध कर्म तो निमित्त कारण ही है,

फिर वे कर्म बने भी रहें, परन्तु जब विक्षेप का उपादान (अविद्या) ही नष्ट हो गया तब विक्षेप रूपी कार्य कैसे बना रह जाता है ? सो बताओ ? इसका उत्तर न्यायसिद्धान्त के अनुसार दिया जाता है] उपादान के नष्ट हो जाने पर भी क्षणभर कार्य ठहरा रहता है। [कार्यकारणभाव को सिद्ध करने के लिये] यह बात तार्किकों ने मानी है। फिर ऐसा ही हमारे सिद्धान्तों में क्यों नहीं हो सकता है।

तन्तूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः।
भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ॥५५॥

जिन तन्तुओं की अवस्था दिनों में गिनी जा सकती है उनकी अवस्था के अनुसार ही उनका क्षण भी उन्होंने छोटा सा माना है। परन्तु असंख्य कल्पों की आयु वाले इस भ्रम का क्षण तो इसी अनुपात से कुछ लम्बा होना ही चाहिये।

ऐसी अवस्था में यह आक्षेप ठीक नहीं है कि तार्किकों ने तो कार्य को क्षणमात्र रहनेवाला माना है। उनके विपरीत तुम कार्य को चिरकाल तक रहने वाला क्यों मानते हो ? देखो कि यह संसार अनादिकाल से चला आ रहा है। कुम्हार जब अपने चक्र को घुमाकर छोड़ देता है, तब वह पीछे भी चिरकाल तक घूमा ही करता है। इसी प्रकार अनादि काल के संस्कारों की प्रबलता से यह विक्षेप भी कुछ दिनों तो बिना चलाये भी चलता ही रहेगा। वह ज्ञान होते ही तुरन्त नष्ट नहीं हो जायगा।

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते।
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किं नु दुःशकम् ॥५६॥

जो प्रमाण क्षोद अर्थात् विचार को सह लेते हैं—विचार करने पर जिनका निर्णय उलट पुलट नहीं हो जाता—उन प्रमाणों के बिना ही उन तार्किकों ने तो मिथ्या की कल्पना कर रक्खी है, परन्तु श्रुति [तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये] युक्ति [चक्र भ्रमादि के दृष्टान्त] तथा विद्वान् लोगों के अनुभव रूपी प्रमाणों के सहारे से ही बोलने वाले हमको क्या दुःशक है। [तात्पर्य यह है कि तार्किकों में और हममें इतना भेद है कि वे तो विचारसह प्रमाण के बिना ऐसा कहते हैं तथा हम श्रुति, युक्ति और विद्वदनुभव के आधार से ऐसा बोलते हैं।]

आस्तां दुस्तार्किकैः साकं विवादः प्रकृतं ब्रुवे।
स्वाहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ॥५७॥

दुस्तार्किकों के साथ विवाद को यहीं छोड़कर अब हम प्रकृत पर आते हैं। स्व जो कूटस्थ है तथा अहं जो परिणामी है उन दोनों की एकता [भ्रान्तिसे] हो जाती है, यह बात तो सिद्ध की जा चुकी है।

भ्राम्यन्ते पण्डितम्मन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः।
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात् केवलां युक्तिमाश्रिताः ॥५८॥

जितने भी लौकिक और तैर्थिक लोग हैं, वे सभी अपने आप को महाज्ञानी मानते हैं और भ्रम में ही गोते खाया करते हैं। ये लोग अपनी मूर्खता से श्रुति का अनादर करके केवल युक्ति पर निर्भर हो गये हैं। [इसी कारण से कूटस्थ और जीव की जो भ्रान्तिसिद्ध एकता है उसको वे पहचानते नहीं

हैं। यदि वे श्रुति के तात्पर्य का विचार करते तो इस भ्रान्ति-सिद्ध एकता को पहचान जाते।]

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन।
वाक्याभासान् स्वस्वपक्षे योजयन्त्यप्यलज्जया ॥५९॥

उन्हीं लोगों में से कुछ लोग पूर्वापर का विचार तक नहीं करते हैं और निर्लज्ज होकर श्रुति के वाक्याभासों को अपने अपने पक्ष में लगाया भी करते हैं।

कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्यात्मतां जगुः।
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ॥६०॥

प्रत्यक्षाभास का आश्रय लिये हुए लोकायतों ने तथा पामर [महामूर्ख] लोगों ने, कूटस्थ से लेकर शरीर पर्यन्त अनेक पदार्थों के इस संघात [जमघट्ट] को ही आत्मा कह डाला है।

श्रौतीकर्तुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा।
विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ॥६१॥

उन्होंने अपने पक्ष पर श्रुति की मोहर लगाने के लिये, अन्नमय कोश का प्रतिपादन करनेवाले 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इस वाक्य का उद्धरण किया है। तथा विरोचन के 'आत्मैव देहमयः' इस सिद्धान्त को प्रमाण मान लिया है [परन्तु प्रकरण-विरोध के कारण ऐसा उपपादन करने का सामर्थ्य उनमें नहीं है]।

जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्यात्र दर्शनात्।
देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः परे ॥६२॥

जीवात्मा जब निकल जाता है तब यह देह मर जाता है। इस कारण आत्मा देह से भिन्न है, यह बात दूसरे लोकायत मानते हैं।

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताहंधी र्देहातिरेकिणम् ।
गमयेदिन्द्रियात्मानं वच्मीत्यादिप्रयोगतः ॥६३॥

अहं वच्मि अहं पश्यामि=मैं बोलता हूँ मैं देखता हूँ इत्यादि प्रयोगों से प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष मानी हुई यह अहंबुद्धि, देह से भिन्न इन्द्रियों को आत्मा बता रही है ।

वागादीनामिन्द्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः ।
तेन चैतन्यमेतेषा मात्मत्वं तत एव हि ॥६४॥

श्रुतियों में वाणी आदि इन्द्रियों का कलह सुना गया है । इस कारण ये इन्द्रियाँ चेतन है । चेतन होने के कारण ही ये इन्द्रियां आत्मा भी हैं ।

हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिरे ।
चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्वे तु जीवति ॥६५॥

प्राणात्मवादी हैरण्यगर्भ तो यह कहते हैं कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ जब टूट फूट भी जाती हैं, तब भी प्राण के रहने पर जीता ही रहता है, इस कारण प्राण ही आत्मा है ।

प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपिं प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम् ।
कोशः प्राणमयः सम्यग्विस्तरेण प्रपञ्चितः ॥६६॥

प्राणादय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति (प्रश्न ४–३) इसमें कहा गया है कि सो जाने पर भी प्राण जागता रहता है । तदेदुतक्थम् (छा० १–७–५) इसमें प्राण को श्रेष्ठ बताया गया है । अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः (तै० २–२) इसमें प्राणमय कोश का कथन विस्तार से किया गया है । यों प्राण को आत्मा सिद्ध करने वाले अनेक श्रौत लिंग हैं ।

मन आत्मेति मन्यन्त उपासनपरा जनाः ।
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनसस्ततः ॥६७॥

उपासना करने वाले मन को ही आत्मा मानते हैं। क्योंकि प्राण का अभोक्ता पन तो सबको विदित ही है। इस कारण मन ही भोक्ता है (और वही आत्मा है)।

मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः ।
श्रुतो मनोमयो कोश स्तेनात्मेतीरितं मनः ॥६८॥

मन ही मनुष्यों के वन्धन और मोक्ष का कारण है। तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः (तै० २—३) इस श्रुति में मनोमय कोश का वर्णन भी आता है। इसी से मन को आत्मा कहा जाता है।

विज्ञान मात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः ।
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ॥६९॥

दूसरे क्षणिकवादी बौद्ध लोग विज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। क्योंकि यह मन विज्ञानमूलक है, यह तो सभी को प्रत्यक्ष होता है।

अहंवृत्ति रिदंवृत्ति रित्यन्तःकरणं द्विधा ।
विज्ञानं स्यादहंवृत्ति रिदंवृत्तिर्मनो भवेत् ॥७०॥

अन्तःकरण दो प्रकार का होता है—एक 'अहंवृत्ति' दूसरा 'इदंवृत्ति'। विज्ञान अर्थात् बुद्धि को 'अहंवृत्ति' कहते हैं, मन को 'इदंवृत्ति' कहा जाता है। इस प्रकार एक होने पर भी वृत्ति-भेद के कारण 'मन' और 'विज्ञान' कहाने लगता है।

[जब बाहर के पदार्थों का ज्ञान होता है, तब मन उत्पन्न हो जाता है। जब बाहर के पदार्थों का ज्ञान नहीं होता जब केवल अपने आपे का बोध ही रहता है तब बुद्धि का राज्य रहता है। बुद्धि का काम आपे को जानना है मन का काम बाहर के पदार्थों की देख भाल करना है।]

अहंप्रत्ययबीजत्व मिदंवृत्तेरिति स्फुटम्।
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित्॥७१॥

[मन और विज्ञान का कार्यकारणभाव इस श्लोक में बताया गया है] यह 'इदंवृत्ति' [बाहर के पदार्थों की प्रतीति] 'अहं प्रत्यय' से [मैं इस ज्ञान के अन्दर से] उत्पन्न हुआ करती है। जभी तो अपने आपे को पहले बिना जाने कहीं भी कोई बाह्य पदार्थ को नहीं जानता। [तात्पर्य यह कि पहले अहंवृत्ति [मैं भाव] उदय हो लेती है, तब पीछे से इदंवृत्ति पैदा हुआ करती है। यों इन दोनों में कार्य कारण भाव है।]

क्षणे क्षणे जन्मनाशावहंवृत्तेर्मितौ यतः।
विज्ञानं क्षणिकं तेन, स्वप्रकाशं स्वतो मितेः॥७२॥

इस अहंवृत्ति का जन्म और नाश क्षण क्षण में होता रहता है। कभी यह पैदा होती है, क्षण भर बाद फिर मर जाती है। यों अनुभव से विज्ञान (अहंवृत्ति) की क्षणिकता सिद्ध हो जाती है। अपने से ही प्रमित होने के कारण यह विज्ञान स्वयं प्रकाश भी है। [क्योंकि यह ज्ञान ही अपने आपको जानता है, इसलिये यह स्वयं प्रकाश है।]

विज्ञानमयकोशोयं जीव इत्यागमा जगुः ।
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ॥७३॥

'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तरआत्मा विज्ञानमयः'(तै० २–४) 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २–५) इत्यादि आगमों ने विज्ञानमय कोष को ही 'जीव' कहा है । जन्म, नाश तथा सुखादि नामक यह सम्पूर्ण संसार इस विज्ञानमय कहाने वाले जीव का ही तो है ।

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ।
अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ॥७४॥

माध्यमिक नाम के शून्यवादी बौद्ध तो कहते हैं कि— बिजली, बादल, तथा निमेष के समान क्षण भर में नष्ट हो जाने वाला क्षणिक विज्ञान, आत्मा नहीं है । इसके अतिरिक्त और तो कुछ दीखता ही नहीं, इसलिये 'शून्य' ही आत्मा है ।

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः ।
ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगद् भ्रान्तिप्रकल्पितम् ॥७५॥
निरधिष्ठानविभ्रान्ते रभावादात्मनोऽस्तिता ।
शून्यस्यापि ससाक्षित्वा दन्यथा नोक्तिरस्य ते ॥७६॥

उन शून्यवादियों का यह मत ठीक नहीं है । क्योंकि बिना अधिष्ठान का तो कोई भ्रम होता ही नहीं । इस कारण से इस भ्रान्त जगत्कल्पना के अधिष्ठान आत्मा को तो मानना ही पड़ता है । शून्यवादी का यह शून्य भी तो ससाक्षिक ही होना चाहिये । [इस शून्य का साक्षी अर्थात् शून्य को जानने वाला भी तो कोई होना ही चाहिये] यदि उस साक्षी को न मानोगे

तो तुम्हारे [बौद्ध के] मत में शून्य का कहना भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। [यों शून्य को जानने वाला तत्व तो तुम्हें भी मानना ही पड़ेगा।]

अन्यो विज्ञानमयत आनन्दमय आन्तरः।
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ॥७७॥

[सभी को मना करते जाते हो फिर आत्मा क्या चीज़ है ? इस बात का उत्तर इस श्लोक में दिया है] तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः (तै० २–५) अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन (क० २–६–१३) इन श्रुतियों के आधार से इन सब से भिन्न आनन्दमय आत्मा मानना चाहिये। ऐसा वैदिक सिद्धान्त है।

अणुर्महान् मध्यमो वेत्येवं तत्रापि वादिनः।
बहुधा विवदन्ते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् ॥७८॥

['आत्मस्वरूप में ही नहीं उसके परिमाण में भी लोगों के अनेक मत हैं' यह अब दिखाया जाता है] श्रुति और युक्ति के सहारे से वादी लोग आत्मा को अणु, महान् या मध्यम बताते हैं और आपस में एक दूसरे से अनेक प्रकार के विवाद करते हैं।

अणुं वदन्त्यन्तरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः।
रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ॥७९॥

अणुत्ववादी लोग सूक्ष्म नाडियों में प्रचार के कारण आत्मा को अणु कहते हैं। रोम के सहस्र भाग के तुल्य जो सूक्ष्म नाडियां हैं उनमें भी वह घूमा करता है। [ऐसी सूक्ष्म नाडियों में अणु होने के बिना आत्मा का प्रचार कैसे हो ?]

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं त्विति ।
अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥८०॥

अणोरणीयान् महतो महीयान् (कठ० १-२-२०) एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं त्विति (मुण्ड० ३-१-९) इत्यादि श्रुतियों में अनेक स्थान पर आत्मा को अणु से भी अणीयान् तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर कहा गया है ।

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहापरा श्रुतिः ॥८१॥

वालाग्र का सौवां भाग लिया जाय, फिर उसके भी सौवें भाग की कल्पना की जाय तो उस अत्यन्त छोटे भाग को ही जीव जानना चाहिये । यह भी एक श्रुति में कहा है ।

दिगम्बरा मध्यमत्व माहुरापादमस्तकम् ।
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टे रानखाग्रश्रुतेरपि ॥८२॥

दिगम्बर [जैन] लोग आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानते हैं। क्योंकि चैतन्य की व्याप्ति पैर से लेकर चोटी पर्यन्त देखी जाती है । स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः इस श्रुति से भी वे आत्मा को मध्यम परिमाण वाला सिद्ध करते हैं ।

सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत् ।
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुकप्रतिमोकवत् ॥८३॥

आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानने पर भी उस आत्मा का सूक्ष्म नाडियों में प्रचार तो सूक्ष्म अवयवों के द्वारा ठीक इसी प्रकार हो जायगा.जैसे कि देह के हाथ आदि अवयव जब कुरते में घुस जाते हैं तब वह देह का ही कुरते में घुसना

माना जाता है [आत्मा के अवयव जब सूक्ष्म नाडियों में प्रचार करेंगे तब उसे आत्मा का ही प्रचार मान लिया जायगा।]

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः।
आत्मांशानां भवेत्, तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥८४॥

आत्मा का जब एक नियत मध्यम परिमाण मानेंगे तब जब वह छोटे बड़े शरीरों में प्रवेश करेगा, उस समय आत्मा के कुछ अवयव घट बढ़ जाया करेंगे। फिर जैसे देह छोटे बड़े हो जाते हैं इसी प्रकार आत्मा के अंश भी घट बढ़ जायँगे। यों आत्मा तो मध्यम परिमाण ही है ऐसा उन्होंने अपने मन को समझा रक्खा है।

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव, तथा सति।
कृतनाशाकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥८५॥

आत्मा को सावयव मानने पर घटादि की तरह उसका नाश होगा ही। फिर कृतनाश और अकृताभ्यागम नाम के दोषों को हटानेवाला कौन होगा उसे बताओ? [किये हुए पुण्य पाप जब विना भोग दिये नष्ट हो जाते हैं तब उसे 'कृतनाश' कहते हैं। जब तो विना किये ही कुछ भोगना पड़ जाता है तब वह 'अकृताभ्यागम' कहा जाता है। आत्मा को अनित्य मानने में ये दो दोष आते हैं।]

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः।
आकाशवत् सर्वगतो निरंशः श्रुतिसम्मतः ॥८६॥

यों परिशेष से यही सिद्ध होता है कि यह आत्मा तो महान् [विभु=व्यापक] ही है। यह न तो अणु है और न यह मध्यम परिमाण वाला ही है। आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः

निष्कलं निष्क्रियम् [श्वेता० ६-१९] इत्यादि श्रुतियें आत्मा को आकाश की तरह सर्वत्र व्यापक तथा निरवयव मानती हैं।

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः ।
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ॥८७॥

यों आत्मा की विभुता तो सिद्ध हो गयी। परन्तु उसके विशेष धर्मों के विषय में भी अनेक विवाद चलते हैं। कोई कहता है आत्मा 'अचिद्रूप' है। दूसरा आत्मा को 'चिद्रूप' मानता है। कोई उसे चिदचिद्रूप भी बता देता है।

प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् ।
आकाशवद् द्रव्यमात्मा शब्दवत् तद्गुणश्चितिः ॥८८॥

प्राभाकर और तार्किक दोनों ही इसको अचिद्रूप बताते हैं। वे कहते हैं कि—आत्मा भी आकाश की तरह एक द्रव्य है। शब्द जैसे आकाश का गुण है इसी प्रकार चिति [चैतन्य] उस आत्मा का गुण है। [इस चैतन्य गुण ने ही इस आत्मा को पृथिवी आदि सब से भिन्न कर दिया है]।

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे ।
तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः ॥८९॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, सुख, दुःख, तथा उनके संस्कार ये सब चेतना के समान ही आत्मा के गुण हैं।

आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतो गुणाः ।
जायन्तेऽथ प्रलीयन्ते सुषुप्तेऽदृष्टसंक्षयात् ॥९०॥

आत्मा का जब मन से योग हो जाता है, तब अपने अदृष्ट के प्रताप से ये गुण उत्पन्न हो जाते हैं, तथा सुषुप्ति के समय जब अदृष्ट का क्षय हो जाता है तब ये गुण नष्ट हो जाते हैं।

चितिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् ।
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ॥९१॥

चिति नामक गुणवाला होने से यह चेतन है [यों स्वयं अचिद्रूप होने पर भी इसको चेतन मान लिया जाता है] चेतन होने का एक और भी प्रमाण है कि इसमें इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न नाम के गुण विद्यमान हैं। यह आत्मा धर्माधर्म का कर्ता है। दुःखादिवाला होने से इसे भोक्ता माना जाता है [यों उसमें ईश्वर तत्व से विलक्षणता पायी जाती है।]

यथात्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम् ।
तथा लोकान्तरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥९२॥

जैसे कर्म के वश यहाँ (इस लोक में) कभी कभी होने वाले सुखादि होते हैं, इसी प्रकार लोकान्तर में [मिले हुए] दूसरे देह में भी, कर्म से ही इच्छादि हो जाते हैं।

विभु होने पर आत्मा लोकान्तर गमन आदि कैसे करेगा? इसका समाधान यह है कि—जैसे इस देह में कर्म के वश इच्छा आदि उत्पन्न होते हैं तो इसे यहाँ आत्मा का रहना मान लिया जाता है, इसी प्रकार कर्म के वश जब लोकान्तर में देहान्तर मिलता है तब उस देहावच्छिन्न आत्मा के प्रदेश में ही सुखादि उत्पन्न होने लगते हैं और वहाँ आत्मा का गमनादि मान लिया जाता है। वस्तुतः आत्मा में गमनादि कुछ नहीं होता।

एवं च सर्वगस्यापि संभवेतां गमागमौ ।
कर्मकाण्डः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ॥९३॥

इस प्रकार सर्वग [सर्वत्र व्यापक] आत्मा का भी आना

जाना संभव हो जाता है। आत्मा में कर्तृत्वादि धर्म रहते हैं इस बात में सम्पूर्ण कर्मकाण्ड प्रमाण है ऐसा वे कहते हैं। [यदि आत्मा कर्ता नहीं है तो कर्मकाण्ड की रचना क्यों की गयी है ?]

आनन्दमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते।
अस्पष्टचित् स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ॥९४॥

सुषुप्ति के समय जो 'आनन्दमय कोश' शेष रह जाता है जिसमें चेतनता अस्पष्ट रूप से रहती है, कोशों में सबसे पहला कोश यह आनन्दमय कोश ही इन प्रभाकर आदियों का आत्मा है। वे पूर्वोक्त इच्छा आदि इसी के गुण हैं। [तात्पर्य यह कि जिस आत्मा को हमने पहले आनन्दमय कहा था इच्छादि वाला वही उनका सम्मत आत्मा है।]

गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम्।
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः ॥९५॥

कुमारिल भट्ट के अनुयायी तो इसी आत्मा के गूढ अर्थात् अस्पष्ट चैतन्य की ऊहना कर लेते हैं फिर इसको चैतन्य और जड उभय रूप मानते हैं। वे कहते हैं कि सोकर उठे हुए पुरुष को जो स्मृति होती है उससे चैतन्य की उत्प्रेक्षा होती है। सोकर उठा हुआ पुरुष जब स्मरण करता है तब उससे सुषुप्ति के समय के चैतन्य की ऊहना कर ली जाती है।

जडो भूत्वा तदास्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा।
विना जाड्यानुभूतिं न कथंचिदुपपद्यते ॥९६॥

[चैतन्य की उत्प्रेक्षा करने की उनकी परिपाटी यह है कि]—सुषुप्ति के समय 'मैं जड होकर सोया पड़ा था' ऐसा

एक जडता का स्मरण सोकर उठे हुए पुरुषों को होता है। सो यह स्मरण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि सुषुप्ति काल की जडता को उसने अनुभव न किया हो [बस इसी से उस समय की जड़ता का अनुभव मान लिया जाता है।]

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम् ।
अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद् युतः ॥९७॥

नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् [बृह० ४–३–२३]

इस श्रुति में कहा है कि द्रष्टा आत्मा की जो स्वरूपभूत दृष्टि है उसका लोप कभी नहीं होता। क्योंकि वह दृष्टि विनाश-रहित स्वभाव वाली है। इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि यह आत्मा खद्योत के समान प्रकाश और अप्रकाश [स्फुरण और अस्फुरण] दोनों ही से युक्त है।

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद्घटिष्यते ।
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ॥९८॥

निरंश [निरवयव] पदार्थ किसी प्रकार भी उभय रूप नहीं हो सकता। इस कारण सांख्यविवेकी यह मानते हैं कि आत्मा तो केवल चिद्रूप ही है।

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत् ।
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥९९॥

[जाड्य का जो स्मरण उठे हुए पुरुषों को होता है उस स्मरण में] जो जाड्य भाग है वह तो प्रकृति का रूप है। वह विकारी है। वह सत्व रज तम इन त्रिगुणात्मक है। चेतन पुरुष को भोग और अपवर्ग दिलाने के लिये वह प्रकृति प्रवृत्त हुआ करती है। [जब तक यह पुरुष मूर्ख बना रहता है तब

तक यह प्रकृति उसे भोग देती है जब यह पुरुष भोगों से उकता जाता है, विवेकी हो जाता है, तब यही उसे अपवर्ग अर्थात् मुक्ति दे देती है]

असङ्गायाश्चिते र्बन्धमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ।
बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ॥११०॥

यद्यपि चिति असंग ही है। परन्तु भेदाग्रह के कारण बंध भी जाती है और मुक्त भी हो जाती है। बन्ध और मुक्ति की व्यवस्था के लिये ये सांख्य भी पहलों [नैयायिकों, प्राभाकरों, भाट्टों] की तरह चेतनों का भेद मानते हैं।

प्रश्न यह था कि चिति जब असंग है और प्रकृति तथा पुरुष अत्यन्त विविक्त है, फिर विचारी प्रकृति की प्रवृत्ति से असंग पुरुष को भोग और अपवर्ग कैसे होगये ? इसका उत्तर यह है कि—प्रकृति और पुरुष के भेद को ग्रहण न करने से भोग और अपवर्ग [बन्ध और मोक्ष] दोनों ही हो गये हैं।

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृति रुच्यते।
श्रुतावसङ्गता तद्वदसङ्गो हीत्यतः स्फुटा ॥१११॥

महतः परमव्यक्तम् [कठ० ३–११] इस श्रुति में प्रकृति के होने का वर्णन है। असङ्गो ह्ययं पुरुषः [बृ० ४–३–१५] इस श्रुति में पुरुष की असंगता का प्रतिपादन किया गया है।

चित्सन्निधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम्।
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः ॥१०२॥

[जीव के विषय में ही नहीं ईश्वर विषय में भी वादियों के बड़े उलटे सीधे विचार हैं। उन्हीं को अब दिखाया जाता

है] योग वाले कहते हैं कि—चेतन आत्माओं की सन्निधि में जो प्रकृति प्रवृत्त होती है उस प्रकृति को नियम में रखनेवाला 'ईश्वर' है। उसी को श्रुति में जीवों से 'पर' कहा गया है।

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः।
आरण्यके संभ्रमेण ह्यन्तर्याम्युपपादितः ॥१०३॥

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः [श्वे० ६–१६] इस श्रुति में जीव से पर ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है कि प्रधान तथा क्षेत्रज्ञों [जीवों] का पालक, सत्वादि गुणों का ईश, किंवा नियामक है। बृहदारण्यक के अन्तर्यामि ब्राह्मण में तो बड़ी तत्परता से 'अन्तर्यामी' का उपपादन किया गया है।

अत्रापि कलहायन्ते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः।
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरन्ति हि ॥१०४॥

इस ईश्वर विषय में भी वादी लोग अपनी अपनी युक्तियों से विवाद करते हैं और अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपने मत की दृढ़ता के लिये श्रुति वाक्यों का उद्धार भी करते हैं।

क्लेशकर्मविपाकै स्तदाशयैरप्यसंयुतः।
पुंविशेषो भवेदीशो जीववत् सोप्यसंगचित् ॥१०५॥

अविद्या आदि पाँच क्लेशों, चारों प्रकार के कर्मों, कर्म-विपाकों तथा इन सब के संस्कारों से अस्पृष्ट रहनेवाला, जो कोई पुरुषविशेष है, वही ईश्वर है। वह भी जीव के समान ही असङ्ग और चिद्रूप है।

तथापि पुंविशेषत्वाद् घटतेऽस्य नियन्तृता।
अव्यवस्थौ बन्धमोक्षा वापतेतामिहान्यथा ॥१०६॥

यद्यपि वह ईश्वर असङ्गचित् है तौ भी, पुरुषविशेष होने

के कारण, यह नियामक हो सकता है। ईश्वर को यदि नियामक न मानें तो बन्ध मोक्ष की कोई व्यवस्था ही इस लोक में न रहेगी। [फिर इस व्यवस्था को कौन करेगा ?]

भीषास्मादित्येवमादा वसङ्गस्य परात्मनः ।
श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसंगमात् ॥१०७॥

भीषास्माद्वातः पवते [तै० २-८] इत्यादि श्रुतियों में इस असंग परमात्मा को नियन्ता बताया गया है। उसमें जीवों में पाये जाने वाले क्लेशादि के न होने से उसकी नियामकता युक्तिसंगत भी है।

जीवानामप्यसङ्गत्वात् क्लेशादिर्न ह्यथापि च ।
विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ॥१०८॥

असङ्ग होने के कारण यद्यपि जीव भी क्लेशादि से रहित ही हैं परन्तु विवेकाग्रह [प्रकृति और पुरुष के भेद को न समझने] के कारण इन जीवों को क्लेशादि होते हैं, यह बात हम पहले कह चुके हैं।

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा गुणानीशस्य मन्वते ।
असङ्गस्य नियन्तृत्व मयुक्तमिति तार्किकाः ॥१०९॥

तार्किक लोग तो असंग आत्मा के नियामकपने को सहन ही नहीं करते इससे उन्होंने तो जीवों से विलक्षण रखने के लिये ईश्वर में नित्य ज्ञान, नित्य प्रयत्न तथा नित्य इच्छा को माना है।

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा ।
सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादि श्रुतिर्जगौ ॥११०॥

[गुणों ही के कारण उसको पुरुष विशेष मान लिया है। जीवों के इच्छा आदि गुण अनित्य हैं। ईश्वर के इच्छा आदि

तीनों गुण नित्य हैं ।] इनके अतिरिक्त जीव और ईश्वर के विलक्षण होने का और कोई कारण नहीं है । इन गुणों की नित्यता के विषय में श्रुति ने स्वयं कहा है कि वह सत्य काम है सत्य संकल्प है ।

नित्यज्ञानादिमत्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत् ।
हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिङ्गदेहेन संयुतः ॥१११॥

ईश्वर को यदि नित्यज्ञानादिवाला मानें तो वह सदा सृष्टि ही बनाता रहे । इस कारण लिङ्गदेह से युक्त हिरण्यगर्भ को ही ईश्वर मानना चाहिये । [समष्टि लिङ्ग शरीर के अभिमानी परमात्मा को हिरण्यगर्भ कहते हैं । उसके लिंगदेह अर्थात् मन में जब इच्छा होगी तभी वह सृष्टि बनायेगा, यों सदा सृष्टि नहीं रहेगी । कभी कभी होगी ।]

उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम् ।
लिङ्गसत्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ॥११२॥

इस हिरण्यगर्भ की महत्ता उद्गीथ ब्राह्मण में विस्तारपूर्वक वर्णित है । लिङ्ग शरीर होने पर भी इसमें जीवभाव तो इस लिये नहीं आता कि इसके अविद्या,काम तथा कर्म नहीं होते हैं ।

स्थूलदेहं विना लिङ्गदेहो न कापि दृश्यते ।
वैराजो देह ईशोऽतः सर्वतो मस्तकादिमान् ॥११३॥

स्थूल देह के विना तो केवल लिङ्गदेह कहीं भी दीखता नहीं है, इस कारण स्थूल शरीरों की समष्टि का अभिमानी जो 'विराट्' है वही ईश्वर है ।

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ।
श्रुतमित्याहुरनिशं विश्वरूपस्य चिन्तकाः ॥११४॥

विराट् के उपासक अपने समर्थन में कहते हैं कि सहस्र शीर्षा पुरुषः [श्वे० ३-४] तथा विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतस्पात् [श्वे० ३-३] इत्यादि वाक्य अनेक बार श्रुतियों में आये हैं। इन वाक्यों से विराट् के ईश्वरभाव का समर्थन होता है।

सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता।
ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान् ॥११५॥

उपर्युक्त श्रुति के अनुसार यदि उस ईश्वर को सब ओर हाथ पैर वाला मान लें तो ऐसी कीड़ियां भी हैं जिनके चारों ओर हाथ पैर होते हैं वे भी ईश्वर हो जांयगी। इस कारण चार मुख वाला देवता ही ईश्वर है दूसरा कोई नहीं।

पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः, प्रजापतिः।
प्रजा असृजतेत्यादिश्रुतिं चोदाहरन्त्यमी ॥११६॥

सन्तान के लिये उसके उपासक लोगों ने यह बात कही है। वे लोग अपनी पुष्टि में 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' इत्यादि श्रुति का प्रमाण भी देते हैं।

विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः।
विष्णुरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ॥११७॥

भागवतों का कहना है कि—कमलयोनि विधाता तो विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुआ है। इस कारण 'विष्णु' ही ईश्वर है।

शिवस्य पादावन्वेष्टुं शार्ङ्ग्यशक्तस्ततः शिवः।
ईशो न विष्णु रित्याहुः शैवा आगममानिनः ॥११८॥

आगममानी शैव तो कहते हैं कि—शिव के पैरों को ढूँढते ढूँढते शार्ङ्गी अशक्त हो गया था। इस कारण विष्णु ईश्वर नहीं है किन्तु 'शिव' ही ईश्वर है।

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत् ।
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥११९॥

गणेश के उपासकों का तो कहना है कि—त्रिपुर को नष्ट करने के लिये शिव ने भी विघ्नेश की पूजा की थी। इस कारण वे 'विनायक' को ही ईश्वर मानते हैं।

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथाऽन्यथा ।
मन्त्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥१२०॥

और भी भैरव आदि देवताओं के उपासकों ने अपने अपने पक्षों के अभिमान में आ आकर मन्त्रों, अर्थवादों, तथा कल्पों का [झूठ मूठ] सहारा लेकर, कुछ का कुछ वर्णन कर डाला है।

अन्तर्यामिणमारभ्य स्थावरान्तेशवादिनः ।
सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ॥१२१॥

अन्तर्यामी से लेकर स्थावर पर्यन्तों को ईश्वर माननेवाले लोग संसार में हैं। क्योंकि अश्वत्थ, अर्क, तथा वंशादि भी कुल के देवता पाये जाते हैं।

तत्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ।
एकैव प्रतिपत्तिः स्यात् साप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥१२२॥

तत्व का निश्चय करने की इच्छा को लेकर जो भी कोई पुरुष न्याय तथा आगमों का विचार करेंगे, उन सब की तो एक ही प्रतिपत्ति [निश्चय] होगी [वे सब तो एक ही निश्चय पर पहुँचेंगे] उसी निश्चय का वर्णन अब यहाँ स्पष्ट किया जाता है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१२३ ॥

सम्पूर्ण विचारकों का एकमात्र निश्चय श्रुति के शब्दों में इस प्रकार है कि—माया को ही प्रकृति [अर्थात् इस जगत् का उपादान कारण] जान लेना चाहिये। माया रूपी उपाधि वाले उस अन्तर्यामी को महेश्वर [किंवा माया का अधिष्ठाता अथवा इस जगत् का निमित्त कारण] मान लेना चाहिये। इस मायी महेश्वर के अंशरूप जीवों से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।

इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे।
तथा सत्यविरोधः स्यात् स्थावरान्तेशवादिनाम् ॥१२४॥

इस श्रुति के अनुसार तो ईश्वर के विषय में ऊपर कहे हुए सभी निर्णय न्याय्य [ठीक] हो जाते हैं। ऐसी सूरत में जो लोग स्थावरों तक को ईश्वर मानते हैं उन का भी कोई विरोध नहीं रह जाता है।

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात्।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥१२५॥

यह माया तमोरूपा है। तापनीय उपनिषत् में इसको तमोरूप बताया गया है। श्रुति ने माया को तमोरूप सिद्ध करने के लिये अनुभव को भी प्रमाण माना है।

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः।
आबालगोपं स्पष्टत्वादानन्त्यं तस्य साब्रवीत् ॥१२६॥

श्रुति ने उस अनुभव को यों दिखाया है कि वह [माया] जड है और मोहरूप है। इस जड और मोहरूप माया को बच्चे और ग्वाले तक सभी जानते हैं। इसी कारण श्रुति ने इस माया को अनन्त भी कहा है।

अचिदात्मघटादीनां यत् स्वरूपं जडं हि तत् ।
यत्र कुण्ठीभवेद् बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ॥१२७॥

अचित्स्वरूप जो घटादि पदार्थ हैं, उन का जो स्वरूप है, वही 'जड' कहाता है । जहाँ जाकर बुद्धि कुण्ठित हो जाय । वह 'मोह' कहाता है, ऐसा लौकिक लोग कहते हैं ।

इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत् सर्वैरप्यनुभूयते ।
युक्तिदृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ॥१२८॥

इस प्रकार लौकिक दृष्टि से तो उस माया को सभी जड और मोहरूप अनुभव करते हैं । परन्तु युक्ति की कसौटी पर तो वह अनिर्वाच्य ही सिद्ध होती है । [युक्ति की दृष्टि में तो उसे सत् या असत् कुछ भी नहीं कह सकते] । नासदासीत् [ऋग्वेद] इस श्रुति में भी उस माया को सदसदनिर्वचनीय ही कहा गया है ।

नासदासीद् विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः ॥१२९॥

[ऊपर की श्रुति का अभिप्राय यह है] विभात [सब को ज्ञात] होने से वह तत्व असत् नहीं था । नेह नानास्ति किंचन [बृ० ४-४-१९] इस श्रुति में आत्मा से भिन्न सब तत्वों का बाध किया है, इस कारण वह तत्व सत् भी नहीं था । [सत् और असत् उभय रूप होना तो किसी की समझ में आनेवाली बात ही नहीं है । यों वह माया नामक तत्व युक्ति की दृष्टि से अनिर्वचनीय पदार्थ है] ज्ञानदृष्टि आ जाने पर तो उस माया की सदा के लिये निवृत्ति हो जाती है इसी कारण श्रुति में उस को तुच्छ कहा है । तुच्छमिदं रूपमस्य

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौत-यौक्तिक-लौकिकैः॥१३०॥

श्रौत बोध को मानें तो वह माया 'तुच्छ' है। यौक्तिक बोध को मानें तो वह 'अनिर्वचनीय' समझ में आती है। लौकिक बोध पर विश्वास कर बैठें तो उसको 'वास्तविक' ही मानना पड़ता है। [श्रुति उसे तुच्छ कहती है, युक्ति उसे अनिर्वचनीय बताती है। लौकिक प्राणी उसे सच्चा मानते हैं।]

अस्य सत्वमसत्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ।
प्रसारणाच्च संकोचाद् यथा चित्रपटस्तथा ॥१३१॥

यह माया कभी तो इस जगत् को सत् दिखाती है और कभी इसको असत् बता देती है। मानों लपेटने और फैलाने से कोई चित्रपट कभी चित्रों को सत् और कभी उनको असत् दिखाता हो।

अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ।
स्वतन्त्रापि तथैव स्यादसङ्गस्यान्यथाकृतेः ॥१३२॥

चिति [अर्थात् अपने प्रकाशक चैतन्य] के विना यह माया प्रतीत ही नहीं होती इस बात पर दृष्टि डालें तो कहना पड़ता है कि वह माया अस्वतन्त्र है—[स्वाधीन नहीं है] परन्तु जब यह देखते हैं कि उसने असङ्ग आत्मा को दूसरी तरह का [ससङ्ग] बना डाला है तब कहना पड़ जाता है कि वह तो स्वतन्त्र भी है।

कूटस्थासङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥१३३॥

उस माया ने, कूटस्थ असङ्ग आत्मा को विगाड़ कर, उस का जगत् बना दिया है। उसी ने चिदाभास स्वरूप से जीव और ईश्वर का भी निर्माण किया है। [यही उस का अन्यथा-करण कहाता है।]

कूटस्थ मनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम्।
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥१३४॥

इस माया की होशियारी तो देखो कि—यह माया कूटस्थ में किसी प्रकार का उपद्रव भी नहीं करती है [उसको जैसे का तैसा भी रहने देती है] और उसी से जगदादि को भी बना डालती है। दुर्घट कामों को करने का बीड़ा उठाने वाली इस माया में यह कोई चमत्कार की बात नहीं है [कि कूटस्थता को भी बना रहने दे और उसको जगदादिस्वरूप भी कर डाले। ऐसा न करे तो उसे माया ही कौन कहे ?]

द्रवत्वमुदके वन्हावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि।
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिद्ध्यति नान्यतः ॥१३५॥

पानी में द्रवत्व, वह्नि में उष्णता, पत्थर में कठोरता, और माया में दुर्घटपना स्वभाव से ही सिद्ध हो रहा है। [उसमें यह दुर्घटता कहीं अन्यत्र से नहीं आयी है।]

न वेत्ति लोको यावत् तां साक्षात् तावच्चमत्कृतिम्।
धत्ते मनसि, पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥१३६॥

यह लोक जब तक उस माया का साक्षात्कार नहीं कर लेता, तभी तक मन में आश्चर्य किया करता है। साक्षात् कर लेने के पीछे तो 'यह माया है' ऐसा समझ कर शान्त हो जाता है।

प्रसरन्ति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ।
न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ॥१३७॥

ये समस्त आक्षेप तो जगत् को सत्य मानने वाले नैयायिक आदियों पर ही हो सकते हैं। मायावाद में ये आक्षेप नहीं चलते। क्योंकि यह माया तो स्वयं ही आक्षेपस्वरूप है [इस माया का तो दुर्घटपना ही रूप माना जाता है। यदि यह किसी तरह से घटमान हो जाय, यदि समझ में आजाय तो फिर यह माया ही क्या रही ? जो वात वुद्धि को समझ न पड़े, जिस में सव दोष आते हों वही माया है ।]

चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात्त्वच्चोद्ये चोद्यते मया ।
परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम् ॥१३८॥

आक्षेप योग्य वात पर भी [जिसका कोई उत्तर कभी दिया ही नहीं जा सकता] यदि आक्षेप करते ही जाओगे तो फिर विवश हो कर तुम्हारे उन सिद्धान्तों पर आक्षेप करने लगूँगा [जिनका तुम पर कोई भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं है, जिनको तुम अनादि आदि वताकर अपना पीछा छुड़ाया करते हो। फिर इसका परिणाम क्या होगा] इस कारण किसी तरह इस चोद्य-माया का परिहार करना चाहिये। इस माया पर आक्षेप करते जाना ठीक नहीं है [भला जव तुम्हारे वस्त्र पर धव्वा पड़ गया हो तव क्या ? क्यों ? कैसे ? और कव ? करना भला या कि उसे छुड़ाने के उपाय सोचना भला ?]

जिस कमी को मैं स्वयं मान रहा हूँ, जो कमी मुझ मायावादी का भूषण है, उसी पर अड़ कर बैठ जाने से मुझे तुम्हारे सिद्धान्त के मर्मस्थल दिखा कर अपना पीछा छुड़ाना पड़ेगा।

इस कारण मैं तो यही कहता हूँ कि किसी तरह इस माया से अपना पिण्ड छुड़ा लो। इस पर वार बार आक्षेप करते जाना ठीक नहीं है। इसी झगड़े में फँसे रहकर आत्महित में प्रतिवन्ध डाल देना उचित नहीं है। विचार कर तो देख लो कि माया के द्वारा जगद्रचना के जिस प्रश्न पर तुम विचार कर रहे हो वह प्रश्न यदि यों वातचीत में ही हल हो जाय तो फिर सभी सहसा मुक्त हो जायँगे। अजी! यह प्रश्न ही तो भोग और मोक्ष की मध्य सीमा है। जो इस प्रश्न का उत्तर निर्विकल्प समाधि से मांग लेते हैं वे मुक्त हो जाते हैं, जिन्हें इस का सदुत्तर नहीं मिल पाता वे यहीं भोगों में फँसे रह जाते हैं। फिर ऐसे असाधारण विषय को वाद विवाद से निर्णय कर लेने की दुराकांक्षा क्यों करते हो? अरे भाई! इस प्रश्न को समाधिभावना के द्वारा सुलझाने का प्रयत्न करो। ऐसा यत्न करो कि किसी तरह इस माया का परिहार हो जाय। जैसे अपने जागे विना अपना स्वप्न नहीं टूटता इसी प्रकार आत्मदर्शन हुए विना केवल युक्तिवाद से इस महाप्रश्न का सुलझना किंवा इस महास्वप्न का भंग हो जाना अत्यन्त असम्भव वात है।

त्रिसयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः।
अन्वेष्यः परिहारोऽस्या वुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः ॥१३९॥

देखो कि विस्मयरूपिणी यह माया आक्षेपरूप ही है। वुद्धिमानों को इस विषय में केवल यही करना चाहिये कि वे इस के परिहार का कोई उपाय सोच लें।

वुद्धिमान् लोग यह मालूम कर लें कि किस रीति से इस माया का मोहक प्रभाव उनपर पड़ना वन्द हो जायगा? प्याज

को छीलने से जैसे पत्ते ही पत्ते हाथ लगते हैं सार कुछ भी नहीं मिलता इसी प्रकार माया के स्वरूप का विचार करने से तो इसका कोई भी निर्णीत रूप हाथ नहीं आयेगा।

मायात्वमेव निश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु।
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम् ॥१४०॥

पूर्वपक्षी पूछता है कि—तो फिर क्या मैं इसे माया ही मान लूँ और परिहार का उपाय सोचना प्रारम्भ कर दूँ? सिद्धान्ती कहता है कि हां, अवश्य ही इसको माया मान लो। देख लो कि लोकप्रसिद्ध माया के लक्षण इसमें भी पाये जाते हैं। इसी से कहते हैं कि इसको भी माया ही मान लो।

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या।
सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥१४१॥

जिसका निरूपण न हो सकता हो, फिर भी जो स्पष्ट ही भासती हो, वह 'माया' है, ऐसा इन्द्रजालादि में लोग माया को समझते हैं।

स्पष्टं भाति जगच्चेद मशक्यं तन्निरूपणम्।
मायामयं जगत् तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥१४२॥

यह जगत् भी स्पष्ट ही दीख रहा है। परन्तु इसका निरूपण कर सकना किसी के बूते की बात नहीं है। इस कारण कहते हैं कि पक्षपात को छोड़ कर इस जगत् को मायामय समझ लो।

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥१४३॥

संसार के सम्पूर्ण पण्डित, जब इस जगत् का निरूपण करना

प्रारम्भ करते हैं तो कुछ कक्षा चलने पर, उनके सामने अज्ञान दीखने लगता है। [वाद कथा की दो तीन श्रेणी चल चुकने पर अन्त में उन्हें अज्ञान की शरण लेनी पड़ जाती है। उन्हें कहना पड़ जाता है 'यह तो हमें मालूम ही नहीं है कि ऐसा क्यों होता है' इत्यादि।]

देहेन्द्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम्।
कथं वा तत्र चैतन्य मित्युक्ते ते किमुत्तरम् ॥१४४॥

देखो इस संसार का निरूपण यों नहीं हो सकता—कि वीर्य [जैसी द्रव तथा एक वस्तु] से देह इन्द्रिय आदि नाना पदार्थ क्योंकर उत्पन्न हो जाते हैं? तथा इन देह इन्द्रिय आदि में चेतनता क्योंकर आ जाती है? इन प्रश्नों का तुम्हारे पास क्या समाधान है?

वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत् कथं तद् विदितं त्वया।
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वन्ध्यवीर्यतः ॥१४५॥

यदि वीर्य का यह सब स्वभाव ही मानो तो बताओ कि उसे तुमने कैसे पहचाना? यदि कहो कि अन्वय व्यतिरेक से यह सब पहचानता हूँ तो तुम्हारे वे अन्वय व्यतिरेक तो वन्ध्यवीर्य से भग्न हो चुके हैं [वन्ध्या स्त्री में जो वीर्य पड़ता है या जो वीर्य स्वयं ही वन्ध्य होता है, वह व्यर्थ हो जाता है। जहां जहां वीर्य हो वहां वहां देहादि हों ऐसा नहीं होता।]

न जानामि किमप्येतदित्यन्ते शरणं तव।
अत एव महान्तोऽस्य प्रवदन्तीन्द्रजालताम् ॥१४६॥

यों बार बार पूछते जाने पर अन्त में तुम्हें यही कहना पड़

जायगा कि यह तो मुझे कुछ भी मालूम नहीं है। यही कारण है कि महापुरुष इसको [पहली बार ही] इन्द्रजाल कह देते हैं।

एतस्मात् किमिवेन्द्रजालमपरं यद् गर्भवासस्थितं।
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम्।
पर्यायेण शिशुत्व-यौवन-जरावेषैरनेकैर्वृतं।
पश्यत्यत्तिशृणोतिजिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति।१४७

गर्भपात्र में पड़ा हुआ वीर्य,चेतन होजाता है। उसमें हाथ, मस्तक,पैर आदि नाना अङ्कुर फूट आते हैं। वह फिर क्रम से कभी बालपन, कभी यौवन, तथा कभी वार्धक्य नाम के अनेक वेषों को ओढ़ा करता है और देखता,खाता,सुनता,सूँघता, तथा आने जाने लगता है। बताओ तो इससे बड़ा इन्द्रजाल और क्या होगा?

देहवद् वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम्।
क्व धाना कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु ॥१४८॥

देह के समान ही बढ़ आदि वृक्षों के क्षुद्र बीजों पर भी भले प्रकार विचार कर देख लो कि—कहां तो वह बिचारा क्षुद्र सा बीज और कहां वह विशाल वृक्ष? यह सब देखकर निश्चय कर लो कि यह सब माया ही तो है।

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ॥१४९॥

तुम्हें ही नहीं और भी जो बड़े बड़े तार्किक इस संसार की निरुक्ति का दम भरते हैं, खण्डन आदि ग्रन्थों में हर्षमिश्र आदि ने उनकी खूब खबर ली है [उनके उस अभिमान को प्रबल युक्तियों से चूर्ण चूर्ण कर दिया है।]

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत् खलु ॥१५०॥

जो भाव अचिन्त्य हैं, उन्हें तर्क की कसौटी पर कभी न कसना चाहिये। क्योंकि इस जगत् की रचना तो ऐसी है कि मन से भी उसका चिन्तन नहीं हो सकता।

अचिन्त्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु ।
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते ॥ १५१ ॥

जिस कारण में अचिन्त्य रचनाशक्ति भरी हुई है, जिस कारण की रचनाशक्ति का विचार भी नहीं कर सकते हैं, उसे ही 'माया' समझ लेना चाहिये। सुषुप्ति के समय उसी एक माया रूपी कारण का अनुभव प्रत्येक को हुआ करता है।

जाग्रत्स्वप्नजगत् तत्र लीनं बीज इव द्रुमः ।
तस्मादशेषजगतो वासना स्तत्र संस्थिताः ॥१५२॥

छोटे से बीज में जैसे बड़े बड़े पेड़ छिपे रहते हैं, इसी प्रकार इस माया बीज में जाग्रत् तथा स्वप्न नाम का जगत् छिपा रहता है। जगत् का कारण होने से इस सम्पूर्ण जगत् की वासनायें उसी माया में छिपी बैठी रहती हैं।

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति ।
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ॥१५३॥

उस माया में जो बुद्धि की वासनायें छिपी पड़ी हैं, उनमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। मेघाकाश के समान उन [बुद्धियों] में जो अस्पष्ट चिदाभास पड़ रहा है, उसका अनुमान करलो [क्योंकि वह किसी के अनुभव में नहीं आता है इस कारण अनुमान से ही उसे जानते हैं।]

सामासमेव तद् बीजं धीरूपेण प्ररोहति ।
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ॥१५४॥

चिदाभास से युक्त वह बीज [अज्ञान] ही बुद्धिरूप से परिणत हो जाता है इस कारण तब तो वह चिदाभास बुद्धि में स्पष्ट ही प्रतीत होने लगता है। [तात्पर्य यह कि चिदाभासयुक्त वह अज्ञान, जब बुद्धिरूप को धारण कर लेता है तब तो उसमें स्पष्ट ही चिदाभास दीखने लगता है,परन्तु बुद्धि की वासनाओं में चिदाभास प्रतीत नहीं होता है।]

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम् ।
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥१५५॥

वह माया आभास के द्वारा जीव और ईश्वर को बना देती है यह श्रुति में कहा गया है। वे जीव और ईश्वर, मेघाकाश तथा जलाकाश के समान पृथक् पृथक् व्यवस्थित हो जाते हैं [ऐसी अवस्था में यद्यपि जीव और ईश्वर दोनों मायिक हैं, परन्तु अस्पष्ट और स्पष्ट उपाधि वाला होने से, क्रम से मेघाकाश और जलाकाश के समान, इन दोनों का अवान्तर भेद सिद्ध हो जाता है।]

मेघवद् वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत् ।
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत् स्थितः ॥१५६॥

माया तो मेघ के समान है। मेघ में जो तुषार होते हैं बुद्धि-वासनायें उनके समान होती हैं। उन तुषारों में जो आकाश होता है उसके समान वह चिदाभास है।

मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः ।
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ॥१५७॥

चिदाभास तो माया के अधीन होता है। महेश्वर को श्रुतियों में मायी अर्थात् माया का स्वामी कहा है। वह महेश्वर ही अन्तर्यामी है, वही सर्वज्ञ है, तथा वही इस जगत् का मूल कारण भी है।

सौपुप्तमानन्दमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ।
एष सर्वेश्वर इति सोयं वेदोक्त ईश्वरः ॥१५८॥

सुषुप्ति के समय, अपने शुद्धरूप में प्रकट होनेवाले, आनन्दमय के विषय में सुषुप्तस्थाने एकीभूतः प्रज्ञानघनः मा. ५ इत्यादि श्रुति ने कहा है कि यही 'सर्वेश्वर' है। यों यह कहा जा सकता है कि बुद्धिवासनाओं में प्रतिबिम्ब रूप यह आनन्दमय ही वेदोक्त ईश्वर तत्व है।

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम्।
श्रौतार्थस्यावितर्क्यत्वान्मायायां सर्वसंभवात् ॥१५९॥

इस आनन्दमय की सर्वज्ञता आदि [यद्यपि अनुभव में आने वाली बात नहीं है, तो भी उस] में शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि श्रुति का बताया हुआ पदार्थ अवितर्क्य होता है। इसके अतिरिक्त माया में तो इतना सामर्थ्य है ही कि उसमें सब कुछ संभव हो जाता है।

अयं यत् सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान्।
न कोपि शक्तस्तेनायं 'सर्वेश्वर' इतीरितः ॥१६०॥

देखो यह 'आनन्दमय' जिस [मानस सृष्टि किंवा जिस जाग्रदादि] जगत् को उत्पन्न कर लेता है, उसको कोई भी पुरुष अन्यथा नहीं कर सकता। यही कारण है कि उसको 'सर्वेश्वर' कहा गया है। [उस आनन्दमय की सर्वेश्वरता का यही अभिप्राय समझना चाहिये।]

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः।
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ॥१६१॥

सुषुप्ति काल के उस अज्ञान में [जो कि सब का कारण है] सम्पूर्ण प्राणियों की बुद्धियों की वासनायें निवास किये रहती हैं। उन सूक्ष्म वासनाओं ने इस सब जगत् को ही अपना विषय बना रक्खा है, इस कारण से उसको सर्वज्ञ कह दिया जाता है। [तात्पर्य यह है,कि सम्पूर्ण बुद्धियों की वासना वाला अज्ञान उस आनन्दमय की उपाधि है इसी से उसको सर्वज्ञ कहते हैं। ऐसा सर्वज्ञ यदि उसको समझें तो फिर उसकी सर्वज्ञता पर आक्षेप करने की कोई बात ही नहीं रह जाती।]

वासनानां परोक्षत्वात् सर्वज्ञत्वं न हीक्ष्यते।
सर्वबुद्धिषु तद् दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥१६२॥

उसकी उपाधि रूपी जो वासनायें हैं, वे तो सदा परोक्ष ही रहती हैं। इसी कारण उसकी सर्वज्ञता का अनुभव किसी को भी नहीं होता। परन्तु सम्पूर्ण बुद्धियों [को मिला कर फिर उन]में सर्वज्ञता को देखकर,वासनाओं में भी सर्वज्ञता को अनुमान से ही जान लेना चाहिये।

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि।
अन्तस्तिष्ठन् यमयति तेनान्तर्यामितां व्रजेत् ॥१६३॥

विज्ञानमय आदि कोशों के तथा पृथिव्यादि भूतों के अन्दर बैठकर, इन सब को नियम में रखता रहता है, इसी से उसको 'अन्तर्यामी'[अन्दर रहकर नियमन करने वाला] कहा जाता है।

यही अन्तर्यामी प्राणियों के पूर्व कर्मों के अनुसार चोर से,

चोरी करने को उकसाता है, मालिक को सावधान रहने की प्रेरणा किया करता है। बहादुर से तोप के मुँह में सिर दे देने को कहता है। भीरु को भाग जाने की सम्मति देता है। यों सब जीवों की कर्म की डोर को अन्दर बैठा ही बैठा हिलाता रहता है। वहीं से सब पर शासन किया करता है।

बुद्धौ तिष्ठन्नान्तरोऽस्या धियानीक्ष्यश्च धीवपुः ।
धियमन्तर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम् ॥१६४॥

वह अन्तर्यामी बुद्धि के अन्दर रहता है। बुद्धि उसको देख नहीं सकती। बुद्धि ही उसका शरीर है। वह अन्दर रह कर इस बुद्धि को नियम में रख रहा है। अन्तर्यामी का ऐसा वर्णन यो विज्ञाने तिष्ठन् [बृ० ३–७–२२] इत्यादि श्रुतियों ने स्वयमेव किया है।

तन्तुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा ।
सर्वोपादानरूपत्वात् सर्वत्रायमवस्थितः ॥१६५॥

जिस प्रकार तन्तु उपादानरूप से पट में स्थित रहता है, इसी प्रकार सब का उपादान होने से यह [अन्तर्यामी] सब जगह स्थित हो रहा है। यह बात यः सर्वेषु तिष्ठन् [बृ० ३–७–१५] इत्यादि श्रुति में कही गयी है।

पटादप्यान्तरस्तन्तु स्तन्तोरप्यंशुरान्तरः ।
आन्तरत्वस्य विश्रान्ति र्यत्रासावानुमीयताम् ॥१६६॥

उपादान रूप से यद्यपि वह सर्वत्र विराज रहा है, परन्तु उसका सर्वान्तर होना ही उसे उपलब्ध नहीं होने देता। यही बात इस श्लोक में कही गयी है—देखो, पट से अन्दर तन्तु होता है। तन्तु से भी आन्तर अंशु होता है। इस आन्तरपने

की जहां समाप्ति हो जाती है, वहीं जाकर इस [अन्तर्यामी] को अनुमान से ढूँढ लेना चाहिये ।

द्वित्रान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमान्तरः ।
न वीक्ष्यते, ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ।।१६७।।

आन्तर भाव की दो तीन कक्षायें लौकिक [बाह्य] पटादि पदार्थों में दीख भी जायँ, परन्तु यह अन्तर्यामी तो आन्तर [अन्दर का] होने से दीखता नहीं है । इस कारण युक्ति और श्रुति के सहारे से ही इसकी सत्ता का निर्णय करना पड़ता है। [कोई भी अचेतन पदार्थ किसी चेतन अधिष्ठाता के विना प्रवृत्त नहीं हुआ करता, यह युक्ति अन्तर्यामी को सिद्ध कर देती है ।]

पटरूपेण संस्थानात् पट स्तन्तो र्वपुर्यथा ।
सर्वरूपेण संस्थानात् सर्वमस्य वपुस्तथा ।।१६८।।

पट रूप में आ जाने पर वह पट, उस तन्तु का शरीर माना जाता है । इसी प्रकार सर्व रूप से स्थित हो जाने के कारण, यह सब जगत्, उस अन्तर्यामी का देह माना गया है [यही बात 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' [बृ०३–७–१५] इस श्रुति में कही गयी है ।]

तन्तोः संकोचविस्तारचलनादौ पटस्तथा।
अवश्यमेव भवति, न स्वातन्त्र्यं पटे मनाक् ।।१६९।।
तथान्तर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा ।
विक्रियेत तथावश्यं भवत्येव न संशयः ।।१७०।।

तन्तु को जब सकोड़ा जाय, फैलाया जाय, या चलाया जाय, तो पट में भी अवश्य ही संकोच, विस्तार, या चलन

आ जाता है। पट में तो लेशमात्र भी स्वतन्त्रता नहीं है। ठीक इसी प्रकार उपादान रूप से पृथ्वी आदियों में रहनेवाला यह अन्तर्यामी, जिस जिस वासना से, जैसे जैसे घटादि रूप में विकृत हो जाता है, वह वह कार्य अवश्य ही बन जाते हैं। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। [यही बात यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति [बृ० ३–७–१५] इत्यादि में कही गयी है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१७१॥

[गीता में भी अन्तर्यामी के विषय में यों कहा है] हे अर्जुन ! ईश्वरतत्व तो सब भूतों के हृदय धाम में घुसा बैठा है। वह वहाँ बैठा बैठा ही अपनी माया के प्रताप से सब यन्त्रारूढ भूतों को घुमाता रहता है।

सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः।
तदुपादानभूतेश स्तत्र विक्रियते खलु ॥१७२॥

गीता के इस श्लोक में जो 'सर्वभूतानि' शब्द है उसका अभिप्राय 'विज्ञानमय' से ही है। वे सब विज्ञानमय हृदय-कमल में ही रहते हैं। क्योंकि उनका उपादान कारण ईश्वर वहाँ हृदय में ही तो विकार को प्राप्त हुआ करता है [वह अन्तर्यामी हृदय में ही विज्ञानमय का रूप धारण कर लेता है।]

देहादि पञ्जरं यन्त्रं तदारोहोभिमानिता।
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्ति र्भ्रमणं भवेत् ॥१७३॥

[गीता के 'यन्त्रारूढ' का अभिप्राय यह है कि] देहादि नाम का यह पींजरा ही 'यन्त्र' कहाता है। इस पींजरे में अभि-मान कर बैठना [इसी को 'मैं' मान लेना] ही इस पर 'आरो-

हण' करना [चढ़ना] कहा जाता है। उसके पश्चात् विहित और प्रतिषिद्ध वातों में प्रवृत्त हो जाना ही 'भ्रमण' किंवा घूमना कहाता है।

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः।
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि तत् ॥१७४॥

अपनी ही शक्ति से प्रभावित होकर वह ईश्वरतत्व विज्ञान-मय रूप होकर तथा उसकी प्रवृत्ति रूप वनकर विकृत हुआ करता है। गीता के उपर्युक्त श्लोक में इसी को 'माया से जीवों का भ्रामण, अर्थात घुमाना कहा जाता है।

अन्तर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः।
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया॥१७५॥

यही बात यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिवीमन्तरो यमयति [बृ० ३–७–३]इस श्रुति में कही गयी है। अन्य सव पदार्थों में भी यही न्याय अपनी बुद्धि से लगा लेना चाहिये।

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति—
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि ॥१७६॥

मैं धर्म को खूब पहचानता हूँ, परन्तु धर्म म मेरी प्रवृत्ति ही नहीं होती। मैं अधर्म को भी भले प्रकार जानता हूँ, परन्तु मैं उससे बच भी नहीं रहा हूँ। असली बात तो यह है कि कोई देवता मेरे हृदय में मेरा हृदयेश्वर बना बैठा है। वह जैसे जैसे मुझे आज्ञा देता रहता है मैं वैसा वैसा करता रहता हूँ [इससे

यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण प्रवृत्तियें उसी सर्वेश्वर के आधीन हैं।]

नार्थः पुरुषकारेणेत्येवं मा शंक्यतां यतः।
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ॥१७७॥

'जब सभी प्रवृत्तियाँ ईश्वर के अधीन हैं तब फिर पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता ही क्या रह जाती है' ऐसी शंका न करनी चाहिये। क्योंकि वह ईश्वर ही तो पुरुषकार का रूप भी धारण कर लेता है [पुरुष का प्रयत्न भी ईश्वर रूप ही है, यों पुरुषार्थ करना भी सफल हो जाता है।]

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्नैव वार्यताम्।
तथापीशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गत्वधीजनिः ॥१७८॥

जब किसी को ऐसा बोध हो जाय [कि ईश्वर ही पुरुषकारादि रूप में विवर्त हो जाता है] तब भी ईश्वर की अन्तर्यामी रूप से प्रेरणा को वारण नहीं करना चाहिये [किंवा अन्तर्यामी की प्रेरणा को व्यर्थ नहीं मान लेना चाहिये] क्योंकि उस रूप से जब कोई ईश्वर तत्व को जान लेगा तब उसे अपने आत्मा की असङ्गता का स्पष्ट ज्ञान उत्पन्न हो जायगा।

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा।
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरभाषितम् ॥१७९॥

"आत्मा की असङ्गता का ज्ञान हो जाने से ही मुक्ति हो जाती है" यह बात श्रुतियों और स्मृतियों ने कही है। ईश्वर ने यह भी कहा है कि ये श्रुतियां और स्मृतियां मेरी ही आज्ञायें हैं। ऐसी अवस्था में इन के कहने को टालना नहीं चाहिये। श्रुति स्मृतीममैवाज्ञे यस्ते उल्लंध्य वर्तते। आज्ञोच्छेदी ममद्वेषी न मद्भक्तो

न मत्प्रियः। अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् हमारा हाकिम हमारे अन्दर बैठा हुवा है। जब हम कोई बुरा काम करने लगते हैं तब अन्दर से घृणा भय और संकोच आदि की आवाज आती हैं। जब हम कोई शुभ कार्य करते हैं तब अन्दर से प्रेम निर्भयता और उत्साह आदि की स्फूर्ति होती है। ये ही सब ईश्वर की आज्ञायें हैं! जो लोग मनुष्यसमाज में अधिक संस्कृत होते हैं उन्हें ये आज्ञायें बड़ी स्पष्ट सुनाई पड़ा करती हैं। जो निरन्तर पापाचारी होते हैं उन्हें ये आवाजें सुनाई पड़नी बन्द हो जाती हैं। जिन्हें ये आज्ञायें स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं उन्होंने ही उन आवाजों को साधारण लोगों के उपकार के लिये, उनके अन्दर की मुर्दा आवाज को जगाने के लिए और उसके अनुकूल उनका आचरण कराने के लिये, पुस्तकों में लिख दिया है। ऐसे ये लेख ही 'श्रुति' और 'स्मृति' हैं। यों 'श्रुति' और 'स्मृति' ईश्वर की आज्ञायें हैं। वेदों के अपौरुपेय होने का कारण भी यही है कि ये आवाजें बनायी नहीं जाती किन्तु ऐसी की ऐसी ही साधक लोगों को—सत्यान्वेषी लोगों को सुनाई पड़ा करती हैं। सुनाई पड़ने के कारण ही उनको 'श्रुति' कहा है।

आज्ञाया भीतिहेतुत्वं भीषास्मादिति हि श्रुतम्।
सर्वेश्वरत्वमेतत् स्यादन्तर्यामित्वतः पृथक् ॥१८०॥

भीपास्माद्वातः पवते तै० २–८ इत्यादि श्रुतियों में आज्ञा के द्वारा ईश्वर को भय का कारण बताया गया है। [आज्ञा के कारण] उस ईश्वर में जो 'सर्वेश्वरता' आती है वह 'अन्तर्यामि-पने' से पृथक् ही एक धर्म है।

'अन्तर्यामी' वह है जो हम सब को अन्दर से अपने बस

में किये बैठा है। 'सर्वेश्वर' वह है जिसने इस बाह्य जगत् पर आधिपत्य जमा रक्खा है। वायु को बहने का, अग्नि को जलने का, सूर्य को चक्कर काटते रहने का, मृत्यु को मारने का आदेश जो दिया करता है वही 'सर्वेश्वर' है। वही एक तत्व शरीरों के अन्दर रहकर उनका नियमन करके 'अन्तर्यामी' कहा जाता है। वही एक तत्व शरीरों से बाहर सब भूत भौतिक पदार्थों का नियमन करके 'सर्वेश्वर' कहाने लग जाता है।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः।
अन्तः प्रविष्टः शास्तायं जनानामिति च श्रुतिः॥१८१॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृते तिष्ठतः (बृ. ३–८–९) इस श्रुति में ईश्वर को बाह्य नियामक किंवा 'सर्वेश्वर' कहा है। अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् इस श्रुति में ईश्वर को अन्दर का नियामक किंवा 'अन्तर्यामी' बताया गया है।

जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः।
आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ॥१८२॥

उत्पत्ति और विनाश दोनों ही को करने वाला होने से, यही जगत् का योनि है। यहां उत्पत्ति और प्रलय का अभिप्राय आविर्भाव और तिरोभाव है [यों तो उत्पत्ति और विनाश किसी वस्तु का होता हीं नहीं, केवल इतना ही होता है कि कभी वह वस्तु प्रकट हो जाती है और कभी तिरोभूत हो जाती है।]

आविर्भावयति स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगत्।
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत् प्रसारितः॥१८३॥

जैसे लपेटा हुआ चित्रपट जब फैला दिया जाता है तब

अपने में छिपे हुए चित्रों को प्रकट कर देता है [वनाता नहीं] इसी प्रकार यह ईश्वर अपने में विलीन हुए सम्पूर्ण जगत् को प्राणियों के कर्मों के अनुसार, आविर्भूत कर दिया करता है।

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत्।
प्राणिकर्मक्षयवशात् संकोचितपटो यथा ॥१८४॥

जिस प्रकार लपेटा हुआ कपड़ा, अपने चित्रों को छिपा लेता है, इसी प्रकार जब प्राणियों के भोगदायी कर्म क्षीण होजाते हैं तब फिर यही ईश्वर अपने आपे में ही इस सम्पूर्ण जगत् को छिपा वैठता है।

रात्रिघस्रौ सुप्तिबोधा वुन्मीलननिमीलने।
तूष्णींभावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ॥१८५॥

ये सृष्टि तथा प्रलय तो ठीक ऐसे ही हैं जैसे कि दिन और रात, स्वप्न तथा जागरण, उन्मेप और निमेष, चुपचाप रहना और मनोराज्य करना होता है। [ये काम जीव के हैं तथा सृष्टि प्रलय आदि ईश्वर के काम हैं।]

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्वेन हेतुना।
आरम्भपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः ॥१८६॥

आविर्भाव और तिरोभाव दोनों ही शक्तियों वाला होने के कारण, आरम्भवाद और परिणामवाद आदि की तो संभावना ही नहीं है। अद्वितीय पदार्थ आरम्भक नहीं हो सकता तथा निरवयव का परिणाम होना भी सम्भव नहीं है। केवल विवर्त-वाद ही एक निष्कण्टक मार्ग है।

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा।
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ॥१८७॥

वही ईश्वर अपने जाड्यांश से तो अचेतनों का उपादान है, तथा वही अपने चिदाभासांश से जीवों का कारण हो जाता है ।

तमःप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ।
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ॥१८८॥
इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता ।
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ॥१८९॥

भावना [संस्कार] ज्ञान तथा [पुण्यापुण्यरूपी] कर्मों के निमित्त से, वह परमात्मा जब जब तमःप्रधान होता है तब तब तो क्षेत्र अर्थात् शरीरादि का कारण हो जाता है तथा जब जब चित्प्रधान होता है तब तब चिदात्माओं का कारण बन जाता है । इस प्रकार वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने तो जड और चेतन का हेतु परमात्मा को ही बताया है, ईश्वर को नहीं, तो इस का उत्तर भी सुन लो ।

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ॥१९०॥

त्वंपद के अर्थ जीव और कूटस्थ में जैसे अन्योन्याध्यास होता है इसी प्रकार तत्पद के अर्थ जो ईश्वर और ब्रह्म हैं उनमें भी अन्योन्याध्यास की विवक्षा करके ही सुरेश्वराचार्य ने परमात्मा को जड और चेतन का हेतु कह दिया है [नहीं तो उनको जड और चेतन का कारण ईश्वर को ही कहना चाहिये था ।]

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म तस्मात् समुत्थिताः ।
खं वाय्वग्निजलोर्व्योपध्यन्नदेहा इति श्रुतिः ॥१९१॥

सुरेश्वर ने ही नहीं श्रुति ने भी तो कहा है कि सत्य ज्ञान तथा अनन्त जो ब्रह्म है उससे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ओषधि, अन्न, तथा देह उत्पन्न हो गये हैं [श्रुति ने भी सुरेश्वराचार्य की तरह ही ईश्वर और ब्रह्म तत्व का अन्योन्याध्यास मानकर ही यह बात कही है।]

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता ।
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ॥१९२॥

इस श्रुति में बताया हुआ, सत्य आदि लक्षणोंवाला, निर्गुण ब्रह्म, आपातदृष्टि से [अधिक गम्भीर विचार न करें तो] जगत् का कारण प्रतीत होता है और यों जगत् को बनाने वाला जो मायाधीन चिदाभास है, वही आपातदृष्टि से सत्य प्रतीत होता है। ये दोनों ही बातें [प्रतीतियें] अन्योन्याध्यास के विना कैसे बनें ? इसी से इस श्रुति को देखकर अन्योन्याध्यास का होना हमने माना है ।

अन्योन्याध्यासरूपोसावन्नलिप्तपटो यथा ।
घट्टितेनैकतामेति तद्वद् भ्रान्त्यैकतां गतः ॥१९३॥

मांडी लगाया हुआ कपड़ा जैसे कूटने पीटने घोटने मांजने से एक [गफ़] हो जाता है , इसी प्रकार अन्योन्याध्यासरूप यह ईश्वर केवल भ्रान्ति के ही कारण एकभाव को प्राप्त हो गया है [वैसे तो ब्रह्म और माया के अधीन चिदाभास पृथक् पृथक् ही हैं]।

मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ।
तद्वद् ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः ॥१९४॥

पामर [थोड़ी बुद्धिवाले] लोग जैसे मेघाकाश और महा-

काश में विवेक नहीं किया करते, इसी प्रकार आपातदर्शी [अथवा स्थूल विचारक] लोग ब्रह्म और ईश्वर को एक ही समझ बैठते हैं। [इन दोनों के भेद को वे नहीं जानते]।

उपक्रमादिभिर्लिङ्गै स्तात्पर्यस्य विचारणात्।
असङ्गं ब्रह्म, मायावी सृजत्येष महेश्वरः ॥१९५॥

उपक्रमोपसंहारा वभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये। इन उपक्रम आदि छः लिंगों से जब श्रुति के तात्पर्य का विचार किया जाता है, तब यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म तो असंग ही है [यह कुछ भी करता धरता नहीं है] इस जगत् का सर्जन तो यह मायावी महेश्वर ही किया करता है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम्।
यतो वाचो निवर्तन्त इत्यसङ्गत्वनिर्णयः ॥१९६॥

'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म'(तै. २–१) यों इस वाक्य से प्रारम्भ करके 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै. २–४) यहाँ तक के सन्दर्भ से ब्रह्म की असंगता का निर्णय किया गया है। [फिर उस असंग ब्रह्म से जगत् का सर्जन कैसे हो सकेगा]?

मायी सृजति विश्वं संनिरुद्धस्तत्र मायया।
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥१९७॥

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः (श्वे. ४–९) इस दूसरी श्रुति ने तो स्पष्ट ही कहा है कि मायी तो इस जगत् को बनाता है, परन्तु दूसरा बिचारा जीव, माया के वस इस में क़ैद हो गया है। इस श्रुति से सिद्ध होता है कि ईश्वर ही इस जगत् का स्रष्टा है ब्रह्म नहीं है [तथा जीव इस जगत् में बँध गया है।]

आनन्दमय ईशोयं वहु स्यामित्यवैक्षत ।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत् सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥१९८॥

[आनन्दमय ईश्वर ही जगत् का कारण है यह सिद्ध हो चुका । उससे जगत् की उत्पत्ति कैसे होती है वह रीति अव वतायी जाती है] गाढ निद्रा का ही जैसे [पिछली रात में] स्वप्न हो जाता है, इसी प्रकार इस आनन्दमय ईश्वर ने पड़े पड़े यह विचार किया कि 'अव मैं वहुरूप हो जाऊँ'। इस विचार के करते ही वस वह हिरण्यगर्भरूप हो गया। मानो सुप्ति का ही सुपना वन गया ।

क्रमेण युगपद्वैषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति ।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद् द्विविधस्वप्नदर्शनात् ॥१९९॥

श्रुति के कथनानुसार क्रम से अथवा एक साथ ही यह सृष्टि उत्पन्न होगयी, यह जान लेना चाहिये । क्योंकि दोनों ही प्रकार की श्रुतियें विद्यमान हैं, तथा दोनों ही प्रकार के स्वप्न भी देखे जाते हैं। [तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: संभूतः (तै. २–१) इत्यादि श्रुति में क्रमोत्पन्न सृष्टि का वर्णन है । इदं सर्वमसृजत (बृह. १–२–५) इत्यादियों में युगपत् सृष्टि का वर्णन आता है । श्रुत्यनुकूल होने से दोनों ही वातें माननीय हैं। लोक में भी दो तरह के स्वप्न देखे जाते हैं—किसी स्वप्न में तो क्रम से पदार्थ उत्पन्न होते हैं, तथा किसी में सव के सव पदार्थ एक साथ उत्पन्न हो पड़ते हैं]।

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः ।
सर्वाहंमानधारित्वात् क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ॥२००॥

[पट में जैसे सूत्र अनुस्यूत हो रहा है उस की तरह, जगत्

में अनुस्यूत रहनेवाले उस] सूत्रात्मा [हिरण्यगर्भ] को सूक्ष्म देह भी कहते हैं। सम्पूर्ण [व्यष्टि लिंग शरीरों] में अहंभाव का अभिमान करने के कारण वह सूत्रात्मा [लिंग शरीररूपी उपाधि वाले] सम्पूर्ण जीवों की समष्टि रूप है, उस सूत्रात्मा में 'इच्छा, ज्ञान, तथा क्रिया' ये तीन शक्तियें रहती हैं। [समष्टि का स्वभाव इस व्यष्टियों में भी पाया जाता है। हमें पहले किसी पदार्थ का ज्ञान होता है, फिर उसकी इच्छा होती है फिर उसके लिये क्रिया या उद्योग किया जाता है। यों यह सारा संसार ज्ञान, इच्छा और क्रिया के ही अनन्त भँवर में चक्कर काटता रहता है। तत्त्वज्ञान होजाने पर ज्ञान इच्छा और क्रिया का यह चक्कर बन्द हो जाता है।

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मन्दे तमस्ययम्।
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ॥२०१॥

जैसे प्रातःकाल या सायंकाल के समय यह जगत् मन्द अन्धकार में डूबा हुआ धुँधला धुँधला दीखा करता है, इसी प्रकार इस हिरण्यगर्भावस्था में यह जगत् अस्पष्ट रूप से दीखा करता है। [हिरण्यगर्भ की अवस्था हमारी मनोराज्य की अवस्था जैसी है]।

सर्वतो लाञ्छितो मष्या यथा स्याद् घट्टितः पटः।
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लाञ्छितम् ॥२०२॥

जिस प्रकार कलफ़ किये हुए सम्पूर्ण कपड़े पर, [रंग भरने के लिये] स्याही से आकार बना दिये जाते हैं, इसी प्रकार इस [मायी हिरण्यगर्भ नाम के] महेश्वर का शरीर भी [अपंचीकृत भूतों से बने हुए] लिंग शरीरों से सभी जगह लाञ्छित हुआ रहता है।

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽङ्कुरितं यथा ।
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदङ्कुरः ॥२०३॥

अथवा दूसरे दृष्टान्त से इसी बात को यों समझो कि— जैसे अन्न के पेड़ या शाक के पौदे चारों ओर से बहुतायत से अंकुर फूटते समय कोमल हो जाते हैं, इसी प्रकार यह [हिरण्य-गर्भ नाम का] जगदङ्कुर भी [सृष्टिनिर्माण के लिये] नरम हो जाता है ।

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः ।
सस्यं वा फलितं यद्वत् तथा स्पष्टवपुर्विराट् ॥२०४॥

पंचीकृत भूतों या उनके कार्यों की उपाधि वाले विराट् का शरीर तो इतना विषद हो जाता है, मानो धूप से प्रकाशित होने वाला जगत् ही हो, अथवा रंगभरा हुआ कोई कपड़ा ही हो, अथवा किसी सस्य पर फलों के गुच्छे लटक आये हों ।

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे ।
धात्रादिस्तम्बपर्यन्तानेतस्यावयवान् विदुः ॥२०५॥

विश्वरूपाध्याय के पुरुषसूक्त में जो वर्णन है वह इसी 'विराट्' का है । ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त जगत् को इसी वराट् का अवयव बतांया जाता है ।

ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवन्हयः ।
विघ्नभैरवमैरालमरिकायक्षराक्षसाः ॥ २०६ ॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः ।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ॥२०७॥
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्यकुद्दालकादयः ।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ॥२०८॥

ईश [अन्तर्यामी] हिरण्यगर्भ,विराट्, ब्रह्मा, विष्णु,महेश, इन्द्र, अग्नि, गणेश, भैराल, मरिका, यक्ष,राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र, गौ, घोड़ा, मृग, पक्षी, पीपल, बढ़, आम आदि वृक्ष जौ, धान, तिनके आदि ओषधियां, जल, पाषाण मिट्टी, काठ, यहां तक कि विसोला और कुदाल तक ये सभी ईश्वर हैं। जब कोई इनकी पूजा करता है तब ये [अपनी अपनी शक्ति के अनुसार] उसको फल दे देते हैं।

यथायथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥२०९॥

उस ईश्वर की जैसे जैसे उपासना करते हैं, वैसे वैसे ही फल मिल जाते हैं। [जब कि ये सभी ईश्वर हैं तब समान ही फल मिलना चाहिये था। परन्तु] फल की जो न्यूनाधिकता होती है वह तो पूज्यों और पूजाओं के अनुसार हो जाती है [घट बढ़ जाती है। पूज्यों और पूजाओं के सात्विक राजस आदि होने से भिन्न भिन्न फल मिल जाते हैं।]

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥२१०॥

[सांसारिक फलों की प्राप्ति इन छोटे मोटे ईश्वरों से हुआ करो, परन्तु] मुक्ति तो ब्रह्मतत्व के ज्ञान से ही होती है। इस के अतिरिक्त मुक्ति का कोई भी अन्य मार्ग नहीं है। देखते नहीं हो कि—अपने जागे विना [अपनी निद्रा ने जिस स्वप्न को बना रखा है उस] अपने सुपने का भंग नहीं होता है। [इस दृष्टान्त से यह बात समझ लेनी चाहिये कि आत्मतत्व को जाने विना, आत्मतत्व को न जानने से ही बना हुआ, यह अपना संसार रूपी सुपना कदापि निवृत्त न हो सकेगा]।

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥२११॥

ईश्वर और जीव आदि के रूप से वर्तमान जो यह जडात्मक और चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् है यह सब उस अद्वितीय ब्रह्मतत्व में एक [बड़ा] सुपना है [क्योंकि यह सब अद्वितीय ब्रह्मतत्व को ही तो अन्यथा समझ लिया गया है] ।

सुपना 'सुपना' है, यथार्थ ज्ञान नहीं है यह बात जागने से पहले मालूम नहीं पड़ सकती, जागने पर ही यह मालूम पड़ा करता है। इसी प्रकार 'यह जगत् एक सुपना है, ऐसा ज्ञान ब्रह्मविद्या नाम के जागरण के हो जाने पर ही हो सकता है, पहले नहीं ।

आनन्दमयविज्ञानमया वीश्वरजीवकौ ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥२१२॥

आनन्दमय और विज्ञानमय जिनको ईश्वर और जीव भी कहते हैं, दोनों ही माया के कल्पित किये हुए हैं। [इस कारण ये ईश्वर तथा जीव यद्यपि ब्रह्म से अभिन्न हैं तौ भी ये जगत् के अन्दर की ही वस्तुएँ हैं, ये जगत् के बाहर की वस्तुएँ नहीं हैं]। इन ईश्वर और जीव दोनों ने मिलकर पीछे से यह सब कल्पित कर डाला है ।

विज्ञान के बाद आनन्द आता है। विज्ञान भिन्न भिन्न होते हैं। आनन्द सब को एक जैसा ही आता है। शूकर को शूकरी से जितना आनन्द आता है, राजा को रानी से भी उतना ही—उस जैसा ही आनन्द आता है। यों आनन्द नाम का जो ईश्वर तत्व है वह एक जैसा है—एक है। परन्तु आनन्द को प्रकट

करनेवाले—उसका दर्शन करने वाले,जो विज्ञानमय हैं, वे भिन्न भिन्न हैं। यही तो ईश्वर और जीव का वेदान्तसम्मत भेद है। ये दोनों ही माया के कल्पित हैं।

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥२१३॥

[ईश्वर और जीव इन दोनों में से किसने कितना जगत् बनाया है सो भी सुनो] 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा' (ऐ.१–१) से लेकर 'एतया द्वारा प्रापद्यत'(ऐतरे. ३–१२) तक कही गयी ईक्षण से लेकर प्रवेशपर्यन्त सृष्टि तो ईश्वर की बनाई हुई है। तस्य त्रय आवसथा (ऐत. ३–१२) से लेकर 'स एतमेव ब्रह्म ततमपश्यत्' (ऐतरे.३–१३) तक वर्णन किये हुए जाग्रत् से लेकर मोक्षपर्यन्त संसार को जीव ने बना लिया है। इसका विशेष विस्तार तृप्ति-दीप के चतुर्थ श्लोक में है।

अद्वितीयं ब्रह्मतत्व मसङ्गं तन्न जानते।
जीवेशयो र्मायिकयो र्वृथैव कलहं ययुः ॥२१४॥

इस संसार में जो एक अद्वितीय तथा असंग ब्रह्मतत्व है उसको तो ये पहचानते ही नहीं हैं और फिर वृथा ही माया-कल्पित जीव तथा मायाकल्पित ईश्वर के विषय में परस्पर लड़े मरे जाते हैं। [इन किसी को भी श्रुतिसिद्ध परमार्थ तत्व का परिज्ञान नहीं हैं। ये तो ईश्वर को अपने से भिन्न राजा की तरह का एक शासक समझते हैं। विद्वान ज्ञानी नीतिनिपुण पुरुष उसी ईश्वर के कहने से प्रशंसनीय व्यवहार करता है। उसका ईश्वर उससे अच्छा व्यवहार कराता है। दूसरे प्रकार के पुरुष दूसरी तरह का वर्ताव करते हैं। उनका ईश्वर उनसे

अद्वितीयब्रह्मतत्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥२११॥

ईश्वर और जीव आदि के रूप से वर्तमान जो यह जडात्मक और चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् है यह सब उस अद्वितीय ब्रह्मतत्व में एक [बड़ा] सुपना है [क्योंकि यह सब अद्वितीय ब्रह्मतत्व को ही तो अन्यथा समझ लिया गया है] ।

सुपना 'सुपना' है, यथार्थ ज्ञान नहीं है यह बात जागने से पहले मालूम नहीं पड़ सकती, जागने पर ही यह मालूम पड़ा करता है । इसी प्रकार 'यह जगत् एक सुपना है, ऐसा ज्ञान ब्रह्मविद्या नाम के जागरण के हो जाने पर ही हो सकता है, पहले नहीं ।

आनन्दमयविज्ञानमया वीश्वरजीवकौ ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥२१२॥

आनन्दमय और विज्ञानमय जिनको ईश्वर और जीव भी कहते हैं, दोनों ही माया के कल्पित किये हुए हैं। [इस कारण ये ईश्वर तथा जीव यद्यपि ब्रह्म से अभिन्न हैं तौ भी ये जगत् के अन्दर की ही वस्तुएँ हैं, ये जगत् के बाहर की वस्तुएँ नहीं हैं]। इन ईश्वर और जीव दोनों ने मिलकर पीछे से यह सब कल्पित कर डाला है ।

विज्ञान के बाद आनन्द आता है। विज्ञान भिन्न भिन्न होते हैं । आनन्द सब को एक जैसा ही आता है । शूकर को शूकरी से जितना आनन्द आता है, राजा को रानी से भी उतना ही— उस जैसा ही आनन्द आता है । यों आनन्द नाम का जो ईश्वर तत्व है वह एक जैसा है—एक है । परन्तु आनन्द को प्रकट

करनेवाले—उसका दर्शन करने वाले,जो विज्ञानमय हैं, वे भिन्न भिन्न हैं। यही तो ईश्वर और जीव का वेदान्तसम्मत भेद है। ये दोनों ही माया के कल्पित हैं।

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥२१३॥

[ईश्वर और जीव इन दोनों में से किसने कितना जगत् वनाया है सो भी सुनो] 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा' (ऐ.१–१) से लेकर 'एतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐतरे. ३–१२) तक कही गयी ईक्षण से लेकर प्रवेशपर्यन्त सृष्टि तो ईश्वर की वनाई हुई है। तस्य त्रय आवसथा (ऐत. ३–१२) से लेकर 'स एतमेव ब्रह्म ततमपश्यत्' (ऐतरे.३–१३) तक वर्णन किये हुए जाग्रत् से लेकर मोक्षपर्यन्त संसार को जीव ने वना लिया है। इसका विशेप विस्तार तृप्ति-दीप के चतुर्थ श्लोक में है।

अद्वितीयं ब्रह्मतत्व मसङ्गं तन्न जानते।
जीवेशयो र्मायिकयो र्वृथैव कलहं ययुः ॥२१४॥

इस संसार में जो एक अद्वितीय तथा असंग ब्रह्मतत्व है उसको तो ये पहचानते ही नहीं हैं और फिर वृथा ही माया-कल्पित जीव तथा मायाकल्पित ईश्वर के विपय में परस्पर लड़े मरे जाते हैं। [इन किसी को भी श्रुतिसिद्ध परमार्थ तत्व का परिज्ञान नहीं हैं। ये तो ईश्वर को अपने से भिन्न राजा की तरह का एक शासक समझते हैं। विद्वान ज्ञानी नीतिनिपुण पुरुष उसी ईश्वर के कहने से प्रशंसनीय व्यवहार करता है। उसका ईश्वर उससे अच्छा व्यवहार कराता है। दूसरे प्रकार के पुरुप दूसरी तरह का वर्ताव करते हैं। उनका ईश्वर उनसे

बुरा व्यवहार कराता है। यों ईश्वरतत्व प्राणियों का भागी बन कर रहता है। वह उनसे भिन्न कोई तटस्थ शासक कदापि नहीं है।

ज्ञात्वा सदा तत्वनिष्ठा नतु मोदामहे वयम्।
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रान्ते विंवदामहे ॥२१५॥

उस अद्वितीय ब्रह्मतत्व को जब से हम पहचान गये हैं, तभी से तत्वनिष्ट होकर हम तो बड़े ही प्रसन्न रहने लगे हैं। जिन मन्द भागियों को इस तत्व का ज्ञान नहीं हुआ है उन पर तो हमें केवल थोड़ा सा शोक ही होता है। भ्रान्ति में फँसकर हम उनके साथ विवाद करना पसन्द नहीं करते हैं।

तृणार्चकादियोगान्ता ईश्वरे भ्रान्तिमाश्रिताः।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः॥२१६॥

तृणपूजकों से लेकर योग पर्यन्त वादियों को 'ईश्वरतत्व' के विषय में भ्रान्ति हो रही है। लोकायत से लेकर सांख्य पर्यन्त वादियों को 'जीव' के विषय में बड़ा भ्रम हो रहा है।

अद्वितीयब्रह्मतत्वं न जानन्ति यदा तदा।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम्॥२१७॥

जो अद्वितीय ब्रह्मतत्व को नहीं जानते हैं वे तो सभी भ्रान्त हैं। उनको मर जाने पर न तो विदेहमुक्ति ही मिलती है और न इस लोक में ही वे सुख पा सकते हैं।

तत्वज्ञान न होने से इन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी तथा वैराग्य-सम्पन्न होने के कारण इस लोक के सुखों से भी ये लोग स्वयं ही परहेज कर बैठेंगे। यों ये दोनों सुखों से वंचित होजांयगे।

उत्तमाधमभावश्चेत् तेषां स्यादस्तु तेन किम्।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु॥२१८॥

ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त और विद्याओं के कारण यदि उनमें ऊँच नीच भाव होता हो तो हुआ करो। ऐसे उत्तमाधम भाव से मुमुक्षु लोगों को लाभ ही क्या? देखते नहीं हो कि सुपने में राज्य करने से और सुपने में भीख माँगने से, जागे हुए आदमी का कुछ भी घटता बढ़ता नहीं है।

तस्मान्मुमुक्षुभि र्नैव मतिर्जीवेशवादयोः।
कार्या, किन्तु ब्रह्मतत्वं विचार्य बुध्यतां च तत् ॥२१९॥

इस कारण हमारा तो यही कहना है कि—जो लोग मुक्ति चाहते हों, वे 'जीववाद' और 'ईश्वरवाद' के झगड़े में कभी भी न पड़ें। उन्हें तो चाहिये कि वे सदा ब्रह्मतत्व का ही विचार करें और विचार करं उस ब्रह्मतत्व को पहचान जाँय।

पूर्वपक्षतया तौ चेत् तत्वनिश्चयहेतुताम्।
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयो र्नैतावताऽवशः ॥२२०॥

यदि तो वे जीववाद और ईश्वरवाद पूर्वपक्ष रूप से तत्व का निश्चय करने में सहायक होते हों तो हमें कुछ कहना नहीं है। हम तो केवल यही कहते हैं कि—इतने मात्र से तुम इन दोनों के विचार में ही बेवस होकर डूबे न रह जाओ [अपने विवेकज्ञान को हाथ से खो मत बैठो]।

असङ्गचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः।
योगोक्तस्तत्त्वमोरथौं शुद्धौ ताविति चेच्छृणु ॥२२१॥
न तत्त्वमोरुभावर्थौ वसात्सिद्धान्ततां गतौ।
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ॥२२२॥

सांख्य ने जीव को असङ्ग चेतन और व्यापक बताया है।

योग का बताया हुआ ईश्वर भी वैसा ही [असंग चेतन और व्यापक] है। ये ही तो 'तत्' और 'त्वं' के शुद्ध अर्थ हैं [इस को तो आप भी मानते ही हो, फिर उन्हें पूर्वपक्ष क्यों बताते हो] इसका उत्तर सुनो ॥२२१॥ तत् और त्वं के ये दोनों अर्थ हमारा सिद्धान्त नहीं है [वे तो इन दोनों में वास्तव भेद मानते हैं। हमें वह भेद (तात्विक रूप से) स्वीकार ही नहीं है।] हमने जो कहीं कहीं भिन्न भिन्न 'तत्' 'त्वं' पदार्थों का निरूपण किया है, वह तो अद्वैत का ज्ञान कराने के लिये एक रीति सोची है। [हमने सोचा है कि लोकप्रसिद्ध भेद को हटाकर, उन दोनों को एक बताने के लिये पहले उन दोनों को अलग अलग समझाया जाय, और पीछे से उन दोनों को एक कह दिया जाय। उन दोनों के भेद का प्रतिपादन करना तो हमें कदापि अभीष्ट नहीं है]।

अनादिमायया भ्रान्ता जीवेशौ सुविलक्षणौ।
मन्यन्ते, तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥२२३॥

अनादि अविद्या के प्रताप से जो पुरुष भ्रान्ति में फँसे हुए हैं, वे जीव और ईश्वर को अत्यन्त भिन्न चीज़ मानते हैं [वे समझते हैं कि—कर्तृत्वआदि धर्म वाला तो जीव है, तथा सर्वज्ञता आदि गुणों वाला ईश्वर है। वे इन दोनों के धर्मों को पारमार्थिक ही मानते हैं। इस कारण इन दोनों को भी पृथक् पृथक् मानते हैं] हमने तो इनके इस भ्रान्त विचार को हटाने के लिये ही उन दोनों ['तत्' 'त्वं'] का शोध किया है।

अत एवात्र दृष्टान्तो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः।
घटाकाश-महाकाश-जलाकाशाभ्रखात्मकः ॥२२४॥

क्योंकि हमें पदार्थ का शोध करना है इसी से घटाकाश, महाकाश, जलाकाश तथा अभ्राकाश का योग्य दृष्टान्त हमने पहले दिया था। [इस दृष्टान्त में मूलतत्व एक ही है। उपाधिभेद से उसी के अनेक नाम हो गये हैं]

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे, तयोः।
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ॥२२५॥

जलाकाश तथा मेघाकाश दोनों ही जल तथा मेघरूपी उपाधियों के अधीन होते हैं इसी से वे दोनों अपारमार्थिक भी हैं। किन्तु उन दोनों के आधार बने हुए जो घटाकाश और महाकाश हैं वे तो सुनिर्मल ही रहते हैं। [क्योंकि यदि जलादि उपाधियों की उपेक्षा कर दी जाय तो वे केवल आकाश ही आकाश तो हैं]।

एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ।
तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥२२६॥

ठीक ऊपर के दृष्टान्त के अनुसार ही 'आनन्दमय' और 'विज्ञानमय' दोनों ही क्रम से 'माया' तथा 'बुद्धि' के वशवर्ती हैं। उनके अधिष्ठान कूटस्थ तथा ब्रह्म तो सुनिर्मल ही रहते हैं।

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि।
देहोऽन्नमयकक्षत्वा दात्मत्वेनाभ्युपेयताम् ॥२२७॥

इस कक्षा में कुछ उपयोगी होजाने से ही यदि सांख्य और योग के मत को मानोगे तो फिर अन्नमय कक्षा में उपयोगी होने से देह को भी आत्मा मानना पड़ जायगा।

पुत्रादि आत्मा नहीं है इसका निश्चय कराने के लिए देह को भी आत्मा मानना उपयोगी हो जाता है, तो क्या देह को

ही आत्मा मान लें? आत्मा के असंग स्वरूप का निश्चय करने के लिये सांख्य योग की सब बातों को कैसे मान बैठें?

आत्मभेदो जगत्सत्य मीशोऽन्य इति चेत् त्रयम्।
त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः ॥२२८॥

(१) आत्माओं की अनेकता, (२) जगत् की सत्यता, (३) और ईश्वर की आत्मा से भिन्नता, विरोध करनेवाली ये तीनों बातें यदि वे छोड़ दें, तो सांख्य, योग तथा वेदान्त की सम्मति हो सकती है। [वे लोग जीवों का भेद मानते हैं, जगत् को वे सत्य बताते हैं, ईश्वर को वे तटस्थ कहते हैं, फिर उनका हमारा विरोध कैसे टले?]

जीवासङ्गत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा।
स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ॥२२९॥

यदि यह समझा जाय कि हम जीव की असङ्गता को जान लेने से ही कृतकृत्य (मुक्त) हो जायेंगे, इस अद्वैत ज्ञान का क्या करें? उसका समाधान यह है कि—फिर तो स्रक् चन्दनादि भोगों को नित्य किंवा सदा रहनेवाला समझ लेने से भी कृतार्थता हो सकती है। [बहुत से लोग स्रगादि भोगों को नित्य मान बैठे हैं तो क्या वे इतने से ही कृतार्थ हो सकते हैं? अगले श्लोक को पढ़ने से इसका भाव स्पष्ट हो जायगा।]

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथात्मनः।
असंगत्वं न संभाव्यं जीवतो जगदीशयोः ॥२३०॥

जिस प्रकार कि माला आदि पदार्थों की नित्यता [का सिद्ध होना] असंभव है, इसी प्रकार जब तक जीव और जगदीश

जीवित हैं [जब तक ये दोनों किसी को भास रहे हैं] तब तक आत्मा की असंगता का ज्ञान होना भी असंभव ही समझ लो [अद्वैत ज्ञान के विना असंगता का बोध हो ही नहीं सकता यह यहां गुप्त भाव है]

अवश्यं प्रकृतिः सङ्गं पुरेवापादयेत् तथा ।
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ॥२३१॥

[अपने आपको असंग समझ कर जो कृतकृत्य हो बैठा है] यह प्रकृति पहले की तरह [जैसे कि उसने पहले असंग में संग कर रक्खा था] फिर भी उसमें संग पैदा कर ही देगी। ईश्वर भी अपना शासन उस पर पूर्ववत् रक्खेंगे ही। फिर बताओ कि उस बिचारे का यह मोक्ष ही क्या हुआ ?

अविवेककृतः सङ्गो नियमश्चेति चेत् तदा ।
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ॥२३२॥

सङ्ग और नियमन दोनों ही अविवेक से उत्पन्न हुआ करते हैं [फिर जब एक बार विवेक ज्ञान से अविवेक मर जायगा तब सङ्ग या नियमन की उत्पत्ति हो ही कैसे सकेगी ?] ऐसा यदि सांख्य कहता हो तब तो वह अविचारशील ज़बरदस्ती [न चाहने पर भी] मायावादी हो जाता है। [भाव यह है कि यदि उस अविवेक को अभावमात्र मानें, तब तो उससे भाव रूप कार्य की उत्पत्ति ही कैसे हो सकेगी ? यदि और किसी को संग का कारण मानें तो अविवेक को छोड़कर और कोई पदार्थ सङ्ग को उत्पन्न करने का कारण देखा ही नहीं गया। फिर जब उस अविवेक को भावरूप अज्ञान माना जायगा, तब इसी को तो मायावाद कहा जायगा।]

बन्धमोक्षव्यवस्थार्थ मात्मनानात्वमिष्यताम् ।
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ॥२३३॥

अद्वैत को मानें तो यह प्रत्यक्ष दीखने वाली बन्धमोक्ष व्यवस्था नहीं बनती। इस बन्धमोक्ष व्यवस्था को बनाने के लिये आत्माओं को नाना मान लेना चाहिये, यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि आत्मा तो एक ही है। तुम्हारी इस बन्धमोक्षव्यवस्था को तो माया ही व्यवस्थित कर सकती है [इतने से काम के लिये आत्मभेद मान लेना ठीक नहीं है।]

'दुर्घटं घटयामीति' विरुद्धं किं न पश्यसि ।
वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम् ॥२३४॥

क्या तुमने माया की विरुद्ध भाषा (बोली) नहीं सुनी है ? वह कहती है कि जो बात दुर्घट है [हो नहीं सकती है] उसे ही मैं कर सकती हूँ। विचार कर देख लो कि सच्चे बन्ध या सच्चे मोक्ष को तो श्रुति सहती ही नहीं [अनादेरन्तवत्वं च संसारस्य न सेत्स्यति। अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति। यदि इस संसार को अनादि मानलें तो फिर इसका अन्त कभी नहीं होगा। यदि मोक्ष को प्रारम्भ होने वाला मान लें तो फिर यह अनन्त भी नहीं हो सकेगा। यही कारण है कि श्रुति सच्चे बन्धमोक्ष नहीं मानती। वह तो कहती है कि—]

न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षु र्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥२३५॥

न कभी आत्मा का नाश होता है। न यह आत्मा कभी देह के सम्बन्ध में आता है। न इसे कभी सुख दुःख होते हैं। न यह कभी श्रवणादि साधनों का अभ्यास करता है। न इसमें कभी

मुमुक्षुभाव ही रहता है और न कभी यह मुक्त ही होता है। यही परमार्थ है। [निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधक भाव, मुमुक्षुत्व तथा मुक्ति यह कुछ भी वास्तविक नहीं है। ये सब तो आत्म-सागर में आने वाली क्षुद्र लहरें हैं। ये सब तो आत्मसमुद्र में उठ खड़े हुए तुच्छ बुलबुले हैं। समुद्र के गम्भीर अन्तस्तल के नाईं यह आत्मसागर सदा शान्त और एक-रस ही बना रहता है। उपर्युक्त घटनाओं में से एक भी घटना पारमार्थिक नहीं है। बस यही सम्पूर्ण शास्त्रों का निचोड़ किंवा परमार्थ बात है]।

मायाख्यायाः कामधेनो र्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छं पिवतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥२३६॥

इस सब कथन का सारांश तो यही है कि माया नाम की एक कामधेनु है, उसके दो बच्चे हैं, एक का नाम 'जीव' है दूसरे का नाम 'ईश्वर' है। वे दोनों बच्चे द्वैत रूपी दूध को भले ही पेट भर भर पीते रहें [वे इसमें किलोलें किया करें] परन्तु तत्व तो अद्वैत ही है।

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते न हि ।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्यते न हि क्वचित् ॥२३७॥

कूटस्थ और ब्रह्म [दोनों ही पारमार्थिक हैं परन्तु इनका भेद पारमार्थिक नहीं है क्योंकि इन] का भेद तो नाम मात्र के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है [इनका भेद तो कहने ही कहने को है] जैसे घटाकाश और महाकाश [कहने ही कहने को पृथक् पृथक् होते हैं वस्तुतः इन दोनों] का पार्थक्य कभी नहीं होता।

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक्, तदेवाद्य, चोपरि।
मुक्तावपि, वृथा माया भ्रामयत्यखिलान् जनान् ॥२३८॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छा० ६–२–१) इस श्रुति में सृष्टि की उत्पत्ति से पहले जिस अद्वैत ब्रह्मतत्व का प्रतिपादन किया गया है, वही अद्वैत तत्व तीनों कालों में रहता है—वही आज भी मौजूद है और भविष्यत् में मुक्ति हो जाने पर भी वही बना रहेगा [इतना होने पर भी सभी को जो भेद का पक्षपात हो रहा है उसका कारण तो यह है कि] इस माया ने इन लोगों को वृथा ही भरमा रक्खा है [तत्व ज्ञान से हीन होने के कारण इन लोगों को ऐसा अभिनिवेश हो गया है ।]

ये वदन्तीत्थमेतेपि भ्राम्यन्ते विद्ययात्र किम्?
न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रान्ते रदर्शनात् ॥२३९॥

प्रपंच को मायामय और तत्व को अद्वितीय जो लोग बताते हैं, वे भी तो [अविद्या के वश में आकर] भरमाये फिर ही रहे हैं—[वे भी तो संसार में फँसे ही देखे जाते हैं] ऐसी कोरी विद्या किंवा ऐसे कोरे तत्वज्ञान का फिर हम क्या करें? ऐसी शंका करने वाले से कहो कि इन लोगों को यहाँ पहले जैसी भ्रान्ति नहीं रह गयी है [प्रारब्ध कर्म के वश से वे लोग व्यवहार में फँसे भी रहें परन्तु इनको पहले जैसा अभिनिवेश (आग्रह आसक्ति]नहीं होता है क्योंकि बन्धन मन की चीज़ है, वह ज्ञानी का टूट जाता है। अद्वैत तत्व भावप्रधान है। क्रियाओं को देख कर तत्वज्ञानी का निश्चय नहीं हो सकता। क्रिया तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों एक ही जैसी करते हैं। भेद इतना है कि ज्ञानी नाटक के पात्रों की तरह अपने हिस्से आया काम कर जाता

है और अज्ञानी रो झींक कर अपने हिस्से आया काम असक्ति या द्वेष से करता है ।

ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः ।
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः ॥२४०॥

[स्त्री पुत्रादि का पोषण आदि] ऐहिक तथा [स्वर्ग सुखादि का अनुभव आदि] आमुष्मिक यह सब संसार वास्तव ही है और अद्वैत नाम की कोई चीज़ न तो प्रतीत ही होती है और न वह है ही । बस यही अज्ञानी लोगों की धारणा होती है ।

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीक्ष्यते ।
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोहं चेति मन्यते ॥२४१॥

ज्ञानी लोगों को तो इससे विपरीत निश्चय होता है, जो ज्ञानियों में स्पष्ट ही देखा जाता है [वे समझते हैं कि अद्वैत ही एक पारमार्थिक वस्तु है तथा उन्हें अद्वैत की प्रतीति भी होती है । संसार को तो वे निश्चित रूप से अपारमार्थिक किंवा मिथ्या समझे रहते हैं । हम तो यही समझते हैं कि] अपने अपने निश्चय के अनुसार कोई अपने को बद्ध और कोई अपने को मुक्त माना करते हैं ।

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात् ।
अशेषेण न भातं चेद् द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ॥२४२॥

'अद्वैत तो किसी को प्रत्यक्ष ही नहीं होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि 'घट की स्फूर्ति होती है, पट की स्फूर्ति होती है' इत्यादि चिद्रूप से उस अद्वैततत्व की प्रतीति सभी को [सब पदार्थों में] हो रही है । इस पर भी यदि यह कहो कि सम्पूर्ण अद्वैत का भान तो किसी को होता ही नहीं, तो हम यह

कहेंगे कि ऐसे तो सम्पूर्ण द्वैत का भान भी किसी को नहीं होता है [यों यह दोष दोनों पक्षों में समान ही है]

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु ।
द्वैतसिद्धिर्यदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ॥२४३॥

एक देश का भान हो जाना तो द्वैत और अद्वैत दोनों पक्षों में समान ही है । द्वैत के किसी एक देश को देखकर जैसे तुम सम्पूर्ण द्वैत को सिद्ध कर लेते हो [उस पर विश्वास कर लेते हो] इसी प्रकार अद्वैत के एक देश को जानकर अद्वैत का निश्चय तुम्हें क्यों नहीं होता है सो हमें भी बताओ ?

द्वैतेन हीन मद्वैतं, द्वैतज्ञाने कथं त्विदम् ।
चिद्भानं त्वविरोध्यस्य द्वैतस्यातोऽसमे उभे ॥२४४॥

पूर्वपक्षी कहता है कि, द्वैत से जो हीन हो वही तो 'अद्वैत' है। सो भाई, जब तक द्वैत का ज्ञान बना हुआ है तब तक अद्वैत ठहरेगा ही कैसे यह हमें बताओ ? [२४२ श्लोक में तुम कह चुके हो कि चिद्रूप से अद्वैततत्त्व का भास हो रहा है सो तुम्हारा वह] चिद्भान तो इस द्वैत का विरोध करता ही नहीं । इस कारण तुम हमारी तरह यह नहीं कह सकते हो कि अद्वैत का विरोधी होने से अद्वैत के रहते रहते द्वैत की सिद्धि कैसे हो जायगी ।

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन् मायामयत्वतः ।
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद् विभासते ॥२४५॥

सिद्धान्ती इसका उत्तर यों देता है—हम जो द्वैत को असत् बताते हैं उसका कारण भी हम से सुन लो—हमारा कहना है कि मायामय होने के कारण यह द्वैत असत् है । जब इस प्रकार द्वैत का निषेध कर डाला जाता है तब परिशेष से वास्तव अद्वैत ही

ज्ञानी को भासने लगता है । [प्राप्त हुए सभी पदार्थों का निषेध करते जाने पर जहां हमारा निषेध लागू न हो सकता हो उसका सत्यत्व निश्चय कर लेना 'परिशेष' है।

अचिन्त्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ।
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ॥२४६॥

इस जगत् की न तो रचना ही समझ में आती है और न इसका कुछ रूप ही ध्यान पर चढ़ता है यों 'अचिन्त्यरचना' और 'अचिन्त्यरूप' वाला होने से यह सम्पूर्ण जगत् 'माया' किंवा 'मिथ्या' ही है । इस प्रकार अनिर्वचनीय होने के कारण द्वैत के मिथ्यात्व का निश्चय करके, परिशेष से अद्वैत को ही वास्तव समझ लेना चाहिये ।

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत् त्वं तथा पुनः ।
परिशीलय कोवात्र प्रयासस्तेन ते वद ॥२४७॥

यदि तो पूर्ववासनाओं की प्रबलता से फिर फिर द्वैत की सत्यता का भान तुम्हें होता हो तो, तुम्हें चाहिये कि तुम फिर फिर विचार किया करो । बताओ कि विचार करने में तुम्हें कौन सी मेहनत पड़ेगी ? [यही बात 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस सूत्र में वेदान्त दर्शन के चतुर्थ अध्याय में कही गयी है कि आत्मा के श्रवणादि की आवृत्ति करते रहना चाहिये। क्योंकि अनादि काल की द्वैतवासनायें साधक पर लौट लौट कर हमला करेंगी । अपना पूर्वाधिकार पाने के लिये जी तोड़ कोशिश करेंगी । इस लिये भुलावे से बचने के लिये साधक को विवेक को दुहराते रहना चाहिये] ।

कियन्तं कालमिति चेत् खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ।
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ॥२४८॥

'विचार कब तक करें' यह खेद तो द्वैत में ही हो सकता है, सम्पूर्ण अनर्थों का निवारण हो जाने से अद्वैत में तो यह खेद युक्त ही नहीं है ।

यदि पूछो कि फिर कितने समय तक इस प्रकार विचार करते चलें तो उसका उत्तर यह है कि—प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो जाने पर यह विचार स्वयमेव समाप्त हो जाता है, यह बात इसी प्रकरण के पन्द्रहवें श्लोक में कही जा चुकी है । विचार करते जाने का अनन्त खेद तो द्वैतवाद में ही हो सकता है । आत्म-दर्शन हो जाने पर सम्पूर्ण अनर्थों के भाग जाने से, अद्वैत में तो यह खेद करना, किंवा अपने सामने एक अनन्त काम पड़ा हुआ देखना, युक्त ही नहीं है । जब अद्वैत का पूर्ण साक्षात्कार होगा तब विचार अपने आप छूट जायगा । विचार का अपने आप छूट जाना, पेट भरी हुई जोख (जलौका) की तरह गिर पड़ना, ही अद्वैत प्राप्ति की सूचना है ।

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ।
मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यतां नेति को वदेत् ॥२४९॥

अद्वैत को समझ लेने पर अब भी पहले ही की तरह मैं तो अपने में उन्हीं पहले की भूख प्यासों को देख रहा हूँ । फिर आत्मज्ञान को सम्पूर्ण अनर्थों को भगा देने वाला कैसे मान लूँ ? ऐसा यदि कहा जाय तो उसका उत्तर यह है कि [मैं के दो अर्थ होते हैं एक 'अहंकार' दूसरा 'चिदात्मा' । सो भाई असंग और अविषय होने के कारण चिदात्मा को तो भूख प्यास लगती

ही नहीं।] ये भूख प्यास आदि तो मैं के अहंकार रूपी (दूसरे) अर्थ में ही पायी जाती हैं। भूख प्यास लगने को तो कोई भी मना नहीं करता है। [हमारा कहना तो केवल इतना ही है कि— चिदात्मतत्व को भूख प्यास नहीं लगतीं, अहंकार को लगती हैं]

चिपद्रेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि ।
माध्यासं कुरु किन्तु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ॥२५०॥

यदि [कहा जाय कि चिदात्मा में भूख प्यास वस्तुतः न होती हों तो न हों किन्तु] तादात्म्याध्यास किंवा भ्रम से तो चिदात्मा में भी यदि भूख प्यास लगने लगें तो हम क्या करें? इसका उत्तर यह है कि [इस बात को पहचानने के बाद तुम यह करो कि] अनर्थ की जड़ इस अध्यास को करना ही छोड़ दो और अध्यास को निवृत्त करने के लिये सदा ही विवेक करते रहा करो।

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ।
आवर्तयेद् विवेकं च दृढं वासयितुं सदा ॥२५१॥

यदि तो अनादि दृढ वासनाओं की प्रबलता से यह गया हुआ भी अध्यास बार बार लौट कर आता हो तो, उसको निवृत्त करने के लिये विवेक की आवृत्ति ही करनी चाहिये। जिससे कि विवेक की वासनायें दृढ हो जांय [इसके अतिरिक्त अध्यास को हटाने का अन्य कोई भी उपाय नहीं है। जैसे अध्यास ने हमारे हृदय में जड़ पकड़ ली है इसी तरह विवेक को बद्धमूल करने के लिये—अध्यास की जगह विवेक को दे देने के लिये—विवेक की अनन्त आवृतियें करनी पड़ेंगी]।

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम् ।
अचिन्त्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी ॥२५२॥

विचार करने पर द्वैत का मिथ्यापन तो केवल युक्ति से ही सिद्ध होता है। अनुभव से द्वैत का मिथ्यापन सिद्ध नहीं होता ऐसा कभी भी न कहना चाहिये। क्योंकि इस द्वैत के अचिन्त्य रचनापने का किंवा मिथ्यापने का जो अनुभव होता है उसका साक्षी तो अपना आत्मा ही है [इस द्वैत की रचना का चिन्तन भी नहीं हो सकता यह तो प्रत्येक का अनुभव कह ही रहा है]।

चिदप्यचिन्त्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ।
चितिं सुचिन्त्यरचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ॥२५३॥

यदि यह कहा जाय कि ऐसे तो चिदात्मा की रचना भी अचिन्त्य ही है फिर बताओ कि वह मिथ्या क्यों नहीं होता? तो हम कहेंगे कि आत्मा अचिन्त्यरचना वाला है तो हुआ करो। हम तो उसको नित्य होने के कारण सुचिन्त्य रचना वाला कभी नहीं कहते। [नित्यपदार्थों की रचना होती ही नहीं इसी कारण उनको भी अचिन्त्यरचना वाला माना जाता है]।

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते ॥२५४॥

चिति के नित्य होने का कारण तो यह है कि—इसके प्राग-भाव को किसी ने आज तक अनुभव किया ही नहीं। उस द्वैत के प्रागभाव को तो यह चैतन्य ही अनुभव किया करता है। [देखते हैं कि जाग्रदादि द्वैत के अभाव को सुषुप्ति के समय यह साक्षी चैतन्य ही अनुभव करता है]।

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत् ।
तथापि रचनाऽचिन्त्या मिथ्या तेनेन्द्रजालवत् ॥२५५॥

प्रागभाव से युक्त होने के कारण, यह द्वैत, घटादि के समान

ही, रचा तो जाता है, परन्तु इसकी रचना अचिन्त्य ही है [इसकी रचना किसी की समझ में आने वाली नहीं है। कोई भी यथार्थ रूप से इसकी रचना को जान नहीं सका है] इससे यही कहना पड़ता है कि यह इन्द्रजाल के समान मिथ्या ही है [जो चीज रची तो जाय पर उसकी रचना अचिन्त्य हो, उसे 'मिथ्या' कहा जाता है। यह मिथ्या का लक्षण द्वैत में मिलता है, इससे द्वैत का मिथ्यापन सिद्ध हो चुका]।

चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते।
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥२५६॥

[स्वप्रकाश होने के कारण] चिति तो नित्य ही प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही है। उस चिति से भिन्न जो भी कुछ है, उस सब के मिथ्या-भाव को भी वही चिति अनुभव कर रही है। यह बात यहां तक सिद्ध की जा चुकी। इतने पर भी जब कोई यह कह बैठे कि हमें तो अद्वैत का अपरोक्ष [प्रत्यक्ष] नहीं होता है तो उसके इस कथन में व्याघात दोष क्यों नहीं है? [इसी प्रकरण के २४२ श्लोक में अद्वैत के प्रत्यक्ष होने की बात भले प्रकार समझा दी है इस कारण अद्वैत का प्रत्यक्ष न होना विरुद्ध बात है। जो अद्वैत होगा वह तो प्रत्यक्ष होगा ही]।

इत्थं ज्ञात्वाप्यसन्तुष्टाः केचित् कुत इतीर्यताम्।
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद ॥२५७॥

वेदान्त की बतायी इस महावार्ता को जान कर भी, बहुत से लोग इससे सन्तुष्ट क्यों नहीं है? [उन्हें इस पर विश्वास क्यों नहीं होता है?] यह जब हम से पूछा जायगा तब हम कहेंगे कि—तुम यह बताओ कि ऊहापोह करने में परम प्रवीण [बड़े

समझदार] चार्वाक आदि लोग भला देह को ही आत्मा क्योंकर मानते हैं ? [भाव यह है कि जिन लोगों को मताध्यास हो जाता है वे दूसरे की उचित बात को भी अपने हृदयमन्दिर में घुसने नहीं देते हैं]।

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत् तथा।
असन्तुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षन्त विशेषतः ॥२५८॥

यदि कहा जाय कि 'इस चार्वाक ने तो धीदोष के कारण भले प्रकार विचार ही नहीं किया है तो हम कहेंगे कि बुद्धिदोष के कारण ही जो लोग असन्तुष्ट हैं उन्होंने कभी वेदान्त की गुह्य बात का गम्भीर विचार ही नहीं किया है। [वे ऊपर ऊपर इसे सुनकर हंसी में टाल जाते हैं। नहीं तो बताओ कि सारे संसार का प्रत्यक्ष तो हमें हो, परन्तु अपने आपे का हमें प्रत्यक्ष न हो— अपना आपा हमें परोक्ष बना रहे—संसार में इससे बड़ी मूर्खता और इससे बड़ा अपराध और कोई हो सकता है ?]

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद् दृष्टमेव तत् ॥२५९॥

इस मुमुक्षु के हृदय में जो काम अथवा इच्छादि घुसे बैठे हैं, वे सब के सब जब [मुमुक्षु के हृदय में से] निकल कर भाग जाते हैं—[तत्व ज्ञान के प्रभाव से अध्यास के निवृत्त होते ही जब वे सब निवृत्त हो जाते हैं] तो फिर अचम्भे की बात देखो कि— देह के साथ तादात्म्याध्यास करके बार बार मर मिटने वाला ही यह पुरुष तुरन्त ही अमर पद को पा जाता है [क्योंकि वह तो इस हाड मांस के देह में ही सत्यादि स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। तत्व ज्ञान का ऐसा ही श्रौत महाफल देखा जाता है।]

फिर भी यदि यह कहा जाय कि यह कामनिवृत्ति आदि महाफल श्रुति ने कह ही कह दिया है, परन्तु ऐसा कहीं देखा नहीं जाता है तो हम फिर प्रबल शब्दों में कहेंगे कि ऐसा फल देखा भी गया है। [आज कल भी बहुत से ऐसे योगी महात्मा हैं कि जिनका ग्रन्थिभेद हो चुका है, वे अमर हो चुके हैं और यहीं अमर पद को पा चुके हैं]

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयग्रन्थयस्त्विति ।
कामा ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः ॥२२०॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते (कठ० ६-१५) इस वाक्य में कामनाओं को ही ग्रन्थिरूप कहा गया है। इस वाक्य में कामनाओं से छुटकारे को ही ग्रन्थिभेद बताया है [अहंकार और चिदात्मा का तादात्म्याध्यास जब निवृत्त हो जाता है तब उसी को 'ग्रन्थिभेद' कहते हैं। वह ग्रन्थिभेद तो हो जाय और किसी को उसका प्रत्यक्ष न हो यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इसी से कहा था कि कामनिवृत्ति रूपी फल देखा भी गया है यह केवल पुस्तकों में लिखने की ही बात नहीं है ।]

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ।
इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः॥२६१॥

अहंकार और चिदात्मा को, अपने अज्ञान से, एक बना कर, ऐसी आशा करने लगना कि 'यह भी मुझे मिले' और 'वह भी मुझे मिले' बस यही इच्छायें 'काम' कहाती हैं।

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम् ।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः ॥२६२॥

चिदात्मा को तो उसमें प्रविष्ट न किया जाय और अहंकार

को उससे पृथक् देख लिया जाय। फिर तो चाहे कोई करोड़ों वस्तुओं की इच्छा करता रहो, ग्रन्थिभेद हो जाने के कारण फिर उसकी कुछ भी हानि नहीं होनी है। [तात्पर्य यह कि अध्यास-मूलक काम ही त्याज्य है। साधारणतया सब कामों को त्याज्य कहने में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है। जिन कामनाओं के मूल में अध्यास नहीं होता उनसे किसी हानि की सम्भावना नहीं होती। प्रत्युत उन अध्यासहीन कामनाओं से ही लोकसंग्रह किंवा लोक-शिक्षण होता है। कई साधक साधना करते करते ऐसे चतुर हो जाते हैं कि वे चिदात्मा और अहंकार को कभी मिलने ही नहीं देते। ऐसे साधक करोड़ों पदार्थों की इच्छा भी करें तो भी उनके पथभ्रष्ट हो जाने की शंका नहीं रह जाती]।

ग्रन्थिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः।
बुद्ध्वापि पापबाहुल्या दसन्तोषो यथा तव ॥२६३॥

ग्रन्थिभेद हो जाने पर भी, प्रारब्ध दोष के कारण, इच्छाओं का होना संभव ही है। जैसे कि आत्मतत्व को समझ कर भी, पापों की अधिकता से तुझे अभी तक सन्तोष नहीं हो रहा है। [जब अध्यास ही न रहेगा तब कामनायें उत्पन्न ही कैसे हो सकेंगी? इसका समाधान यह है कि प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से, निर्वीर्य कामनायें, ज्ञानी को उत्पन्न हो ही सकती हैं]।

अहंकारगतेच्छाद्यै र्देहव्याध्यादिभिस्तथा।
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ॥२६४॥

[अध्यास से रहित हो चुके हुए] अहंकार में जो इच्छा आदि होते हैं, उनसे चिद्रूप आत्मा में, ठीक इसी प्रकार कुछ भी विकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार देह की व्याधियों से

देहसम्बन्धरहित आत्मा की बाधा नहीं होती है। अथवा यों समझो कि जैसे वृक्षादि के उत्पन्न होने या विनष्ट हो जाने से आत्मतत्व का कुछ नहीं बिगड़ता है।

ग्रन्थिभेदात् पुराप्येवमिति चेत् तन्न विस्मर।
अयमेव ग्रन्थिभेदस्तव तेन कृती भवान् ॥२६५॥

यदि कोई यह कहे कि—ग्रन्थिभेद जब तक नहीं हुआ था, तब तक भी तो कामादि से इस आत्मा की बाधा नहीं होती थी [यह आत्मतत्व तो पहले भी ऐसा ही था] तो हम उससे कहेंगे कि—बस इस महावार्ता को कभी न भूल जाना। ऐसी समझ आ जाना ही तो 'ग्रन्थिभेद' कहाता है। तेरा ग्रन्थिभेद हो चुका है। इस ग्रन्थिभेद के कारण तुम कृतकृत्य हो चुके हो।

नैवं जानन्ति मूढाश्चेत् सोऽयं ग्रन्थिर्न चापरः।
ग्रन्थितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ॥२६६॥

यदि कहो कि—साधारण लोग तो ऐसा नहीं समझते हैं, तो हम कहेंगे कि यही तो 'ग्रन्थि' है—[ऐसा ज्ञान न होना ही 'ग्रन्थि' कहाती है] इसके अतिरिक्त और कोई ग्रन्थि नाम का पदार्थ नहीं होता है। मूढ और ज्ञानी में यही तो केवल अन्तर होता है कि—मूढों की तो ग्रन्थि लगी रहती है तथा ज्ञानी की ग्रन्थि खुल जाती है।

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा देहेन्द्रियमनोधियाम्।
न किञ्चिदपि वैषम्य मस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः ॥२६७॥

देह इन्द्रिय मन और बुद्धि जब किसी काम में प्रवृत्त और किसी काम से निवृत्त होती हैं, तब अज्ञानी और ज्ञानी में स्वल्प भी अन्तर नहीं पाया जाता। [इसी से कहते हैं कि ज्ञानी

और अज्ञानी में केवल 'ग्रन्थि' और 'ग्रन्थि भेद' का ही अन्तर (फ़र्क़) होता है]।

व्रात्यश्रोत्रिययो वेंदपाठापाठकृता भिदा।
नाहारादावस्ति भेदः सोयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥२६८॥

देखते नहीं हो कि—'व्रात्य' तथा 'श्रोत्रिय' में केवल वेद-पाठ कर सकने और न कर सकने का ही तो अन्तर होता है। उनके खान पान में कोई भी भेद नहीं होता। इसी न्याय को यहाँ भी लगा लेना चाहिये।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।
उदासीनवदासीन इति ग्रन्थिभिदोच्यते ॥२६९॥

ज्ञानी की ग्रन्थि नहीं रहती यह बात गीता ने भी कही है—ऊपर आ पड़ दुःखों में द्वेष नहीं करता, जाते हुए सुखों से ठहरने को नहीं कहता। केवल उदासीन की तरह से रहने लगता है। बस इसी को तो 'ग्रन्थि-भेद' कहते हैं।

औदासीन्यं विधेयं चेद् वच्छब्दव्यर्थता तदा।
न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद् रोग एव सः ॥२७०॥

ग्रन्थिभेद का वर्णन करने वाले इस गीतावाक्य में यदि उदासीनता का विधान माना जायगा [कि उसे उदासीन की तरह रहने लगना चाहिये। दुनियाँ के काम छोड़कर भाग जाना चाहिये] तो उदासीनवदासीनः (गीता १४-२३) इस वाक्य में वत् शब्द का प्रयोग ही निष्प्रयोजन होगा। ['वत्'शब्द का अभि-प्राय यह है कि उदासीन (बेगारी) जैसे काम करते हैं उसके फल से जैसे उन्हें कुछ भी मतलब नहीं होता इस तरह से रहने लगे। फलासक्ति को छोड़ दे। अन्दर से त्याग और बाहर से संग हो यही

इसका भाव है] यदि कहो कि ज्ञान होने पर ऐसी हालत हो जाती है कि ज्ञानी के देहादि कुछ काम कर ही नहीं सकते, तो हमें यह बात सुनकर हंसी आती है कि ज्ञानी के शरीर को अशक्त कर देने वाला वह ज्ञान क्या हुआ? वह तो एक रोग ही हुआ [वह ज्ञान तो एक प्रकार 'लकवा' (पक्षाघात) हुआ]।

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते ये महाधियः।
तेषां प्रज्ञातिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ॥२७१॥

जो महाबुद्धि लोग तत्त्वबोध को एक प्रकार का क्षयरोग मानते हैं—[कि तत्त्वज्ञानी के हाथ पैर उठते ही नहीं] उनकी बुद्धि के विषय में हम क्या कहें? उनकी बुद्धि बड़ी विशद है। ऐसे पुरुषों को असाध्य ही क्या है? [वे जो चाहें कह सकते हैं]

भरतादे रप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ।
जक्षन् क्रीडन् रतिं विन्दन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम्॥२७२॥

यदि कहा जाय कि 'जडभरत आदि महात्मा लोग कुछ भी नहीं करते थे' यह बात पुराण में कही गयी है। पुराणों का कहना है कि—ज्ञानी लोग किसी काम में प्रवृत्त होते ही नहीं। तो हम उससे कहेंगे कि—जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् (छा० ८–१२–३) यह श्रुति का वाक्य क्या तुमने नहीं सुना है? जिसमें ज्ञानी की प्रवृत्ति का विधान किया गया है—[तुम्हारा उपर्युक्त आक्षेप श्रुति के मर्म को न जानने के कारण से है।]

न ह्याहारादि सन्त्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित्।
काष्ठपाषाणवत् किन्तु संगभीता उदासते ॥२७३॥

भरतादि ने भी काष्ठ या पाषाण की तरह खान पान आदि का परित्याग तो कभी भी नहीं किया था। किन्तु वे लोग संगदोष के लग जाने के डर से; उदासीन रहते थे। [पुराणों का तात्पर्य भी उनकी उदासीनता के दिखाने में ही है]

सङ्गी हि वध्यते लोके निःसङ्गः सुखमश्नुते ।
तेन सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥२७४॥

लोक में देखते हैं कि सङ्ग करने वाले लोग ही बँधे फिरते हैं। निःसंग लोगों को मौज मारते हुए पाया जाता है । इससे जो लोग नित्य सुख की इच्छा रखते हों, उन्हें संग का परित्याग सदा के लिये कर देना चाहिये ।

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वक्त्यन्यथान्यथा ।
मूर्खाणां निर्णय स्त्वास्तामस्मत्सिद्धान्त उच्यते॥२७५॥

मूर्ख लोग शास्त्र के मर्म को तो पहचानते नहीं और कुछ का कुछ कहने लगते हैं। इस कारण उनकी बात को यहीं छोड़ कर अब हम अपनी प्रकृत बात, किंवा शास्त्र के रहस्य का वर्णन करते हैं।

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ।
प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित् क्वचित् ॥२७६॥

शास्त्र का सिद्धान्त तो यह है कि—'वैराग्य' 'बोध' तथा 'उपरम' ये तीनों परस्पर के सहायक हैं। ये तीनों प्रायः करके साथ ही साथ रहते हैं। कहीं कहीं तो ये अलग अलग भी पाये जाते हैं।

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसङ्करः ।
यथावदवगन्तव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता ॥२७७॥

इन [वैराग्य बोध तथा उपरम] तीनों के कारण, स्वरूप, तथा कार्य भिन्न भिन्न हैं। इससे ये तीनों एक नहीं हैं। शास्त्रार्थ का विवेक करने वाले लोगों को इनका भेद ठीक ठीक रीति से समझ लेना चाहिये।

दोषदृष्टि जिंहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥२७८॥

विषयों में दोषदृष्टि,वैराग्य का मुख्य कारण होता है। विषयों को छोड़ने की अभिलाषा, वैराग्य का 'स्वरूप'कहाता है। भोगों के प्रति दीनता का न रहना, वैराग्य का 'फल' माना जाता है।

श्रवणादित्रयं तद्वत् तत्त्वमिथ्याविवेचनम्।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ॥२७९॥

श्रवण मनन तथा निदिध्यासन, ये तीनों बोध के मुख्य 'कारण' हैं। सत्य और मिथ्या का विवेक,बोध का 'स्वरूप' होता है। ग्रन्थि का फिर कभी भी उदय न होना, बोध का 'कार्य' बताया जाता है।

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः।
स्युर्हेत्वाद्या उपरते रित्यसंकर ईरितः ॥२८०॥

उपरति के मुख्य 'कारण' यम नियमादि हैं। बुद्धि का निरोध हो जाना,उपरति का 'स्वरूप' है। व्यवहार का समाप्त हो जाना, उपरति का 'फल' माना गया है। यों इन तीनों के भेद का वर्णन किया गया।

तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात् साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः।
बोधोपकारिणावेतौ वैराग्योपरमावुभौ ॥२८१॥

[तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे० ३--८) इस श्रुति के आधार से कहते हैं कि—इन तीनों में] तत्वबोध ही प्रधान है । क्योंकि यही साक्षात् मोक्ष का देने वाला है । वैराग्य तथा उपरति ये दोनों तो इसी तत्वबोध [ज्ञान] के सहायक होते हैं ।

त्रयोप्यत्यन्तपक्काश्चेन्महत स्तपसः फलम् ।
दुरितेन क्वचित् किंचित् कदाचित् प्रतिबध्यते ॥२८२॥

यदि ये तीनों अत्यन्त पक्के हो जायँ तो यह मामूली पुण्यों का फल नहीं है । [क्योंकि जब करोड़ों जन्मों में कमाये हुए पुण्यों का परिपाक होता है तब कहीं ये तीनों इकट्ठे हो पाते हैं । नहीं तो]प्रतिबन्ध करने वाले पाप के प्रभाव से किसी पुरुप में किसी काल में इन तीनों में से एक आध का प्रतिबन्ध हो जाता है ।

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते ।
यस्य तस्य न मोक्षोस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ॥२८३॥

वैराग्य और उपरति तो पूर्ण हो चुके हों और आत्मबोध न हुआ हो तो उस विचारे तपस्वी को मोक्ष नहीं मिलेगा । उस को तो उस के तपोबल से किसी पुण्यलोक की प्राप्ति हो जायगी [भाव यही हुआ कि—तत्वज्ञान के न होने पर मोक्ष का मिलना असम्भव ही है ।]

पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा ।
मोक्षो विनिश्चितः किन्तु दृष्टदुःखं न नश्यति ॥२८४॥

यदि किसी का ज्ञान तो पूर्ण हो चुका हो और वैराग्य तथा उपरति उसे न हो गये हों, तो मोक्ष तो उसे मिलेगा ही,

परन्तु उसके दृष्टदुःखों का नाश नहीं हो सकेगा। [अथवा यों कहो कि जीवन्मुक्ति का मज़ा उसके हाथ नहीं आयेगा]

नित्यानित्यवस्तुविवेक, शमादि साधन, वैराग्य और मुमुक्षु भाव के रहने पर ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान हो जाय और वैराग्य तथा उपरति न हों यह एक असाधारण अवस्था का वर्णन ग्रन्थकार कर रहे हैं। हम लोग ऐसी अवस्था की कल्पना ही कर सकते हैं। साधारणतया यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती। परन्तु ग्रन्थकार के अनुभवी होने के कारण इसको हम अपनी बुद्धि की पहुँच के परे की बात मानकर चुप हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में द्वैतविवेक प्रकरण के ५१ से ५७ तक श्लोक देखने से इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। इस कारण ज्ञान हो जाने और वैराग्य तथा उपरति न होने की बात को हमारी बुद्धि बड़ी कठिनता से स्वीकार करती है। ऐसा मालूम होता है कि कोई ऐसी अवस्था होती होगी—कि ज्ञानी का ज्ञान किसी विषयभक्ति के कारण दबा पड़ा रहता होगा और मृत्यु के समय उसकी वासनायें हट जाती होंगी और उसे मुक्ति मिल जाती होगी। साधारण सिद्धान्त तो यही है कि विमुक्तश्च विमुच्यते अर्थात् जीवन्मुक्तों को ही विदेहमुक्ति मिलती है।

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः।
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते ॥२८५॥

ब्रह्मलोक मिलने लगे और उसे तृणतुल्य तुच्छ समझ कर छोड़ दिया जाय यही वैराग्य की अन्तिम दशा है। अज्ञानी लोग जैसे देह को आत्मा समझे बैठे हैं, वैसी दृढता के साथ, पर तत्व को आत्मा समझ लिया जाय तो बस, यहाँ पहुँच कर बोध भी समाप्त हो जाता है। [यही बोध की हद मानी गयी है]

सुप्तिवद् विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ।
दिशानया विनिश्चेयं तारतम्यमवान्तरम् ॥२८६॥

सोते हुए जैसे हम जगत् को भूल जाते हैं, जागते हुए भी जब कोई इसी प्रकार जगत् को भूल जाय [मानो जगत् नाम की कोई चीज़ ही न रही हो] बस इसी को उपरति की सीमा समझ लेना। इनका अवान्तर न्यूनाधिकभाव तो इसी रीति से अपनी अपनी बुद्धि से निश्चय कर लेना चाहिये।

आरब्धकर्मनानात्वाद् बुद्धानामन्यथान्यथा ।
वर्तनं, तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ॥२८७॥

प्रारब्ध कर्मों के नाना प्रकार का होने से, ज्ञानी लोग भी भिन्न भिन्न प्रकार के आचरण वाले होते हैं। उनके भिन्न भिन्न बर्तावों को देखकर शास्त्रार्थ के विषय में पण्डितों को भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिये। [तत्त्वज्ञानी लोग भी रागादि वाले होने से भिन्न प्रकार के आचरणों वाले पाये जाते हैं। फिर हम ज्ञान को भी मुक्ति दिलाने वाला कैसे मान लें ? इस शंका का समाधान यही है कि—ज्ञानी के शरीर के रोग या भूख आदि जैसे उसके प्रारब्ध के फल होते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी के राग द्वेष आदि भी तो उसके प्रारब्ध कर्मों के ही फल हैं। इस कारण वे रागादि, रोग आदि की तरह ही, ज्ञानी की मुक्ति का प्रतिबन्ध नहीं कर सकते हैं।]

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा ।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥२८८॥

सब लोगों को यह निश्चय कर रखना चाहिये कि—वे ज्ञानी लोग अपने अपने प्रारब्ध कर्मों के अनुसार जैसा तैसा

बर्ताव करते हैं तो करते रहें। उन सब को जो अपने ब्रह्मत्व का ज्ञान हुआ है वह तो सब का एक समान ही होता है और मुक्ति भी उनकी एक समान ही होती है। [सब ही शुद्ध ब्रह्मरूप से स्थित हो जाते हैं] यही शास्त्र की मर्यादा है।

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम्।
मायया, तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ॥२८९॥

कपड़े पर खिंचे हुए चित्र की तरह, अपने आत्मचैतन्य में जो जगत् रूपी चित्र, माया के प्रताप से खिंच गया है, उस [जगत्रूपी चित्र] की उपेक्षा करके [उस की ओर से अपनी बुद्धि की आँख मींचकर] अपने आत्मचैतन्य को परिशेष कर डालो।

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसन्दधते बुधाः।
पश्यन्तोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यन्ति न पूर्ववत् ॥२९०॥

जो बुद्धिमान् लोग इस चित्रदीप नाम के प्रकरण का विचार नित्य ही किया करेंगे, वे इस जगच्चित्र को देखकर भी, पहले की तरह मोह को कभी प्राप्त नहीं होंगे।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं चित्रदीपप्रकरणं समाप्तम्।

ओम्

तृप्तिदीपप्रकरणम्

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर मनुसंज्वरेत् ॥१॥
अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ।
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ॥२॥

आत्मानं चेद्विजानीयात् बृ० ४-४-१२ इस श्रुति का अभिप्राय इस तृप्तिदीप नाम के प्रकरण में भले प्रकार विचारा जायगा। उससे जीवन्मुक्त महाशयों को जो अलौकिक तृप्ति रहा करती है वह स्पष्ट विदित हो जायगी।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्त्वतः ।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥३॥

माया आभास के द्वारा जीव और ईश्वर का निर्माण किया करती है, ऐसा श्रुतियों में कहा गया है [इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन तत्वविवेक नामक प्रकरण के १५-१६-१७ श्लोकों में है] सो ये जीव और ईश्वर दोनों ही कल्पित हैं। इन दोनों ने शेष सब संसार की कल्पना कर डाली है।

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टि रीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥४॥

ईक्षण से लेकर [कि उसने बहुभाव का ईक्षण किया किंवा

संकल्प किया] प्रवेश तक [कि इस जीव रूप से इसी सृष्टि में प्रवेश कर जाऊँ] की सब सृष्टि तो ईश्वर की बनायी हुई है। जाग्रत् से लेकर मोक्षपर्यन्त सब संसार जीव का बनाया हुआ है। [क्योंकि वही अपने आप को जागता हुआ या मुक्त होता हुआ माना करता है। वह इसमें अभिमान रखता है। यदि यह जीव साधना करके इन सब अवस्थाओं में से अपना अभिमान हटा ले तो जाग्रदादि संसार का एकपदे ध्वंस हो जाय। जाग्रदादि संसार का वर्णन तो यों है कि—यह प्राणी माया से मोहित होकर इस मांस के झोंपड़े में अहंभाव से निवास कर लेता है तो फिर भले बुरे सभी काम करने लगता है। यह जाग्रत् काल में अन्न पान आदि नाना भोगों से अपनी तृप्ति होना मानता है। स्वप्न में यह अपनी माया से ही सम्पूर्ण लोक को बनाता है और अपने बनाये हुए उसी से सुख दुःख भोगा करता है। सुषुप्तिकाल में जब सब कुछ विलीन हो जाता है, जब अज्ञान से अभिभूत हो जाता है, तब सुखरूप हुआ रहता है। यह तो एक शरीर की जाग्रत् आदि अवस्थायें हुईं। जब एक शरीर में निवास के कर्म समाप्त हो जाते हैं और जन्मान्तर देनेवाले कर्मों की बारी आ जाती है तब वही जीव फिर जन्म लेता है और फिर यों ही जागता है, सुपने देखता है और सोया करता है। यों यह जीव इन जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं और स्थूल, सूक्ष्म आदि तीनों शरीरों में खेल से करता फिरा करता है। उसी जीव के कर्मों के प्रताप से यह सब विचित्र जगत् उत्पन्न हो गया है। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदि के इस प्रपंच को जो तत्व प्रकाशित कर रहा है, वही ब्रह्म नाम का तत्व मैं हूँ,

ऐसा यदि किसी को मालूम हो जाय, तो उसका बन्धनों से छुटकारा हो जाय, उसका कल्पित संसार विलीन हो जाय।]

भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासंगचिद्वपुः।
अन्योऽन्याध्यासतोऽसङ्गधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः ॥५॥

यद्यपि यह कूटस्थ [अविकारी] असङ्ग और चित्स्वरूप ही है। तथापि देहेन्द्रिय आदि के अध्यास रूपी भ्रम का आधार भी बना हुआ है। वह असङ्ग आत्मतत्व ही अन्योन्याध्यास की पकड़ में आकर जब परमार्थदृष्टि से [उससे] सदा असम्बद्ध रहने वाली बुद्धि में ठहर कर 'जीव' बन जाता है, तब ऐसे उस जीव को ही इस श्रुति में 'पूरुष' अथवा 'पुरुष' कहा गया है।

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते, न तु।
केवलो, निरधिष्ठानविभ्रान्तेः क्वाप्यसिद्धितः ॥६॥

[जीव शब्द के अर्थ में से हम अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य को नहीं छोड़ सकते हैं। बुद्धि आदि की कल्पना का अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य ही, जब बुद्धि में प्रतिबिम्बित हो जाता है, तब उसे हम 'जीव' कहते हैं। केवल चिदाभास को हम जीव नहीं कहते। क्योंकि] अधिष्ठान अर्थात् कूटस्थ चैतन्य के सहित ही यह जीव मोक्ष या स्वर्गादि के साधनों का अनुष्ठान करने का अधिकारी होता है। केवल चिदाभास को मोक्षादि का अधिकार ही नहीं है। क्योंकि बिना अधिष्ठान की भ्रान्ति [आरोप्य पदार्थ] लोक में कहीं भी देखी नहीं जाती [इस कारण जीव शब्द के अर्थ में हमें कूटस्थ चैतन्य को रखना ही पड़ता है। यदि हम कूटस्थ तत्व को नहीं

रक्खेंगे तो मोक्ष आदि में अन्वयी कौन होगा ? अर्थात् इन मोक्षादि को भोगने वाला कौन होगा ? क्योंकि आभास तो यहीं नष्ट हो जाता है ।]

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलम्बते ।
यदा तदाहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ॥७॥

वह जीव जब तो अधिष्ठानांशसंयुक्त [अर्थात् कूटस्थ सहित] भ्रम भाग [किंवा चिदाभासयुक्त दोनों शरीरों] का अवलम्ब ले लेता है—अथवा यों कहो कि उन दोनों शरीरों को ही अपना स्वरूप मान लेता है—तब वह समझने लग पड़ता है कि मैं तो संसारी [क्षुद्र प्राणी] हूं ।

भ्रमांशस्य तिरस्कारा दधिष्ठानप्रधानता ।
यदा तदा चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीति बुध्यते ॥८॥

जब तो वही जीव भ्रमांश [दोनों देहों सहित चिदाभास] का तिरस्कार कर देता है—उनको मिथ्या समझ कर उनकी परवाह नहीं करता है और ऐसा करने से जब अधिष्ठान की प्रधानता हो जाती है [जब वह जीव अधिष्ठानभूत कूटस्थ स्वरूप ही हो जाता है, जब वह शुद्ध आत्मस्थिति में आ जाता है] तब वह जाना करता है कि ओ हो ! 'मैं तो चिदात्मा हूँ 'मैं तो असङ्ग हूँ ।'

नासङ्गेऽहंकृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ।
एको मुख्यो द्वावमुख्या वित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः ॥९॥

जब कि असङ्ग चिदात्मा में [जो कि अविषय है] अहं-कार अथवा मैं भाव का होना ठीक ही नहीं है, तो फिर वह यह

क्यों कर जान सकता है कि 'मैं असङ्ग हूँ' ? इसका समाधान भी सुनो कि—अहं के तीन अर्थ हैं—एक मुख्य अर्थ है, तथा दो उसके अमुख्य अर्थ होते हैं। [भाव यह है कि मुख्यरूप से तो अहं प्रतीति का विषय आत्मा हो ही नहीं सकता, परन्तु लक्षणा से उसको 'अहं' कहा ही जा सकता है।]

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ।
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ॥१०॥

कूटस्थ और आभास इन दोनों का स्वरूप अन्योन्याध्यास की आँच में पिघल कर जब एकता को प्राप्त कर लेता है तब बस यही अहं शब्द का 'मुख्य अर्थ' कहाता है। [इसको इस अहं का मुख्य अर्थ इसी लिये कहते हैं कि कूटस्थ और चिदाभास के इसी हिले मिले स्वरूप का जिनको विवेक नहीं है वे सभी] मूढ लोग अहं शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया करते हैं। [अधिक संख्या इसी अर्थ में अहं शब्द का प्रयोग करने वालों की है। इसलिये इसे ही मुख्य मान लिया है]

पृथगाभासकूटस्था वमुख्यौ तत्र तत्ववित् ।
पर्यायेण प्रयुङ्क्तेऽहंशब्दं लोके च वैदिके ॥११॥

जब तो यह समझ लिया जाय कि आभास अलग है और कूटस्थ तत्व अलग है, तब [अलगाये हुए] वे दोनों अहं के अमुख्य अर्थ हो जाते हैं। क्योंकि तत्वज्ञानी लोग लौकिक और वैदिक व्यवहारों में कभी तो कूटस्थ को अहं कहते हैं और कभी अकेले चिदाभास को अहं कह देते हैं। [भाव यह है कि—क्योंकि कूटस्थ और चिदाभास का जो मिश्रित रूप है वही सार्वजनीन व्यवहार का विषय हो रहा है। इससे उसे तो

अहं का मुख्य अर्थ मान लिया है। इन दोनों के विविक्त रूपों का व्यवहार तो बहुत थोड़े से मनुष्य (सो भी कभी ही) करते हैं, इससे उनको अमुख्य अर्थ कहा जाता है।]

लौकिकव्यवहारेऽहंगच्छामीत्यादिके बुधः ।
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ॥१२॥

ज्ञानी पुरुप जब लौकिक व्यवहार में 'मैं जाता हूँ' ऐसा बोलता है तब वह चिदाभास को कूटस्थतत्व से पृथक् करके ही उस चिदाभास को 'अहं' नाम से कहना चाहता है। [ज्ञानी पुरुप जब 'मैं जाता हूँ' ऐसा कहता है तब वह यह कभी नहीं भूलता कि कूटस्थ आत्मतत्व जाने वाला पदार्थ नहीं है। इसे यह सदा स्मरण रहता है कि यह चिदाभास ही जाता आता है]

असङ्गोहं चिदात्माहमिति शास्त्रीयदृष्टितः ।
अहंशब्दं प्रयुङ्क्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः ॥१३॥

वही ज्ञानी पुरुप शास्त्रीय दृष्टि को लेकर कभी कभी चिदाभास से हीन केवल कूटस्थ तत्व में भी 'अहं' शब्द का प्रयोग किया करता है कि 'मैं असङ्ग हूँ' 'मैं चिदात्मा हूँ'। [यों मुख्य तया न सही परन्तु लक्षणा से तो चिदात्मा भी अहं शब्द का अर्थ हो ही जाता है। इसी कारण 'मैं असङ्ग हूँ' यह ज्ञान भी ठीक हो जाता है।]

ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः ।
तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम् ॥१४॥

ज्ञानित्व और अज्ञानित्व दोनों आत्माभास को ही होते हैं। असंग चिद्रूप आत्मा में न तो ज्ञानता ही हो सकती है और

न अज्ञानिता ही रह सकती है [क्योंकि इसे तो अज्ञान की निवृत्ति की कुछ आवश्यकता हो नहीं होती। इसलिये कूटस्थ तो यह जानता ही नहीं कि मैं कूटस्थ हूँ] फिर तुम्हें यह बताना चाहिये कि—आभास को यह ज्ञान कैसे हो सकता है कि 'मैं कूटस्थ हूँ ?

नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् ।
आभासत्वस्य मिथ्यात्वात् कूटस्थत्वावशेषणात् ॥१५॥

यह दोष ठीक नहीं,चिदाभास का असली स्वरूप तो कूटस्थ ही है । वह चिदाभास कूटस्थ से भिन्न तो सिद्ध हो ही नहीं सकता । क्योंकि आभासत्व तो मिथ्या ही है [ज्ञान के द्वारा] उसकी कूटस्थता को शेष रख लिया जाता है [जैसे कि दर्पण में प्रतीत होने वाले मुखाभास का असली स्वरूप तो गरदन पर लगा हुआ मुख ही है । इसी प्रकार इसे भी जान लो ।]

कूटस्थोऽस्मीति बोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत् ।
न हि सत्यतयाऽभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥१६॥

यदि चिदाभास मिथ्या है तो उसके आश्रित रहनेवाला 'मैं कूटस्थ हूँ' यह ज्ञान भी तो मिथ्या ही होना चाहिये ? ऐसा यदि पूछा जाय तो हम कहेंगे कि फिर इस बात का निषेध हम कब करते हैं ? [कूटस्थ के स्वरूप के अतिरिक्त और जो भी कुछ है वह सभी मिथ्या है । फिर इस ज्ञान को मिथ्या मानना भी तो हमें इष्ट ही है] देखो, रज्जु में जो सर्प कल्पित कर लिया गया है,वह जब नष्ट होता हुआ प्रतीत हो तब उस [विसर्पण] को कोई वास्तविक विसर्पण नहीं मानता है ।

तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते ।
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहु लौकिका जनाः ॥१७॥

यद्यपि वह बोध मिथ्या ही है तो भी उससे मिथ्या संसार तो निवृत्त हो ही जायगा [जैसे कि सुपने के झूठे व्याघ्र को देखकर चौकने से किसी की निद्रा टूट जाती है] लोक में कहा भी जाता है कि—जैसा यक्ष वैसी बलि, [जैसी शीतला देवी, वैसी ही उसकी गधे की सवारी । यह इस कारण कहते हैं कि जब यह संसार मिथ्या ही है तो यह मिथ्या बोध से भी मर जायगा]।

तस्मादाभासपुरुषः सकूटस्थो विविच्य तम् ।
कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमर्हती त्यभ्यधाच्छ्रुतिः ॥१८॥

[क्योंकि कूटस्थ ही चिदाभास का निज स्वरूप है] इस कारण कूटस्थ सहित जो चिदाभास है वह उस कूटस्थ को अपने मिथ्या स्वरूप से पृथक् करके [मुख्य वृत्ति से तो नहीं किन्तु लक्षणा वृत्ति से तो] यह जान ही सकता है कि 'मैं कूटस्थ हूँ' [मेरा असली रूप कूटस्थ है] इसी अभिप्राय को लेकर श्रुति ने 'अस्मि' यह पद कहा है ।

असन्दिग्धाविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते ।
तद्वदत्रेति निर्णेतु मयमित्यभिधीयते ॥१९॥

[मूल श्रुति के 'पुरुष' तथा 'अस्मि' इन दो पदों का व्याख्यान यहां तक हो चुका । अब 'अयम्' का व्याख्यान किया जाता है] लौकिक लोगों को इस प्रसिद्ध देहरूपी आत्मा में संशय और विपर्यय से रहित बोध पाया जाता है [वे बिना सन्देह और बिना विपर्यय के इस देह को मैं हूँ कहते हैं । वे

जब बड़े मेलों में घुसते हैं तब -अपने शरीरों पर कोई चिन्ह करके नहीं घुसते। अपने शरीर के अपने होने में उन्हें कभी सन्देह नहीं होता] ठीक इसी प्रकार प्रत्यगात्मा के विषय में ऐसा ही दृढ ज्ञान, मुक्ति को पाने के लिये आवश्यक है। इसी बात का निर्णय करने के लिये श्रुति में'अयम्'यह पद कहा है।

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥२०॥

'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा जो देहात्मविषय में लोगों का दृढ निश्चय पाया जाता है, उसके समान ही यदि किसी को प्रत्यगात्मा के विषय में,देहात्मज्ञान की बाधा करने वाला ज्ञान हो जाय [कि यही आत्मतत्व मैं हूँ। यही ब्रह्मतत्व मैं हूँ] वह विद्वान् मुक्त होना न चाहने पर भी मुक्त हो जाता है [क्योंकि उसका संसार का कारण अज्ञान तो ज्ञान से बाधित हो चुका है]

अयमित्यपरोक्षत्व-मुच्यते चेत्तदुच्यताम्।
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ॥२१॥

'अयम्' का अर्थ लोक में 'अपरोक्षत्व' होता है। सो इस श्रुति में भी 'अयं' इस शब्द से अपरोक्षता ही लिया गया है, ऐसा यदि कोई कहे तो उसकी बात भी मान लो कि हाँ यह अर्थ भी लिया जा सकता है। क्योंकि स्वयंप्रकाश [अर्थात् किसी साधनान्तर की सहायता के बिना प्रतीत होने वाला] चैतन्य तो सदा ही प्रत्यक्ष रहता है [यह हमारा सिद्धान्त ही है]

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः।
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद् दशमे यथा ॥२२॥

'परोक्ष' और 'अपरोक्ष' का विरोधी जोड़ा इसी प्रकार 'ज्ञान' और 'अज्ञान' का विरोधी जोड़ा, यह दोनों ही नित्य अपरोक्ष आत्मा में भी हो ही सकते हैं। जैसे कि दशवें में ये दोनों ही [विरोधी बातें] पाये जाते हैं।

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥२३॥

[दस आदमी किसी नदी को पार उतरे। उतर कर अपने आदमियों को गिनने लगे। गिनने वाला अपने को छोड़ कर शेप नौ को गिन लेता था। परिणाम में वे नदी के किनारे बैठ कर दसवें को रो रहे थे कि हाय! दसवाँ डूब गया] उस गिनने वाले दसवें को अपना जो ज्ञान होता था उस ज्ञान को नौ (९) की गिनती ने दबा दिया था। वह दसवां पुरुप उन नौ को प्रत्यक्ष देखता भी था। परन्तु भ्रान्ति में फंसकर, गिनने वाला अपने आप को नहीं जानता था कि 'मैं ही तो दसवां हूँ' [शेप नवों को देखता था, परन्तु अपनी ओर उस का ध्यान नहीं जाता था। उस का सारा ध्यान नौ ने खेंच लिया था]।

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा।
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ॥२४॥

तब वह दसवां पुरुप [यद्यपि वह स्वयं ही दशवां है, फिर भी] अपने ही को कह बैठता है कि—दसवां न तो मुझे प्रतीत ही होता है और न दसवां है ही। बुद्धिमान् लोग इसी को तो अज्ञान का किया हुआ आवरण [परदा] बताते हैं।

नद्यां ममार दशम इति शोचन् प्ररोदिति।
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं विदुर्बुधाः ॥२५॥

अब वह दसवां मनुष्य शोक करता और रोता है कि हाय! दसवां तो नदी में डूब मरा। बुद्धिमान् लोग इस रोदन आदि को अज्ञान का किया हुआ विक्षेप समझते हैं।

न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाप्तवचनं तदा।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ॥२६॥

जब कोई आप्त पुरुष आकर कहता है कि—भाई दसवां मरा नहीं, वह तो यहीं है, तब इस आप्त वचन को सुनकर परोक्षरूप से दसवें को जान जाता है। जैसे शास्त्र के कहने से स्वर्गादिलोक को परोक्षरूप से जान लिया जाता है।

त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥२७॥

उस आप्त पुरुष ने, नौ को गिनने के बाद उससे कह दिया [बता दिया] कि 'दसवां तो तू ही है' बस अब तो उसने अपरोक्षरूप से अपने आपको जान लिया कि ओहो! दसवां तो मैं ही हूँ। अब तो वह परमहृष्ट होता है, अब वह पहले की तरह रोता नहीं है।

अज्ञानावृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः।
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ॥२८॥

(१) अज्ञान (२) आवरण (३) विक्षेप (४) परोक्षज्ञान (५) अपरोक्ष ज्ञान (६) तृप्ति तथा (७) शोकनाश ये सातों अवस्थायें जो दृष्टान्तभूत दसवें में दिखाई गयी हैं, दार्ष्टान्तिक चिदात्मा में भी लगा लेनी चाहियें।

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन ।
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥२९॥

यह विचारा चिदाभास, संसार अर्थात् विषयोपार्जन के ध्यान में मस्त हुआ हुआ,अपने स्वयं प्रकाश कूटस्थ आत्मतत्व को कभी पहचानता ही नहीं [वह तो दिन रात शरीर आदि की चाकरी में लगा रहता है, उसे आत्मतत्व को पहचानने की फ़ुर्सत ही नहीं है । वह अपने आत्मतत्व की बात को एक अप्रासंगिक (बे मौक़े) बात समझता है । बात चीत चलने पर वह आत्मतत्व को खूब ही फटकारता है, बस यही उस की अज्ञान नाम की पहली अवस्था कहाती है]

न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसङ्गतः ।
कर्ता भोक्ताहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥३०॥

चिदात्मा के विषय की जब बात चीत चलती है तब सदा यही कहता है कि महाशय कूटस्थ का न तो मुझे भान ही होता है और न वह है ही [यही अज्ञान की की हुई आवरण नाम की दूसरी अवस्था कहाती है] इसी से आत्मा को यह कहने लगता है कि 'मैं कर्ता हूँ' 'मैं भोक्ता हूँ' यही विक्षेप नाम की तीसरी अवस्था होने लगती है ।

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ।
पश्चात् कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः ॥३१॥

बात चीत में जब कोई समझाता है तब उसे परोक्षज्ञान नाम की चौथी अवस्था आ जाती है कि 'कूटस्थ है' [श्रवणादि का जब परिपाक हो जाता है तब] पीछे से वह यह प्रत्यक्ष रूप से

जानता है कि मैं तो कूटस्थ ही हूँ। यही उसकी अपरोक्षज्ञान नाम की पांचवीं अवस्था कहाती है।

कर्ता भोक्तेत्येवमादिशोकजातं प्रमुञ्चति।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥३२॥

[कूटस्थ असङ्ग आत्मा का ज्ञान जब हो जाता है तब] कर्ता भोक्ता आदि जितने भी शोक हैं उन सब को छोड़ देता है। [यही शोकापगम नाम की छठी अवस्था कहाती है]। जो कुछ करना था सो कर लिया, जो कुछ पाना था सो पा लिया, ऐसा समझ कर वह संतुष्ट हो जाता है। [यही उसकी तृप्ति नाम की सातवीं अवस्था कहाती है]।

अज्ञान मावृति स्तद्वद् विक्षेपश्च परोक्षधीः।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्ष स्तृप्ति र्निरंकुशा ॥३३॥

अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोक-राहित्य और निरङ्कुश तृप्ति [यों ये सातों अवस्थाएं इस दार्ष्टान्तिक में भी होती हैं]।

सप्तावस्था इमाःसन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ, तत्र तिस्रो बन्धकृतः स्मृताः॥३४॥

ये सातों अवस्थाएं चिदाभास की ही हैं। [कूटस्थ की नहीं] ये बन्ध और मोक्ष इन सातों अवस्थाओं में ही समा जाते हैं। इन सातों में पहली तीन[अज्ञान आवरण तथा विक्षेप] अवस्थाएं बन्ध करने वाली हैं। [पिछली चार मोक्ष की अवस्थाएं हैं]।

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम्।
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥३५॥

जिसके साथ आत्मतत्व के विचार का प्रागभाव नियम से रहता हो, तथा जो 'हम नहीं जानते आत्मतत्व क्या चीज है' ऐसा उदासीन व्यवहार कराता हो, उसी को 'अज्ञान' कहते हैं।

अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ।
विपरीतव्यवहृति रावृतेः कार्यमिष्यते ॥३६॥

[शास्त्रोक्त पद्धति को छोड़ कर] जब अमार्ग (केवल तर्क) से विचार करके, यह विपरीत व्यवहार किया जाने लगता है कि 'कूटस्थ न तो है ही और न प्रतीत ही होता है' तब इसी को 'आवरण का कार्य' कहते हैं।

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बन्धकः॥३७॥

स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों के सहित जो चिदाभास है वही 'विक्षेप' कहाता है। बन्धक अर्थात् बन्धन कराने वाला कर्तृत्व प्रमातृत्व रूपी जो संसार नाम का सम्पूर्ण शोक है वह सब इसी चिदाभास का उत्पन्न किया हुआ है।

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात् प्राक् प्रसिद्ध्यतः।
यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेपस्यैव नात्मनः॥३८॥

यद्यपि 'अज्ञान' और 'आवरण' ये दोनों अवस्थाएं विक्षेप से पहली हैं, तौ भी ये दोनों अवस्थाएं आत्मा की नहीं हैं [क्योंकि असङ्ग होने के कारण आत्मा की तो कोई अवस्था ही नहीं होती] और कोई गति न होने से इनको चिदाभास की ही अवस्था मानना पड़ता है।

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः ।
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ॥३९॥

जब तक विक्षेप उत्पन्न नहीं हुआ था, तब भी विक्षेप के [उत्पादक] संस्कार तो थे ही, इस कारण से 'अज्ञान' और 'आवरण' दोनों को विक्षेप की अवस्था कहने में कोई विरोध नहीं रह जाता ।

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ।
न शङ्कनीयं, सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ॥४०॥

[अज्ञात रहने वाले संस्कारों के सहारे से, इन दोनों को विक्षेप की अवस्था कहने से तो यही अच्छा है कि] ब्रह्म में आरोपित होने से इन दोनों को ब्रह्म की ही अवस्था मान लिया जाय, ऐसी शंका न करनी चाहिए । क्योंकि यों तो सारी ही अवस्थाएं ब्रह्म में आरोपित हैं [फिर तो सभी को ब्रह्म की अवस्था कह देना होगा] ।

संसार्यहं विबुद्धोहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि ।
जीवगा उत्तरावस्था भान्ति न ब्रह्मगा यदि ॥४१॥
तर्ह्यज्ञोहं ब्रह्मसत्वभाने मद्दृष्टितो नहि ।
इति पूर्वे अवस्थे च भासेते जीवगे खलु ॥४२॥

मैं संसारी [कर्तृत्व आदि धर्म वाला] हूँ, मैं विबुद्ध हूँ अर्थात् मुझे तत्व का साक्षात्कार हो चुका है, अब मुझे शोक नहीं रहा, मैं अब पूर्ण तुष्ट हो चुका हूँ, ये पिछली चारों अवस्थाएं तो स्पष्ट ही जीव के आश्रित प्रतीत हो रही हैं,इस कारण हम इन चारों को ब्रह्माश्रित नहीं कहते हैं । किन्तु विक्षेप से

पहली उन दो अवस्थाओं को (अज्ञान और आवरण को) ही ब्रह्माश्रित कहते हैं,ऐसी शंका यदि कोई करे तो उससे कहो कि तब तो पहली दोनों (अज्ञान और आवरण नाम की) अवस्थाएं भी जीव के आश्रित ही प्रतीत होती हैं, इसलिए वे जीव की ही अवस्थाएं हैं, तभी तो कहा जाता है कि मैं अज्ञ हूँ, ब्रह्म की सत्ता और ब्रह्म का भान मेरे अनुभव में आता ही नहीं।

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः।
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम् ॥४३॥

पूर्वाचार्यों ने जो ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय कहा है,उनका तात्पर्य उसे अधिष्ठान बताने में ही है। हमने तो अज्ञान का अभिमानी होने से उस (अज्ञान) को जीव की अवस्था कह दिया था।

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः।
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधापि विनश्यति ॥४४॥

परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान के द्वारा जब यह आवरण करने वाला अज्ञान नष्ट हो जाता है,तब उस अज्ञान का उत्पन्न किया हुआ दोनों ही प्रकार का आवरण*'कि वह नहीं है और प्रतीत भी नहीं होता है' विनष्ट हो जाता है [क्योंकि उसका कारण ही नहीं रहता। यों परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान नाम की दोनों अवस्थाएं अज्ञान और आवरण को हटा कर मुक्ति का कारण हो जाती हैं]।

*आवरण दो प्रकार का होता है एक असत्वापादक [नहीं है कहलाने वाला] कि वह है ही नहीं, दूसरा अभानापादक [प्रतीत नहीं होता कहलाने वाला] कि वह मुझे प्रतीत नहीं होता।

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्वावृतिहेतुता ।
अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता ॥४५॥

['कूटस्थ है' ऐसा] परोक्षज्ञान जब हो जाता है, तब अज्ञान की असत्वावरण शक्ति नष्ट हो जाती है [फिर वह साधक 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा कभी नहीं कहता] जब तो ['मैं ही कूटस्थ हूँ' ऐसा] प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है फिर [कूटस्थ की प्रतीति मुझे नहीं होती ऐसा] अभानावरण भी भाग जाता है। [असत्वावरण अनुभवी गुरु के समझाने से जाता है, अभानावरण अपने प्रयत्न से साक्षात् होने पर हटाया जाता है] ।

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ॥४६॥

[पिछली दोनों अवस्थायें ज्ञान का फल हैं। अब उन में से पहली शोकनिवृत्ति नाम की अवस्था को कहा जाता है कि] अभानावरण जब निवृत्त हो जाता है तब भ्रान्ति से प्रतीत होने वाला जीवत्व भी नहीं रहता और फिर तो [जीव भाव के कारण बना हुआ] कर्ता भोक्ता रूपी संसार नाम का सभी शोक भाग जाता है ।

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात् ।
निरङ्कुशा भवेत् तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥४७॥

जब [कर्तृत्व आदि रूप वाला] सब संसार नहीं रहता तब [मेघों के हट जाने से सूर्य का भास जैसे हो जाता है उसी तरह] आत्मा के नित्यमुक्तपने का भास होने लगता है । फिर तो निर्मर्याद तृप्ति हो जाती है । क्योंकि फिर कभी शोक की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती ।

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे।
अवस्थे जीवगे ब्रूते आत्मानं चेदिति श्रुतिः ॥४८॥

चिदाभास की जो सात अवस्थायें ऊपर बतायी गयी हैं, उनमें जो 'प्रत्यक्षज्ञान' और 'शोकनिवृत्ति' नाम की दो पिछली अवस्थायें जीवों में पायी जाती हैं, उन्हीं का प्रतिपादन 'आत्मानं चेद्विजानीयात्' इस श्रुति ने किया है। [यों हम ने प्रकरण से बाहर कुछ भी वर्णन नहीं किया।]

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद् द्विविधं भवेत्।
विषयस्वप्रकाशत्वाद् धियाप्येवं तदीक्षणात् ॥४९॥

'अयम्' यह शब्द जिस अपरोक्षता का वर्णन करता है, वह अपरोक्षता दो तरह की होती है। एक तो यह कि वह विषय ही स्वयं प्रकाश है [वह अपने व्यवहार के लिये दूसरे साधन का मुँह ही नहीं तकता] दूसरे यह कि बुद्धि से भी उस आत्मा को स्वयं प्रकाश ही देख या जान लिया जाता है। [यह आत्मवार्ता तोतों के राम राम की तरह केवल कहने ही कहने की न रह जाय, किन्तु अपने हृदय को जब इस महान तत्व की दीक्षा दे दी जाती है, जब हृदय पटल में अनुभव के अक्षरों में लिख कर आत्मवार्ता टांग दी जाती है, उस अवस्था का वर्णन इसमें है]

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता।
समा, ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ॥५०॥

जब किसी को उसका परोक्षज्ञान हो (प्रत्यक्ष न हुआ हो) तब भी आत्मा नाम का विषय तो स्वप्रकाश रहता ही है। [प्रत्यक्षज्ञान के समय वह ब्रह्म जैसे स्वयं प्रकाश है, इसी प्रकार

परोक्षज्ञान के समय भी वह ब्रह्म स्वयंप्रकाश ही रहता है]क्यों कि तब [परोक्षज्ञान के समय] उसे यही ज्ञान तो होता है कि स्वयंप्रकाश ब्रह्म नाम की वस्तु इस संसार में है।

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखत् ।
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रान्तं बाधानिरूपणात् ॥५१॥

परोक्षज्ञान में केवल इतनी ही कमी तो है कि वह साधक के हृदय में 'मैं ब्रह्म हूँ' इस महावार्ता को [अनुभव के अक्षरों में] लिख नहीं देता है । वह तो उसे केवल यही बताता है कि ब्रह्म नाम का कोई पदार्थ है। सो भाई ! यह परोक्षज्ञान भ्रान्त ज्ञान नहीं है क्योंकि इस [परोक्षज्ञान] की बाधा का निरूपण तो हो ही नहीं सकता। [इस परोक्षज्ञान को अधूरा ज्ञान तो कह सकते हैं, भ्रान्त नहीं कह सकते]

ब्रह्म नास्तीति मानं चेत् स्याद् बाध्येत तदा ध्रुवम् ।
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते ॥५२॥

[परोक्षज्ञान की बाधा नहीं होती, इसी को स्पष्ट करके दिखाया जाता है कि] यदि कोई ऐसा प्रमाण मिल जाता जो यह सिद्ध कर देता कि 'ब्रह्म नहीं है' तब तो निश्चय ही इस परोक्षज्ञान की भी बाधा हो जाती। परन्तु ऐसा प्रबल प्रमाण तो हमें मिलता ही नहीं। इससे [हम तो यही कहते हैं कि] इस परोक्षज्ञान की बाधा नहीं होती है।

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि ।
भ्रान्तिः स्याद्व्यक्त्यनुल्लेखात् सामान्योल्लेखदर्शनात् ॥

परोक्षज्ञान से ब्रह्मव्यक्ति का उल्लेख नहीं होता है, केवल इतने से कारण से यदि परोक्षज्ञान को भ्रान्तज्ञान माना जायगा

तो हम कहेंगे कि तब तो स्वर्ग का ज्ञान भी भ्रम ही होगा। क्योंकि 'यह स्वर्ग है' ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता। किन्तु सब सामान्यतया इतना ही तो जानते हैं कि 'स्वर्ग नाम का कोई लोकविशेष है।'

अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमति भ्रमः।
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात् पारोक्ष्यसंभवात् ॥५४॥

जो वस्तु प्रत्यक्ष होनी चाहिये, उसको यदि पहले केवल परोक्षरूप से ही जान लिया जाय तो वह भ्रम नहीं होता है। क्योंकि 'ब्रह्म परोक्ष है' ऐसा ज्ञान तो हम किसी को कराते ही नहीं। वह ब्रह्म तो [हम लोगों की बे समझी से] अर्थात् ही परोक्ष हो गया है। ['वह ब्रह्म है' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान जब किसी को नहीं हो पाता, तब वह अर्थात् यह मान बैठता है कि ब्रह्म तत्व परोक्ष है। हां 'ब्रह्म परोक्ष है' ऐसा ज्ञान यदि किसी को हो जाता हो तो वह अवश्य ही भ्रान्त ज्ञान कहायगा]

अंशागृहीते भ्रान्तिश्चेद् घटज्ञानं भ्रमो भवेत्।
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः ॥५५॥

[परोक्षज्ञान में ब्रह्मभाग को तो ग्रहण कर लिया जाता है किंतु उसका जो प्रत्यग् भाग है—उसमें जो मैं पन या हमारा हिस्सा है—उसको ग्रहण नहीं किया जाता यों] अंश का अग्रहण होने से ही यदि उस परोक्षज्ञान को भ्रम माना जाय, तब तो घटादि का ज्ञान भी भ्रम ही हो जायगा [क्योंकि घट के अन्दर के अवयवों का भी तो ग्रहण किसी को नहीं होता है, वहाँ भी तो अंश का अग्रहण रहता ही है] यदि पूछो निरंश ब्रह्म को अंश वाला कैसे कहते हो?

हम कहेंगे कि—व्यावर्त्य अंशरूपी उपाधि के भिन्न होने से निरंश (निरवयव) भी सांश (सावयव) मान लिया जाता है ।

असत्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ।
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ॥५६॥

उन व्यावर्त्य दो अंशों में से एक 'असत्वांश' की निवृत्ति तो परोक्षज्ञान से हो जाती है तथा दूसरे 'अभानांश की निवृत्ति अपरोक्षज्ञान कर देता है ।

दशमोस्तीति विभ्रान्तं परोक्षज्ञान मीक्ष्यते ।
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ॥५७॥

आप्त का वाक्य सुनने पर 'दसवां है' ऐसा विभ्रान्त अर्थात् अभ्रान्त परोक्षज्ञान लोक में देखते हैं । इसी प्रकार [शास्त्र या गुरु के कहने से] जोकि 'ब्रह्म है' ऐसा एक परोक्षज्ञान उत्पन्न होता है वह भी अभ्रान्त ही है । क्योंकि अज्ञान के कारण असत्वावरण तो दोनों में समान ही था [ब्रह्म और दसवां दोनों ही नास्ति (नहीं हैं) समझ लिये गये थे । ऐसी अवस्था में जिसको प्रत्यक्ष ग्रहण किया जा सकता हो, उसको यदि परोक्ष रूप से जान लिया जाय तो वह ज्ञान भ्रमज्ञान नहीं होता । यही बात इस श्लोक में दर्शायी गयी है ।]

आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते ।
व्यक्तिरुल्लिख्यते यद्वद् दशमस्त्वमसीत्यतः ॥५८॥

'अयमात्मा ब्रह्म' बृ० २-५-१९ इस महावाक्य के अर्थ का विचार जब भले प्रकार किया जाता है तब पहले जिस ब्रह्म को परोक्षरूप से जाना जा चुका था, उसी ब्रह्म स्वरूप का पीछे से साक्षात्कार हो जाता है । जैसे कि 'दसवां तू ही है'

इस वाक्य से अपने में दशमत्व का साक्षात्कार हो गया था। [भाव यह है कि—केवल वाक्यश्रवण से तो परोक्षज्ञान ही हुआ करता है। परन्तु जब उस परोक्षज्ञान के साथ विचार भी मिल जाता है और विचार तथा अनुभव दोनों एक ही बात कहने लगते हैं, तब साक्षात्कार किंवा अपरोक्षज्ञान हो जाता है।]

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते।
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत् ॥५९॥

[जिस दसवें के होने को तुम कह रहे हो कि 'दसवां है'] वह दसवां कौन सा है? यह प्रश्न जब किया जाता है और जब कि उसका उत्तर यह दिया जाता है, कि 'दसवें तुम्ही हो' तब वह अपने साथ शेष नौ को गिन कर पीछे से अपने को ही दसवां मान लेता है [कि ओहो! दसवां तो मैं ही हूँ। यों यह देख लो कि विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है]।

दशमोसीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते।
आदिमध्यावसानेषु न नवत्वस्य संशयः ॥६०॥

इस दसवें पुरुष को 'तू ही दसवां है' इस वाक्य से जो अपने दशवेंपन का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि 'मैं ही दसवां हूँ' उस बुद्धि का फिर कभी विघात नहीं होता [किसी ज्ञान से उस बुद्धि की बाधा नहीं होती]। फिर तो उसे उन नौ के आदि, मध्य या अवसान में कहीं भी गणना करने पर दसवें के विषय में संशय कभी (जीवनपर्यन्त) नहीं होता कि 'मैं दसवां हूँ या नहीं? [इस कारण वही दृढ अपरोक्ष ज्ञान कहाता

है। उसको नौ के विषय में संशय नहीं था केवल दसवें का संशय था वह भी अब जाता रहा]

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्वं परोक्षतः।
गृहीत्वा तत्वमस्यादिवाक्याद् व्यक्तिं समुल्लिखेत् ॥६१॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (छा० ६–२–१) इत्यादि वाक्यों को सुन कर साधक पहले तो ब्रह्म के होने का निश्चय कर लेता है, [फिर जब उसके जीवरूप से प्रवेश को सुनता है तब उसी के प्रत्यग्रूप होने की संभावना भी कर लेता है] उसके पश्चात् जब 'तत्वमसि' आदि महावाक्य [अनुभवी गुरु के द्वारा] सुनाया जाता है तब अपने अद्वितीय ब्रह्मरूप आत्मा को 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस रूप में साक्षात् कर लेता है।

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम्।
नैव व्यभिचरेत् तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥६२॥

यह आत्मा के ब्रह्मत्व की बुद्धि जब एक बार पैदा हो जाती है,फिर पांचों कोशों के आदि या मध्य या अन्त में कहीं भी आत्मा का व्यवहार करने पर भी,वह ब्रह्मत्व बुद्धि अन्यथा नहीं होती। इस कारण इस बुद्धि को ही अपरोक्षज्ञान कहते हैं।

जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन भृगुः पुरा।
पारोक्ष्येण गृहीत्वाथ विचाराद् व्यक्तिमैक्षत ॥६३॥

भृगु नाम के ऋषि ने 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' तै० ३–१ इस वाक्य में कहे हुए लक्षणों से, कि वह जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण है, ब्रह्म को पहले तो परोक्षरूप से जाना, उसके पश्चात् जब उसने अन्नमयादि पांचों कोशों का

विचार किया, तब वह व्यक्ति अर्थात् प्रत्यगात्मा रूपी ब्रह्म को देख पाया। [यों तैत्तिरीय श्रुति के पर्यालोचन से यह बात सिद्ध होती है कि—पहले तो वाक्य से परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न हुआ करता है। फिर जब उस वाक्य के साथ विचार मिल जाता है,तब वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है]।

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोः पिता।
तथाप्यन्नं प्राणमिति विचार्य स्थलमुक्तवान् ॥६४॥

इस प्रकरण में यद्यपि भृगु के पिता ने 'तू ही ब्रह्म है' ऐसा कोई उपदेश वाक्य तो नहीं कहा है, तो भी अन्न, प्राण आदि का विचार करने के बाद, आत्मसाक्षात्कार के उत्पादक विचार के योग्य स्थल को तो दिखला ही दिया है।

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः।
आनन्दव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत् ॥६५॥

अन्न प्राण आदि पांचों कोशों में बार बार सुविचार करके आनन्द नाम के आत्मा को साक्षात् देख कर पीछे से आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तै० ३–६) ब्रह्म के इस लक्षण को भी प्रत्यगात्मा में ही लगा दिया है। [इस कारण यह न कहना चाहिए कि—अन्नमयादि कोशों का विचार करने पर तो प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। ब्रह्म का साक्षात्कार उससे कैसे होगा? क्योंकि प्रत्यगात्मा ही तो ब्रह्म है। क्योंकि ब्रह्म के सब लक्षण उसमें मिलते हैं। यों उससे भिन्न ब्रह्म नाम का कोई भी पदार्थ नहीं है]।

सत्यं ज्ञान मनन्तं चेत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणम् ।
उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत् प्रदर्शितम् ॥६६॥

'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' (तै० २–१) इस वाक्य से ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को बता कर 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (मुण्ड० २–१–१०) इस वाक्य के द्वारा पांचों कोशों रूपी गुहाओं के अन्दर छिपे बैठे हुए, उसी को प्रत्यगात्मा कह दिया है [अर्थात् सत्यादि स्वरूप वाले ब्रह्म ने ही प्रत्यग्रूप धारण कर लिया है । ऐसा श्रुतियों का अभिप्राय है। वे प्रत्यगात्मा और ब्रह्म में भेद नहीं समझती हैं] ।

पारोक्ष्येण विबुध्येन्द्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ।
अपरोक्षीकर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ॥६७॥

'य आत्मा पहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः' (छा०८–७–१) इस वाक्य में बताये हुए लक्षण से इन्द्र ने आत्मा को पहले परोक्षरूप से ही तो जान लिया था—फिर [तीनों शरीरों का निराकरण करके] आत्मा को साक्षात् करने के लिये, चार बार गुरु के पास गया था । [यह बात छान्दोग्य के आठवें अध्याय में कही गयी है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि परोक्षज्ञान के पश्चात् विचार करने पर ही साक्षात्कार हुआ करता है]

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ।
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ॥६८॥

'आत्मा वा इदं' इत्यादि ऐतरेय में पहले लक्षणा द्वारा परोक्ष-रीति से ब्रह्म का कथन किया गया। फिर अध्यारोप और अपवाद के द्वारा प्रज्ञानरूप ब्रह्म को साक्षात् दिखाया गया।

[ऐतरेय श्रुति में भी 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्य-

किञ्चन मिषत्' (ऐत० १-१) इस वाक्य से तो पहले ब्रह्म को लक्षित किया गया, फिर 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' (ऐत० १-१) इत्यादि रीति से प्रारम्भ करके 'तस्य त्रय आवसथा स्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथः' (ऐत० ३-१२) तक जगत् के आरोप की रीति बतायी गयी। फिर 'स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत किमिहान्यं वावदिषत्'(एते० ३-१३)इसमें आरोपित किये हुए का अपवाद (खण्डन) किया गया। उस के पश्चात् 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमिति' (ऐत० ३-१३) इस वाक्य में प्रत्यगात्मा के रूप में ब्रह्मस्वरूप को प्रत्यक्ष देखा गया। उस के अनन्तर 'पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो जायते' (ऐत० ४-१) इत्यादि वाक्यों में ज्ञान के साधन वैराग्य को उत्पन्न करने के लिये गर्भवासादि के दुःखों का प्रदर्शन कराया गया। फिर 'कोयमात्मेति वयमुपास्महे' (ऐत० ५-१) इत्यादि विचार के द्वारा 'तत्' 'त्वं' पदार्थ का परिशोधन करने के पश्चात् प्रज्ञानं ब्रह्म'(ऐत०५-१) इस महावाक्य के द्वारा प्रज्ञानरूप आत्मा की ब्रह्मता का प्रदर्शन किया गया है।

अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत्।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥६९॥

[इन ही उपनिषदों में नहीं और भी] सब शास्त्रों में अवान्तर वाक्यों से तो परोक्ष ब्रह्मज्ञान कराया जाता है तथा महावाक्यों के द्वारा अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ब्रह्मज्ञान किया जाता है।

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम्।
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि ॥७०॥

ब्रह्म के अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) करने के लिये ही महावाक्यों का कथन है, यह बात शंकराचार्यजी ने अपनी 'वाक्यवृत्ति' नाम की पुस्तक में कही है। इस कारण वाक्य से ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं रहती।

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः।
अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥७१॥

वाक्यवृत्ति में कहा गया है कि—अन्तःकरण उपाधिवाला जो बोध (चिदात्मा) है, जो 'मैं' इस प्रतीति के तथा 'मैं' इस शब्द के विषयरूप से प्रतीत होता है, वही (बोध) त्वं पद का वाच्यार्थ कहाता है।

मायोपाधि र्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मक स्तत्पदाभिधः ॥७२॥

माया जिसकी उपाधि है, जगत् का जो [निमित्त और उपादान] कारण है, सर्वज्ञता आदि जिसके तटस्थ लक्षण हैं, परोक्षता नामक धर्म जिसमें पाया जाता है, सत्य ज्ञानादि जिसका स्वरूप बताया जाता है वही तो 'तत्' पद का वाच्यार्थ है।

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता।
विरुद्ध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ॥७३॥

वही वस्तु 'प्रत्यक्' भी हो और 'परोक्ष' भी हो, तथा 'सद्वितीय' भी हो और 'पूर्ण' भी हो, ये दोनों बातें विरुद्ध हैं (हो नहीं सकती) इस कारण (संगति बैठाने के लिए) लक्षणा वृत्ति का आश्रय लेना पड़ जाता है।

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥७४॥

'सोयं देवदत्तः' इस वाक्य के 'सोऽयं' इन दोनों पदों में जैसे भागलक्षणा [जहदजहल्लक्षणा]मानी गई है [दूसरी कोई सी लक्षणा नहीं मानी गई]इसी प्रकार तत्वमसि आदि वाक्यों में भी भागत्याग लक्षणा ही होती है।

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥७५॥

['गामानय' गौ को लाओ इत्यादि वाक्यों में लक्षणा न करने पर भी वाक्यार्थबोध हो जाता है, वैसे ही इन तत्वमसि आदि वाक्यों में भी हो जायगा। इस शंका का समाधान यह है कि लोक में 'गामानय' इत्यादि पदों से जो आकांक्षा आदि वाले गौ आदि पदार्थ उपस्थित होते हैं, उनका परस्पर 'संसर्ग' (अन्वय) हो जाना ही जैसे वाक्यार्थ माना जाता है, 'नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलम्' इत्यादि में नीलता आदि विशिष्ट उत्पल (फूल) को वाक्यार्थ माना जाता है, इस तरह] इन महावाक्यों में 'संसर्ग' या 'विशिष्ट' कोई भी वाक्यार्थ नहीं माना जाता। किन्तु विद्वान् लोग अखण्ड एकरस पदार्थ को वाक्यार्थ मानते हैं [इस कारण लक्षणा का आश्रय कर लेना चाहिए]।

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥७६॥

अखण्ड एकरस वाक्यार्थ यों होता है—जो कि प्रत्यग्बोध [या सर्वान्तर चिदात्मा] प्रतीत हो रहा है [जो बुद्धि आदि का साक्षी होकर भास रहा है] वही तो अद्वितीय आनन्दरूप परमात्मा है, तथा वह जो अद्वितीय आनन्दरूप परमात्मा बताया जाता है वह यह चिदेकरस आत्मा ही तो है।

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥७७॥
तदर्थस्य च पारोक्ष्यम्, यद्येवं किं ततः शृणु ।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥७८॥

जब किसी को इस प्रकार [व्यतिहार से—लौट फेर से] तादात्म्य का ज्ञान हो जायगा,तब एक तो यह होगा कि त्वमर्थ में जो अब्रह्मता आ गई थी [भ्रान्ति से उसको जो अब्रह्म समझ लिया गया था] वह तुरन्त ही भाग जायगी। दूसरे यह होगा कि तदर्थ में जो परोक्षता आ गई थी [वह जो परोक्ष ज्ञान का ही विषय हो गया था] वह भी उसी क्षण नष्ट हो जायगी। ऐसा होने पर भी क्या होगा ? सो इस प्रश्न का उत्तर भी सुन लो, कि—यह जो अभी तक प्रत्यग्बोध ही था यही अब पूर्णानन्द बन बैठता है।

एवं सति महावाक्यात् परोक्षज्ञानमीर्यते ।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम् ॥७९॥

इतना सब सुन चुकने पर भी जो लोग यह कहते ही जाते हैं कि महावाक्य से परोक्षज्ञान ही होता है. [वे सिद्धान्त के रहस्य को जानते ही नहीं] सिद्धान्त-ज्ञानरहित उनकी बात सुन कर हमें तो हँसी आती है ।

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धान्तो युक्त्या वाक्यात् परोक्षधीः।
स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः ॥८०॥

शास्त्र के सिद्धान्त की बात को छोड़ दो [उससे हमें कुछ मतलब नहीं] युक्ति से यही सिद्ध होता है कि—वाक्य से तो

स्वर्गादि के प्रतिपादक वाक्यों की तरह, परोक्षज्ञान ही हुआ करता है । सो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि इस बात का व्यभिचार दशवें में देखा जाता है [देखते हैं कि 'तू ही दसवां है' यह वाक्य प्रत्यक्षज्ञान को उत्पन्न किया करता है]

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवाञ्छतः ।
नश्येत् सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो ॥८१॥

सिद्धान्ती हंसी में कहता है कि—तुम्हारी यह युक्ति तो इनाम देने योग्य ही है कि—जो बिचारा जीव अभी तक स्वतः अपरोक्ष ही था, उसे जब ब्रह्मभाव की इच्छा हुई तो उस की (पहले से) सिद्ध अपरोक्षता भी हाथ से छिन गयी । [इस कारण महावाक्यों को परोक्षज्ञान का जनक मानना ठीक ही नहीं है]

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम् ।
लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः ॥८२॥

[यदि इस दोष को इष्टापत्ति मानो तो हम कहेंगे कि] तुम्हारे जैसे अविचारशील की कृपा से तो आज यह लौकिक वचन भी सार्थक हो गया कि 'सूद चाहने वाले का मूल धन भी बरबाद हो गया ।'

अन्तःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् ।
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ॥८३॥
नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः ।
यावद्विदेहकैवल्य मुपाधेरनिवारणात् ॥८४॥

पूर्वपक्षी कहता है कि—अन्तःकरण से मिश्रित जो बोध है, जिसे 'जीव' कहते हैं, उपाधि के होने से उसका प्रत्यक्ष

हो जाय यह तो हम मान लेते हैं। परन्तु उपाधि से रहित जो ब्रह्मतत्व है उसका प्रत्यक्ष होना ठीक नहीं मालूम होता ॥८३॥ इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि—[जीव को जो] ब्रह्मरूपता का परिज्ञान होता है, वह तो सोपाधिक वस्तु को ही विषय करता है [इस कारण उस ज्ञान का विषय जो ब्रह्म है वह भी सोपाधिक ही है। तात्पर्य यह है कि—जब तक ज्ञेय सोपाधिक नहीं होगा, तब तक ज्ञान उस पदार्थ को अपना विषय ही कैसे करेगा। उपाधि के बिना तो ज्ञेय का ज्ञान होता ही नहीं] जब तक किसी को विदेह कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो जाती है, तब तक उपाधि का निवारण तो हो ही नहीं सकता, इस कारण तब तक वह उपाधि बनी ही रहेगी और यों ब्रह्म का प्रत्यक्ष भी होता ही रहेगा।

अन्तःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतयाश्च नान्यथा ॥८५॥

[इन उपाधियों की बात भी सुन लीजिये] 'अन्तःकरण का साहित्य' तो जीवभाव की उपाधि है तथा 'अन्तःकरण का राहित्य' ब्रह्मभाव की उपाधि मानी गयी है। इनकी उपाधियों में और कोई विलक्षणता नहीं है—[अन्तःकरण सहित तत्व को 'जीव' कहते हैं और अन्तःकरण रहित हो चुके हुए तत्व को 'ब्रह्म' कहते हैं। जो तत्व अभी तक अन्तःकरण सहित सा हो रहा था, वही तत्व अब अन्तःकरण से नाराज़ होकर अलग बैठ गया है। जिस तत्व को अभी तक अन्तःकरण से सहित पहचानते थे, उसी तत्व को अब अन्तःकरण से रहित रूप में जानने लगे हैं]

यथा, विधिरुपाधिः स्यात् प्रतिषेधस्तथा न किम् ।
सुवर्णलोहभेदेन श्रृङ्खलात्वं न भिद्यते ॥८६॥

विधि [अर्थात् भावरूप अन्तःकरण का सम्बन्ध] जिस प्रकार उपाधि होती है, क्या इसी प्रकार प्रतिषेध [अर्थात् अभाव-रूप, अन्तःकरण का वियोग] उपाधि नहीं हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि हो ही सकता है । [फिर भी जो भाव या अभावरूपी अवान्तर विलक्षणता दीखती है, उसकी परवाह न करनी चाहिये। क्योंकि देखते हैं कि] सोने या लोहे के अवान्तर भेद से शृङ्खलापने में तो कोई भी भेद नहीं हो जाता। [पुरुष की स्वतन्त्रता को हरण करने में सुवर्णपने या लोहपने का कुछ भी मूल्य नहीं है। इसी प्रकार उस तत्व को चाहे अन्तःकरण से सहित रूप में पहचाना जाय या अन्तःकरण से रहित रूप में पहचाना जाय, बात एक ही है । कुण्डल वाला गुरु है कुण्डल जिस पर नहीं वह उसका विद्यार्थी, यहाँ पर कुण्डल का होना गुरु की उपाधि है । कुण्डल का न होना छात्र की उपाधि है । यों उपाधि के अवान्तर भेद को समझें तो अन्तःकरण रहित रूप में ब्रह्मतत्व जाना ही जा सकता है ।]

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद् विधिमुखेन च ।
वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्याद् द्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥८७॥

आचार्य ने कहा है कि—वेदान्तों ने ब्रह्म का प्रतिपादन दो तरह से किया है—एक तो अतद्व्यावृत्ति रूप से, दूसरे साक्षात् विधिमुख से । अतद् अर्थात् तद् (ब्रह्म) से भिन्न जो अज्ञा-नादि हैं उनको 'नेतिनेति' करके हटा दिया जाय, किंवा अतत् जो यह प्रपंच है, उसकी व्यावृत्तिरूपी उपाय भी ब्रह्म का दर्शन

करा देता है । दूसरे उस ब्रह्म के साक्षात् वाचक शब्दों का ही कथन कर दिया जाय—जैसे कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि । यही विधिमुख से किया हुआ प्रतिपादन माना जाता है ।

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः ।
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ॥८८॥

[जब वेदान्तों को अतद्व्यावृत्ति रूप से ब्रह्म का बोधक मानोगे तब] 'अहं' शब्द का अर्थ जो कूटस्थ है, उसका भी त्याग जब हो जायगा तब 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकेगा ? इसका उत्तर यह है कि—हम ऐसा सर्वत्याग मानते ही नहीं । हम तो 'भागलक्षणा' किंवा 'जहद्जहल्लक्षणा' से अहंशब्द के अर्थ जडभागरूपी एकदेश का ही त्याग करते हैं [अहं के दूसरे अर्थ कूटस्थ अंश का त्याग हम ने नहीं माना है । ऐसी अवस्था में 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान हो ही सकता है]

अन्तःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ।
अहं ब्रह्मेतिवाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते ॥८९॥

अन्तःकरण का पूर्ण त्याग कर देने पर [अपने आत्मराज्य में से अन्तःकरण को धक्का दे देने पर] जो चिदात्मा शेष रह जाता है, 'अहं ब्रह्मास्मि' यह महावाक्य उसी शेष रहे हुए चेतन साक्षी में ब्रह्मत्व का ज्ञान कराता है ।

स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥ ९० ॥

[स्वप्रकाश होने के कारण फिर उस केवल रह गये हुए

प्रत्यगात्मा को बुद्धिवृत्तियाँ कैसे विषय करेंगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि] स्वयंप्रकाश भी वह साक्षी अन्य घटादियों के समान धीवृत्तियों से व्याप्त तो हो ही जाता है [तभी तो 'मैं स्वयंप्रकाश हूँ' ऐसी बुद्धिवृत्ति का होना सम्भव हो गया है] यह बात हम सिद्धान्त से बाहर की नहीं कह रहे हैं क्योंकि शास्त्रकारों ने यही तो कहा है कि फल [अर्थात् वृत्ति में प्रतिबिम्बित चिदाभास] इस आत्मा को व्याप्त नहीं करता [क्योंकि वह तो स्वयं ही स्फुरणरूप होता है। आत्मा की वृत्ति की व्याप्ति को तो पूर्वाचार्य भी मानते ही हैं। वे तो केवल फल की व्याप्ति का निषेध करते हैं]

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥९१॥

[जब हमें घट दीखता है तब] बुद्धि भी और उसमें पड़ा हुआ चिदाभास भी दोनों ही घट को व्याप्त किया करते हैं [दोनों के व्याप्त करने के फल भी पृथक् पृथक् देख लो कि] उन दोनों में से बुद्धिवृत्ति से तो अज्ञान नष्ट हो जाता है— [क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का परस्पर विरोध है] तथा दूसरा जो चिदाभास है उस से घट की स्फूर्ति हुआ करती है [क्योंकि जड होने के कारण घट में स्वयं स्फुरण की योग्यता नहीं होती]

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
स्वयंस्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥९२॥

[प्रत्यगात्मा और ब्रह्म की जो एकता थी उसको अज्ञान ने आवृत कर रक्खा था] ब्रह्म में के उस अज्ञान का नाश करने

के लिये वृत्ति की व्याप्ति तो अपेक्षित होती है—[महावाक्यों को सुनकर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी जो एक बुद्धिवृत्ति उत्पन्न हुआ करती है, वह वृत्ति ब्रह्म को व्याप्त करले, केवल यही बात आवश्यक है] परन्तु स्वयं स्फुरणरूप होने के कारण, उसकी स्फूर्ति कराने के लिये, फिर चिदाभास का कुछ भी उपयोग नहीं रह जाता [ऐसी अवस्था में वह चिदाभास भले ही ब्रह्म से युक्त हो भी जाता हो तो भी उसमें उसका कुछ भी उपयोग नहीं होता। वह तो सूरज के सामने लाये हुए दीपक की तरह ब्रह्म-तत्व के सामने निकम्मा हो जाता है, या उस ही में लीन हो कर एक हो जाता है। यों वह उसे देख नहीं पाता।]

चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा।
न दीपदर्शने किन्तु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ॥९३॥

[अन्धेरे से ढके हुए] घटादि को देखने में चक्षु और दीपक दोनों ही अपेक्षित होते हैं। परन्तु दीपक को देखने में तो वैसा नहीं होता। किन्तु एक चक्षु ही चक्षु अपेक्षित होती है [इसी प्रकार ब्रह्म में अज्ञान का नाश करने के लिये वृत्ति की व्याप्ति तो मान लेनी चाहिये किन्तु उसके स्फुरण के लिये आभास का कुछ उपयोग नहीं होता]

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत् परम्।
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद् घटादिवत् ॥९४॥

जो वृत्तियाँ ब्रह्म को विषय किया करती हैं, उनमें भी यद्यपि चिदाभास रहता है, परन्तु वह ब्रह्म से पृथक् होकर नहीं भासता। किन्तु [प्रचण्ड धूप में जलते हुए दीपप्रकाश के समान] ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है।

फिर वही चिदाभास घटादि की तरह ब्रह्म में स्फूर्त्ति रूपी अतिशय को उत्पन्न नहीं कर सकता।

अप्रमेय मनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम्।
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्यता श्रुता ॥९५॥

ब्रह्म में वृत्ति की व्याप्ति तो है परन्तु फल की व्याप्ति ब्रह्म में नहीं होती, यह बात हम अप्रामाणिक नहीं कहते हैं देखो कि— निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवार्जितं। अप्रमेयमनादिं च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः॥ अमृतबिन्दु उपनिषत् की इस श्रुति के अप्रमेय शब्द का तात्पर्य यही है कि उसमें फल की व्याप्ति नहीं होती, और यों वह अप्रमेय ही रह जाता है तथा मनसैवेदमाप्तव्यं नेहनानास्ति किंचन (कठ० २–४–११) इस श्रुति में ब्रह्म की वृत्तिव्याप्यता की बात सुनी गयी है।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः।
ब्रह्मात्मव्यक्ति मुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते॥९६॥

[सत्यज्ञानादि स्वरूपवाले] ब्रह्म से अभिन्न आत्मा को जब कोई अधिकारी विषय कर लेता है, उस समय जो बोध किंवा अपरोक्ष ज्ञान उसे उत्पन्न हुआ करता है, उसी बोध का वर्णन श्रुति के आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मि (बृ० ४–४–१२) 'आत्मा को यदि पहचान ले कि मैं तो ऐसा महान् तत्व हूँ' इतने वाक्यखण्ड ने किया है।

अस्तु बोधो ऽपरोक्षोत्र महावाक्यात् तथाप्यसौ।
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीरणात् ॥९७॥

इस ब्रह्मात्मता के विषय में महावाक्यों से [उनको एक

बार सुनकर विचार करने पर] अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है यह तो हम माने लेते हैं, परन्तु ऐसा बोध दृढ तो नहीं होता क्योंकि श्रीमच्छङ्कराचार्य ने वाक्यार्थ ज्ञान के उत्पन्न हो जाने के बाद भी श्रवण आदि की आवृत्ति करने को कहा है। [वह उन्होंने ज्ञान की दृढता के ही लिये तो कहा है । इसी से समझते हैं कि महावाक्य से हुआ अपरोक्ष ज्ञान टिकाऊ नहीं होता]

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद् दृढीभवेत् ।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥९८॥

आचार्य ने कहा है कि—जब तक किसी को अपने ब्रह्मभाव का दृढ निश्चय न हो जाय, तब तक शमदमादि से युक्त होकर, श्रवणादि का अभ्यास किया ही करे।

बाढं सन्ति ह्यदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता ।
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥९९॥

जो कि शब्दप्रमाण से उत्पन्न हुआ ज्ञान दृढ नहीं होता, उसका कारण एक तो श्रुतियों की अनेकता होती है [कोई श्रुति कुछ कहती है, दूसरी श्रुति कुछ और ही बता देती है] दूसरे अलौकिक होने के कारण अखण्डैकरस अद्वितीय ब्रह्म-रूपी अर्थ की संभावना ही साधारण प्राणी के हृदय में नहीं हो पाती । तीसरे विपरीत भावनाओं ने भी प्राणियों के हृदय पर पूर्णाधिकार जमा रक्खा है, [कर्तृत्व भोक्तृत्व के वृथा अभिमान से प्राणियों को इतनी फ़ुर्सत ही नहीं मिलती कि वे अपने ब्रह्मत्व का किंवा अपने असंग रूप का कभी विचार भी कर सकें]।

शाखाभेदात् कामभेदाच्छ्रुतं कर्मान्यथाऽन्यथा ।
एवमत्रापि मा शङ्कीत्यतः श्रवणमाचरेत् ॥१००॥

[श्रुतियों के नाना होने से यदि यह ज्ञान दृढ न होता हो, तो उसका उपाय इस श्लोक में बताया गया है] शाखा के भिन्न भिन्न होने से कर्म भिन्न भिन्न हो जाता है । इसी प्रकार कामना के भिन्न भिन्न होने से भी कर्मों में भेद आ जाता है। ऐसा ही कोई भेद ज्ञानकाण्ड में भी होता होगा, इस शंका [भेदशंका] को हटाने के लिये वार वार श्रवण करते रहो।

वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ॥१०१॥

आदि मध्य और अन्त में कहीं से भी विचार करने पर सब वेदान्तों [किंवा उपनिषदों] का परम निष्कर्ष ब्रह्म को प्रत्यगात्मारूप बताने में ही है ,ऐसा निश्चय 'श्रवण' कहाता है।

समन्वयाध्याय एतत् सूक्तं,धीस्वास्थ्यकारिभिः ।
तर्कैः संभावनार्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ॥१०२॥

व्यास मुनि ने इसी 'श्रवण' को वेदान्त दर्शन के समन्वय नाम के प्रथमाध्याय में भली रीति से वर्णन किया है । प्रमेय को समझने में जो जो अड़चनें हों, उन सब को हटाकर, बुद्धि का सन्तोष कर देने वाले तर्कों किंवा युक्तियों से, अर्थ की संभावना करना [कि श्रवण किया हुआ अर्थ यों यों संभव है] 'मनन' कहाता है । इस मनन का निरूपण उन्होंने द्वितीयाध्याय में किया है ।

बहुजन्मदृढाभ्यासाद् देहादिष्वात्मधीः क्षणात् ।
पुनः पुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ॥१०३॥

विपरीता भावनेयमैकाग्र्यात् सा निवर्तते ।
तत्त्वोपदेशात् प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ॥१०४॥

अनन्त जन्मों का दृढ अभ्यास हो गया है, उसके कारण देहादि को जो आत्मा समझने के और जगत् को सत्य समझने के वृथा विचार फिर फिर उत्पन्न हुआ करते हैं, बस यही तो 'विपरीत भावना' कहाती है । यह विपरीत भावना एकाग्रता से नष्ट हो जाती है । यह एकाग्रता तो ब्रह्मोपदेश से पहले पहले ही उपासना से कर लेनी चाहिये ।

उपास्तयोऽतएवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिन्तिताः ।
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद् ब्रह्माभ्यासेन तद् भवेत् ॥१०५॥

यही कारण है कि उपासनाओं की चिन्ता ब्रह्म शास्त्र [वेदान्त शास्त्र] में भी की गयी है । जिसने तो ब्रह्म ज्ञान होने से पहले एकाग्रता का अभ्यास नहीं किया होता, उसको तो ब्रह्माभ्यास करते रहने से ही एकाग्रता हो जाती है ।

तच्चिन्तनं तत्कथन मन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥१०६॥

ब्रह्म का ही चिन्तन करने को, उसी की बात करने को, एक दूसरे को उसी को समझाने को तथा सदा केवल तन्निष्ठ हो जाने को ही ज्ञानी लोग ब्रह्माभ्यास कहते हैं । [ऐसा ब्रह्माभ्यास करते करते ज्ञानी का चित्त एकाग्र हो जाता है]

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥१०७॥

धीर [अर्थात् ब्रह्मचर्यादिसाधन से युक्त] ब्राह्मण [अर्थात् ब्रह्मभाव चाहने वाले मुमुक्षु] को उचित है कि उसी प्रत्यग्रूप

परमात्मा को पूर्ण रूप से जान ले [जिससे उसमें किसी प्रकार का संशयादि न रह जाय] इतना कर चुकने पर फिर प्रज्ञा किंवा एकाग्रता को करले [अर्थात् ब्रह्मात्मैकता के ज्ञान की एक निरन्तर धारा बहादे] अनात्मा को विषय करनेवाले शब्दों का ध्यान [और कथन दोनों ही] छोड़ दे। क्योंकि वह ध्यान और वह कथन वाणी और मन की थकावट का ही तो कारण होता है। [शब्दों का ध्यान करने से मन थकता है तथा शब्दों को बोलने से वाणी को श्रम होता है। यों श्रुति ने अपने मुख से इसी ब्रह्मनिष्ठता का वर्णन किया है।]

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥१०८॥

जो महापुरुष मुझसे अनन्य होकर मेरा चिन्तन करते करते सदा मेरी ही उपासना किया करते हैं—[सदा मद्रूप ही हुए रहते हैं] नित्य ही मुझमें लगे हुए [मेरे गम्भीर अन्तस्तल तक पहुँचे हुए] उन उपासकों के भोजनाच्छादि का प्रबन्ध और उनके धन की रक्षा का भार मेरे कन्धों पर रहता है।

क्योंकि उन्होंने तो मुझको ही अपना आत्मा समझ लिया है। वे फिर अपने भोजनादि के प्रबन्ध की चिन्ता नहीं करते। जिस प्रकार कोई ग्वाला किसी पशु को चराना छोड़ देता है तो उस पशु का स्वामी उसे नहीं छोड़ बैठता। फिर तो वह स्वयं ही उसके खान पान की देखभाल किया करता है। इसी प्रकार यदि कोई साधक ज्ञानावेश में आकर या भक्ति के उद्रेक में फँस कर शरीर के निर्वाह की चिन्ता छोड़ देता है तो समष्टि का अभिमानी उसके निर्वाह को अपने ज़िम्मे

ले लेता है। ईश्वर के संकल्प का ही दूसरा नाम प्रारब्ध है। सो उस प्रारब्ध के प्रताप से किन्हीं भी लोगों के मन में ऐसी प्रेरणायें हो जाती है कि अमुक को भोजनादि की आवश्यकता है चलो दे आवें। देखते हैं कि जब कोई अन्धा, जो अब अपनी सहायता स्वयं नहीं कर सकता, हमारे सामने आकर कुछ मांगता है तब हमारे मन में उसको भोजनाच्छादनादि देने की अन्तः प्रेरणायें, जब तक उसे कुछ दे नहीं देते, तब तक वार वार होती रहती हैं। यों इस मार्ग से असमर्थ की अपङ्ग की, और भक्ति में गहरे डूबे हुए भक्तों की, चिन्ता ईश्वर [देने लेने वाले दोनों के अन्तर्यामी] स्वयं करते हैं। जो तो बहुर्मुख रहते हैं, अपना भार अपने ही ऊपर उठाये रहते हैं, भगवान भी उनकी तरफ़ से निश्चिन्त बने बैठे रहते हैं।

इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः।
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ॥१०९॥

ऊपर कही हुई ये श्रुति और स्मृतियें कहती हैं कि—विपरीत भावना की निवृत्ति करने के लिये आत्मा में सदा चित्त को एकाग्र किये रहना चाहिये। [ऐसे लोग पेट कहाँ से पालें? बाल बच्चों को कहाँ से खिलायें? इसी का उत्तर पहले श्लोक में ज़िम्मेदारी की दस्तावेज लिखकर गीता में दिया है।

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः।
विपरीता भावना स्यात् पित्रादावरिधीर्यथा ॥११०॥

जो [शुक्ति आदि] पदार्थ जिस रूप का है, उसके उस रूप को तो छोड़ दिया जाय और उसको अन्यथा [रजत आदि रूप का] समझ लिया जाय, बस यही 'विपरीत भावना, कहाती

है [इसी को 'अतत्' को 'तत्' समझ लेना भी कहा जाता है] जैसे कि पिता आदि हितैषियों को शत्रु समझ लिया जाता है तो इसको भी विपरीत भावना ही कहते हैं।

आत्मा देहादिभिन्नोयं मिथ्या चेदं जगत् तयोः।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधी विपर्ययभावना ॥१११॥

यह आत्मा वस्तुतः देहादियों से भिन्न ही है और यह जगत् भी मिथ्या ही है। ऐसा होने पर भी आत्मा को तो देहादि रूप मान लेना, तथा जगत् को सत्य समझ लेना, यही इस प्रकरण की 'विपरीत भावना' है।

तत्त्वभावनया नश्येत् सातो देहातिरिक्तताम्।
आत्मनो भावयेत् तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम्॥११२॥

[देहादि की आत्मता और जगत् की सत्यता बुद्धि वाली] वह विपरीत भावना, तत्व भावना से [या यों समझना चाहिये कि आत्मा तो देहादि से भिन्न है तथा यह जगत् मिथ्या है ऐसा निरन्तर ध्यान करते रहने से] नष्ट हो जाती है। इस कारण आत्मा की देहादि से भिन्नता तथा देहादि जगत् के मिथ्यापन की भावना सदा ही किया करे।

किं मन्त्रजपवन्मूर्तिध्यानवद्वात्मभेदधीः।
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा॥११३॥

आत्मा के देहादि से भिन्न होने के ज्ञान को, तथा जगत् के मिथ्या होने के विचार को, मन्त्र के जप की तरह, या देवता के ध्यानादि की तरह नियम से करें? या लौकिक कामों की तरह नियम के बिना भी कर सकते हैं? यह एक साधन मार्ग का प्रश्न है।

अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् ।
बुभुक्षुर्जपवद् भुङ्क्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ॥११४॥

यह तो बिना नियम ही करना चाहिये। क्योंकि यह मामला तो भोजन आदि की तरह दृष्टार्थ ही है। भूख को हटाने के लिये खाना चाहने वाला पुरुष जप करने वाले की तरह नियम से नहीं खाता [किन्तु जिस तरह भी उसकी भूख शान्त हो जाय उसी तरह भोजन करता है।]

अश्नाति व नवाश्नाति भुङ्क्ते वा स्वेच्छयाऽन्यथा ।
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ॥११५॥

भूख की शान्ति चाहने वाला पुरुष अन्न हो तो खाता है, नहीं हो तो नहीं खाता, [बिना खाये ही दिन काट देता है] आसन पर बैठकर चलते चलते मूढ़े या कुर्सी पर बैठकर अथवा लेटे लेटे ही स्वेच्छा से खाया करता है। जिस किसी तरह भूख को ही हटा देना चाहता है। [भाव यह है कि भोजन तो भूख की शान्तिरूपी दृष्ट फल के लिये ही करना चाहिये। उस में जो विशेप विशेष नियम लगा दिये गये हैं वे नियम परलोक के लिये होते हैं।]

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ॥११६॥

जप को तो नियम से ही करना चाहिये। जप को न करें, तो पाप चढ़ता है। उस जप को यदि अविधिपूर्वक करें तो स्वर और वर्ण के उलट पुलट हो जाने से अनर्थ हो जाता है।

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद् विपरीता च भावना ।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः ॥११७॥

विपरीत भावना तो भूख की तरह से केवल दृष्टबाधा ही किया करती है। [यह बात सब के अनुभव से सिद्ध हो रही है] उस विपरीत भावना को किसी भी उपाय से जीत लेना चाहिये। उसके जीतने में अनुष्ठान का कोई भी निश्चित क्रम नहीं हो सकता।

उपायः पूर्वमेवोक्त स्तच्चिन्ताकथनादिकः।
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बन्धो ध्यानवन्नहि ॥११८॥

एक सौ छःवें श्लोक में उसी की चिन्ता, उसी का कथन आदि उपाय का वर्णन तो हमने पहले ही कर दिया है। यद्यपि उसमें तदेकपरता का कथन है, परन्तु ध्यान की तरह का कठिन वन्धन उसमें नहीं है।

मूर्तिप्रत्ययसान्तत्य मन्यानन्तरितं धियः।
ध्यानं, तत्रातिनिर्बन्धो मनसश्चञ्चलात्मनः ॥११९॥

बुद्धि को जो मूर्ति का ज्ञान हो रहा है, वह ज्ञान निरन्तर धाराप्रवाह रूप से चलता रहे, कोई भी विजातीय प्रत्यय उस के वीच में न आये, तो बस इसी को 'ध्यान' कहते हैं। [सदा घूमते रहने वाले हाथी घोड़े आदि को जैसे एक ठूंठ आदि में बाँध दिया जाता है इसी तरह] इस चंचलात्मा मन को इसी ध्यान में बाँध देना चाहिये।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥१२०॥

गीता में भी कहा है कि—हे कृष्ण! यह मन वड़ा ही चंचल है, यह प्रमथनशील है [पुरुष को व्याकुल कर रखना ही इसका स्वभाव है] यह वड़ा ही बल वाला है [इसका वश

में करना कोई सुकर काम नहीं है] यह बड़ा ही दृढ है [यह सच्चे या झूठे किसी भी विषय में दृढता से गड़ा रहता है। उसमें से इसे उखाड़ लेना अशक्य काम समझा जाता है] इस कारण उस मन के निग्रह करने को मैं वायु को रोक रखने के समान ही सुदुष्कर काम मानता हूँ।

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि।
अपि वन्ह्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥१२१॥

योगवासिष्ठ में भी कहा है कि—समुद्र को पी डालने से सुमेरु पर्वत को उखाड़ डालने से या फिर दहकते अंगारों को सटक लेने से भी हे साधो! इस चित्त का निग्रह कर लेना कहीं कठिन ही है।

कथनादौ न निर्बन्धः शृङ्खलाबद्धदेहवत्।
किन्त्वनन्तेतिहासाद्यै र्विनोदो नाट्यवद्धियः ॥१२२॥

शृंखला से बांधे हुए देह का जैसा निर्बन्ध होता है, ऐसा निर्बन्ध कथन तथा चिन्ता आदि का नहीं माना जाता [निर्बन्ध न हो इतना ही नहीं] प्रत्युत अनन्त इतिहास, युक्ति, दृष्टान्त आदि के द्वारा इससे बुद्धि का विनोद भी तो होता ही है। जैसे कि नाट्य को देखकर किसी की बुद्धि का विनोद होता हो। [यही राजयोग की विशेषता है]

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसानतः।
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ॥१२३॥

उन इतिहासादि का पर्यवसान केवल इसी अर्थ में होता है कि—आत्मा चिन्मात्र स्वरूप है [वह देहादि रूप नहीं है] तथा यह जगत् मिथ्या है। जब किसी को ऐसा निश्चय हो

जाता है तब फिर इतिहासादियों से उस के निदिध्यासन में विक्षेप नहीं पड़ता।

कृषिवाणिज्यसंवादौ काव्यतर्कादिकेषु च।
विक्षिप्यते प्रवृत्या धीस्तैस्तत्वस्मृत्यसंभवात् ॥१२४॥

खेती, व्योपार,नौकरी, काव्य तथा तर्कादि का अनुशीलन करने पर तो उनमें प्रवृत्ति के कारण बुद्धि विक्षिप्त हो ही जाती है। क्योंकि इनके करते हुए तत्व की स्मृति असम्भव है। [इस कारण कृषि आदि को छोड़कर उन इतिहासादि को स्वीकार किया गया है]

अनुसन्दधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम्।
शक्यतेऽत्यन्तविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृतेः ॥१२५॥

[शरीर यात्रा के लिये अत्यावश्यक] भोजन आदि में तो आत्मा का अनुसन्धान (स्मरण) करते हुए भी प्रवृत्ति हो सकती है। क्योंकि भोजनादि अन्तरंग कामों से किसी को अत्यन्त विक्षेप नहीं होता। उसका कारण यह है कि तत्व का स्मरण फिर तुरन्त ही हो जाता है। [भोजनादि में हमारा मन व्यग्र नहीं होता है, यह तो शरीर करता रहता है, भोजनादि के समय भी तत्वस्मृति रखी जा सकती है। हाँ, मनोराज्य जब होगा तब वह तत्व को उलटा समझा कर ही होगा।]

तत्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किन्तु विपर्ययात्।
विपर्येतुं न कालोस्ति झटिति स्मरतः क्वचित् ॥१२६॥

तत्व को भूल जाने मात्र से ही अनर्थ नहीं होता। किन्तु अनर्थ तो विपरीत ज्ञान हो जाने से होता है। जब कोई पुरुष

तुरन्त ही आत्मतत्व का स्मरण कर लेता है उसे विपरीत ज्ञान होने का तो कोई अवसर ही नहीं मिलता।

तत्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः।
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद् बलात् तत्वमुपेक्ष्यते ॥१२७॥

जो पुरुष अनात्मपदार्थों का अभ्यास किया करता है, उसको तो तत्वस्मरण का अवकाश [मौक़ा=फ़ुर्सत] ही नहीं मिलता। इतना ही नहीं प्रत्युत ऐसे अभ्यास ब्रह्माभ्यास के विघातक होते हैं। उस समय तो स्मरण किया हुआ तत्व भी बलात् भूल जाता है।

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ।
इति श्रुतं तथान्यत्र वाचो विग्लापनं त्विति ॥१२८॥

तत्वस्मरण के विरोधी काव्यतर्कादि के अनुशीलन को छोड़ने की बात 'तमेवैकं विजानीथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः' (मुण्ड२५–२) इस श्रुति में तथा(नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दा न्वाचो विग्लापनं हि तत्) (बृह० ४–४–२१) इस श्रुति में कही गयी है।

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रान्तरं त्यजन्।
किं न जीवसि, येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम् ॥१२९॥

भोजनादि का त्याग करके तो कोई जीवित नहीं रह सकता। क्या तुम उसी तरह दूसरे अनात्मशास्त्रों का त्याग करके जीवित नहीं रह सकते हो? जिससे ऐसा दुराग्रह किये जा रहे हो।

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद् दृढबोधतः।
तथा तवापि चेत् तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ॥१३०॥

यदि यह पूछो कि—जनकादि तत्ववेत्ताओं ने राज्य का पालन आदि कैसे किया था ? तो उसका उत्तर यह है कि वे तो दृढवोध के कारण वैसा कर सके थे [उनका अपरोक्षज्ञान वड़ा दृढ था। उससे उनकी प्रवृत्ति उनके आत्मचिन्तन में वाधक नहीं होती थी] जनकादि जैसा ही दृढवोध यदि तुमको भी हो चुका हो, तो तुम भी चाहे तो तर्क पढ़ो, या खेती करने लगो। [पक्षी अपने नन्हे वच्चों को तभी तक अपने निवास में रखते हैं, जब तक उनके पंख पक नहीं जाते। पंखों के पक जाने पर तो वे उन्हें चोंचों से मार मार कर वाहर निकाल देते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी को तभी तक सांसारिक कर्मों से वचने को कहा जाता है जब तक उसका ज्ञान पक नहीं जाता। पंखों के पक जाने पर पक्षियों के वच्चे चाहे जहां उड़ें, इसी प्रकार ज्ञान के पक जाने पर ज्ञानी लोग चाहे जो कुछ करें, फिर उनका ज्ञानदीपक वुझता नहीं। प्रत्युत उनका व्यवहार उनके ज्ञान को पकाता रहता है]

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकाङ्क्षया।
अक्लिश्यन्तः प्रवर्तन्ते स्वस्वकर्मानुसारतः ॥१३१॥

जिन लोगों की संसारमिथ्यात्व की वासना दृढ हो जाती है [संसार की असारता को जानने वाले] वे तत्वज्ञानी भी प्रारब्ध को क्षय करने की ही एक मात्र इच्छा से, विना किसी खेद के, अपने अपने कर्मों के अनुसार, प्रवृत्ति किया करते हैं [क्योंकि प्रारब्ध का फल तो अवश्य ही मिलता है, उसका क्षय तो केवल भोग से ही हो सकता है, इस विचार को लेकर ज्ञानियों की प्रवृत्ति हुआ करती है। प्रारब्ध के अनुसार आये

सुख दुःखों को देखकर अज्ञानियों की तरह उन्हें कोई क्लेश नहीं होता]

अतिप्रसङ्गो मा शंक्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम् ।
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुं वद ॥१३२॥

ऐसे तो फिर ज्ञानी लोग अनाचार भी करेंगे, ऐसी शंका न करनी चाहिए। या फिर अपने अपने प्रारब्ध कर्म के वस में आकर अनाचार कर भी बैठे तो बताओ प्रारब्ध कर्म को वारण कर देने का सामर्थ्य ही किसमें है ? [प्रारब्ध तो ईश्वर का संकल्प है वह हमारे संकल्पों से प्रबल होता है उसका वारण कोई भी नहीं कर सकता।]

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥१३३॥

ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही के प्रारब्ध कर्म समान होते हैं। उनमें भेद केवल इतना ही है कि धैर्य के कारण ज्ञानी को तो क्लेश नहीं होता। परन्तु अधीरता के कारण मूढ पुरुष दुःखी हुआ है। [इसी विषय पर एक भाषा कवि ने कहा है—देह धरे का दण्ड है सब काहू को होय। ज्ञानी भुगते ज्ञान सों मूरख भुगते रोय।]

मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम् ।
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥१३४॥

मार्ग में जाने वाले दो यात्री जब थक जाते हैं और दोनों की यात्रा समाप्त होने को होती है, उन दोनों यात्रियों में से, यात्रा की समाप्ति को जानने वाला एक तो, धीरता के कारण शीघ्र शीघ्र चलता ही जाता है। दूसरा तो [जिसे अपने मार्ग

की अदूरता का ज्ञान नहीं होता] दीनबुद्धि होकर मार्ग में ही बैठ रहता है ।

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर मनुसंज्वरेत् ॥१३५॥

आत्मा को साक्षात्कार कर लेने वाली बुद्धि, जिसके हाथ लग गयी है, जो कभी भी विपरीत ज्ञान से बाधित नहीं होता है [जो कभी भी देहादि को आत्मा नहीं समझता है] ऐसा महापुरुष बताओ तो सही कि किस वस्तु की चाह में फँसकर तथा किसके लिये, मांस के ढेर इस शरीर के पीछे पीछे दुःखी होता फिरे ? [ऐसे ज्ञानी को तो दुःखी होवे की कुछ आवश्यकता ही नहीं रह जाती]

जगन्मिथ्यात्वधीभावादाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ ।
तयोरभावे सन्तापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ॥१३६॥

क्योंकि इस ज्ञानी को जगत् के मिथ्या होने की बुद्धि उत्पन्न हो गयी है, इस कारण ज्ञानी की उदार दृष्टि में न तो कामना करने का पदार्थ रहता है और न कामना करने वाला ही, शेष रहता है। जब कि इस संसाररूपी गाड़ी को चलानेवाले काम्य और कामुक नाम के ये दो पहिये ही न रहे तब विचारा सन्ताप इस प्रकार शान्त हो जाता है, मानो तेल के न रहने से कोई दीपक ही बुझ गया हो ।

गन्धर्वपत्तने किंचिन्नैन्द्रजालिकनिर्मितम् ।
जानन् कामयते किन्तु जिहासति हसन्निदम् ॥१३७॥

ऐन्द्रजालिक की बनाई हुई समझ लेने के कारण, गन्धर्वनगर की किसी भी वस्तु की कामना, कोई नहीं करता। प्रत्युत

'यह तो झूठी है' इस प्रकार हँस कर उसे छोड़ देना चाहता है [इस दृष्टान्त से यह समझ लो कि—जब काम्य पदार्थ नहीं रहता तब कामना भी नहीं होती]।

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान् ।
नानुरज्यति, किन्त्वेतान् दोषदृष्ट्या जिहासति ॥१३८॥

ऊपर के दृष्टान्त के अनुसार जो माला, चन्दन, स्त्री आदि भोग केवल देखने में ही रमणीक मालूम होते हैं, उनको आपात-रमणीक समझ लेने वाला पुरुष, उनमें आसक्ति नहीं करता। किन्तु वह तो दोषों को देख कर इनको छोड़ देना ही चाहता है।

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः ॥१३९॥

[विषयों के दोष तो ये हैं जिनको कि ज्ञानी देखा करता है] सम्पत्ति के उपार्जन में साधारण कष्ट नहीं होता। उसकी रक्षा करने में तो उससे भी अधिक दुःख भोगना पड़ जाता है। वह सम्पत्ति जब अपनी आंखों के सामने नष्ट होती है या व्यय होने लगती है तब उस दुःख को भी सभी जानते हैं। प्रत्येक अवस्था में दुःख देने वाले इन भोगों को धिक्कार ही है।

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपंजरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥१४०॥

नाडियों, हड्डियों और मांस के मोटे मोटे लोथड़ों वाली, मांस की पुतली इस स्त्री के, यन्त्र की तरह के इस चंचल शरीर रूपी पींजरे में खूबसूरत चीज़ ही क्या है? [यही बात विवेकी की समझ में नहीं आती]।

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक् प्रपंचिताः ।
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति ॥१४१॥

इत्यादि शास्त्रों में विषयों के दोषों को भले प्रकार समझाया गया है । उन दोषों का विमर्श दिन रात करता हुआ साधक, दुःखों में फँस ही कैसे सकता है ?

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ॥१४२॥

मूर्ख लोगों की बात हम नहीं कहते, किन्तु जो अमूढ हैं, जिनकी तृष्णा एक बार मिष्टान्न भोजन से नष्ट हो चुकी है, वे भूख से व्याकुल होने पर भी, 'यह विष है' यह जान लेने पर उस विष को खाना नहीं चाहते ।

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत् ॥१४३॥

प्रारब्ध कर्मों की प्रबलता से यदि ज्ञानी को भोगों की इच्छा हो जाती है तो भी यह बेगार में पकड़े हुए मजदूरों की तरह दुःखी होता हुआ ही, उन विषयों को भोगा करता है । [इच्छा होने पर भी वह कुछ चाव के साथ उन्हें नहीं भोगता]।

भुञ्जाना वा अपि बुधाः श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः ।
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यन्ति सन्ततम् ॥१४४॥

लोक में देखते हैं कि—जो श्रद्धाशील गृहस्थी ज्ञानी होते हैं, वे भोगों को भोगते हुए भी, सदा यही दुःख माना करते हैं, कि ओहो ! अभी तक भी हमारे कर्म क्षीण नहीं हो पाये । [अनादि काल से जो भोग और कर्म का चक्कर घूमता आ रहा

है उसका चलते रहना उन्हें पसन्द नहीं रहता। वे अपनी विवेक की आंख से उसको बन्द हुआ देखना चाहते हैं]

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किन्तु विरक्तता ।
भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकःस्मृतः ॥१४५॥

उनके इस अनुताप रूप क्लेश को सांसारिक दुःख नहीं समझना चाहिए। क्योंकि यह तो उनकी विरक्तता है [संसार की अनासक्ति के कारण वे ऐसा अनुताप किया करते हैं] सांसारिक ताप को तो आचार्यों ने भ्रान्ति ज्ञान से उत्पन्न होने वाला कहा है [यह ताप तो विवेक ज्ञान से उत्पन्न हुआ करता है। इस कारण यह वैसा हेय नहीं है]।

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ।
अन्यथानन्तभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ॥१४६॥

[सांसारिक ताप और विरक्तता का भेद भी सुन लो] विवेक से परिक्लिष्ट होता हुआ [ज्ञानी] थोड़े से भोग से ही तृप्त हो जाता है। [उन भोगों को दूर से ही नमस्कार कर लेता है] विवेक के न होने पर तो अनन्त भोगों के भोग लेने पर भी कभी तृप्त नहीं हो पाता [यों कामनाओं का निवर्तक होने से, यह क्लेश तो विवेकमूलक ही है]।

न जातु कामः कामानुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४७॥

यह कामना कभी भी कामों के भोग से शान्त नहीं होती। यह [कामना] तो घी से आग की तरह विषयाहुति से उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। [भाव यह है कि—विवेकी की तरह, अविवेकी लोग भोगों से तृप्त नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में

विवेक को बेकार न समझना चाहिए। विवेकी लोगों में यह विशेषता होती है कि वे शरीरयात्रा के लिए तो थोड़ा बहुत भोगसंग्रह कर लेते हैं परन्तु व्यर्थ मनोरथों का जाल कभी नहीं फैलाते। वे जब किसी भोग को भोगते हैं उस समय भी उस भोग्य के अन्दर के आत्मतत्व को याद रखते हुए भोगते हैं। यों वे भोगों को भोगते हुए भी भोगों में नहीं उलझते। प्रत्युत भोगों को भोगते हुए भी उनका आत्मसाधन चलता है और वे भोगों को भोगते हुए भी मुक्ति का मार्ग साफ़ करते रहते हैं। यों उनकी भोगभूमि ही समाधि का अंग बन जाती है।]

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥१४८॥

[जो भोग विवेकमूलक होता है, उससे तृप्ति हो जाती है, यह अनुभव से भी सिद्ध होता है। देखो कि] जान कर भोगा हुआ भोग तृप्ति कर देता है। यह चोर है ऐसा जानकर सेवित किया हुआ चोर, उसके लिए चोर नहीं रहता। वह तो उसका मित्र बन जाता है।

यह भोग 'इतना है' 'इसकी सत्यता इतनी है' 'इतनी कठिनाइयों से यह हमें मिलना है' यह सब समझ कर जब किसी भोग को भोगा जाता है तब उससे तुरन्त ही तृप्ति हो जाती है—उसे दूर से ही नमस्कार करने को जी चाहता है। लोक में भी देखते हैं कि—यह चोर है ऐसा जान लेने पर, जब उस चोर के साथ रहा जाता है तब वह चोर उस पुरुष के लिए चोर नहीं रहता। किन्तु वह तो उसका मित्र बन जाता है।

यों यद्यपि भोगों से तृष्णा की वृद्धि होती है परन्तु जब विवेक नाम का साथी मिल जाता है तब उन भोगों से ही तुष्टि भी होने लग जाती है]।

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद् बहु मन्यते ॥१४९॥

[योगाभ्यास से] जिस मन का निग्रह कर लिया जाता है, उस मन को जो थोड़ा सा भी लीलाभोग मिल जाता है, वह मन, भोगों के दोषयुक्त होने के कारण, उसी संक्षिप्त (थोड़े से) भोग को अधिक मान लेता है। अर्थात् थोड़े से ही तृप्ति मान बैठता है।

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति ।
परैर्न बद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥१५०॥

देखते हैं कि—जिस राजा को कोई शत्रु क़ैद करके छोड़ देता है, तो फिर वह एकाध गांव को अपनी जीविका के लिए लेकर ही सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु जिस राजा पर न तो किसी ने कभी आक्रमण किया हो और न जो कभी किसी से बांध लिया गया हो, वह तो समूचे राष्ट्र को भी कुछ नहीं समझता।

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे ।
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति ॥१५१॥
नैष दोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते ।
इच्छानिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ॥१५२॥

दोषदर्शन रूपी विवेक जब कि जाग रहा हो तब प्रारब्ध कर्म भी भोग की इच्छा को कैसे उत्पन्न कर सकेगा? [क्योंकि

इच्छा का विघात करने वाला विवेकज्ञान तो भोगेच्छा को उत्पन्न ही नहीं होने देगा] ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि [दोष दीखने पर भी इच्छाएँ पैदा होती हुई पाई जाती हैं] प्रारब्ध कर्म अनेक प्रकार के पाये जाते हैं। एक इच्छा को पैदा करके भोग देने वाला प्रारब्ध। दूसरा अनिच्छा के रहने पर भी भोग देने वाला प्रारब्ध। तीसरा परेच्छा से भोग देने वाला प्रारब्ध। यों तीन प्रकार का प्रारब्ध माना जाता है। [विवेक के पहरे में भी भोगेच्छा कैसे हो जाती है ? इस प्रश्न को समझने के लिए प्रारब्ध के इन तीन भेदों को समझ लेना आवश्यक है]।

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि ।
जानन्त एव स्वानर्थ मिच्छन्त्यारब्धकर्मतः ॥१५३॥

अपथ्यसेवी,रोगी,चोर, तथा राजा की स्त्री से रमण करने वाले, ये सभी अपने भावी अनर्थों को जानते हुए भी, आरब्धकर्म के शासन [प्रभाव] में आकर वैसी वैसी उलटी इच्छायें किया करते हैं।

न चात्रैतद् वारयितु मीश्वरेणापि शक्यते ।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥१५४॥

ईश्वर भी आये तो इन अपथ्यसेवन आदि की इच्छाओं को रोक नहीं सकता । [ये इच्छायें अपरिहार्य होती हैं। इसी कारण इन इच्छाओं को प्रारब्ध का फल माना गया है] ईश्वर ने स्वयं अपने मुख से गीता में अर्जुन के प्रति यही बात कही है कि ये इच्छायें अपरिहार्य होती हैं।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृते ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥१५५॥

गीता में कहा है कि—पुरुष ज्ञानवान् भी हो, तौ भी तो वह अपनी प्रकृति के अनुरूप ही चेष्टा किया करता है [पहले जन्मों में किए हुए धर्माधर्मों के जो संस्कार इस जन्म में अभिव्यक्त हो जाते हैं, उन को ही 'प्रकृति' कहा जाता है । यह तो अवस्था ज्ञानवान् लोगों की है । मूर्खों की तो वात ही मत पूछो । इस कारण प्राणी तो अपनी अपनी प्रकृति की ओर को ही दौड़ते हैं] भगवान् कहते हैं कि मैं या कोई और आकर उन की प्रवृत्ति या निवृत्ति का निग्रह करने लगे तो भी वह क्या कर सकेगा ? [ऐसा निग्रह करने से तो कुछ भी फल नहीं होगा ।]

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद् यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥१५६॥

अवश्यम्भावी जो दुःखादि भाव हैं, उन का यदि कोई प्रतीकार हो सकता होता तो नल, राम, तथा युधिष्ठिर जैसे महापुरुष उन विपत्तियों में कभी न फंसते ।

न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः ।
अवश्यंभाविताप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ॥१५७॥

प्रारब्ध को न हटा सकने से, ईश्वर का ईश्वरभाव नष्ट नहीं हो जाता । क्योंकि इन दुःखों की आवश्यंभाविता भी तो ईश्वर ने ही बनाई है । [इच्छा प्रारब्ध का वर्णन यहां तक समाप्त हुआ]

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद् गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ।
अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ॥१५८॥

अनिच्छापूर्वक प्रारब्ध भी होता है, यह बात तो अर्जुन

और कृष्ण के प्रश्नोत्तर से ही ज्ञात हो जाती है । अब आगे इसी "अनिच्छाप्रारब्ध" का वर्णन सुन लो ।

अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥१५९॥

अर्जुन का प्रश्न यह है कि—हे श्रीकृष्ण ! यह पुरुष न चाहने पर भी किस की प्रेरणा से पाप कर बैठता है ? मानों किसी ने उस को ज़बरदस्ती उस पाप में लगाया हो ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥१६०॥

श्रीकृष्ण ने यह उत्तर दिया कि—यह जो कोई पदार्थ पुरुष को प्रवृत्त करने वाला है वह रजोगुण से उत्पन्न हुआ 'काम' है। यही 'काम' कभी 'क्रोध'का रूप भी धारण कर लेता है । यह काम 'महाशन' है [इस की मांग बहुत ही बड़ी है] यही बड़े बड़े पापों की जननी है । इस कारण इस 'काम' को अपना बैरी जानो। [भाव यह है कि—प्रारब्ध के वश से बढ़े हुए रजोगुण से, जब काम या क्रोध उत्पन्न हो जाते हैं, तब ये ही पुरुष की प्रवृत्ति के कारण होते हैं। ऐसे स्थलों पर प्रवृत्ति का मूल कारण इच्छा नहीं होती। स्वस्थ होने पर जिस काम को करने की इच्छा तक नहीं होती काम और क्रोध के वेग से वही काम प्राणी कर बैठता है। इसी से अनिच्छा प्रारब्ध सिद्ध होता है]

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥१६१॥

हे कौन्तेय ! अपने स्वभावजकर्म से [अथवा यों कहो

कि अपने प्रारब्ध कर्म से] जकड़ा हुआ तू जो कुछ करना नहीं भी चाहता है उसे भी मोह के कारण बेवस होकर करेगा [इससे यही सिद्ध होता है कि अनिच्छा प्रारब्ध भी मानना ही चाहिये ।]

नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः परदाक्षिण्यसंयुताः ।
सुखदुःखे भजन्त्येतत् परेच्छापूर्वकर्म हि ॥१६२॥

न तो चाहते ही हैं, और न न चाहते ही हैं, किन्तु दूसरे को खुश करने के विचार में फंस कर दूसरे की प्रीति के लिये ही सुख दुःख भोगा करते हैं। यों सुखादि भोग देने वाला 'परेच्छाप्रारब्ध' होता है । दोष देख लेने पर भी ऐसे प्रारब्ध का परिहार हो नहीं सकता । उस प्रारब्ध में जो कि इच्छा को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है उस को कोई हटा नहीं सकता ।]

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते ।
नेच्छानिषेधः किन्त्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत् ॥१६३॥

उक्त रीति से जब तत्त्वज्ञानी लोग भी इच्छा करते हैं तब फिर "आत्मानं चेद्विजानीयात्" (बृ०४-४१२) इस श्रुति में किमिच्छन् किस वस्तु की इच्छा से—इस पद से इच्छा का अभाव क्यों कहते हो ? इसका समाधान यह है कि—यह इच्छा का निषेध नहीं है । किन्तु यह तो भुने हुए बीज की तरह इच्छा के बाध का वर्णन है [उसका तात्पर्य यही है कि—ज्ञानी में इच्छा रहती तो है । परन्तु वह निर्वीर्य होती है । भुने हुए बीज में जैसे उत्पादन का सामर्थ्य नहीं रहता, इसी प्रकार ज्ञानी की इच्छा से समर्थ प्रवृत्ति पैदा नहीं होती] ।

भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च ।
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्वबोधान्न कार्यकृत् ॥१६४॥

जैसे भुने हुए बीज, स्वरूप से बने तो रहते हैं, परन्तु वे अङ्कुर आदि कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकते । इसी प्रकार विद्वान् की इच्छा को मान लो—स्वयं चाहे विद्यमान् भी रहती हो, परन्तु जिन पदार्थों की इच्छा वह करता है, असत् समझ लेने से, उन पदार्थों की तो बाधा हो चुकी है, फिर ज्ञानी की वह इच्छा व्यसन आदि कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकती । [उसकी वह इच्छा मरी हुई होती है] ।

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ।
विद्वदिच्छाप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥१६५॥

भुना हुआ बीज यद्यपि उगता तो नहीं, परन्तु खाने के काम तो आता ही है । इसी प्रकार विद्वान् की निर्वीर्य इच्छा भी उसको थोड़ा सा भोग तो दे ही सकती है। बहुत से व्यसन को उत्पन्न नहीं कर सकती। [तत्त्वज्ञानी लोग प्रारब्ध को भोगते समय मनोरथों के क़िले नहीं बनाते हैं] ।

भोगेन चरितार्थत्वात् प्रारब्धं कर्म हीयते ।
भोक्तव्यसत्यताभ्रान्त्या व्यसनं तत्र जायते ॥१६६॥

भोग देकर चरितार्थ हो चुकने के कारण, प्रारब्ध कर्म तो भोग देते ही नष्ट हो जाता है । [वह व्यसन को उत्पन्न नहीं करता] । जब तो किसी को भोक्तव्य पदार्थों के सत्य होने का भ्रम हो जाता है तब ही उस विषय में आगे को व्यसन उत्पन्न होता है [भोगते समय जो सुख दुःख मिलते हैं वे तो पूर्व कर्मों के किंवा प्रारब्ध के फल हैं। भोगते समय उन पदार्थों को सत्य

समझ कर उनके विषय में जो अनकें संकल्प उठते हैं, उनको अपने पास बहुत दिनों तक ठहराने की जो इच्छा होती है, उससे आगे के लिए हमारे मन में संस्कार रह जाते हैं। इन संस्कारों से प्रभावित होकर फिर फिर भोगों को जुटाने के लिए कर्म करते हैं और फिर फिर भोग आते हैं। यों शुद्ध भोग हमको भोगना नहीं आता किन्तु भोगते समय ही उन भोगों को आगे के लिए नौता दे देकर हम अज्ञानी लोग भोग और कर्म का अनन्त चक्कर घुमा रहे हैं।]

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ।
मा विघ्नाः प्रतिबध्नन्तु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः ॥१६७॥

यह मुझे मिला हुआ भोग, कभी भी नष्ट न हो, यह तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाय, भगवान् करे कि—कोई भी विघ्न इस भोग में रुकावट न डाल दे, मैं तो इस भोग के कारण कृतार्थ हो रहा हूँ। बस इसी तरह की निरर्थक और अनहोनी बातें 'भ्रम' कहाती हैं [ऐसे विचारों से व्यसन की उत्पत्ति हुआ करती है। लौकिक लोग प्रारब्ध फल को भोगते समय जब कि लाख मुद्रा देने वाला कर्म आता है तब बड़े प्रसन्न होते हैं परन्तु प्रारब्ध के समाप्त हो जाने पर जब वे मुद्रायें नष्ट हो जाती हैं तब वे प्रारब्ध कर्म को तो पहचानते नहीं कि यह कर्म इतना ही था और दहाड़ मार कर रोते हैं कि हाय ! मैं बरबाद हो गया]।

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ॥१६८॥

'जो होना नहीं है, वह तो कभी होगा ही नहीं। जो होना

है वह कभी टलता नहीं, ['यह मेरा काम कब बन जायगा, यह आपत्ति मेरी कब टलेगी'] इत्यादि चिन्ता रूपी विष को मार भगाने वाला यह उपर्युक्त [पूर्वोक्त] बोध ही भ्रम को निवृत्त कर सकता है। [भ्रम को निवृत्त करने वाला दूसरा कोई भी इससे अच्छा उपाय नहीं है] इसके प्रताप से सैकड़ों चिन्ताओं का विषैला प्रभाव नष्ट हो जाता है।

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रान्तो गच्छेन्न बुद्धवान्।
अशक्यार्थस्य संकल्पाद् भ्रान्तस्य व्यसनं बहु ॥१६९॥

ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनों को भोग तो समान ही होता है। परन्तु भ्रान्त पुरुष व्यसन में फँस जाता है। बुद्धवान् अर्थात् ज्ञानी को व्यसन नहीं होता। भ्रान्त पुरुष, जो बात हो ही नहीं सकती, उसी का संकल्प कर बैठता है। इस कारण भ्रान्त को ही बहुत सा व्यसन होता है [तत्वज्ञानी को अकेला भोग होता है और अज्ञानी को भोग के साथ ही आगे को उस भोग का व्यसन भी पड़ जाता है]।

मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वास्थामुपसंहरन्।
भुञ्जानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ॥१७०॥

विवेकी पुरुष तो भोगों को मायामय जान कर, उनमें से अपनी आस्था (श्रद्धा, भरोसा) को हटा लेता है, उन्हें भोगता हुआ भी वह जब कि संकल्प ही नहीं करता तब उस ज्ञानी को व्यसन कैसे हो ?

स्वप्नेन्द्रजालसदृश मचिन्त्यरचनात्मकम्।
दृष्टनष्टं जगत् पश्यन् कथं तत्रानुरज्यति ॥१७१॥

जिस विवेकी ने इस जगत् को सुपने या इन्द्रजाल के समान

समझ लिया है, जिसने इसे अचिन्त्यरचनारूप जान लिया है, जिसे यह दृष्टनष्ट रूप में दीखने लगा है, वह दोषदर्शी विवेकी भला बताओ इसमें अनुराग [प्रेम का नाता] कैसे कर लेगा ?

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन् स्वजागरम् ।
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः ॥१७२॥
चिरं तयोः सर्वसाम्य मनुसन्धाय जागरे ।
सत्यत्वबुद्धिं सन्त्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ॥१७३॥

अपने स्वप्न को अपरोक्ष देख कर, उसके पीछे अपने जागरण को भी अनुभव करके, फिर इन बातों को ही, सावधान होकर, प्रतिदिन, और प्रतिक्षण सोचा करे [कि यह जागरण तो स्वप्नतुल्य ही है] ॥१७२॥ इन स्वप्न और जागरण की पूरी समता को चिरकाल तक अपने जी में बैठाकर कि जैसे सुपने के पदार्थ तात्कालिक भोग देते हैं, जैसे वे परिणाम में नीरस हैं, जैसे वे विनाशी हैं, वैसे ही ये जागरण के पदार्थ भी हैं। जागरण को सत्य समझना छोड़ देने पर, फिर पहले की तरह [अज्ञानी अवस्था की तरह] अनुरक्त नहीं होता ।

इन्द्रजालमिदं द्वैतमचिन्त्यरचनात्वतः ।
इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ॥१७४॥

अचिन्त्य रचनावाले होने से ये सम्पूर्ण भोग्य पदार्थ तो इन्द्रजाल के समान मिथ्या हैं [युक्ति से इस बात को विचार लेने पर] जब यह बात किसी विद्वान् को कभी भूलती ही नहीं, जब कोई विद्वान् प्रत्येक समय इस बात को याद रखने लगता है, तब फिर वह भले ही अपने प्रारब्ध कर्मों के सुख दुःख रूपी

फलों को भोगा करे, उससे जगत् के मिथ्या होने के विचार को चोट नहीं लगती [अथवा उनको मिथ्या समझ लेने से प्रारब्ध भोग में कुछ भी रुकावट नहीं पड़ती]।

निर्बन्धस्तत्वविद्याया इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ ।
प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः ॥१७५॥

तत्वविद्या का निर्बन्ध अथवा उद्देश्य तो बस इतना ही है कि—इस जगत् को इन्द्रजाल के समान मिथ्या समझ लिया जाय [भोगों का अपलाप करना उसका उद्देश्य कदापि नहीं है] प्रारब्ध का आग्रह भी केवल इतना ही है कि जीव को सुख या दुःख पहुँचा दिये जांय। भोगों को सत्य सिद्ध करने में उसका आग्रह कदापि नहीं है [यों प्रारब्ध और ज्ञान दोनों ही भिन्न विषय वाले हैं]।

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ।
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु ॥१७६॥

ऊपर वर्णित रीति से भिन्न विषयवाले होने के कारण, ज्ञान और प्रारब्ध में आपस में विरोध नहीं होता। लोक में भी देखते हैं कि—जो लोग इन्द्रजाल को इन्द्रजाल जान लेते हैं, वे भी इन्द्रजाल के चमत्कारों को तो देखा ही करते हैं [इस दृष्टान्त से जान पड़ता है कि ज्ञान और प्रारब्ध भोग में कोई लड़ाई नहीं है]।

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद् यदि ।
तदा विरोधि विद्याया, भोगमात्रान्न सत्यता ॥१७७॥

यदि तो प्रारब्ध कर्म, इस जगत् को सत्य बनाकर ही जीव को सुख दुःख दिया करता होता, तो [अवश्य ही] यह विद्या

का विरोधी होता। क्योंकि तब यह विद्या के विषय मिथ्यात्व को स्वयं ही नष्ट कर डालता। परन्तु यह प्रारब्ध ऐसा तो कुछ भी नहीं करता। यह तो केवल भोग ही भोग देता है। इसी कारण कहते हैं कि प्रारब्ध,विद्या का विरोधी नहीं होता। केवल भोग दे देने मात्र से ही कोई पदार्थ सत्य नहीं हो जाता है। [कैसे सो अगले श्लोक में कहेंगे]।

अनूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः।
जाग्रद्वस्तुभिरप्येव मसत्यैर्भोग इष्यताम् ॥१७८॥

देख लो कि—स्वप्न की भी जो मिथ्यावस्तुयें होती हैं, उन से जो भोग होता है, वह जाग्रत् के पदार्थों से किसी बात में भी कम नहीं होता। इस दृष्टान्त से यंह समझ लो कि—जाग्रत्काल के मिथ्या पदार्थों से भी भोग मिल ही सकता है। [सुपने के मिथ्यापदार्थों से जैसे भोग होता है, ऐसे ही मिथ्या होने पर भी जाग्रत् के पदार्थों से भोग हो सकता है। भोग देने के कारण से ही जाग्रत् के पदार्थों को सत्य कहना ठीक नहीं है।

यदि विद्यापह्नुवीत जगत् प्रारब्धघातिनी।
तदा स्यान्नतु मायात्वबोधेन तदपह्नवः ॥१७९॥

यदि ज्ञान, जगत् का अपह्नव कर देता तो वह प्रारब्ध का घातक हो जाता, किसी को माया समझ लेने से ही उसका अपह्नव नहीं हो जाता।

यदि तो यह ज्ञान जगत् के भोग्य पदार्थों का अपह्नव कर देता—दीखने वाले भोग्य पदार्थों के स्वरूप को विलीन कर देता [जैसे कि 'नेदं रजतम्'='यह रजत नहीं' इस ज्ञान से कल्पित रजत का स्वरूप विलीन हो जाता है] तो यह प्रारब्ध का

घातक हो जाता। क्योंकि यह उस अवस्था में प्रारब्ध भोग के साधनों को ही नष्ट कर डालता। परन्तु यह ऐसा नहीं करता है। किन्तु उसको केवल मिथ्या ही बताता है। इसी से कहते हैं कि—यह ज्ञान प्रारब्ध कर्म का विरोधी नहीं है। किसी को माया समझ लेने से ही उसका अपह्नव नहीं हो जाता है। इन्द्र-जाल आदि में देखते हैं कि—स्वरूप का विलय किये बिना भी लोग उसको मिथ्या समझ ही लेते हैं।

अनपह्नुत्य लोकास्तदिन्द्रजालमिदं त्विति।
जानन्त्येवानपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा ॥१८०॥

देखते हैं कि—मनुष्य उस इन्द्रजाल के स्वरूप को न हटा कर भी, यह जान लेते हैं, कि यह तो इन्द्रजाल है। ठीक इसी प्रकार भोग्यपदार्थ को विलय किए विना भी, जगत् के मिथ्या-पन का भान हो ही सकता है।

यत्र त्वस्य जगत् स्वात्मा पश्येत् कस्तत्र केन कम्।
किं जिघ्रेत् किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहु घोषितम् ॥१८१॥
तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा।
तथा च विदुषो भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥१८२॥

जिस विद्यावस्था के आजाने पर,यह सकल जगत् ,उस विद्वान् का आत्मा अथवा स्वरूप ही हो जाता है, उस दशा में, कौन देखने वाला? किस साधन से? किस पदार्थ को देखे? किस फूल आदि को सूंघे? क्या कुछ बोले? सुने? स्पर्श करे? यह बात श्रुति में अनेक जगह कही गयी है।१८१॥ इस सबसे यही निश्चय होता है कि विद्या तो द्वैत का अपह्नव करके ही उत्पन्न होती है—[वह विद्या जब तक द्वैत का उपमर्द नहीं कर लेतीतब तक वह उत्पन्न

ही नहीं होती] फिर ऐसी अवस्था में विद्वान् को भोग कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर भी सुन लो—

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति ।
उक्तं स्वाप्ययसंपत्योरिति सूत्रे ह्यतिस्फुटम् ॥१८३॥

'स्वाप्ययसंपत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' * इस व्याससूत्र में यह बात वहुत ही स्पष्ट करके समझायी गयी है कि 'यत्रत्वस्य' (बृ. ४-५-१५) यह श्रुति या तो सुपुप्ति अवस्था का वर्णन कर रही है, या फिर मुक्ति अवस्था को वता रही है [विद्या (ज्ञान) से जगत् के अपह्नव हो जाने की वात को यह श्रुति नहीं कह रही है ।]

अन्यथा याज्ञवल्क्यादे राचार्यत्वं न संभवेत् ।
द्वैतदृष्टावविद्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्वदेत् ॥१८४॥

यदि इस श्रुति को सुषुप्ति आदि विषयक न मानें, तो याज्ञवल्क्यादि ब्रह्मविद्या के आचार्य ही न हो सकेंगे । क्योंकि यदि वे द्वैत को देख रहे हैं तो कहना होगा कि उनको अद्वैत का ज्ञान नहीं हो रहा है । फिर वे आचार्य या ब्रह्मवेत्ता कैसे होंगे ? [यदि वे द्वैत को नहीं देख रहे हैं तो शिष्यादि के न दीखने से आचार्य की वाणी ही न निकलेगी । यों विद्यासंप्रदाय का उच्छेद ही हो जायगा] ।

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः ।
सैवापरोक्षविद्येति चेत् सुषुप्तिस्तथा न किम् ॥१८५॥

---

* वेदान्त ४—४—१६ क्योंकि यह बात प्रकरण से अविष्कृत है इसलिये सुषुप्ति में और परममुक्ति में एक दूसरे की अपेक्षा से यह विशेष ज्ञान का अभाव वताया है ।

निर्विकल्प समाधि में क्योंकि द्वैत का दर्शन नहीं होता; इससे केवल उसे ही अपरोक्ष विद्या समझ बैठना ठीक नहीं। क्योंकि फिर ऐसे तो सुषुप्ति को भी 'अपरोक्ष विद्या' क्यों नहीं कहते हो [उस सुषुप्ति में भी तो द्वैत की प्रतीति नहीं होती है]।

आत्मतत्त्वं न जानाति सुप्तो यदि तदा त्वया।
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः ॥१८६॥

यदि यह कहा जाय कि—सुषुप्त पुरुष [द्वैत का दर्शन तो नहीं करता, परन्तु वह तो] आत्मतत्व को भी नहीं जानता। इससे उसे विद्यावान् नहीं माना जाता। तब तो फिर स्पष्ट शब्दों में आत्मज्ञान को ही विद्या कहना चाहिए, [द्वैत के विस्मरण को आत्मज्ञान कहना ठीक नहीं है]।

उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः।
अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ॥१८७॥

यदि तो 'द्वैत का अदर्शन' और 'आत्मज्ञान' इन दोनों को मिला कर 'विद्या' कहा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि घटादियों को आधा ज्ञान तो प्राप्त हो ही गया है। क्योंकि ये सम्पूर्ण द्वैत को तो भूले हुए ही हैं। [विद्या के दो भाग हैं एक द्वैत का अदर्शन दूसरा आत्मदर्शन ऐसा यदि मानें तो विद्या का एक भाग घटादि में भी पाया जाता है तो क्या वे भी विद्यावान् हैं ?]

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः।
तव विद्या तथा न स्याद् घटादीनां यथा दृढा ॥१८८॥

मच्छर की ध्वनि आदि बहुत से विक्षेप होने के कारण तेरी विद्या तो उतनी दृढ भी नहीं है, जितनी कि घटादि की

है [घटादि जैसे द्वैत को भूल गये हैं वैसे तो तुम भूल भी नहीं सकते हो]।

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव।
दुष्टचित्तं निरुन्ध्याचेन्निरुन्धि त्वं यथासुखम् ॥१८९॥

[यों नाकेबन्दी कर देने पर जब तुम बेबस होकर यह कह उठोगे कि] फिर ऐसे तो आत्मज्ञान ही 'विद्या' है। तो [हमारा आशीर्वाद लो और] सुखी रहो। यदि [आत्मज्ञान की रक्षा के लिए] दुष्ट चित्त को रोकना चाहो तो तुम सुभीते के अनुसार चित्त को रोका करो।

तदिष्ट मेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात्।
इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत् किमिच्छन्निति हि श्रुतम् ॥१९०॥

उस दुष्ट चित्त को रोकना तो हमें भी इष्ट ही है। क्योंकि [चित्त के दोषों के नष्ट हो जाने पर ही अद्वितीय आत्मा का ज्ञान होने के लिए] आवश्यक जो जगत् की मायामयता है उसका भले प्रकार ईक्षण तभी (दुष्ट चित्त के रुकने पर ही) किया जा सकता है [इसीलिए चित्तनिरोध हमें इष्ट है] सो भाई! यह ज्ञानी चाहता तो है परन्तु अब यह अज्ञानी की तरह नहीं चाहता है। अब यह भोगों की खुशामद नहीं करता है, भोग मिलो या मत मिलो इसे इसकी परवा नहीं होती। इसी सब अभिप्राय को लेकर हमारी व्याख्येय श्रुति में 'किमिच्छन्' यह शब्द कहा गया है।

रागो लिङ्गमबोधस्य, सन्तु रागादयो बुधे।
इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्याविरोधतः ॥१९१॥

'रागो लिंगमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु। कुतः शाद्वलता तस्य

यस्याग्निः कोटरे तरोः' यह शास्त्र तो कहता है कि 'राग अज्ञान की निशानी है' अर्थात् तत्वज्ञानी में राग नहीं होना चाहिये। 'शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वान्मुक्तिः स्यात्तावता मितेः। रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यते'। यह दूसरा शास्त्र कहता है कि 'ज्ञानी में रागादि हैं तो हुआ करें। उनके होने से ज्ञानी के ज्ञान को आँच नहीं लगती। तत्वज्ञानी का राग दृढ राग नहीं होता है' ऐसा मान लेने पर ही अविरोध होजाने के कारण ये दोनों शास्त्र सार्थक हो जाते हैं। इन दोनों शास्त्रों की संगति लग जाती है।

जो शास्त्र ज्ञानी में राग का निषेध करता है उसका अभिप्राय यही है कि—ज्ञानी में दृढराग नहीं होता। जो शास्त्र यह कहता है कि—ज्ञानी में राग हुआ करो उसका कुछ बिगड़ता नहीं। उसका अभिप्राय यही है कि ज्ञानी में दिखावटी राग हुआ करो उसका होना कुछ बुराई नहीं है।

जगन्मिथ्यात्ववत् स्वात्मासङ्गत्वस्य समीक्षणात्।
कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥१९२॥

जगत् को मिथ्या समझ लेने के कारण सच्चा काम्य पदार्थ कोई भी नहीं है, यह बात जैसे 'किमिच्छन्' इस पद से कही गयी है, इसी प्रकार जब आत्मा को असंग रूप में पहचान लिया जाता है, तब तो वास्तव भोक्ता भी कोई नहीं रह जाता। इसी भाव को श्रुति ने 'कस्य कामाय' किसके लिये इस वाक्य से व्यक्त किया है।

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति।
किन्त्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ॥१९३॥

यह प्राणी पति, पत्नी आदि जिस किसी को भी चाहता है,

उसे उसके भोग के लिये नहीं चाहता। उसे तो वह केवल अपने भोग के लिए ही चाहता है। यह बात श्रुति में बड़े जोरों से कही गयी है।

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथवा किं वोभयात्मकः ।
भोक्ता, तत्र न कूटस्थोऽसङ्गत्वाद् भोक्तृतां व्रजेत् ॥१९४॥

यदि कोई आत्मा को भोक्ता समझता हो तो वह यह बताये कि—कूटस्थ, चिदाभास, या ये दोनों मिले हुए, इन तीनों में से भोक्ता कौनसा है ? असङ्ग होने के कारण कूटस्थ तो भोक्ता नहीं हो सकता।

सुखदुःखाभिमानाख्यो विकारो 'भोग' उच्यते ।
कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥१९५॥

सुख दुःख में अभिमान करना—अपने आपको सुखी या दुःखी मानने लगना, सुख दुःख आ पड़ने पर विकारी हो जाना, बस यह विकार ही तो 'भोग' कहाता है। तब बताओ कि—कूटस्थ भी हो और विकारी भी हो, यह बात व्याहत क्यों नहीं है ? [कूटस्थता और विकारिता एक जगह रह ही नहीं सकती है।]

विकारिबुद्ध्यधीनत्वा दाभासे विकृतावपि ।
निरधिष्ठानविभ्रान्तिः केवला नहि तिष्ठति ॥१९६॥

चिदाभास तो विकारशील बुद्धि के अधीन हुआ करता है, इस कारण उस आभास के अपने स्वरूप में विकार होना सम्भव है, परन्तु भ्रान्ति का स्वभाव है कि वह बिना अधिष्ठान के केवल तो रहती ही नहीं—[अधिष्ठान भूत कूटस्थ को छोड़

कर तो अकेला चिदाभास स्वतन्त्ररूप से रहता ही नहीं इस कारण अकेला चिदाभास भी भोक्ता नहीं हो सकता ।]

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ।
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥१९७॥

[जब कि अकेला कूटस्थ या अकेला चिदाभास भोक्ता हो ही नहीं सकता] इस कारण से लोक [व्यवहार दशा] में उभयात्मक [अर्थात् अधिष्ठान सहित चिदाभास] ही भोक्ता माना जाता है। [लोक में कहने का भाव यह है कि परमार्थ दृष्टि कर बैठें तो उसकी उभयात्मकता ही सम्भव नहीं है] बुद्धि रूपी उपाधि वाले इसी भोक्ता आत्मा का वर्णन करना प्रारम्भ करके, बृहदारण्यक आदि श्रुतियों में, इसी कूटस्थ आत्मा को जो कि बुद्धि आदि की कल्पना का अधिष्ठान भूत चिदात्मा है, शेष रख लिया है [अर्थात् बुद्धि आदि जितने भी अनात्मपदार्थ हैं, उन सब का निरास करने के पश्चात् उसी को शेष कर दिया जाता है ।]

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ।
विज्ञानमयमारभ्यासङ्गं तं पर्यशेषयत् ॥१९८॥

जनक ने जब याज्ञवल्क्य से आत्मा के विषय में यह पूछा कि—आत्मतत्त्व कौन सा है ? तब याज्ञवल्क्य ने उसे समझाते हुए, 'विज्ञानमय' से लेकर वर्णन करना प्रारम्भ करके, इसी असंग कूटस्थ तत्त्व को शेष रख लिया था ।

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ।
उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ॥१९९॥

'कोयमात्मा' इत्यादि (ऐतरेय ५-१) सभी उपनिषदों में आत्मा

का जो विचार किया गया है, वहां सभी जगह यह परिपाटी रक्खी है कि—उभयात्मक आत्मा से [वर्णन करना] प्रारम्भ करके पीछे से कूटस्थ को शेष रख लिया जाता है। [अन्तः-करण उपाधि वाले आत्मा से प्रारम्भ करके, केवल प्रज्ञानरूपी कूटस्थ को शेष रख लिया जाता है। इन सब श्रुतियों के विचार से यही सिद्ध होता है कि जो उभयात्मक भोक्ता है वह तो मिथ्या होता है, तथा जो पारमार्थिक असङ्ग कूटस्थ है वह अभोक्ता ही है]।

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्मविवेकतः।
तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ॥२००॥

भोक्ता कहाने वाला यह जब अपने अविवेक के कारण, अपने और कूटस्थ के विवेक को भूल जाता है, तब कूटस्थ की सत्यता का अपने में अध्यास कर लेता है और उस सत्यता के द्वारा अपने भोक्तापन को भी सत्य ही मान बैठता है। बस फिर तो वह कभी भी भोगों को छोड़ना नहीं चाहता। [वह समझता है कि मुझ में भोक्तापन सदा रहता है, मुझे भोगों की ज़रूरत सदा ही रहती है, इस भ्रान्त विचार में आकर अब वह भोगों को छोड़ना नहीं चाहता है]।

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति।
एष लौकिकवृत्तान्तः श्रुत्या सम्यगनूदितः ॥२०१॥

लोक में जो भोक्ता प्रसिद्ध है, वह अपने ही भोग के लिये पति या पत्नी आदि भोगसामग्री को चाहा करता है। इस लौकिक वृत्तान्त का ही श्रुति ने केवल अनुवाद कर दिया है। उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि—इन भोगों को कूटस्थ

आत्मा का उपकरण बता दिया जाय। लोक में जो उभयात्मक भोक्ता प्रसिद्ध है ये भोगोपकरण उसी के शेष हैं, इस बात का श्रुति ने अनुवाद भर किया है। इन भोगों को शुद्ध आत्मतत्व का शेष सिद्ध करने में श्रुति का अभिप्राय कदापि नहीं है]।

भोग्यानां भोक्तृशेषत्वान्माभोग्येष्वनुरज्यताम्।
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं तं विधित्सति ॥२०२॥

भोग्य जो पति पत्नी आदि पदार्थ हैं, वे सब भोक्ता ही के उपकरण हैं [जो भूल से अपने को भोक्ता मान रहा है ये उसी के काम के हैं। जो अपने को भोक्ता नहीं समझता वे भोग उसके किसी भी काम के नहीं हैं] यह समझ कर भोगों में अनुराग नहीं करना चाहिये। किन्तु अपना अनुराग प्रधानभूत भोक्ता में ही रखना चाहिये, वह श्रुति बस यही बात लोगों को बताना चाहती थी।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥२०३॥

जो लोग अविवेकी हैं, जिन्हें आत्मतत्व का ज्ञान नहीं है, उनकी विषयों में जैसी दृढ भक्ति होती है विषयों के प्रति वैसी दृढ भक्ति हे लक्ष्मीपते! तेरा सदा चिन्तन करते हुए मेरे मन में से निकल कर भाग जाय [मेरा मन विषयों की आसक्ति को छोड़ कर सदा तुम्हीं में रहने लगे]।

अथवा—अविवेकी लोगों को विषयों में जैसी दृढ प्रीति हो रही है तेरा स्मरण करने वाले मेरे हृदय में से तेरी वैसी दृढ प्रीति कभी भी न जाय [तेरे लिए वैसा दृढ अनुराग मेरे हृदय में सदा ही बना रहे]।

इति न्यायेन सर्वस्माद् भोग्य जाताद् विरक्तधीः ।
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्येव बुभुत्सते ॥२०४॥

ऊपर कहे प्रकार से, पति पत्नी आदि सभी भोग्य पदार्थों से विरक्त होकर, भोग्य पदार्थों में हमारा जो प्रेम बिखरा पड़ा है उस प्रेम को भोक्ता आत्मा में ही समेट कर अब यह विवेकी इसी आत्मतत्व को जानना चाहता है [कि यह आत्मतत्व कैसा है ?]

स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः ।
अप्रमत्तो यथा, तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ॥२०५॥

पामर प्राणी जैसे माला, चन्दन, पत्नी, वस्त्र तथा सुवर्ण आदि पदार्थों [के कमाने और उनकी रक्षा करने] में सावधान रहता है,[दिन रात जुटा रहता है—इनके कमाने आदि में दिन-रात एक कर देता है] मुमुक्षु पुरुष की यह पहचान है कि—वह भी इसी तरह, आत्मतत्व के विषय में कभी प्रमाद नहीं करता । वह सदा उसी का चिन्तन करता रहता है । [उस पर इसी प्रकार आत्मतत्व का स्पष्ट दर्शन कर लेने की धुन सवार हो जाती है] ।

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरन्तरम् ।
विजिगीषुर्यथा, तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥२०६॥

विजिगीषु पुरुष जिस प्रकार सदा काव्य, नाटक तथा तर्क आदि का अभ्यास किया करता है, मुमुक्षु लोग भी ऐसी ही लगन से सदा अपने आत्मा का विचार किया करें ।

जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा ।
स्वर्गादिवाञ्छया,तद्वच्छ्रद्दध्यात् स्वे मुमुक्षया ॥२०७॥

जिस प्रकार वैदिक लोग, स्वर्ग आदि की इच्छा को लेकर उसके साधन जप याग या उपासना आदि को श्रद्धापूर्वक किया करते हैं, इसी प्रकार मुमुक्षु लोग भी, केवल मोक्ष की अभिलाषा को लेकर, अपने आत्मा पर ही विश्वास करें [विषयों पर श्रद्धा करना छोड़ दें] ।

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत् ।
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात् स्वं मुमुक्षया ॥२०८॥

जिस प्रकार योगी लोग, अणिमा आदि ऐश्वर्य पाने के लिए, बड़े भारी प्रयत्न से चित्त को एकाग्र किया करते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक समझदार आदमी मोक्ष की इच्छा को लेकर, सदा ही अपने आत्मा का विवेक किया करे [इस अपने आत्मा को देहादियों से पृथक् पहचान ले । इसको देहादियों में रिला मिला न रहने दे] ।

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् ।
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद् विशदायते ॥२०९॥

अभ्यास की पटुता से जैसे इन काव्यादि का अभ्यास करने वाले लोगों की चतुरता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, इसी प्रकार अभ्यास करते करते इस मुमुक्षु का विवेक [देहादियों से आत्मा का भेदज्ञान] भी निखरने लगता है ।

विविञ्चता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसंगता ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥२१०॥

अन्वयव्यतिरेक नाम की युक्ति के सहारे से, जब कोई पुरुष भोक्ता के पारमार्थिक स्वरूप को, भोग्य पदार्थों से पृथक

पहचान लेता है, तब फिर उस पुरुष को जाग्रदादि सभी अवस्थाओं में साक्षी तत्व के असंगपने का निश्चय हो जाता है।

यत्र यद् दृश्यते द्रष्ट्रा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ॥२११॥

यह द्रष्टा, जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति में क्रम से जिन [स्थूल सूक्ष्म और आनन्द नाम के] भोग्यों को अनुभव किया करता है, वे भोग्य पदार्थ केवल उन ही अवस्थाओं में हुआ करते हैं। [दूसरी अवस्थाओं के आजाने पर वे भोग्य पदार्थ नहीं रहते] परन्तु इन तीनों अवस्थाओं में अनुगत रहने वाला जो इनका द्रष्टा है, वह तो इन सब से पृथक् ही है यह अनुभव तो सभी को सम्मत है।

स यत्तत्रेक्षते किंचित्तेनानन्वागतो भवेत्।
दृष्ट्वैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिण्डिमः ॥२१२॥

'स यत्तत्र किंचित् पश्यति अनन्वागतस्तेन भवति, असंगोह्ययं पुरुषः सवाएष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति' (बृ० ४-३-१५) इस श्रुति में डंके की चोट कहा गया है कि—वह आत्मा उस अवस्था में, जिस किसी भी भोग्य को देखता है, उसके साथ अनुगत नहीं होता—किंवा उससे सम्बद्ध नहीं हो जाता [किन्तु वह वहां के दृश्यों को वहीं छोड़ कर, अकेला ही दूसरी अवस्था में पहुँचता है। वह वहां के पुण्य पाप किंवा सुख दुःखों को देखकर ही चला जाता है। उन्हें अपने साथ नहीं ले जाता।]

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपंचं यत् प्रकाशते।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥२१३॥

सत्य ज्ञान आनन्द रूप जो महान् तत्व, जाग्रदादि प्रपंच को प्रकाशित किया करता है, वही ब्रह्मनामक तत्व मैं हूँ। [जन्म, जरा, मृत्यु आदि के वस में आने वाला क्षुद्र प्राणी मैं नहीं हूँ]. श्रुति और अनुभव के कहने से, जब कोई, इस वात को जान या मान लेता है तव फिर वह [कर्ता भोक्ता आदि] सभी वन्धनों से पूर्ण रूप से छुट जाता है।

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥२१४॥

जाग्रत् स्वप्न या सुषुप्ति तीनों में एक ही आत्मतत्व है, ऐसा जान लेना चाहिये। जव किसी का आत्मा, ज्ञान के प्रताप से इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठ जाता है, तव फिर उसका पुनर्जन्म कभी भी नहीं हो पाता। [इस शरीर के गिर जाने पर उसे दूसरा शरीर नहीं मिलता।]

त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोहं सदाशिवः ॥२१५॥

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नाम के तीनों धामों में, जो तीन तरह के [स्थूल सूक्ष्म तथा आनन्दरूपी] भोग्य हैं, जो तीन तरह के [विश्व तैजस तथा प्राज्ञ नाम के] भोक्ता हैं, तथा इनमें जो नानाविध भोग [अनुभव] होता है, इन सभी से विलक्षण जो एक चिन्मात्र रूप सदा कल्याणस्वरूप साक्षी परमात्मा है, वही तो मैं हूँ।

एवं विवेचिते तत्वे विज्ञानमयशब्दितः ।
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते ॥२१६॥

इस प्रकार आत्मतत्व की विवेचना कर चुकने के वाद

[जब कि उसको असंग जान लिया जाता है तब] विकारी होने के कारण विज्ञानमय कहानेवाला जो चिदाभास है वह ही भोक्ता रह जाता है।

मायिकोयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि।
इन्द्रजालं जगत् प्रोक्तं तदन्तःपात्ययं यतः ॥२१७॥

श्रुति और अनुभव इन दोनों का कहना मानें तो यह चिदाभास तो मायिक [किंवा मिथ्या] है। विद्वान् लोग तो इस सभी जगत् को इन्द्रजाल की तरह मिथ्या मानते हैं। वे कहते हैं कि—क्योंकि यह चिदाभास भी उस जंगत् के अन्तर्भूत ही है, इस कारण यह भी मिथ्या ही है।

विलयोप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते।
एतादृशं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनः पुनः ॥२१८॥

सुषुप्ति या मूर्छा जब आजाती है, तब यह साक्षी [आत्मा] इस चिदाभास के विलय किंवा नाश को अनुभव किया करता है। यों कूटस्थ से अलगाये हुए चिदाभास को मायिक समझ लेने पर यह होता है कि यह चिदाभास अपने ऐसे मिथ्या स्वभाव का स्वयं ही बार बार विवेक करने लगता है। [यह अपनी कमी को—अपने नश्वरपने को पहचान कर अपने मन में इस बात को अनन्त बार दोहराता है, उसको इस जगद्व्यवहार को देख कर हँसी और आश्चर्य दोनों होते हैं]।

विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वाञ्छति।
मुमूर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवाञ्छति ॥२१९॥

विवेक करते करते, अपने नाश का निश्चय जब कर लेता है, तब वह भोगों की इच्छा करना ही छोड़ बैठता है। क्या

भला जिस मुमूर्षु को खाट से भूमि पर उतार लिया गया हो वह कभी भी अपना विवाह कराना चाहेगा ?

जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताहमिति पूर्ववत् ।
छिन्ननास इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ॥२२०॥

उसकी कुछ ऐसी विचित्र अवस्था हो जाती है कि—यह तो अब पहले की तरह, अपने को भोक्ता कहता हुआ भी शरमाता है। 'अभी तक मेरे प्रारब्ध कर्म समाप्त नहीं हुए' इस दुःख को लिये हुए ही, नाक कटे आदमी के समान लज्जित रह कर अपने प्रारब्ध को भोगा करता है।

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेत्ययं तदा ।
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा ॥२२१॥

यह चिदाभास जब अपने आपको भी भोक्ता मानता हुआ शरमाने लगता है तब यह बिचारा अपने भोक्तापने के दोष को साक्षी पर लादेगा, ऐसी वृथा शंका तो करनी ही नहीं चाहिए।

इत्यभिप्रेत्य भोक्तार माक्षिपत्यविशङ्कया ।
कस्य कामायेति ततः शरीरानुज्वरो न हि ॥२२२॥

[कूटस्थ या चिदाभास कोई भी पारमार्थिक भोक्ता नहीं है] इसी अभिप्राय को लेकर 'कस्य कामाय' इस श्रुति ने निःशंक होकर भोक्ता का निषेध कर दिया है। ऐसा हो जाने पर फिर उसे इस शरीर के साथ कभी भी सन्तप्त होना नहीं पड़ता। [ऐसा ज्ञानी जब ज्वर से पीड़ित होता है तब उसका विश्लेषण यों करना चाहिए कि—उसके शरीर को ज्वर आता है, वह तटस्थ होकर उस ज्वरित शरीर को देखा करता है। उस दुःखी शरीर के साथ वह दुःखी कभी नहीं होता। कैसा भी कष्ट आ पड़ने

पर वह अपनी तटस्थता को टूटने नहीं देता। यह तटस्थता ही ज्ञानियों का गुप्त धन माना जाता है]।

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम्।
अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः ॥२२३॥

स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार का शरीर होता है। उन उन शरीरों में तीनों तरह का संताप भी हुआ ही करता है। [उसमें किसी का बस नहीं है कि उस सन्ताप को हटा सके।]

वातपित्तश्लेश्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ।
दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयस्तथा ॥२२४॥

इस स्थूल शरीर में वात, पित्त, कफ से उत्पन्न होने वाली, अनन्त बीमारियां, दुर्गन्धि किंवा कूरूप होना, जल जाना, या चोट लग जाना, आदि अनेक ज्वर [उपद्रव] रहते ही हैं।

कामक्रोधादयः शान्तिदान्त्याद्या लिङ्गदेहगाः
ज्वरा,द्वयेऽपि बाधन्ते प्राप्त्याप्राप्त्या नरं क्रमात्॥२२५॥

काम क्रोधादि तथा शान्ति दान्ति आदि लिङ्ग शरीर के ज्वर हैं। जब काम क्रोधादि आते हैं तब वे सूक्ष्म शरीर को दुःखी करते हैं तथा जब शान्ति आदि नहीं आते तब भी लिङ्ग देह दुःखी होता है। यों ये दोनों, क्रम से पाने और न पाने से दुःखी किया करते हैं।

स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे।
आगामिदुःखबीजं चेत्येतदिन्द्रेण दर्शितम् ॥२२६॥

'नहि खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति, नो एवेमानि भूतानि,विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्रभोग्यं पश्यामि'(छा० ८-११-२) इस श्रुति में इन्द्र ने अपने प्रजापति गुरु से यह कहा है कि—

वह न तो अपने आपको ही जानता है और न दूसरे को ही पहचान पाता है। कारण शरीर में पहुँच जाने पर तो यह [अज्ञान के कारण] विनष्ट सा ही हो जाता है, यही अवस्था अगले दिनों में आने वाले दुःखों का कारण भी होती है।

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः।
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥२२७॥

तीनों शरीरों में प्रतीत होने वाले ये ज्वर शरीरों के साथ ही साथ लगे हुए हैं। ये तो उनमें स्वभाव से ही रहते हैं। इन्हें कोई उनमें से हटा नहीं सकता। स्थूल शरीर रोगी न हों, काम क्रोधादि मन में उत्पन्न न हों, अज्ञान में दुःख रूपी भेड़िये छिपे न बैठे हों, यह कभी होना ही नहीं है। क्योंकि इन ज्वरों का जब इन शरीरों से वियोग हो जाता है तव तो फिर ये शरीर ही नहीं रहने पाते [इसी से कहते हैं कि ये तो स्वाभाविक हैं]

तन्तोर्वियुज्येत पटो वालेभ्यः कम्बलो यथा।
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम् ॥२२८॥

तन्तु से यदि वस्त्र वियुक्त हो सकता हो, वालों से यदि कम्बल को पृथक् किया जा सकता हो, मिट्टी से यदि घट को अलग करना सम्भव हो तो यह भी हो सकता है कि ज्वरों से देह को बचाया जा सके [ये शरीर तो विपत्ति के वृक्ष हैं]।

चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति, यतश्चितः।
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥२२९॥

चिदाभास को स्वयं तो कोई भी ज्वर नहीं होता [उसको तो शरीरों के सम्बन्ध के कारण ही ज्वर होते हैं]। विद्वान् साधक जब समाधिभावना में बैठ कर देखते हैं, तब वे चित्

को केवल प्रकाश स्वभाव वाला ही पाते हैं। [यह चिदाभास उस चित् का ही प्रतिबिम्ब है इस कारण उसमें भी कोई ज्वर नहीं होता]।

चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वराः, साक्षिणि का कथा।
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ॥२३०॥

यों जब कि चिदाभास में भी ज्वरों का होना असंभव है तब फिर साक्षी में ज्वर नहीं होते, इसका तो कहना ही क्या? वस्तुस्थिति तो यही है फिर इस चिदाभास ने अपनी अविद्या [बेसमझी] के कारण [उन शरीरों से] अपनी एकता मान ली है [और यह अब अपने आपको ही सन्तापशील मान बैठा है]।

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये।
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ॥२३१॥

[एकता मानने की रीति तो यह है कि] उस चिदाभास ने, अपने से युक्त इन तीनों शरीरों में, साक्षी की सत्यता का अध्यास किया और फिर पीछे से ज्वरों से जलते हुए उन तीनों शरीरों को ही, अपना सच्चा रूप समझ लिया। [मानों कोई दहकती हुई भट्टी में घुस कर उस भट्टी को ही आपना आपा मान बैठा हो और अन्दर बैठा बैठा जल रहा हो।]

एतस्मिन् भ्रान्तिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्स्वथ।
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कटुम्बिवत् ॥२३२॥

इस भ्रान्ति के रहते रहते जब इस चिदाभास के किसी शरीर को कोई ज्वर होजाता है तब यह कुटुम्बी पुरुष की तरह अपने आपको ही ज्वरशील मान बैठता है। [तात्पर्य यह है

कि यह चिदाभास शरीर के ज्वरों को अपने आत्मा में आरोपित कर लेता है ।]

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा।
मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ॥ २३३ ॥

पुत्र या पत्नी आदि के सन्तप्त होने पर जैसे कुटुम्बी मनुष्य वृथा ही अपने आपको दुःखी माना करता है, इसी प्रकार यह चिदाभास भी शरीरों के दुःखी होने पर अपने आप को वृथा ही दुःखी मानने लगता है। [शरीर में कोई चोट लग जाय तो यह उस चोट को आत्मा को ही लगी समझता है इत्यादि]

विविच्य भ्रान्तिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन् सदा ।
चिन्तयन् साक्षिणं कस्माच्छरीर मनुसंज्वरेत् ॥२३४॥

वह चिदाभास कूटस्थ का, अपने आपका, तथा शरीरों का विवेक करके, भ्रान्ति को छोड़ देने के पश्चात्, अपने को भी कुछ न गिनते हुए [कि मैं भी कुछ हूँ] ज्वरादि से रहित जो साक्षी है, उस का सदा चिन्तन करते करते, इन ज्वर वाले शरीरों के पीछे-पीछे लग कर स्वयं भी क्यों सन्तप्त होता फिरे ? [यही बात विवेकी की समझ में नहीं आती। सन्तप्त होने का तो कोई सच्चा कारण ही विवेकी को नहीं दीखता।]

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥२३५॥

रज्जु में जो सर्पादि कल्पित कर लिये जाते हैं, उनका ज्ञान ही तो पलायन का कारण होता है। परन्तु जब रज्जु का ज्ञान हो जाता है और सर्पबुद्धि नष्ट हो जाती है, तब तो अपने प्रथम किये

हुए पलायन पर भी पछताना पड़ता है [कि मैं मूर्ख वृथा ही दौड़ पड़ा था ।]

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ।
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ॥२३६॥

[लोक में जब कोई किसी पर झूठा दोष लगा देता है तब वह उसका यह प्रायश्चित्त करता है कि जिस पर उसने दोष लगाया था, उससे बार बार क्षमा मांगता है। इसी प्रकार] उस चिदाभास ने जो कि साक्षी असङ्ग आत्मा में, भोक्ता आदि धर्मों का आरोप कर रक्खा था [उस असङ्ग आत्मा को वृथा ही कर्ता भोक्ता आदि मान लिया था] उस पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये मानों [अनादि काल के] अपने अपराध को क्षमा करवाने के लिये साक्षी आत्मा की शरण में जापड़ा [अर्थात् कहने लगा कि—मैं तो सच्चिदानन्द रूप ही हूँ। मैं तो अब तक इस आत्मतत्व को वृथा ही कर्ता भोक्ता आदि मान रहा था । हे आत्मदेव ! अब मैं ऐसा आत्मद्रोह कभी न करूँगा इत्यादि ।]

आवृत्तपापनुत्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ।
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ॥२३७॥

जैसे पापी पुरुष, अपने अभ्यस्त पाप को हटाने के लिये, स्नान आदि प्रायश्चित्त को बार-बार किया करता है, इसी प्रकार इस चिदाभास ने जो साक्षी में चिरकाल तक संसारित्व आदि धर्मों का आरोप कर लिया था, उस दोष को हटाने के लिये ही, ध्यान की आवृत्ति करते हुए पुरुषों की तरह, सदा ही साक्षिपरायण रहने लगता है ।

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ।
जानतोऽग्रे तथाऽऽभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ॥२३८॥

जिस वेश्या को सुजाक जैसा अधम रोग हो गया हो, वह जैसे विलास में लज्जा किया करती है, उसी की तरह यह चिदाभास भी ज्ञानी के सामने अपने गुणों को कहता हुआ भी शरमाने लगता है । [अपने आपको 'मैं' कहते हुए उसे लज्जा आती है]

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन् पुनः ।
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव, तथाभासः शरीरकैः ॥२३९॥

जिस ब्राह्मण को म्लेच्छों ने पकड़ लिया हो [जो म्लेच्छों के साथ खाने पीने लगा हो] वह जब प्रायश्चित्त कर लेता है,तब फिर म्लेच्छों में रिला मिला नहीं रहता [उनसे अलग हो जाता है ।] इसी प्रकार यह चिदाभास उक्त प्रकार का प्रायश्चित करके फिर शरीरों के साथ संकरता को प्राप्त नहीं होता है ।

यौवराज्ये स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवाञ्छया ।
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनकार्ययम् ॥२४०॥

जो राजपुत्र युवराज बन चुका हो, वह साम्राज्य पाने की इच्छा से राजा का अनुकरण किया करता है [वह उसी की तरह प्रजारञ्जन आदि करने लगता है] इसी प्रकार यह चिदाभास भी आत्मसाम्राज्य को पाने की इच्छा से, सदा साक्षी का ही अनुकरण करने लगता है ।

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिम् ।
श्रुत्वा,तदेकचित्तः सन्, ब्रह्म वेत्ति, न चेतरत् ॥२४१॥

इस श्रुति को सुनकर जब कोई पूर्णरूप से तन्निष्ठ

होजाता है, तब वह ब्रह्म को जान जाता है। उस समय ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ का ज्ञान उसे नहीं रहता। [स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति (मु० ३-२-९) इस श्रुति को सुनकर यह निश्चय होता है कि साक्षी का अनुसरण करना वृथा नहीं जाता]।

देवत्वकामा ह्यग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा।
साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति ॥२४२॥

[ब्रह्मज्ञान हो जाने से जब ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है तब चिदाभासपना नष्ट हो जाता है। इस पर प्रश्न यह होता है कि वह चिदाभास अपने नाश के लिये प्रयत्न क्यों करता है? इसी का उत्तर—इस श्लोक में दिया है]—जो मनुष्य देव बनना चाहते हैं, वे जलती अग्नि में या गंगा आदि में प्रवेश कर जाते हैं [और अपना शरीरपात कर देते हैं] इसी प्रकार साक्षिरूप से शेष रह जाने के लिये वह चिदाभास अपना विनाश भी चाह लेता है। [जैसे देवभावरूपी ऊँची श्रेणी को पाने की इच्छा से, उससे अधम मनुष्यशरीर को त्याग दिया जाता है, इसी प्रकार साक्षिरूप को पा जाने के उत्तम फल को देखकर, यह चिदाभास अपने अधम चिदाभासपन को त्याग कर ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्त हो जाता है। भले ही उससे उसका चिदाभासपना ही जाता रहता हो।]

यावत् स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति।
यावदारब्धदेहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ॥२४३॥

अग्नि में घुसे हुए उस पुरुष का देह जब तक भस्म नहीं हो चुकता, तब तक वह अपने मनुष्यत्व से मुक्त नहीं हो पाता

[तब तक उसको मनुष्य ही कहा जाता है] इसी प्रकार जब तक यह प्रारब्ध देह बना हुआ है, तब तक चिदाभासता बनी ही रहेगी [प्रारब्ध कर्मों के नष्ट होने तक उसे चिदाभास ही कहना पड़ेगा।]

रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैरेवोपशाम्यति ।
पुनर्मन्दान्धकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगी भवेत् ॥२४४॥

रज्जु का ज्ञान हो जाने पर भी जैसे भय या कम्प आदि धीरे धीरे ही शान्त होते हैं, सहसा नहीं। जब तो मन्द अँधेरे में उस रज्जु को फिर फेंक दिया जाता है तब वह फिर सांप सी दीखने लगती है।

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योहमिति भासते ॥२४५॥

इसी प्रकार अज्ञान चाहे निवृत्त भी हो चुका हो, परन्तु प्रारब्ध भोग तो धीरे धीरे ही शान्त हुआ करता है। वह हठ करने से सहसा शान्त नहीं हो जाता। कभी कभी तो भोग-काल में उसे यह भी विपरीत भास हो ही जाया करता है कि 'मैं मर्त्य हूँ—।' [उसका यह भास ज्ञान होते ही नष्ट नहीं होता, यह भी धीरे धीरे ही मिटा करता है।]

नैतावतापराधेन तत्वज्ञानं विनश्यति ।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किन्तु वस्तुस्थितिः खलु ॥२४६॥

['मैं मर्त्य हूँ'ऐसा भान हो जाना यद्यपि ज्ञानी का अपराध समझा जाना चाहिये परन्तु] इतने छोटे से अपराध से तत्व-ज्ञान का नाश नहीं हो जाता है। क्योंकि—यह अपनी मनुष्य बुद्धि को हटा देना रूपी जीवन्मुक्ति नाम का कोइ व्रत [अर्थात्

नियम से करने योग्य काम] नहीं है, जो साधकों को परवश करना पड़ता हो। किन्तु यह तो वस्तुस्थिति ही है कि तत्वज्ञान से भ्रान्तिज्ञान भाग जाता है।

तत्वज्ञान का अभ्यास करते करते साधक ने जिन विपरीत भावनाओं को मार भगाया है, वे कभी कभी इस देहादि समुदाय पर, फिर अधिकार पाने का उद्योग करेंगी ही। वे यदि कभी कभी लौट कर आ जाती हैं तो आया करें। उनको फिर फिर मार भगाना चाहिये। इन भावनाओं को भगाने में कुछ समय भी लगता होता है और प्राणियों के स्वभावानुसार इसका भिन्न-भिन्न क्रम भी होता है।

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन् बुद्ध्वा न रोदिति।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा॥२४७॥

जो दसवां अब तक सिर पीट पीट कर रो रहा था, वही दसवां, ज्ञान हो जाने पर रोना तो तुरन्त रोक देता है, परन्तु सिर पीटने से उसके सिर में जो घाव हो गया था, वह तो कहीं महीनों में जाकर अच्छा हो पाता है। वह तुरन्त अच्छा नहीं होता।

दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम्।
तिरोधत्ते, मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम्॥२४८॥

दसवें के न मरने के लाभ को सुनकर जो हर्ष होता है वह हर्ष घाव की पीडा को भुला देता है। ठीक इसी प्रकार जीवन्मुक्ति भी प्रारब्धदुःखों को ढक लेती है [जीवन्मुक्ति मिलने पर जो हर्ष होता है, उसके सामने, प्रारब्ध दुःखों की कुछ गिनती ही नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में ज्ञान हो जाने

पर चाहे संसार की अनुवृत्ति होती भी रहो तो भी जीवन्मुक्ति को पुरुषार्थ मानना ही पड़ेगा]

व्रताभावाद् यदाध्यासस्तदा भूयो विविच्यताम् ।
रससेवी दिने भुङ्क्ते भूयो भूयो यथा तथा ॥२४९॥

[पहले २४६ श्लोक में कह चुके हैं कि] यह कोई व्रत नहीं है, इस कारण जब जब अध्यास हो जाता हो, तब तब बार बार विचार करना चाहिये। जिस प्रकार रससेवी पुरुष एक ही दिन में, जब जब उसे भूख लगती है तब तब, बार बार खाता है [इसी प्रकार अध्यास की निवृति के लिए बारम्बार विवेक करना चाहिये।]

शमयत्यौषधेनायं दशमः स्वं व्रणं यथा।
भोगेन शमयित्वैतत् प्रारब्धं मुच्यते तथा ॥२५०॥

जिस प्रकार वह दसवां पुरुष अपने व्रण को औषध से अच्छा कर लेता है, इसी प्रकार भोग के द्वारा इस प्रारब्ध (कर्म) को शान्त करके ही मुक्त होता है [प्रारब्ध कर्मों का फल ज्ञान से नहीं हटता। उसे तो भोग ही नष्ट कर सकते हैं।]

किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः ।
आभासस्य ह्यवस्थैषा षष्ठी, तृप्तिस्तु सप्तमी ॥२५१॥

शोकमोक्षरूपी जिस अवस्था को 'किमिच्छन् कस्य कामाय' (बृ ४-४-१२) इस वाक्य में कहा है, चिदाभास की उस छठी अवस्था का वर्णन यहाँ तक किया जा चुका। अब 'तृप्ति' नाम की सातवीं अवस्था का व्याख्यान किया जायगा।

साङ्कुशा विषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरङ्कुशा ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्त मित्येव तृप्यति ॥२५२॥

विषयों के मिलने से प्राणी की जो तृप्ति होती है, वह तृप्ति साङ्कुश [समर्याद] तृप्ति कहाती है [एक विषय के मिलने से जो तृप्ति होती है, दूसरे विषय की कामना, हमें उस तृप्ति का मज़ा पूरी-पूरी तरह लूटने ही नहीं देती। दूसरी कामना उत्पन्न होते ही पहली तृप्ति के टूक-टूक कर डालती है। इसी से विषयों से होने वाली तृप्ति को साङ्कुश (परिमित) तृप्ति कहते हैं] परन्तु यह तृप्ति,जिसका वर्णन अब हम करने लगे हैं, वैसी मामूली तृप्ति नहीं है। यह तो निरंकुश [अमर्याद=अपरिमित] तृप्ति है [क्योंकि यह तृप्ति किसी भी कामना से कुण्ठित (खण्डित) नहीं हो जाती। यह तृप्ति तो नित्य नयी नकोर बनी रहती है] इस तृप्ति को पा लेने वाले के हृदय भवन में तो सदा ही ये शब्द गूँजा करते हैं कि 'जो कुछ मुझे करना था सो मैं कर चुका तथा जो कुछ मुझे पाना था वह मुझे मिल गया।'

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये।
बहुकृत्यं पुरास्याभूत् तत् सर्वमधुना कृतम् ॥२५३॥

इस ज्ञानी को जब तक तत्व ज्ञान नहीं हुआ था तब तक इसको इस लोक और परलोक के कामों के तथा मुक्ति की सिद्धि के लिये बहुत कुछ करना शेष था [इष्ट को पाने और अनिष्ट को हटाने के लिये खेती आदि करनी थी। स्वर्गादि के लिये याग उपासना आदि करते थे। ज्ञान की सिद्धि के लिये श्रवणादि करते रहे थे।] परन्तु अब तो [जब कि इसे किसी भी सांसारिक फल की इच्छा नहीं रही है और ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार हो चुका है] वह सभी कुछ किया सा हो गया [उन सब कामों

को पूरा करके जो कुछ होता, वह उन्हें बिना किये ही हो चुका है। इस के पश्चात् अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं दीखता।]

तदेतत् कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम्।
अनुसन्दधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥२५४॥

जो बातें आत्मा की कृतकृत्यता का विरोध करती रहती हैं, उनके साथ ही अपनी कृतकृत्यता को याद कर करके, यह ज्ञानी आगे कहे प्रकार से सदा ही तृप्त रहने लगता है।

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया।
परमानन्दपूर्णोहं संसरामि किमिच्छया ॥२५५॥

पुत्र, पत्नी आदि की मांग में फँसे हुए दुःखी अज्ञानी लोग, भले ही संसार में जकड़े रहें [मैं भी कभी ऐसा ही था] किन्तु अब परमानन्द से परिपूर्ण मैं भला इस संसार में किस इच्छा को लेकर उलझा पड़ा रहूँ?

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥२५६॥

जिन्हें परलोक जाने की बड़ी इच्छा है, वे भले ही यज्ञादि शुभ कर्म करते फिरें, [मुझ पर भी कभी यही वहम सवार हो रहा था] किन्तु सर्वलोकस्वरूप बना हुआ मैं भला अब उन कर्मों को क्यों करूँ? और कैसे करूँ? यह तुम्हीं बताओ?

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा।
येऽत्राधिकारिणो, मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः॥२५७॥

जो लोग अधिकारी हैं, उनका यदि जी करता हो तो वे शास्त्रों का व्याख्यान करें, या वेदों को पढ़ायें [मुझ पर भी कभी

यही धुन सवार रहती थी किन्तु अब] अक्रिय तत्व हो जाने के कारण मेरा तो इन किन्ही भी कामों में अधिकार नहीं रहा है।

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च।
द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥२५८॥

निद्रा और भिक्षा स्नान और शौच की मुझ आत्मतत्व को न तो इच्छा ही है और न मैं यह सब कुछ करता ही हूँ। फिर भी यदि संसारी लोग मुझ में ये सब कुछ मानते हैं तो वे माना करें। उनके मानने से मुझ में क्या होना है। [मेरी उदार दृष्टि में तो अब यह कुछ भी नहीं है]।

उनको मेरा शरीर दीखता है, इसकी क्रियाओं को ये मेरी मानते हैं। मेरे गुहा निवासी रूप की ओर इनका ध्यान नहीं है। चुम्बक के पास आते ही लोहे में गति हो जाती है, पानी बरसते ही धरती उसे पी जाती है। गीली मिट्टी और अनुकूल ऋतु के आते ही बीज में अंकुर निकल आते हैं। सूरज के निकलते ही कमल खिल जाते हैं। चन्द्रमा को देखते ही चन्द्रकान्त में द्रव हो जाता है। गरमी अधिक पड़ते ही वर्षा होने लगती है। स्पष्ट अचेतन समझे जाने वाले पदार्थों का यह हाल है, उसी प्रकार भूल से चेतन समझ लिया गया यह शरीर भी, भोजन को देखकर उसे खाने में, और भूख प्यास अधिक तंग करें तो भोजन को जुटाने में संलग्न हो जाता है। गरमी लगे, मल की बाधा हो, तो स्नान शौच आदि में प्रवृत्त हो जाता है। सावधान रहने का यही प्रसंग है कि इन शरीरादियों की इन प्रवृत्तियों को अपना मान कर वृथा ही कर्तृत्व का सारा पापरूप बोझ अनाड़ी पहलवान के दाव की तरह, अपने ऊपर मत ले लो।

गुंजापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवन्हिना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥२५९॥

जिस गुञ्जा समूह को दूसरे लोग अग्नि समझ लेते हैं, तो जैसे वह यथार्थ ही जलाने नहीं लगता है, इसी प्रकार दूसरों के आरोपित संसारधर्मों को भला मैं कैसे स्वीकार करलूँ ?

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥२६०॥

ब्रह्म और आत्मा की एकता रूपी तत्व का ज्ञान जिन्हें नहीं हो पाया है, वे लोग श्रवण करें [उनके लिये तो श्रवण करना ठीक है] परन्तु उस तत्व को जान लेने वाला मैं भला अब श्रवण क्यों करूँ ? तत्व ऐसा है या वैसा है ऐसा संशय जिन लोगों को होता हो वे लोग मनन करें। परन्तु संशय से रहित मैं भला अब मनन भी क्यों करूँ ?

विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्ययात् ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद् भजाम्यहम् ॥२६१॥

जिसको विपर्यय हो रहा है, वह निदिध्यासन करे। जब किसी को विपर्यय ही न हो तब फिर ध्यान ही कैसा ? मुझे तो देहात्मता रूपी विपर्यास अब कभी होता ही नहीं है [फिर मैं ध्यान भी क्यों करूँ ?]

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥२६२॥

यह विपर्यास जब नहीं रहता, तब भी अनादि काल से अभ्यस्त वासनाओं के प्रभाव से ही 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा

व्यवहार चलता रह सकता है। [अनादिकाल की वासनायें ज्ञानी से भी 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा कहला देती हैं]

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद् ध्यानसहस्रतः ॥२६३॥

प्रारब्ध कर्म के क्षीण हो जाने पर, व्यवहार भी (स्वयमेव) शान्त हो जाता है, ध्यान रक्खो कि जब तक कर्म क्षीण नहीं हो जाते, तब तक तो हजारों ध्यानों से भी यह व्यवहार निवृत्त नहीं हो सकता।

ऐसी अवस्था में व्यवहार को जबरदस्ती बन्द करने का वहम झूठा वहम है। जबरदस्ती कर्मसन्यास का जो मार्ग है वह कल्याण कारी नहीं है। एक जगह औषधप्रयोग से दबाया हुआ फोड़ा जैसे दूसरी जगह फूट निकलता है,इसी प्रकार व्यवहार को जबरदस्ती बन्द करने से या तो बाहर का बाजार अन्दर मन में जा लगता है, या यह होता है कि एक जगह का व्यवहार बन्द करते ही, व्यवहार का जो अनादि अभ्यास है, उससे दूसरी जगह दूसरी तरह का व्यवहार होने लग पड़ता है। व्यवहार को जबरदस्ती बन्द करने के इसी वहम से प्रभावित हुए पुरुष,स्त्री पुत्रों के या घर के व्यवहार को छोड़कर महन्ती में या अन्य के प्रबन्धों में फँसे पाये जाते हैं। देशान्तरवास का [कालेपानी का] दण्ड जिन को राजा देता है उनका इस देश का व्यवहार तो बन्द हो जाता है, परन्तु वे वहां जाकर नये सम्बन्ध बना ही लेते हैं। यों व्यवहार जबरदस्ती बन्द करने की चीज नहीं है। व्यवहार छुटता है छोड़ा नहीं जाता। यह तो यमनियमों का अभ्यास करते-करते स्वभाव से स्वयमेव छूटना चाहिये। पका हुआ

खरबूजा जैसे स्वयमेव डण्ठल से अलग हो जाता है, या जैसे पक जाने पर गर्भ माता की नाभि के बन्धन से टूट कर बाहर आ जाता है, इसी प्रकार यह व्यवहारत्याग भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में होना चाहिये। व्यवहार के रुकने के लिये कर्मों के क्षीण होने की बाट बड़े धैर्य से देखनी चाहिये। जैसे छोड़ा हुआ बाण ध्यान करने से बीच में नहीं रुक जाता, इसी प्रकार प्रारब्ध जब तक समाप्त नहीं हो लेता तब तक व्यवहार किसी के भी रोके रुक नहीं सकता।

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद् ध्यानमस्तु ते।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥२६४॥

व्यवहार को विरल (कम) करने के लिये यदि तुझे ध्यान करना पसन्द आता है तो तू ध्यान किया कर। परन्तु मुझे तो अब यह व्यवहार बाधक ही नहीं दीखता है। फिर मैं ध्यान के बखेड़े में क्यों पड़ूं ?

जब कि 'तज्जलान्' इस न्याय से सभी कुछ ब्रह्मतत्व है, तो इस व्यवहार को भी ब्रह्मरूप में ही देखना चाहिये। आँखें बन्द करके केवल एकान्त में बैठकर ही ब्रह्मतत्व का ध्यान करना तो ऐसा ही है जैसे किसी बालक को एक कोठरी में बैठाकर दिशा बतायी गई हों और फिर जब कहीं बाहिर उससे दिशा बूझी जाय कि इधर कौनसी दिशा है ? और वह यह कहने लगे कि चलो कोठरी में चलकर बताऊंगा। यहां तो मुझे मालूम नहीं है। ठीक इसी प्रकार केवल ध्यानमुद्रा में बैठकर ही ब्रह्मतत्व को समझना और व्यवहार में इस तत्व को भूल जाना—व्यवहार में इस तत्व को लागू न करना—भी ऐसा ही अधूरा ज्ञान है। जो ज्ञान व्यवहार में न

आ सके, व्यवहार की ज़रा सी ठोकर भी जिस ज्ञान से न सहारी जाय, जो ज्ञान व्यवहारभीरु बनादे, वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं है। जिस ज्ञान के छोटे से कल्पित कोने में अनन्त ब्रह्माण्ड भरे पड़े हैं, वही ज्ञान यदि व्यवहार के आ पड़ने पर भाग खड़ा होता हो, तो उस ज्ञान को सच्चा ज्ञान मत समझो। वह तो तोते के राम राम की तरह निर्वीर्य ज्ञान है। उस पर मुक्ति रूपी फल कदापि लगने वाला नहीं है।

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥२६५॥

मुझ को तो विक्षेप ही नहीं होता है, इसी से मुझे समाधि की भी आवश्यकता नहीं है। विक्षेप और समाधि ये दोनों तो विकारशील मन के ही धर्म हैं। [इन्द्रियों को रोककर ही दीखने वाला आत्मा सच्चा आत्मा नहीं है। इन्द्रियों को रोककर चित्त-वृत्ति को बन्द करके पाई हुई अवस्था तो योगवालों की समाधि है। वेदान्त की समाधि तो यह है कि आत्मा और ब्रह्मतत्व को एक समझा जाय और फिर अखण्ड ब्रह्मरूप होकर बैठा जाय, हरएक क्रिया, हरएक व्यवहार, हरएक पदार्थ, हरएक प्राणी ब्रह्मरूप दीखें यह तो—यही सहज समाधि है। यह करनी नहीं पड़ती यह तो स्वभाव से होती है।]

नित्यानुभवरूपस्य को मे वानुभवः पृथक्।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येवनिश्चयः ॥२६६॥

जो मैं नित्यानुभव स्वरूप हूँ, उस मुझ को मुझ से पृथक् अनुभव भी क्या होगा? [इसी से मैं समाधि के फल कहाने वाले अनुभव के सम्पादन का उद्योग भी अब नहीं करता हूँ]

मुझे तो अब यह निश्चय हो गया है कि मुझे जो कुछ करना था सो मैं कर चुका हूँ तथा जो कुछ मुझे पाना था सो मैं पा चुका हूँ।

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो चान्यथापि वा।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥२६७॥

कर्ता और भोक्तापन जिस मुझ में नहीं है, उस मेरा जो भी भिक्षा आदि लौकिक, जप समाधि आदि शास्त्रीय तथा हिंसा आदि प्रतिषिद्ध व्यवहार है, वह सबका सब जैसा मेरा प्रारब्ध हो उसके अनुकूल चलता रहो। [मुझे अब उसकी विशेष परवा नहीं है]

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेहं का मम क्षतिः ॥२६८॥

अथवा यों समझो कि मैं तो कृतकृत्य हो ही चुका हूँ। परन्तु लोकानुग्रह [प्राणियों पर कृपा] की इच्छा से मैं शास्त्र के अनुकूल मार्ग से ही चलता हूँ। मेरी तो उससे भी कुछ हानि नहीं होनी है। [मोक्ष तक पहुँचने का जो सरल राजमार्ग है, वह दूसरों को भी दिखा दिया जाय, ज्ञानी लोगों की लापरवाही से वह मोक्ष की पद्धति नष्ट न हो जाय, इस कारण लोकसंग्रह के लिये भी ज्ञानी को शुभकर्म करने ही चाहियें। बिल्ली जैसे अपने बच्चों को चूहे का शिकार करना सिखा जाती है, उसी प्रकार अविद्या का शिकार करना प्रत्येक साधक को, ज्ञानी लोग सिखा दें तो वह मार्ग अक्षुण्ण बना रह सकता है]

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥२६९॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥२७०॥

यह मेरा शरीर देवार्चन करे, स्नान करे, शौच या भिक्षाचरण करे, यह मेरी वाणी तार (प्रणव) का जप करे, या वेदान्त शास्त्र का पाठ करती रहे, यह मेरी बुद्धि चाहे तो विष्णु का ध्यान करे या ब्रह्मानन्द में विलीन हो जाय। इन सब कामों में से मैं तो कुछ भी करता या करवाता नहीं हूँ। मैं तो इन सब का साक्षी हूँ।

एवं च कलहः कुत्र संभवेत् कर्मिणो मम ।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ॥२७१॥

ऐसी परिस्थिति में पूर्व और पश्चिम समुद्र के समान, भिन्न विषय होने से, कर्मी के साथ मेरा झगड़ा कहां रहा। [कर्मी और मैं दोनों एक ही विषय पर कथन करते, तो उस का हमारा कलह होना संभव भी था]

वपुर्वाग्धीषु निर्बन्धः कर्मिणो नतु साक्षिणि ।
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बन्धो नेतरत्र हि ॥२७२॥

कर्मी का निर्बन्ध तो शरीर वाणी और बुद्धि तक ही है। साक्षी में उसका कुछ भी निर्बन्ध नहीं है [उससे उसको कुछ भी मतलब नहीं है] इसके विपरीत ज्ञानी का निर्बन्ध तो साक्षी के निर्लेपपने में है। उन शरीरादियों में उसका निर्बन्ध कुछ भी नहीं है [देह से उसका कोई भी नाता नहीं रहता है।

और वह यही चाहता भी है कि किसी तरह यह नाता सदा के लिये टूट जाय]

एवं चान्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ बधिराविव ।
विवदेतां, बुद्धिमन्तो हसन्त्येव विलोक्य तौ ॥२७३॥

एक दूसरे की बात को न सुनने और न समझने वाले दो बहरे जब आपस में विवाद करते हों तब बुद्धिमान् लोग उन्हें झगड़ते देखकर हंसते ही हंसते हैं। यों जब ज्ञानी और कर्मी आपस में विवाद कर पड़ते हैं, तब अनुभवी विद्वान् लोग उन्हें देख देखकर हँसा करते हैं [क्योंकि उन दोनों को एक दूसरे के वृत्तान्त का परिज्ञान ही नहीं है]

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्ववित् ।
ब्रह्मत्वं बुध्यतां, तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥२७४॥

कर्मी पुरुष जिस साक्षी तत्व को नहीं पहचानता है, ज्ञानी पुरुष यदि उसी साक्षितत्व को ब्रह्म जान ले तो इसमें कर्मी का क्या विगड़ता है ? [उससे उसके कर्मानुष्ठान में कुछ भी रुकावट नहीं पड़ती है ।]

देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनानृतबुद्धितः ।
कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥२७५॥

देह वाणी और बुद्धि इन सभी को ज्ञानी ने अनृत समझ कर छोड़ दिया है । कर्मी इन से काम में प्रवृत्त होता है तो हुआ करे । ज्ञानी का उससे क्या बिगड़ता है ? [ज्ञानी और कर्मी का विवाद तो हमारी समझ में निर्विषय ही है । इनके विवाद को देखकर तो सभी हँसेंगे] ।

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते ।
बोधहेतु र्निवृत्तिश्चेद् बुभुत्सायां तथेतरा ॥२७६॥

यदि कहा जाय कि ज्ञानी लोग प्रयोजन रहित होने से कर्मों में प्रवृत्ति नहीं करते। परन्तु हम पूछेंगे कि निवृत्ति का भी तो ज्ञानी को कुछ उपयोग नहीं है। फिर ज्ञानी लोग निवृत्ति भी क्यों करते हैं ? यदि कहा जाय कि निवृत्ति तो बोध का कारण होती है, इससे ज्ञानी लोग निवृत्ति को स्वीकार कर लेते हैं, तो हम कहेंगे कि ऐसे तो प्रवृत्ति भी ज्ञान की इच्छा में उपयोगी होती ही है । [हम अनादि काल से प्रवृत्ति में ही हैं। जब कभी किसी जन्म में हमारे मन में यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि—इस प्रवृत्ति से हमें क्या मिला ? क्या मिल रहा है ? और क्या कुछ मिलेगा ? इस प्रश्न का जब कोई सदुत्तर हमें नहीं मिल पाता, तब हम प्रवृत्ति से हट जाते हैं—किनारा करने लगते हैं, और तब तत्त्व की जिज्ञासा हमें हो जाती है। यों प्रवृत्ति भी वैराग्य दिलाकर ज्ञान की इच्छा में उपयोगी होती ही है]।

बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः ।
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ॥२७७॥

यदि कहा जाय कि जो ज्ञानी है उसे तो बुभुत्सा [ज्ञानेच्छा] ही नहीं हो सकती, [फिर वह ज्ञानी प्रवृत्ति में क्यों फँसेगा ?] तो हम कहेंगे कि उस ज्ञानी को दुबारा बोध भी तो नहीं होता है, इस कारण ज्ञानी के लिये निवृत्ति का भी तो कुछ उपयोग नहीं रहता है । [महावाक्यों को सुनकर जो बोध उत्पन्न होता है उस] बोध की बाधा किसी भी प्रमाण से न हो तो

बोध की स्थिरता हो जाती है । उसकी स्थिरता के लिये किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं होती । [यों बोध की स्थिरता के लिये भी निवृत्ति की आवश्यकता नहीं बता सकते हो । संसार से निवृत्ति आदि किसी भी साधन से बोध की स्थिरता [क़ायमी] नहीं होती है किन्तु वह तो तब ही स्थिर रहता है जब कि किसी प्रमाण से उसकी बाधा न हो] बोध की स्थिरता अबाध पर निर्भर हैं। निवृत्ति पर बोध की स्थिरता निर्भर नहीं है ।

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति ।
पुरैव तत्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥२७८॥

अविद्या या अविद्या के कार्य [कर्तृत्वादि के अध्यास] भी बोध की बाधा नहीं कर सकते। क्योंकि उन दोनों को तो तत्व-ज्ञान ने पहले ही पछाड़ दिया था।

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात् कथं मृतः ॥२७९॥

यह बाधित जगत्, इन्द्रियों से भले ही दीखता रहे, परन्तु इस बाधित जगत् से [तत्वज्ञान की] बाधा नहीं हो सकेगी [क्योंकि अविद्यारूपी उपादान के निवृत्त हो जाने से उसका कार्य भी बाधित हो चुका है] दृष्टान्त भी देख लो कि जो चूहा जीते जी बिल्ली को नहीं मार सकता वह भला मर जाने पर कैसे मार सकेगा ?

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।
निष्फलेषुविद्धनाङ्गो नङ्क्षयतीत्यत्र का प्रमा ॥२८०॥

जो महाबलशाली, पाशुपत अस्त्र से बिंध कर भी नहीं मरा था, वह बिना नोक के बाणों से ही मर जायगा इसमें क्या प्रमाण है ?

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैं र्जृम्भमाणया ।
युद्ध्वा बोधोऽजयत् सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम्॥२८१॥

जब ब्रह्मविद्या का अभ्यास प्रारम्भ किया था, अपने नानाविध कार्यों की फौज को लेकर चढ़ाई करने वाली जिस अविद्या से झगड़ कर बोध ने उसे तभी जीत लिया था, वही महाबलशाली बोध [जो अभ्यास की पटुता से आज तो बहुत ही दृढ़ हो चुका है] क्योंकर बाधा जायगा ?

तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः ।
न भीति र्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः॥२८२॥

अज्ञान और अज्ञान के बच्चे, जिनको कि बोध ने मार डाला है भले ही पड़े रहें, बोध रूपी सम्राट् को उन से कुछ भी खतरा नहीं होता। प्रत्युत उनसे तो उसकी कीर्ति ही होती है [कि देखो ये अज्ञान और उसके बच्चे बोध के मारे हुए सामने पड़े हैं।]

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयास्य किम् ॥२८३॥

जो पुरुष इस तरह के अतिशूर बोध से कभी भी [एक क्षण के लिये भी] वियुक्त नहीं होता है, देहादि की प्रवृत्ति या निवृत्ति से उस महात्मा का कुछ इष्ट या अनिष्ट नहीं हो सकता है ।

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ।
स्वर्गाय वापवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥२८४॥

जो बोधहीन है, उसका प्रवृत्ति में आग्रह करना उचित ही है। क्योंकि मनुष्यों को स्वर्ग या मुक्ति इनमें से एक के लिये प्रयत्न तो करना ही होगा [सांसारिक मजा और मुक्ति-सुख इन दोनों म से किसी एक के बिना तो इस जीवन में कुछ सार ही नहीं रहता। या तो मुक्तिसुख मिलना चाहिये। नहीं तो फिर दुनियादारी का मजा ही सही। सांसारिक मजों को भोग कर जब उनके फलस्वरूप दुःख के पहाड़ भोक्ता के ऊपर टूट पड़ते हैं तब साधक बनकर मोक्ष मार्ग में को दौड़ जाना पड़ता है। संसार की सारी विपत्तियां इसी मोक्षमार्ग के गूंगे बुलावे हैं]।

विद्वांश्चेत् तादृशां मध्ये तिष्ठेत् तदनुरोधतः।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥२८५॥

वैसे लोगों के बीच में यदि ज्ञानी को रहना पड़ जाय तो वह उन्हीं के अनुसार शरीर, वाणी और मन से [लोक संग्रह के लिये] सब विहित कामों को किया ही करे [उसको उन कामों से उन्हें हटाना नहीं चाहिये। ऐसे लोगों को उनकी बिना इच्छा के परमार्थ वार्ता नहीं बतानी चाहिये। अधिकार से ऊँची बात बताना ऐसा ही होता है जैसा कि ऊसर में बीज बोना]।

एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत् तदा पुनः।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥२८६॥

यही विद्वान् जब जिज्ञासुओं में पहुँचे तब उनको बोध करा देने के लिये सब क्रियाओं को दूषित करते हुए स्वयं भी उन सब क्रियाओं का त्याग करदे। [उनसे भी त्याग करादे। क्रियाओं में जो गुप्त अनन्त दोष भरे पड़े हैं, उनका मर्म उन्हें समझा

कर, इस कर्म और भोग के दुःखदायी अनन्त चक्र में से उन का भी उद्धार करले] ।

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ।
स्तनन्धयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ॥२८७॥

ज्ञानी लोगों का वर्ताव तो अज्ञानियों के अनुसार ही होना चाहिये। देखते हैं कि छोटे-छोटे बच्चों के माता पिता उन्हीं के अनुकूल वर्ताव किया करते हैं।

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ।
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ॥२८८॥

देखा जाता है कि जब बच्चा पिता को भला बुरा कहता या मार बैठता है तब भी उसके पिता को क्रोध कुछ भी नहीं होता। प्रत्युत वह इसके बदले में भी उसे प्यार ही किया करता है।

निन्दितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निन्दति ।
न स्तौति किन्तु तेषां स्याद् यथा बोधस्तथा चरेत् ॥२८९॥

अज्ञानी लोग जब विद्वान् पुरुष की निन्दा या स्तुति करें तब इसके बदले में वह स्वयं उनकी निन्दा या स्तुति न करने लगे। किन्तु इन लोगों को जैसे भी बोध हो सके वैसा वैसा प्रयत्न करता रहे।

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत् ।
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत् कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ॥२९०॥

विद्वान् के जिस जिस तरह के आचरण करने से, इस अज्ञानी को ज्ञान हो जाय, ज्ञानी को वही वही आचरण करते जाना चाहिये। ज्ञानी का तो इसके अतिरिक्त और कुछ भी

कर्तव्य नहीं है कि वह अज्ञानी प्राणी को किसी तरह बोध करादे। [इस कारण ज्ञानी को उनका अनुसरण करके तत्व बोध कराना चाहिये। अज्ञानी की तरह सब कुछ करने लगना इष्ट नहीं है।]

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥२९१॥

यह विद्वान् पहले तो कृतकृत्य हो जाने के कारण तृप्त होकर, फिर आगे कही विधि से प्राप्तप्राप्तव्य हो जाने के कारण तृप्त होकर, अपने मन में सदा यही सोचा करता है—

धन्योऽहं धन्योहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥२९२॥

मैं धन्य हूँ। क्योंकि मैं अपने आत्मतत्व को साक्षात् जान गया हूँ। यों आत्मा को समझ लेने से ही मुझे परम हर्ष है। ब्रह्म नाम का जो आनन्द है, वह अब मुझे स्पष्ट ही प्रतीत होने लगा है। यों आत्मज्ञान के फल के मिलने से मैं परम धन्य होगया हूँ।

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥२९३॥

आज तो मुझे कोई भी सांसारिक दुःख नहीं दीखता। इस कारण अनिष्ट की निवृत्ति हो जाने से भी मैं धन्य हो गया हूँ। क्योंकि आज मेरा अज्ञान [अनेक कर्मों की वासनाओं का पुञ्ज] न मालूम कहां भाग गया है ? [यही कारण है कि अब मुझे कोई दुःख प्रतीत नहीं होता। इसी से मैं कृतार्थ हो चुका हूँ।]

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम् ॥२९४॥

मैं धन्य हूँ, आजतो मुझे कुछ कर्तव्य ही नहीं रहा है। मैं धन्य हूँ क्योंकि जो मुझे प्राप्तव्य था वह सब आज मिल चुका है।

धन्योहं धन्योहं तृप्तिर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥२९५॥

मैं धन्य हूँ। आज मेरे समान तृप्ति किसको है ? इससे अधिक और क्या कहूँ ? कि मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं बार बार धन्य हूँ [मुझे तो अब तुष्टि ही तुष्टि दिखाई दे रही है।]

अहो पुण्यं महो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्ते रहो वयमहो वयम् ॥२९६॥

वे मेरे अनन्त कोटि जन्मों के अनन्त पुण्य आज निश्चय ही फलरूप में आगये। पुण्यों की इस राशि के प्रताप से आज मैं आनन्द सागर की लहरों में हिलोरे ले रहा हूँ। आज मेरे पुण्यों के प्रताप से वह सारा संसार मुझे संतोष ही संतोष दीख पड़ रहा है।

अहो शास्त्र महोशास्त्र महो गुरु रहो गुरुः ।
अहो ज्ञान महो ज्ञान महो सुखमहो सुखम् ॥२९७॥

उन शास्त्रों और उन गुरुओं को स्मरण करके भी आज मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है, जिनके कि प्रताप से मेरी हृदय की ग्रन्थि खुली है। ज्ञान के प्रताप से मैं इस हर्षातिरेक में आया हूँ और आनन्दित हो रहा हूँ उस ज्ञान और उस सुख की महिमा का क्या वर्णन करूँ ?

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसन्दधते बुधाः ।
ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तस्ते तृप्यन्ति निरन्तरम् ॥२९८॥

जो बुध लोग इस तृप्तिदीपनाम के प्रकरण का विचार नित्य करेंगे वे ब्रह्मानन्द में निमग्न हो कर सदा ही तृप्त रहने लगेंगे।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं तृप्तिदीपप्रकरणं समाप्तम् ।

ॐ

कूटस्थदीपप्रकरणम्

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् ।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते ॥१॥

जो भित्ति पहले सूरज से दीपित हो रही है, उसी भित्ति पर जैसे दर्पण में के सूरज की दूसरी दीप्ति भी जा पड़ती हो, [और वह भित्ति दो प्रकाशों से चमक उठती हो] उसी प्रकार [पहले] कूटस्थ [अविकारिचैतन्य] से भासित भी यह देह [फिर दुबारा] बुद्धिस्थ चिदाभास से भी भासित हुआ करता है ।

सूर्य के प्रकाश से जो भित्ति अभी तक सामान्यतया प्रकाशित हो रही थी, दर्पण पर गिर कर लौट कर भित्ति पर पड़ी हुई सूर्य की रश्मि फिर जैसे उसी भित्ति को विशेषतया प्रकाशित किया करती है, इसी प्रकार निर्विकार चैतन्य ने इस देह को सामान्यतया प्रकाशित तो कर ही रक्खा है, उसे ही यह बुद्धिस्थ चिदाभास फिर दुबारा विशेष रूप से प्रकाशित किया करता है। यों देह को प्रकाशित करने वाले दो चैतन्य हैं—। एक सामान्य चेतन दूसरा विशेष चेतन ।

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसन्धिषु ।
इतरा व्यज्यते, तासामभावेऽपि प्रकाशते ॥२॥

यदि एक ही भित्ति पर अनेक दर्पणों के आदित्यों के आभास [प्रभा-अक्स] डाले जांय, तो उन आभासों किंवा

दीप्तियों के बीच बीच में दूसरी जो सामान्यप्रभा रूपी सूर्य-दीप्ति है वह भी देखी ही जाती है। दर्पणों की अनेक प्रभायें जब नहीं रहतीं वह [सामान्य प्रभा] तो तब भी सब जगह प्रकाशित ही रहती है।

चिदाभासविशिष्टानां तथानेकधियामसौ।
सन्धिं धियामभावं च भासयन् प्रविविच्यताम्॥३॥

ऊपर कहे हुए दृष्टान्त के अनुसार, चिदाभासयुक्त जो अनेक बुद्धियां किंवा अनेक बुद्धिवृत्तियां होती हैं, [जाग्रत् तथा स्वप्न में तो] उन बुद्धियों के सन्धिकाल को प्रकाशित करने वाले तथा [सुषुप्ति के समय] उन बुद्धियों के अभाव को प्रकाशित करने वाले, इस कूटस्थ को [ऊपर कहे दृष्टान्त के अनुसार उन बुद्धियों से] पृथक् जान लो।

जाग्रत् तथा स्वप्न के समय एक वृत्ति नष्ट होती है; दूसरी उत्पन्न होती है। इन दोनों वृत्तियों की सन्धि को जब कि थोड़े से समय के लिये कोई भी वृत्ति नहीं रहती—जो कोई तत्व प्रकाशित करता है, वही कूटस्थ चैतन्य है। सुषुप्ति के समय जब कोई भी बुद्धिवृत्ति नहीं रहती, तब वृत्तियों के अभाव को जो कोई तत्त्व प्रकाशित करता है, वही कूटस्थ चैतन्य है। वह इन बुद्धिवृत्तियों से और इनके अभावों से सर्वथा भिन्न है। यों उस कूटस्थ तत्व का विवेक कर लेना चाहिये।

घटैकाकारधीस्था चिद्घटमेवानुभासयेत्।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते॥४॥

घट को देखते समय जो बुद्धि केवल घटाकार हो जाती है, उस बुद्धि में जिस चैतन्य का आभास पड़ता है, वह तो

केवल घट को ही प्रकाशित किया करता है। परन्तु उस घट में जो ज्ञातता नाम का धर्म रहता है [जिस धर्म के सहारे से 'घट को जान लिया' यह व्यवहार किया जाता है] उसको तो [घट की कल्पना का अधिष्ठान] ब्रह्मचैतन्य ही प्रकाशित किया करता है [यों देह से बाहर चिदाभास और ब्रह्म को पृथक् पृथक् समझ लेना चाहिये]

अज्ञातत्वेन ज्ञातोयं घटो बुद्ध्युदयात् पुरा।
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा ॥५॥

जब तक बुद्धि उत्पन्न नहीं हो जाती, तब तक तो यह घट अज्ञात रूप से ब्रह्मतत्त्व से ही ज्ञात रहता है। बुद्धि की उत्पत्ति हो जाने पर तो वही ब्रह्म इसे ज्ञातरूप से प्रकाशित करने लग पड़ता है, बस केवल इतना सा ही भेद है [ऐसी अवस्था में यह शंका निर्मूल हो जाती है कि—ज्ञातता को भासित करने वाले चैतन्य से ही घट की प्रतीति भी हो सकती है। बुद्धि की क्या आवश्यकता होती है ? क्योंकि ज्ञातता आदि भेदों की सिद्धि के लिये बुद्धि की भी परमावश्यकता तो रहती ही है।]

चिदाभासान्तधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहान्तकुन्तवत्।
जाड्यमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुम्भो द्विधोच्यते ॥६॥

['ज्ञातता' और 'अज्ञातता' कराने वाले 'ज्ञान' और 'अज्ञान' का स्वरूप इस श्लोक में बताया गया है] भाले की नोक पर जैसे लोहा लगा रहता है, इसी प्रकार चित्प्रतिबिम्ब से युक्त जो बुद्धि वृत्ति है [जिस बुद्धिवृत्ति के अन्त अर्थात् अग्रभाग में चिदाभास लगा रहता है] उस को तो 'ज्ञान' कहते हैं। जो तो जाड्य है—[जो स्वतः स्फूर्ति का न होना है]

वही 'अज्ञान' कहाता है। जब कोई कुम्भ इस ज्ञान से व्याप्त होता है तब उसे 'ज्ञात कुम्भ' कहते हैं। जब कोई कुम्भ अज्ञान से व्याप्त हुआ रहता है तब उसको 'अज्ञात कुम्भ' कहा जाता है।

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुम्भ स्तथा न किम् ।
ज्ञातत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ॥७॥

जैसे अज्ञात कुम्भ ब्रह्म से भास्य होता है, क्या ऐसे ही ज्ञात कुम्भ ब्रह्म से भास्य नहीं होसकता ? [किन्तु हो ही सकता है। अज्ञातता को उत्पन्न करके जैसे अज्ञान उपक्षीण हो जाता है इसी प्रकार] चिदाभास [ज्ञान] भी ज्ञातता को उत्पन्न करके क्षीण होजाता है, [उसके बाद उसका कोई उपयोग नहीं रहता, फिरतो अज्ञात कुम्भ की तरह ज्ञात कुम्भ भी ब्रह्म से ही भास्य होता है]

आभासहीनया बुद्धया ज्ञातत्वं नैव जन्यते ।
तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद् विकारिणः ॥८॥

जो बुद्धि आभास से हीन है, उससे तो ज्ञातता उत्पन्न ही नहीं होती। वैसी बुद्धि में और मिट्टी पत्थर में तो कोई भेद ही नहीं होता। [इसलिये चिदाभास को निरर्थक मत समझो। अकेली बुद्धि के बस का यह काम नहीं है कि वह ज्ञातता को उत्पन्न कर सके।]

ज्ञात इत्युच्यते कुम्भो मृदा लिप्तो न कुत्रचित् ।
धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा ॥९॥

लोक में भी देखलो कि—जो घड़ा मट्टी से ढकरहा हो उसे कोई भी ज्ञात कुम्भ नहीं कहता। इसी प्रकार जो कुम्भ

चिदाभासरहित बुद्धि से व्याप्त हो रहा हो उसे कोई भी 'ज्ञात कुम्भ' नहीं मान सकता।

ज्ञातत्वं नाम कुम्भेऽतश्चिदाभासफलोदयः।
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात् प्रागपि सत्वतः ॥१०॥

[क्योंकि केवल बुद्धि तो ज्ञातता को उत्पन्न करही नहीं सकती] इस कारण कुम्भ में चिदाभासरूपी फल का उदय हो जाना ही 'ज्ञातता' कहाती है। ब्रह्मचैतन्य को ही फल मान लें और [चिदाभास को हटादें] यह भी ठीक नहीं है [क्योंकि ब्रह्मचैतन्य को तो फल अर्थात् घटादिका स्फुरण कह ही नहीं सकते इसका कारण यह है कि] ब्रह्म चैतन्य तो प्रमाणों से भी पहले से विद्यमान रहता है। [प्रमाणों का फल तो उसे कहना चाहिये जो प्रमाणों के पीछे से होता हो]

बात यह है कि जिसे अनुभव या स्फूर्ति या प्रतीति कहते हैं, वह तो अजर अमर अखण्ड और एकरस है। वह अनादि काल से ऐसी ही है, और ऐसी ही रहेगी। परन्तु हम विचारदरिद्र लोगों को इस अखण्ड अनन्त सदातन स्फूर्ति का ध्यान बिल्कुल भी नहीं है। अब यह होता है कि जब किसी पदार्थ में ज्ञातता नाम का धर्म उत्पन्न हो जाता है, त्यों हीं हम उस पदार्थ की स्फूर्ति होना मान लेते हैं। असलमें देखा जाय तो वहां जो स्फूर्ति है वह तो सदातन ब्रह्म चैतन्य ही है। ज्ञातता उत्पन्न होने के कारण जो पदार्थ उस अखण्ड स्फूर्ति के लपेटे में आगया है वह भी प्रतीत सा होने लग पड़ा है। तत्व विचार से मालूम होता है कि यह प्रतीति प्रमाणों से पैदा नहीं होती। प्रमाणों से तो पदार्थों

में चिदाभास रूपी फल का उदय हो जाना ही घट का जान लिया जाना है ।

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता ।
संवित् सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥११॥

परागर्थ जो घटादि बाह्य पदार्थ हैं, वे जब प्रमेय अर्थात् प्रमाण के विषय होते हैं, उस समय प्रकट होने वाली जो संवित् (ज्ञान) प्रमाणों का फल मानली गयी है, वही संवित् इस वेदान्तशास्त्र में वेदान्त वाक्य रूपी प्रमाणों से जानने योग्य एक पदार्थ है ।

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम् ।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः साहस्र्यां विश्रुतो यतः ॥१२॥

ऊपर कहे हुए श्लोक में वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने चित्सादृश्य की विवक्षा की है—अर्थात् ब्रह्म चैतन्य के सदृश चिदाभास को प्रमाणों का फल कहा है । ब्रह्मचैतन्य को फल नहीं कहा । वार्तिककार के गुरु श्रीमच्छंकराचार्य ने भी उपदेश-साहस्री में ब्रह्मचैतन्य तथा ब्रह्मचैतन्य के फल [चिदाभास] को भिन्न भिन्न बताया है ।

आभास उदित स्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद् घटे ।
तत् पुनर्ब्रह्मणा भास्य मज्ञातत्ववदेव हि ॥१३॥

प्रकृत बात तो यही हुई कि-क्योंकि ब्रह्मचित् तथा चिदाभासका भेद सिद्ध होचुका, इसलिये घट में जो आभास उदित होता है, वह घट में ज्ञातता को उत्पन्न किया करता है । वह ज्ञातता, अज्ञातता की तरह,ब्रह्म से ही भास्य होती है, यह तो प्रसिद्ध ही है ।

धीवृत्त्याभासकुम्भानां समूहो भास्यते चिता।
कुम्भमात्रफलत्वात् स एक आभासतः स्फुरेत् ॥१४॥

ब्रह्मचैतन्य से तो धीवृत्ति, चिदाभास तथा कुम्भ ये सब के सब ही प्रकाशित होते हैं। चिदाभास बिचारा तो केवल कुम्भ में ही रहने वाला एक फल है। इस कारण उस चिदाभास से तो वह अकेला घट ही घट भास सकता है। यों ब्रह्मचैतन्य का तथा चिदाभास का विषयभेद भी है।

चैतन्यं द्विगुणं कुम्भे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः।
अन्येऽनुव्यवसायाख्य माहुरेतद् यथोदितम् ॥१५॥

क्योंकि एक घट, चिदाभास और ब्रह्मचैतन्य दोनों से ही भास्य होता है, इस कारण घट में ज्ञातता उत्पन्न होजाने पर तो दुगना चैतन्य होजाता है। दूसरे तार्किक लोग तो ऊपर बताये हुए इसी को अनुव्यवसाय नाम का दूसरा ज्ञान कह देते हैं।

घटोऽयमित्यसावुक्ति राभासस्य प्रसादतः।
विज्ञातो घट इत्युक्ति र्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥१६॥

जब हम कहते हैं कि 'यह घट है' तब यह कहना चिदाभास की सहायता से होता है। जब हम कहते हैं कि 'घट को जान लिया' तब यह कथन ब्रह्म के अनुग्रह से हुआ करता है। [यों व्यवहार के भेद से भी चिदाभास और ब्रह्म का भेद जान लेना चाहिये]

आभासब्रह्मणी देहाद् बहिर्यद्वद् विवेचिते।
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥१७॥

देह से बाहर जैसे चिदाभास और ब्रह्मका विवेक यहां

तक किया है, ठीक इसी प्रकार देह के अन्दर भी चिदाभास का और कूटस्थ का विवेक [ज्ञान की चलनी से] कर लेना चाहिये ।

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च ।
संव्याप्य वर्तते, तप्ते लोहे वन्हिर्यथा तथा ॥१८॥

तपे हुए लोहे में आग की तरह, अहंवृत्ति में और काम क्रोधादि वृत्तियों में चिदाभास व्याप्त हुआ रहता है ।

स्वमात्रं भासयेत् तप्तं लोहं नान्यत् कदाचन ।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ॥१९॥

तपकर लाल हुआ लोहा केवल अपने आपको ही प्रकाशित किया करता है । अन्य किसी वस्तु को प्रकाशित करने का सामर्थ्य उसमें नहीं होता । ठीक इसी प्रकार, आभास से युक्त वृत्तियां भी केवल अपनी ही भासक होती हैं, दूसरे की नहीं ।

क्रमाद् विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः ।
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्छासमाधिषु ॥२०॥

जितनी भी वृत्तियां हैं, वे सब क्रमसे रुक रुक कर पैदा हुआ करती है । जब एक वृत्ति नष्ट होजाती है तब दूसरी वृत्ति का उदय होता है । इसी प्रकार तीसरी और चौथी आदि वृत्तियों की उत्पत्ति को भी समझना चाहिये । सुप्ति मूर्छा और समाधि के समय तो वे सभी वृत्तियां विलीन हो जाती हैं फिर तो उनमें से एक भी नहीं रहजाती ।

सन्धयोऽखिलवृत्तीना मभावाश्चावभासिताः ।
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥२१॥

सब वृत्तियों की सन्धियां [जब कि एक वृत्ति नष्ट हो कर दूसरी उत्पन्न होने को होती है] तथा सब वृत्तियों के अभाव [जबकि कोई भी वृत्ति नहीं रहती] जिस निर्विकार चैतन्य से प्रकाशित [ज्ञात] होते हैं, उसीको कूटस्थ कहा जाता है।

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथान्तरे।
वृत्तिष्वपि, ततस्तत्र वैशद्यं सन्धितोऽखिलम् ॥२२॥

जैसे बाह्य घट में दुगना चैतन्य [एक तो घटमात्र का भासक चिदाभास तथा दूसरा घट की ज्ञातता का भासक ब्रह्मचैतन्य] होता है, इसी प्रकार अन्दर की अहंकारादि वृत्तियों में भी एक तो कूटस्थ चैतन्य रहता है, दूसरा केवल वृत्तियों का चिदाभास होता है। यों अन्दर भी दुगना चैतन्य होता है। दुगना चैतन्य होने के कारण ही, इन वृत्तियों में, संधियों से अधिक स्पष्टता आगयी है। [चैतन्य की इतनी विशदता सन्धियों में नहीं होती, जितनी कि इन वृत्तियों में होती है।]

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद् वृत्तिषु क्वचित्।
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात् ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ॥२३॥

घट में जैसे ज्ञातता और अज्ञातता होती है, वैसे वृत्तियों में कभी भी ज्ञातता और अज्ञातता नहीं होतीं। क्योंकि अपना आपा अपने आप से गृहीत नहीं हो सकता तथा उन वृत्तियों के उत्पन्न होते ही उनसे अज्ञान का नाश हो जाता है। [भाव यह है कि ज्ञान की व्याप्ति से ज्ञातता और अज्ञान की व्याप्ति से अज्ञातता होती है। वृत्तियां स्वयंप्रकाश होती हैं, इस कारण उनमें ज्ञान की व्याप्ति नहीं होती और 'ज्ञातता' नहीं आती। वे वृत्तियाँ जब उत्पन्न हो जाती हैं तब वे उत्पन्न होते ही

स्वविषयक अज्ञान को हटा देती हैं। यों अज्ञान की व्याप्ति भी वृत्तियों में नहीं रहती और 'अज्ञातता' भी नहीं आती।]

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः।
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥२४॥

सार बात तो यह है कि उस दुगने चैतन्य में [उन दो प्रकार के चेतनों में] जिस चैतन्य के जन्म और नाश होते हुए प्रतीत होते हों, उसे तो 'अकूटस्थ' मानना चाहिए। अविकारी होने के कारण उससे भिन्न जो दूसरा चैतन्य है, उसे 'कूटस्थ' जान लेना चाहिये।

अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥२५॥

'अन्तःकरण तद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः। आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रपद्यसे' इत्यादि श्लोकों में सब जगह पूर्वाचार्यों ने चिदाभास से भिन्न कूटस्थ का उपपादन किया है। [यह कूटस्थ हमारा कपोलकल्पित नहीं है]।

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्च वर्णितः ॥२६॥

जैसे (१) मुख (२) मुखाभास तथा (३) उसका आश्रय अर्थात् दर्पण होता है इसी प्रकार (१) कूटस्थ आत्मा (२) आभास तथा (३) अन्तःकरण आदि उसका आश्रय होता है। ये तीनों शास्त्र और युक्ति से जाने जाते हैं। यहाँ जो आभास का वर्णन है उसका अभिप्राय कूटस्थ से भिन्न चिदाभास से ही है ['मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी' यह शास्त्र तो बुद्धि के साक्षी कूटस्थ का प्रतिपादन करने वाला है। 'रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव'(कठ

५-९) यह शास्त्र चिदाभास का प्रतिपादन करता है इन में से एक [चिदाभास] विकारी है दूसरा [कूटस्थ] अविकारी है। यह तो २४वें श्लोक में युक्ति देकर बता चुके हैं।

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकान्तरगमागमौ ।
कर्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ॥२७॥

जैसे कि घट के द्वारा घटाकाश गमनागमन कर लेता है, इसी प्रकार बुद्धि से अवच्छिन्न जो कूटस्थ है वही बुद्धि के द्वारा लोकान्तर का गमनागमन कर लेगा। फिर यह बताओ कि तुम इस चिदाभास को क्यों मानते हो ? [चिदाभास की कल्पना में तो गौरव होता है।]

शृण्वसङ्गः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्नहि ।
अन्यथा घटकुड्याद्यै रवच्छिन्नस्य जीवता ॥२८॥

इसका उत्तर भी सुनो, कि केवल परिच्छेद हो जाने से ही वह असङ्ग तत्व जीव नहीं हो जाता है। यों यदि केवल परिच्छेद होने से ही वह 'जीव' हो जाता होता तब तो घट और भित्ति आदि से परिच्छिन्न हो जाने पर भी वह जीव हो गया होता। [जो तुम्हें भी इष्ट नहीं है।]

न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा ।
अस्तु नाम परिच्छेदे किं स्वाच्छ्येन भवेत्तव ॥२९॥

यदि यह कहो कि स्वच्छ होने के कारण बुद्धि तो भित्ति के समान नहीं है, इस कारण बुद्धि परिच्छेद कर सकती है, भित्ति नहीं कर सकती। सो यह भी कथन निःसार ही है। क्योंकि बुद्धि स्वच्छ है तो हुआ करे। परिच्छेद में तो स्वच्छता का कुछ भी उपयोग नहीं है।

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा न हि।
विक्रेतुस्तण्डुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥३०॥

लोक में भी देख लो कि जो प्रस्थ नाम का तोलने का पैमाना लकड़ी का बना है या जो कांसे का बनाया गया है उन में से लकड़ी का पैमाना अस्वच्छ है कांसे का स्वच्छ है। इन दोनों की स्वच्छता और अस्वच्छता से बेचने वाले के चावलों के परिमाण में विशेषता या न्यूनाधिकभाव नहीं आ जाता है।

परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिम्बो विशिष्यते।
कांस्ये यदि,तदा बुद्धावप्याभासो भवेद् बलात् ॥३१॥

कांसे के बने प्रस्थ से नापने पर यद्यपि चावलों के परिमाण में अधिकता नहीं आती, परन्तु उसमें चावलों का प्रतिबिम्ब तो पड़ता ही है। यही उस में लकड़ी के प्रस्थ से अधिकता है। ऐसा यदि कहा जायगा तो हम कहेंगे कि तब तो तुम्हें जबरदस्ती ही बुद्धि में भी आभास पड़ने की बात मान लेनी पड़ेगी।

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः।
बिम्बलक्षणहीनः सन् बिम्बवद् भासते हि सः ॥३२॥

थोड़े भास को 'आभास' कहते हैं, वैसा ही प्रतिबिम्ब भी होता है। उस प्रतिबिम्ब में बिम्ब का कोई भी लक्षण [निश्चय ही] नहीं होता। तब भी वह बिम्ब की तरह भासा करता है। [यों 'आभास' और 'प्रतिबिम्ब' एक ही बात हो जाती है।]

ससङ्गत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता।
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिम्बवद् भासनं विदुः ॥३३॥

यह चिदाभास ससङ्ग भी है और विकार युक्त भी है, इस कारण इसमें बिम्ब के [असंगता और अविकारिता रूपी] लक्षण तो नहीं रहते, परन्तु तो भी वह चिदाभास स्फूर्तिरूप है, यही इसका बिम्ब की तरह भासना कहाता है। [हेतु के लक्षणों से रहित हो और हेतु की तरह भासता हो जैसे उसे हेत्वाभास कहते हैं, ऐसे ही बिम्ब के लक्षणों से रहित हो और बिम्ब की तरह भासता हो, उसे 'आभास' कहा जाता है।]

नहि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक् ।
इति चेदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥३४॥

जैसे मिट्टी के होने पर ही उत्पन्न होने वाला घट, मिट्टी से भिन्न नहीं होता, इसी प्रकार बुद्धि के होने पर ही होने वाला चिदाभास, बुद्धि से पृथक् नहीं होता, ऐसा यदि कहो तो हम कहेंगे कि यह तो तुमने बहुत ही थोड़ा कहा है इस तरह तो देह से भिन्न बुद्धि भी सिद्ध नहीं हो सकेगी [क्योंकि देह के होने पर ही बुद्धि रहती है देह के न रहने पर नहीं रहती]

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथासति ।
बुद्धे रन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥३५॥

यदि कहो कि—देह के मर जाने पर भी 'सविज्ञानो भवति' इस शास्त्र के प्रमाण से बुद्धि तो रहती ही है। तो हम कहेंगे कि जो तुम श्रुति के बल से देह से भिन्न बुद्धि को मानते हो, वह तुम प्रवेश श्रुतियों के बल से बुद्धि से भिन्न चिदाभास को क्यों नहीं मान लेते हो।

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक् ।
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥३६॥

यदि यह कहा जाय कि—बुद्धि से युक्त ही वह प्रवेश करता है, सो यह ठीक नहीं। क्योंकि ऐतरेय में तो कहा गया है कि—बुद्धि से पृथक् आत्मा ने पहले तो बुद्धि में प्रवेश का संकल्प किया और फिर उसमें प्रविष्ट हो गया। ऐसी अवस्था में बुद्धि रूपी उपाधि वाले आत्मा का प्रवेश मानना ठीक नहीं है।

कथंन्विदं साक्षदेहं मदृते स्यादितीरणात् ।
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥३७॥

उस श्रुति में कहा गया है कि— इन्द्रियों और देह सहित यह जड संसार मुझ चेतन को छोड़ कर कैसे रहेगा ? इसका निर्वाह मुझ चेतन के बिना कैसे होगा ? यह विचार कर मूर्ध सीमा को विदीर्ण करके [तीनों कपालों के मध्यदेश को भेद कर] प्रविष्ट हो गया है और संसार में फंसा फिरता है। अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओं का अनुभव कर रहा है।

कथं प्रविष्टोऽसङ्गश्चेत् सृष्टिर्वास्य कथं वद ।
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥३८॥

यदि पूछो कि—जब वह असंग है तब वह प्रविष्ट ही कैसे हो गया ? तो हम पूछेंगे कि फिर उस असंग ने सृष्टि रचना ही कैसे कर दी ? यदि कहो कि मायिक होने से सृष्टि कर दी तो हम कहेंगे कि मायिक होने से ही वह प्रवेश भी कर गया है। मायिक होना तो दोनों बातों में समान ही है [कहो सृष्टि मायिक है तो कहेंगे प्रवेश भी मायिक है]। क्योंकि उन दोनों [सृष्टि और जीव] का विनाश भी सम ही है।

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति ।
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥३९॥

यह प्रज्ञानघन आत्मा पांच भूतों [से बने हुए इन देह इन्द्रिय आदि उपाधियों] के सहारे से उठ खड़ा होता है [अर्थात् जीवत्व का अभिमान करने लगता है] जब वे देहादि नष्ट होने लगते हैं तब वह भी उनके पीछे पीछे—उन्हीं के साथ हो जाता है [अथवा यों समझो कि उनके नष्ट हो जाने पर, उनके कारण किये हुए,जीवत्व के अभिमान को छोड़ देता है। अर्थात् जब ये देहादि नष्ट हो जाते हैं तब फिर उसका जीवत्व का अभिमान भी नहीं रहता] इस रीति से याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी स सोपाधिकरूप को—जिसको कि हम चिदाभास कहते हैं—स्पष्ट ही विनाशी बताया है।

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः।
मात्राऽसंसर्ग इत्येवमसङ्गत्वस्य कीर्तनात् ॥४०॥

'अविनाशी वारेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा' (बृ० ४-५-१४) इस श्रुति में कूटस्थ को उस [चिदाभास] से भिन्न बताया है। 'मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृ० ४-५-१४) इस श्रुति में आत्मा की असंगता का कीर्तन किया गया है कि—मात्रा अर्थात् देहादि से इस आत्मा का संसर्ग कभी भी—देह धारण करने पर भी नहीं हो पाता [आत्मा की यह असंगता ही आत्मा के अविनाशी होने का कारण है।]

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः।
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किन्तु लोकान्तरे गतिः ॥४१॥

'जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न जीवो म्रियते' (छा० ६-११-३) जीव से छोड़ा हुआ यह शरीर ही मरा करता है जीव नहीं मरता। इस श्रुति में मोक्ष का वर्णन नहीं है किन्तु इसमें तो लोकान्तर की गति का वर्णन किया गया है।

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥४२॥

प्रश्न यह है कि—वह चिदाभास यदि विनाशी है तो फिर वह अपने को यह कैसे जानेगा कि मैं ब्रह्म हूँ ? क्योंकि विनाशी और अविनाशी दो पदार्थ एक कैसे हो सकेंगे ? इसका उत्तर यह है कि सामानाधिकरण्य तो बाधा में भी हो जाता है ।

सामानाधिकरण्य दो प्रकार होता है—एक मुख्य सामानाधिकरण्य, दूसरा बाधसामानाधिकरण्य । सो यहां मुख्य सामानाधिकरण्य न सही, बाधा में सामानाधिकरण्य तो हो ही सकता है । अपने जीवभाव की बाधा करके ब्रह्मभाव का ज्ञान उसे हो ही सकता है ।

योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव ।
ब्रह्मास्मीति धिया शेषाप्यहंबुद्धिं निवर्त्यते ॥४३॥

'यह जो स्थाणु है यह तो पुरुष है' इस वाक्य में जैसे पुरुषज्ञान से स्थाणुज्ञान निवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार मैं ब्रह्म हूं' इस बुद्धि से 'मैं कर्ता हूं मैं भोक्ता हूं' इत्यादि सभी क्षुद्र बुद्धियां निवृत्त हो जाती हैं । ['पूर्ण अहं' से 'क्षुद्र अहं' मार डाला जाता है]

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥४४॥

वार्तिककार ने नैष्कर्म्य सिद्धि में यह बात स्पष्ट कही है कि—सामानाधिकरण्य बाध के लिये भी होता है । इस कारण 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस वाक्य में जो सामानाधिकरण्य है वह बाधार्थक होही सकता है

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ।
अहं ब्रह्मेति जीवेन समानाधिकृतिर्भवेत् ॥४५॥

जैसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति में जगत् के साथ बाधा में भी सामानाधिकरण्य देखा गया है इसी प्रकार 'अहंब्रह्म' इस वाक्य में जीव के साथ भी सामानाधिकरण्य हो ही सकता है ।

सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ।
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ॥४६॥

विवरणाचार्य ने जो बाधसामानाधिकरण्य का प्रयत्नपूर्वक खण्डन किया है उसका कारण तो यह है कि उन्होंने तो अहं शब्द का अर्थ कूटस्थ लिया है और यों सामानाधिकरण्य का खण्डन करडाला है ।

शोधितत्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्त मितरत्र च ॥४७॥

जिस कूटस्थ के त्वं पदार्थ का शोध कर लिया गया हो [त्वं पद के लक्ष्य जिस कूटस्थ को बुद्धि आदियों से विविक्त कर लिया गया हो] उसी को ब्रह्मरूप बताने के लिये विवरण में तथा अन्य ग्रन्थों में बाधसामानाधिकरण्य को हटाकर मुख्य सामानाधिकरण्य को कहदिया है

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या ।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थात्र विवक्षिता ॥४८॥

देह इन्द्रिय और मनसे [किंवा दोनों शरीरों से] युक्त जो जीवाभास रूपी भ्रम है, उस भ्रमका अधिष्ठान जो चैतन्य है, उसी को तो वेदान्तों में 'कूटस्थ' कहा है ।

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदाधिष्ठानमीरितम् ।
त्रय्यन्तेषु तदत्र स्याद् ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ॥४९॥

तथा वेदान्तों में जिसको इस सब जगत् की कल्पना का अधिष्ठान बताया गया है, उसीको यहां 'ब्रह्म' शब्द से कहा गया है [जीवत्वरूपी भ्रमका अधिष्ठान चेतन 'कूटस्थ' है तथा जगद्रूपी भ्रम का अधिष्ठान जो चेतन है वह 'ब्रह्म' शब्द से कहा जाता है]

एकस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा ।
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ॥५०॥

जब एकही चैतन्य में इस समस्त जगत् का आरोप किया जाता है, तब उसी जगत् के एक भाग जीवाभास [चिदाभास] का तो कहना ही क्या ? [उसको भी उसी में आरोपित मान लेना चाहिये]

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः ।
तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ॥५१॥

जगत् और जगत् का एक देश [आभास] कहाने वाला जो आरोपणीय पदार्थ है, उसके भेद की वजह से ही 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ भिन्न भिन्न हैं। असल में तो 'चिति' एक ही है। यों उनमें औपाधिक तो भेद हैं तथा वास्तव एकता ही है। [जगत् का ध्यान करें तब उस चेतन को तत् अर्थात् ब्रह्म कहते हैं, देह इन्द्रिय आदि का ध्यान करें तब उस चेतन को त्वं अर्थात् कूटस्थ कहते हैं। जगत् को और देहादि को भूल जांय तो अकेला चेतन ही चेतन शेष रहजाता है]

कर्तृत्वादीन् बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ।
दधद् विभाति पुरत अभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥५२॥

यह जो आभास है यह कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रमातृत्व आदि बुद्धि के धर्मों को तथा स्फूर्ति नामकें आत्माके धर्म को धारण किये हुये, सामने दीख पड़ता है इससे भ्रम हो ही जाता है [भ्रम स्थल की चांदी में जैसे अधिष्ठान और आरोप्य दोनों ही के धर्म दीखते हैं और वह आरोपित [कल्पित] मानी जाती है इसी प्रकार दोनों के धर्म दीखने से ही यह आभास कल्पित है।

का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वात्मात्र जगत् कथम् ।
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥५३॥

बुद्धि क्या वस्तु है ? आभास कौन है इन सब में आत्मा नाम का पदार्थ कौन सा है ? यह जगत् कैसे बन गया है ? इन सब बातों के स्वरूप का निर्णय जब कोई नहीं कर पाता तब उसे मोह हो जाता है । बस इसी को संसार कहते हैं [मुमुक्षु लोगों को इसी मोह को हटाना है यही मोह सब अनर्थों का मूल कारण है]

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित् ।
स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः ॥५४॥

बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेक जो कर लेता है [बुद्धि आभास आत्मा और जगत् इन चारों को अलग अलग छांट कर जो रख लेता है] वही ज्ञानी है, वही मुक्त है, [उसी का अनर्थों से छुटकारा हो सकता है] यही वेदान्तों का निश्चय है ।

एवं च सति बन्धः स्यात् कस्येत्यादिकुतर्कजाः ।
विडम्बना दृढं खण्ड्याः खण्डनोक्तिप्रकारतः ॥५५॥

जब कि बन्ध भी अविवेकमूलक ही है और मोक्ष भी अविवेकमूलक ही है, तब फिर अद्वैतवाद में किस का बन्ध और किसका मोक्ष होता है? इत्यादि तार्किकों के किये हुए कुतर्कमूलक परिहासों का परिहार खण्डन नामक ग्रन्थ में लिखी हुई विधि से करना चाहिये ।

वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ।
बुभुत्सायां तथाऽज्ञोऽस्मीत्याभासाज्ञानवस्तुनः ॥५६॥

पुराणों में कहा है कि—कामादिवृत्तियों की उत्पत्ति जब हो जाती है तब तो यह शिव उन वृत्तियों का साक्षी बन कर रहता है, वृत्तियों के उदय होने से पहले वृत्ति के प्रागभाव का साक्षी होकर रहता है,जब आत्मजिज्ञासा होती है तब जिज्ञासा का साक्षी हो जाता है, उससे पहले तो यह शिव 'मैं अज्ञानी हूँ' इस रूप से अनुभव में आने वाले अज्ञान का साक्षी बन कर बैठा रहता है ।

असत्यालम्बनत्वेन सत्यः, सर्वजडस्य तु ।
साधकत्वेन चिद्रूपः, सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥५७॥
आनन्दरूपः, सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ।
सर्वसम्बन्धवत्वेन संपूर्णः शिवसंज्ञितः ॥५८॥

वह शिव क्योंकि इस असत्य जगत् का आलम्बन [अधिष्ठान] है इसी से 'सत्य' है, सब जडों का साधक किंवा अवभासक होने से ही वह 'चिद्रूप' है, सदा प्रेम का विषय होने से ही वह 'आनन्दरूप' है, सब अर्थों का साधक होने से तथा

सब से सम्बन्ध वाला होने से ही उसे 'संपूर्ण' कहा जाता है। उसी को शिव भी कहते हैं।

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ॥५९॥

इस प्रकार जीव और ईश्वर आदि की कल्पना से रहित केवल [अद्वितीय] स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप जो शिव नाम का कूटस्थ तत्व है उसी का विवेचन शैव पुराणों में किया है।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत् ॥६०॥

श्रुति में कहा गया है कि—माया, आभास के द्वारा 'जीव' और 'ईश्वर' को बना लेती है। अर्थात् ये दोनों मायिक हैं। मिट्टी का बना होने पर भी काच का घड़ा जैसे और घड़ों से स्वच्छ होता है इसी प्रकार माया के बने होने पर भी ये दोनों देहादियों से स्वच्छ होते हैं।

अन्नजन्यं मनो देहात्स्वच्छं यद्वत् तथैव तौ।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात् स्वच्छतां गतौ ॥६१॥

[देह और मन दोनों ही अन्न से बने हैं—] अन्न से उत्पन्न होने पर भी मन जैसे देह से स्वच्छ होता है, इसी प्रकार मायिक होने पर भी ये 'जीव' और 'ईश्वर' और सब मायिक पदार्थों की अपेक्षा से स्वच्छ हो गये हैं।

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात्।
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ॥६२॥

उन जीवेश्वरों की चिद्रूपता की सम्भावना भी अनुभव के आधार से ही करलो—वे चिद्रूप से प्रकाशित हुए रहते हैं या

नहीं ? यह बात अपने अपने अनुभवों से ही पूछो। जो माया सबकी कल्पना करने में समर्थ है उसके लिये दुर्घट बात कुछ भी नहीं है। [उस माया ने ही उन दोनों मायिकों को चिद्रूप से प्रकाशित भी कर डाला है।]

असन्निद्रापि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत्।
महामाया सृजत्येताविति्याश्चर्यं किमत्र ते ॥६३॥

हम तो देखते हैं कि—हमारी नींद भी—[जिसे हमारी माया भी कह सकते हैं] सुपने के चेतन 'जीव' और 'ईश्वर' को उत्पन्न कर ही लेती है। फिर महामाया चेतन जीवेश्वरों को उत्पन्न करले, इसमें तुम्हें आश्चर्य क्यों होता है ?

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत्।
धर्मिणं कल्पयेद् यास्याः को भारो धर्मकल्पने ॥६४॥

यह भी उस महामाया का स्वभाव ही है कि—उसने ईश्वर में सर्वज्ञत्वादि धर्मों की कल्पना कर दिखाई है—[उसे जीव की तरह असर्वज्ञ नहीं रक्खा है] भला जिस माया ने धर्मी की कल्पना कर डाली है, उसे धर्म की कल्पना करने में कौन सी कठिनाई हो सकती है ?

कूटस्थेऽप्यतिशङ्का स्यादिति चेन्मातिशङ्क्यताम्।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं न हि विद्यते ॥६५॥

जीव और ईश्वर की तरह कूटस्थ को मायिक मानना ठीक नहीं है। क्योंकि कूटस्थ के मायिक होने का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता।

वस्तुत्वं घोषयन्त्यस्य वदान्ताः सकला अपि।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहन्तेऽत्र किंचन ॥६६॥

सब से सम्बन्ध वाला होने से ही उसे 'संपूर्ण' कहा जाता है। उसी को शिव भी कहते हैं।

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ॥५९॥

इस प्रकार जीव और ईश्वर आदि की कल्पना से रहित केवल [अद्वितीय] स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप जो शिव नाम का कूटस्थ तत्व है उसी का विवेचन शैव पुराणों में किया है।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत् ॥६०॥

श्रुति में कहा गया है कि—माया, आभास के द्वारा 'जीव' और 'ईश्वर' को बना लेती है। अर्थात् ये दोनों मायिक हैं। मिट्टी का बना होने पर भी काच का घड़ा जैसे और घड़ों से स्वच्छ होता है इसी प्रकार माया के बने होने पर भी ये दोनों देहादियों से स्वच्छ होते हैं।

अन्नजन्यं मनो देहात्स्वच्छं यद्वत् तथैव तौ।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात् स्वच्छतां गतौ ॥६१॥

[देह और मन दोनों ही अन्न से बने हैं—] अन्न से उत्पन्न होने पर भी मन जैसे देह से स्वच्छ होता है, इसी प्रकार मायिक होने पर भी ये 'जीव' और 'ईश्वर' और सब मायिक पदार्थों की अपेक्षा से स्वच्छ हो गये हैं।

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात्।
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ॥६२॥

उन जीवेश्वरों की चिद्रूपता की सम्भावना भी अनुभव के आधार से ही करलो—वे चिद्रूप से प्रकाशित हुए रहते हैं या

नहीं ? यह बात अपने अपने अनुभवों से ही पूछो। जो माया सबकी कल्पना करने में समर्थ है उसके लिये दुर्घट बात कुछ भी नहीं है। [उस माया ने ही उन दोनों मायिकों को चिद्रूप से प्रकाशित भी कर डाला है।]

असन्निद्रापि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत्।
महामाया सृजत्येताविल्याश्चर्यं किमत्र ते ॥६३॥

हम तो देखते हैं कि—हमारी नींद भी—[जिसे हमारी माया भी कह सकते हैं] सुपने के चेतन 'जीव' और 'ईश्वर' को उत्पन्न कर ही लेती है। फिर महामाया चेतन जीवेश्वरों को उत्पन्न करले, इसमें तुम्हें आश्चर्य क्यों होता है ?

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत्।
धर्मिणं कल्पयेद् यास्याः को भारो धर्मकल्पने ॥६४॥

यह भी उस महामाया का स्वभाव ही है कि—उसने ईश्वर में सर्वज्ञत्वादि धर्मों की कल्पना कर दिखाई है—[उसे जीव की तरह असर्वज्ञ नहीं रक्खा है] भला जिस माया ने धर्मी की कल्पना कर डाली है, उसे धर्म की कल्पना करने में कौन सी कठिनाई हो सकती है ?

कूटस्थेऽप्यतिशङ्का स्यादिति चेन्मातिशङ्क्यताम्।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं न हि विद्यते ॥६५॥

जीव और ईश्वर की तरह कूटस्थ को मायिक मानना ठीक नहीं है। क्योंकि कूटस्थ के मायिक होने का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता।

वस्तुत्वं घोषयन्त्यस्य वदान्ताः सकला अपि।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहन्तेऽत्र किंचन ॥६६॥

प्रत्युत सम्पूर्ण वेदान्त एकस्वर होकर इस कूटस्थ को ही वास्तव पदार्थ कह रहे हैं। वे इस कूटस्थ के प्रतिपक्षी किसी भी पदार्थ को सहन नहीं करते हैं।

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद् वच्मि किंचन।
तेन तार्किकशङ्काना मत्र कोऽवसरो वद ॥६७॥

हम तो केवल श्रुति के तात्पर्य को ही विशद करते हैं। तर्क के सहारे से तो हम कुछ भी नहीं कहते हैं। ऐसी अवस्था में तार्किकों की शंकाओं का यहां अवसर ही कौनसा है? इस धातु का प्रयोग बहुवचन में न आने के आरण 'वच्मि' यह प्रयोग किया है।

तस्मात् कुतर्कं सन्त्यज्य मुमुक्षुः श्रुति माश्रयेत्।
श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ॥६८॥

इस कारण मुमुक्षु को चाहिये कि—इस दुरवगाह्य आत्म-तत्व को जानने के लिये कुतर्क को छोड़कर श्रुति का आश्रय ले ले। श्रुतियों में तो जीवेश्वरों को मायिक कहा ही है।

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशकृता भवेत्।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकर्तृकः ॥६९॥

ईक्षण से लेकर प्रवेश तक की सृष्टि तो ईश्वर की बनायी हुई है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, बन्ध तथा मोक्षरूपी संसार को जीव ने बना लिया है। [इसका स्पष्टीकरण तृप्तिदीप के चतुर्थ श्लोक में है]

असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ॥७०॥

मुमुक्षु लोग इस बात को अपने मन में सदा ही विचारा

करें कि यह कूटस्थ तो असङ्ग ही रहता है। [जन्म जरा रोग और मृत्यु अनादि काल से क्रमानुसार बराबर होते चले आ रहे हैं परन्तु] इन सब से इस कूटस्थ तत्व में कभी कुछ भी अतिशय नहीं हो पाता है [यह तो सदा वैसे का वैसा ही बना रहता है]।

न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षु र्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥७१॥

सब झंझट को छोड़कर परमार्थ का निचोड़ पूछो तो इतना ही है कि:—मरण और जन्म कुछ चीज ही नहीं हैं। बद्ध और साधक कोई होता ही नहीं है। मुमुक्षु और मुक्त किसी को कह ही नहीं सकते हैं।

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा।
जीवमीशं जगद् वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ॥७२॥

वाणी और मन से अगम्य उसी तत्व का बोध कराने के लिये श्रुति भगवती 'जीव' या 'ईश्वर' या 'जगत्' इन तीनों में से किसी एक को पकड़ कर, उस मन वाणी के अगम्य तत्व का बोध करा देती है। [मन वाणी के अगम्य उस तत्व का बोध कराने के लिये श्रुतियों में 'जीव' 'ईश्वर' तथा 'जगत्' के स्वरूप का प्रतिपादन जहां तहां किया गया है। उसका परमतात्पर्य तो जिस किसी प्रकार उस अगम्य तत्व का बोध कराने में ही है।]

यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वीत्याचार्यभाषितम् ॥७३॥

जिस जिस प्रक्रिया से पुरुषों को आत्मतत्व का परिज्ञान हो जाय, वही प्रक्रिया ठीक होती है। यह बात सुरेश्वराचार्य ने कही है।

वह आत्मतत्व एकरूप ही हैं। तत्व में किसी प्रकार की भी भिन्नता नहीं है। बोध कराने के प्रकारों में ही भिन्नता पायी जाती है। क्योंकि जिन पुरुषों को बोध कराना है, या जिन्होंने बोध कराना है,उन सब के चित्त एक समान नहीं होते। उनके चित्तों में बड़ी विषमता रहती है। उनके चित्तों की विषमता के कारण बोध कराने की रीति भी भिन्न-भिन्न हो जाती है। यही अभिप्राय सुरेश्वराचार्य का है।

श्रुतितात्पर्य मखिल मबुद्ध्वा भ्राम्यते जडः।
विवेकी त्वखिलं बुद्ध्वा तिष्ठत्यानन्दवारिधौ ॥७४॥

श्रुति का अर्थ तो एक ही हो सकता है। फिर भी जो लोग विरुद्ध अर्थ करके आपस में विवाद करते हैं उसका कारण यह है कि—जड लोग श्रुति के पूरे तात्पर्य को न समझ कर भ्रम में पड़ जाते हैं। विवेकी लोग तो श्रुति के सम्पूर्ण तात्पर्य को समझ कर आनन्दसमुद्र में मग्न रहने लगते हैं।

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा।
चिदाकाशस्य नो हानि र्न वा लाभ इति स्थितिः॥७५॥

विवेकी लोगों का तो यह निश्चय होता है कि—यह माया रूपी मेघ, जगत् रूपी जल को,जैसे तैसे भले ही बरसाता रहो। इसके बरसने से चिदाकाश का कुछ भी हानि या लाभ नहीं होता है। यही सच्ची स्थिति भी है।

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसन्धत्ते निरन्तरम् ।
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥७६॥

जो सदा ही इस कूटस्थदीप का विचार करेंगे, वे स्वयं ही सदा कूटस्थरूप होकर चमक उठेंगे ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यविरचितपंचदश्यां कूटस्थदीपप्रकरणं समाप्तम्

ॐ

ध्यानदीपप्रकरणम्

संवादिभ्रमवद् ब्रह्मतत्त्वोपास्त्यापि मुच्यते ।
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ॥१॥

जो मनुष्य संवादिभ्रम में आकर किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, जैसे उसे उसकी अभिप्रेत वस्तु मिल ही जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मतत्व की उपासना करने से भी मोक्ष मिल जाता है [यद्यपि यह मोक्ष का सीधा रास्ता नहीं है] इसी कारण तापनीय उपनिषत् में अनेक प्रकार से ब्रह्मतत्व की उपासनायें सुनी गयी हैं।

जिन लोगों ने उपनिषदों का श्रवण कर लिया हो और बुद्धि की मन्दता आदि किसी प्रतिबन्ध से वाक्यार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न न होता हो, उसके लाभ के लिए, अपरोक्षज्ञान को पैदा कर के मोक्ष दिलाने वाली उपासनाओं का विधान, इस प्रकरण में किया है ।

मणिप्रदीपप्रभयो र्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥२॥

जो मणि की प्रभा को मणि समझ कर उसे उठाने दौड़ता है और जो दीपक की प्रभा को मणि समझ कर उसे उठाने दौड़ पड़ा है, यद्यपि उन दोनों ही को मिथ्याज्ञान तो समान ही है, तो भी प्रयोजनसिद्धि में विषमता [फ़र्क़] पायी जाती है। [जो

मणिप्रभा को मणि समझ कर उठाने दौड़ा है,उस का काम सिद्ध होजाता है—उसको मणि मिल जाती है। दूसरे को मणि नहीं मिलती। प्रयोजनसिद्धि में यह विषमता पायी जाती है।]

दीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः।
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद् दृष्टा मणिप्रभा ॥३॥

किसी एक मकान में कोई दीपक रक्खा है उसकी प्रभा किसी तंग झरोके में को निकल कर बाहर रत्न सी दीखती है। किसी दूसरे मकान में कोई रत्न रक्खा है, उसकी प्रभा भी किसी झरोके में को होकर बाहर रत्न सी ही दीखती है।

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥४॥

वैसी दो प्रभाओं को दूर से देखकर 'यह मणि है''यह मणि है' यह समझ कर दो पुरुष उठाने दौड़ते हैं। उन दोनों ने जो कि प्रभा को मणि समझा है उन दोनों की ही समझ भ्रम है।

न लभ्यते मणि दींपप्रभां प्रत्यभिधावता।
प्रभायां धावतावश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः ॥५॥

यद्यपि दीपक की प्रभा को मणि समझ कर दौड़ने वाले पुरुष को मणि नहीं मिलती, परन्तु मणि की प्रभा को मणि समझ कर दौड़ने वाला तो मणि को पा ही लेता है।

दीपप्रभामणिभ्रान्ति र्विसंवादिभ्रमः स्मृतः।
मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते ॥६॥

दीपक की प्रभा में जो मणि की भ्रान्ति है, उसे 'विसंवादिभ्रम' किंवा 'विफलभ्रम' कहा गया है [क्योंकि उससे मणि का लाभ नहीं होता] जो तो मणि की प्रभा में मणि

की भ्रान्ति है, उसको 'संवादिभ्रम' किंवा 'सफलभ्रम' कहते हैं [क्योंकि उस भ्रमसे मणि का लाभ हो ही जाता है]

बाष्पं धूमतया बुद्धा तत्राङ्गारानुमानतः ।
वन्हिर्यदृच्छया लब्धः स संवादिभ्रमो मतः ॥७॥

किसी ने किसी देशमें वाष्प [भाप] को देखा उसे धूम समझ कर उस देश में अंगारों का अनुमान किया और वहां से अग्नि को लेने चल पड़ा। अब यदि दैवगति से उसे वहां अग्नि मिलजाय तो उसका वाष्प को धूम समझना 'सफलभ्रम' माना गया है।

गोदावर्युदके गङ्गोदकं मत्वा विशुद्धये ।
संप्रोक्ष्य शुद्धि माप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥८॥

गोदावरी और गंगा का जल दोनों ही शुद्धि कारक माने जाते हैं। जो तो गोदावरी के जल को गंगा जल समझ कर उससे शुद्ध होने के लिये प्रोक्षण करता है, वह भी शुद्ध हो जाता है। गोदावरी के जल को गंगाजल समझना भ्रम तो है, परन्तु इसे 'संवादिभ्रम' कहते हैं।

ज्वरेणाप्तः सन्निपातं भ्रान्त्या नारायणं स्मरन् ।
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥९॥

ज्वर से जिसे सन्निपात होगया हो, सन्निपात के पागलपन में यदि वह नारायण का स्मरण भ्रम से भी करने लगे, तो वह मर कर स्वर्ग को जाता है। यह भी संवादिभ्रम ही है।

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे।
उक्तन्यायेन सवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ॥१०॥

प्रत्यक्ष अनुमान तथा शास्त्रों में उक्त प्रकार के अनन्त 'संवादिभ्रम' पाये जाते हैं।

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम् ।
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः ॥११॥

यदि संवादिभ्रम कोई चीज न हो तो, मिट्टी लकड़ी और पत्थर की प्रतिमायें देवता कैसे हो जांय ? ये तो संवादिभ्रम को मान करही फलसिद्धि के लिये देवता भाव से पूजी जाती हैं। यदि संवादिभ्रम न हो तो स्त्री आदि को अग्नि आदि समझकर उपासना का विधान क्यों किया जाय ? 'मनोब्रह्मेत्युपासीत (छा० ३-१८-१) आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३-१९-१) इत्यादि की भी यही गति है। ये भी सब संवादिभ्रम ही हैं]

अयथावस्तुविज्ञानात् फलं लभ्यत ईप्सितम् ।
काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ॥१२॥

वस्तु को उलटा समझ कर भी जब किसी को काकतालीयन्याय किंवा दैवगति से अभिलपित फल मिल जाता है तब यही 'संवादिभ्रम' कहाता है।

स्वयंभ्रमोपि संवादी यथा सम्यक् फलप्रदः ।
ब्रह्मतत्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥१३॥

संवादी भ्रम यद्यपि स्वयं भ्रम ही है, तौ भी जैसे वह ठीक फलदायी हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मतत्व की उपासना भी यद्यपि अयथावस्तुविपयक (यथार्थ वस्तु को विपय न करने वाली किंवा यथार्थ वस्तु तक न पहुँचनेवाली) होती है तौ भी मुक्तिरूपी फल को तो दे ही जाती है।

वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्व मखण्डैकरसात्मकम् ।
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥१४॥

वेदान्तों के द्वारा अखण्ड एकरसात्मक ब्रह्मतत्व को परोक्ष रूप से जब जान लेते हैं तब उसके बाद उस ब्रह्म को 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-३-१०) मैं ब्रह्म हूँ इस रूप में उपासना करने लगते हैं। [शास्त्र से परोक्ष रूप से जान लिया हुआ ब्रह्म उपासना का विषय होता है।]

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद् विष्ण्वादिमूर्तिवत् ।
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ॥१५॥

विष्णु आदि की मूर्ति को बताने वाले शास्त्र के कहने से जैसे मूर्ति का परोक्ष ज्ञान हो जाता है, उसी तरह प्रत्यक्षरूप से आत्मा को विषय न भी करके जब वेदान्त के कहने से केवल इतना सामान्य ज्ञान हो जाता है कि 'ब्रह्म है' तब यही ज्ञान इस उपासना में 'परोक्षज्ञान' कहाता है।

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिं मनुल्लिखन् ।
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ॥१६॥

शास्त्र से तो विष्णु को चतुर्भुज आदि जान लिया जाता है, परन्तु भावना के प्रताप से जब तक वह मूर्ति इन्द्रियों से दीख नहीं पड़ती, तब तक पुरुष परोक्ष ज्ञानी ही रहता है। क्योंकि उपासना के समय वह साधक अपने उपास्य विष्णु को नहीं देखता।

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम् ।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्वमूर्तेर्विभासनात् ॥१७॥

परोक्षता रूपी कमी से ही कोई ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं हो

जाता है [मिथ्याज्ञान तो वह तभी होता है जब कि उस ज्ञान का विषय असत्य हो] यहाँ तो प्रमाण भूत शास्त्र के द्वारा ही विष्णु आदि की मूर्ति का ज्ञान हमें मिलता है [फिर उसे अतत्वज्ञान कैसे कह दें ?]

सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्राद् भानेऽप्यनुल्लिखन्।
प्रत्यञ्चं साक्षिणं तत्तु ब्रह्म साक्षान्न वीक्षते ॥१८॥

शास्त्र से सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म का भान हो जाने पर भी, जब तक कोई उस ब्रह्म को प्रत्यगात्मरूप से [साक्षिरूप से] नहीं जान लेता है, तबतक कहा जाता है कि वह ब्रह्म को साक्षात् नहीं देख रहा है ।

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात्।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्वज्ञानं न तु भ्रमः ॥१९॥

वह ज्ञान यद्यपि परोक्ष ही होता है परन्तु शास्त्रोक्त रीति से ही ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूपका निश्चय करा देने के कारण उसे तत्वज्ञान ही मानना चाहिये। वह ज्ञान भ्रम ज्ञान नहीं है।

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम्।
महावाक्यैस्तथाप्येतद् दुर्बोधमविचारिणः ॥२०॥

वेदान्तों [के महावाक्यों] ने तो ब्रह्म को प्रत्यागात्मा ही कहा है परन्तु जिस अविचारी [पुरुष ने अन्वयव्यतिरेक से तत् त्वं पदार्थों का विवेक नहीं किया है उस] के लिये यह बात अत्यन्त ही दुर्बोध होती है [इसी कारण कहते हैं कि केवल वाक्य से प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु विचार सहित वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है]

देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात् पुमान्।
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः ॥२१॥

देहादि को आत्मा समझने का भ्रम जब तक किसी को बना हुआ है, तब तक कोई भी पुरुष मन्द बुद्धि होने के कारण, ब्रह्म को आत्मा जान ही नहीं सकता [ब्रह्मज्ञान का विरोधी जो देहादियों में आत्मता का भ्रम बना हुआ है उस भ्रम को विचार ही हटा सकता है—उस भ्रम को हटाने के लिये केवल विचार की ही आवश्यकता है]

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः।
अपरोक्षद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् ॥२२॥

जो श्रद्धालु है, जो शास्त्रदर्शी है, उसको ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होजाना तो बड़ा ही सुकर है। क्योंकि अपरोक्षद्वैत बुद्धि परोक्ष अद्वैत बुद्धि को नष्ट करती ही नहीं।

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत्।
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ॥२३॥

लोक में भी देखलो, पत्थर की प्रतिमा में जो प्रत्यक्ष शिला बुद्धि होती है, वह उसके परोक्ष ईश्वरपने को हटा नहीं देती। प्रतिमा आदि को विष्णु मानते हुए किसी को दुविधा नहीं होती।

अश्रद्धालो रविश्वासो नोदाहरणमर्हति।
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥२४॥

इस मामले में अश्रद्धालु लोगों के अविश्वास का उदाहरण देना ठीक नहीं है। क्योंकि वैदिक कामों में सब जगह श्रद्धालु ही अधिकारी होता है।

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञान मुद्भवेत् ।
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ॥२५॥

आप्त पुरुष के एक वार के उपदेश से ही परोक्ष ज्ञान हो जाता है । लोक में भी देखलो कि विष्णुमूर्त्तिका उपदेश बहस और तर्क की अपेक्षा नहीं करता [जिसको उससे ज्ञान होना होता है उसे पहली वार के उपदेश से ही हो जाता है ।]

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ।
वहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः ॥२६॥

अनुष्ठान करने योग्य कर्म तथा उपासनाओं में सन्देह हो सकता है, इससे उनका विचार किया जाता है । क्योंकि अनेक शाखाओं में जहां तहां प्रतिपादित किये हुए कर्म को कोई भी पुरुष सहसा निर्णय नहीं कर सकता ।

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रै ग्रंथित स्तावतास्तिकः ।
विचारमन्तरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमञ्जसा ॥२७॥

जैमिनि आदि पूर्वाचार्यों ने जिस अर्थ का निश्चय कर दिया है, उसी अर्थ [कर्म पद्धति] को कल्प सूत्रों ने संग्रह कर लिया है । आस्तिक पुरुष तो वस इतने ही से सन्तुष्ट हो जाता है और विचार किये विना भी कर्म को भले प्रकार कर सकता है ।

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम् ।
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः ॥२८॥

उपासनाओं की रीति भी आर्ष ग्रन्थों में कही गयी है । जो पुरुष स्वयं विचार नहीं कर सकते, वे कल्पों में कही हुई उपासनाओं को गुरुमुख से सुनकर करने लगते हैं ।

वेदवाक्यानि निर्णेतु मिच्छन् मीमांसतां जनः ।
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि सम्भवेत् ॥२९॥

वेद वाक्यों का निर्णय चाहने वाला आजकल का पुरुष, अपनी बुद्धि को सन्तुष्ट करने के लिये उनका विचार करता है तो करे। उन कर्मों का अनुष्ठान तो केवल इतने से ही हो सकता है कि वे आप्तों के उपदेश हैं।

ब्रह्मसाक्षात्कृति स्त्वेवं विचारेण विना नृणाम् ।
आप्तोपदेशमात्रेण न सम्भवति कुत्रचित् ॥३०॥

कर्मानुष्ठान की तरह, विचार किये विना केवल आप्त पुरुष के कहदेने से ही ब्रह्म साक्षात्कार तो कभी भी संभव नहीं है।

परोक्षज्ञान मश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत् ।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ॥३१॥

अश्रद्धा ही परोक्षज्ञान को होने से रोकती रहती है, अविचार नहीं, [जब अश्रद्धा टूट जाती है तब एक बार के उपदेश से ही परोक्षज्ञान हो सकता है] अविचार तो अपरोक्षज्ञान का प्रतिबन्धक है। [विचार के द्वारा जब तक अविचार को निवृत्त नहीं कर दिया जाता तब तक अपरोक्षज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता इस कारण विचार करना चाहिये।]

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ।
आपरोक्ष्यावसानत्वाद् भूयो भूयो विचारयेत् ॥३२॥

'तत्' 'त्वं' पदार्थों को विचार कर भी यदि ब्रह्म और आत्मा की एकता को प्रत्यक्षरूप में नहीं जान सका है तो बार बार विचार ही करना चाहिये। क्योंकि विचार की समाप्ति तभी

हो सकती है जब अपरोक्ष ज्ञान हो जाय [अपरोक्ष ज्ञान करादेने के अतिरिक्त विचार का कोई भी काम नहीं है]।

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत् ।
जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति ॥३३॥

मरण पर्यन्त विचार करते रहने पर भी यदि किसी को आत्मा का साक्षात्कार न हो गया हो तो,प्रतिबन्धों के हट जाने पर, दूसरे किसी जन्म में तो उसे साक्षात्कार हो ही जायगा ।

इह वामुत्र वा विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम् ।
शृण्वन्तोऽप्यत्र वहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ॥३४॥

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् (ब्रह्म सू० ३-४-५१)इस सूत्र में व्यास देव ने कहा है कि विचार करने वाले को इस जन्म या दूसरे जन्मों में ब्रह्म ज्ञान हो जाता है। 'शृण्वन्तोऽप्यत्र वहवो यन्न विद्युः' (क० २-७) इस श्रुति में कहा गया है कि प्रतिवन्ध होने पर वहुतों को इस जन्म में ज्ञान नहीं होता ।

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान् ।
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ॥३५॥

'गर्भे नु सन्नन्वेषा मवेदहं देवानां जनिमानि विश्वा (ऐतरेय ४-५) इस श्रुति में कहा गया है कि—वामदेव को गर्भवास के दिनों में ही अपरोक्ष ज्ञान हो गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि इस जन्म में श्रवणादि कर लेने वाले को दूसरे जन्म में

३४—कोई प्रतिवन्ध न हो तो श्रवण आदि से इस जन्म में भी ज्ञान हो जाता है। प्रतिबन्ध हो तो इस जन्म में न होकर दूसरे जन्मों में होता है। प्रतिवन्ध के साधक प्रमाण देखे जाते हैं। जैसे कि वामदेव को गर्भ में ज्ञान हुआ था। बहुत से तो इस तत्त्व को सुन कर भी नहीं समझते हैं।

भी अपरोक्ष ज्ञान होता है। दैनिक व्यवहार में भी देख लो कि—पठन पाठन आदि कामों में पहले अभ्यास किये हुए विचार से कभी कभी अगले दिन बिना ही याद किये स्मरण आ जाता है।

बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत् पुनः।
दिनान्तरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत् पुमान् ॥३६॥

बहुत बार याद करने पर भी, उस दिन यदि याद नहीं आता, तो कभी कभी ऐसा होता है कि दूसरे दिन बिना ही याद किये पहले पढ़ हुए पाठ याद आ जाते हैं।

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।
तद्वदात्मविचारोपि शनैः कालेन पच्यते ॥३७॥

खेती और गर्भ आदि जैसे तुरन्त ही तैयार नहीं हो जाते। किन्तु पकने में इन्हें कुछ समय लगता ही है। इसी प्रकार आत्मविचार भी धीरे-धीरे काल पाकर परिपक्व हुआ करता है।

पुनः पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबन्धतः।
न वेत्ति तत्वमित्येतद् वार्तिके सम्यगीरितम् ॥३८॥

बार बार विचार करने पर भी, तीन प्रकार के प्रतिबन्धों के होने से तत्व का साक्षात्कार नहीं हो पाता। यह बात वार्तिककार ने भले प्रकार समझायी है।

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत् तद्धि बन्धपरिक्षयात्।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ॥३९॥

वार्तिककार ने उन प्रतिबन्धों का निरूपण इन नौ श्लोकों में यों किया है—जो ज्ञान पहले जन्म में उत्पन्न नहीं हो पाया था वह ज्ञान अब इस दूसरे जन्म में किस कारण से उत्पन्न

हुआ करता है ? इसका उत्तर यह है कि प्रतिबन्ध के क्षीण हो जाने से वह ज्ञान हो जाता है। वह प्रतिबन्ध (१) भूत (२) भावी और (३) वर्तमान भेद से तीन प्रकार का होता है।

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते।
हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव हि दर्शितम् ॥४०॥

किसी प्रतिबन्ध के होने से ही वेद के ज्ञाता लोग भी मुक्त नहीं हो पाते 'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः' [छा० ८-३-२] भूगर्भविद्या को न जानने वाले लोग, हिरण्यनिधि के ऊपर घूमते भी रहते हैं, परन्तु उसे पा नहीं सकते। इसी प्रकार ये सारी प्रजायें प्रति दिन ब्रह्म के पास जाती हैं परन्तु विषयवासना रूपी अनृत से ढकी रहने के कारण उसको पा नहीं सकती।] हिरण्यनिधि के दृष्टान्त से इस प्रतिबन्ध को ही दिखाया गया है।

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबन्धतः।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ॥४१॥

भूत प्रतिबन्धक को लोक में देखलो कि बीते हुए महिषी के स्नेह से उत्पन्न हुए प्रतिबन्ध के कारण भिक्षु ने तत्व को नहीं जाना था। यह गाथा वेदान्त संप्रदाय में प्रसिद्ध है। [कोई यति पहले गृहस्थ आश्रम में किसी भैंस पर बड़ा प्रेम रखता था। इसी बीच में उसने संन्यास लेलिया। वेदान्तका श्रवण करने पर भी उसी महिषी स्नेह से उत्पन्न हुए प्रतिबन्ध के कारण गुरु से कही हुई बात उसकी समझ में नहीं आयी थी।

अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्व मुक्तवान् ।
ततो यथावद् वेदैष प्रतिबन्धस्य संक्षयात् ॥४२॥

गुरु ने उसके महिषी स्नेह का अनुसरण करके महिषी में [रूपी उपाधि में] ही तत्व [ब्रह्म] बतादिया था। तब उसने महिषी की उपासना की और उपासना करते करते जब उसके [महिषीस्नेह रूपी] प्रतिबन्ध का क्षय होगया तब वह पूर्ण रूप से ज्ञानी हो गया था।

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥४३॥

वर्तमान प्रतिबन्धों में से पहला तो विषयासक्ति है। दूसरा प्रज्ञा की मन्दता है । तीसरा कुतर्क है [जिसके कारण श्रुति के अर्थ की अन्यथा ऊहना की जाती है] चौथा प्रतिबन्ध अपने विपरीत ज्ञान पर दुराग्रह करते जाना है । [आत्मा कर्ता भोक्ता है, यह विपरीत ज्ञान कहाता है। इस बात पर विना युक्ति के डटे रहना चौथा प्रतिबन्ध है । [इन चारों में से कोई भी एक हो तो ज्ञान का उदय नहीं होता ।]

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्रतत्रोचितैः क्षयम् ।
नीतेऽस्मिन् प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥४४॥

शम दम उपरति आदि तथा श्रवण मनन निदिध्यासनों में से जो जो जिस जिस प्रतिबन्ध को हटा सकते हों, उन उन से उस उस प्रतिबन्ध के नष्ट कर दिये जाने पर, अपने आपही अपने ब्रह्मभाव की प्राप्ति होजाती है ।

आगामिप्रतिबन्धश्च वामदेवे समीरितः ।
एकेन जन्मना क्षीणो, भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥४५॥

जन्मान्तर दिलाने वाला आगामी प्रतिबन्ध [जिसे कि प्रारब्धशेष भी कहते हैं, वह भोग के बिना निवृत्त हो ही नहीं सकता। इस कारण उसकी निवृत्ति का काल भी नियत नहीं किया जा सकता। वह प्रतिबन्ध] एक जन्म में तो वामदेव का क्षीण हो पाया था। भरत का तो [नृप-मृग और जड भरत इन] तीन जन्मों में क्षीण होसका था।

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः॥४६॥

जो योगभ्रष्ट हो जाते हैं, [जो तत्वसाक्षात्कार तक विचार नहीं कर पाते हैं, जिन का विचार बीच में ही टूट जाता है] उनके प्रतिबन्ध का क्षय होने में बहुत जन्म लग जाते हैं। [एक दो या तीन जन्मों का कोई भी नियम नहीं है] परन्तु इस रुकावट के कारण विचार व्यर्थ नहीं हो जाता है [क्योंकि प्रतिबन्ध के हटते ही फिर तुरन्त अपरोक्षज्ञानरूपी फल देखा जाता है।]

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानात्मतत्वविचारतः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते॥४७॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
निस्पृहो ब्रह्मतत्वस्य विचारात् तद्धि दुर्लभम्॥४८॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम्॥४९॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥५०॥

गीता में कहा है कि—योगभ्रष्ट लोग आत्मतत्व के विचार

के प्रभाव से, पुण्यकारी लोगों को मिलने वाले स्वर्गादि लोकों को पाकर—वहाँ बहुत दिन तक सुख भोग कर—उस भोग के समाप्त हो जाने पर,यदि उन्हें फिर भी कोई अभिलाषा रह गई हो, तो पवित्र श्रीमानों के कुल में जन्म लिया करते हैं ॥४७॥

यदि तो वह योगभ्रष्ट ब्रह्मतत्व का विचार करते रहने से निस्पृह [विरक्त] हो चुका हो तो वह उस विचार के प्रभाव से ऐसे लोगों के कुल में जन्म लेता है,जिनको आत्मतत्व का पूर्ण निश्चय हुआ रहता है। योगिकुल का यह जन्म बड़ा ही दुर्लभ है, थोड़े [मामूली] पुण्यों से यह किसी को नहीं मिल जाता ॥४८॥

क्योंकि इस योगियों के कुल में जन्म लेने पर वह योग-भ्रष्ट पहले देह के बुद्धिसंयोग को शीघ्र ही पा लेता है। [वहाँ उसको योग के अनुकूल सामग्री तैयार मिलती है] फिर तो वह पहले प्रयत्न से भी अधिक प्रयत्न करने लग पड़ता है। इसी से कहते हैं कि ऐसा जन्म दुर्लभ होता है ॥ ४९ ॥

[फिर वैसा ही अभ्यास करने का कारण तो यह है कि] उस योगभ्रष्ट पुरुष को वह पूर्वाभ्यास जबरदस्ती अपनी ओर को खेंच ले जाता है। [समाधिनिद्रा उसको स्वयं ही ढूँढती फिरती है] यों अनेक जन्मों पर्यन्त किये गये प्रयत्नों से तत्व-ज्ञान को पाकर कहीं परागति किंवा मुक्ति को पा लेता है ॥५०॥

ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक् सत्यां निरुध्य ताम् ।
विचारयेद् य आत्मानं न तु साक्षात् करोत्ययम् ॥५१॥

ब्रह्मलोक को पाने की दृढ इच्छा हो, परन्तु जो उस इच्छा को दबा कर आत्मविचार करता रहेगा, उसे आत्मसाक्षात्कार होगा ही नहीं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः ।
ब्रह्मलोके स कल्पान्ते ब्रह्मणा सह मुच्यते ॥५२॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्वाः ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे । ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम् । (मु० ३-२-६) इस शास्त्र के कथनानुसार वे ब्रह्मलोक में जाते हैं । वहाँ उन्हें तत्व का साक्षात्कार होता है । कल्पान्त के समय ब्रह्म के साथ वे भी मुक्त हो जाते हैं [यों उनकी क्रममुक्ति होती है] ।

केषांचित् स विचारोपि कर्मणा प्रतिबध्यते ।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः ॥५३॥

[तत्वविचार करते हुए भी किसी प्रतिबन्ध के कारण, इस जन्म में कइयों को साक्षात्कार नहीं हो पाता । दूसरे जन्मों में साक्षात् होता है] परन्तु कई ऐसे भी लोग होते हैं कि—उनके पाप कर्मों से विचार में भी रुकावट पड़ जाती है । उनको तो विचार का अवसर भी नहीं मिलता है । श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः (क० २-७) इस श्रुति में भी यही कहा गया है कि वह परमात्मतत्त्व बहुत से पापियों को तो सुनने को भी नसीब नहीं होता ।

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद् वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥५४॥

बुद्धि के अति मन्द होने के कारण, अथवा ज्ञान की सामग्री [गुरु या अध्यात्म शास्त्र या अनुकूल देश कालादि के] न मिलने से,जो विचार न कर सकता हो [और ब्रह्मपुरुषार्थ का अभिलाषी

हो] वह प्रति क्षण ब्रह्म की उपासना ही किया करे। [इस प्रकरण के २८ वें श्लोक में यही बात संक्षेप से कही है।]

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्ते रसंभवः।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥५५॥

गुणरहित होने के कारण निर्गुण ब्रह्मतत्व की उपासना हो नहीं सकती है, ऐसा विचार ठीक नहीं है। क्योंकि सगुण ब्रह्म में जैसे प्रत्यय की आवृत्ति हो सकती है, वैसी आवृत्ति, इस निर्गुण ब्रह्म में भी हो ही सकती है [यों निर्गुण तत्व की उपासना संभव हो जाती है।]

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत् तदा।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ॥५६॥

वाणी और मन से अज्ञेय होने के कारण वह निर्गुण ब्रह्म यदि तुम्हारी समझ में उपास्य न हो सकता हो, तो फिर यों तो वाणी और मन से अगम्य उस तत्व का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा।

वागाद्यगोचराकार मित्येवं यदि वेत्यसौ।
वागाद्यगोचराकार मित्युपासीत नो कुतः ॥५७॥

यदि कहा जाय कि 'उस ब्रह्म का आकार वागादि के गोचर होने वाला नहीं है' इस रूप से उसे जान तो सकते हैं। तो हम कहेंगे कि फिर इसी [वागादि के अगोचर] रूप से ही उसकी उपासना क्यों नहीं हो सकती है? [हम तो कहेंगे कि इस रूप से ही उसकी उपासना भी की जा सकती है।]

सगुणत्व मुपास्यत्वाद्यदि, वेद्यत्वतोऽपि तत्।
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ॥५८॥

यदि तुमको उपास्य होने से सगुणता का भय प्रतीत होता हो तो, वह भय तो वेद्य होने से भी होगा ही। यदि कहो कि वह वेद्य तो लक्षणा वृत्ति से होता है [इसीलिये सगुण नहीं होता] तो हम कहेंगे कि उपासना भी लक्षणा से ही कर डालो।

ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते।
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि ॥५९॥

'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (केन १-५) यह श्रुति, जो उपास्य है उसके ब्रह्म होने का निषेध कर रही है। यह कहती है—जो मन वाणी का अगम्य तत्व है,उसी को तुम ब्रह्म समझो! संसार के लोग जिसको 'यह' समझकर उपासना कर रहे हैं उसको ब्रह्म मत समझो। यह शंका यदि किसी को हो तो—

विदितादन्यदेवेति श्रुते र्वेद्यत्वमस्य न।
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याप्युपास्यताम्॥६०॥

उसका उत्तर यह है कि—अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि (केन १-३) इस श्रुति ने तो इसके वेद्य होने का भी निषेध किया है। यदि श्रुति के कथनानुसार ब्रह्म को विदित और अविदित से अनोखा ही मान लेना चाहिये तो श्रुति के कथनानुसार वैसे ही की उपासना भी कर लेनी चाहिये।

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम्।
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत्समम्॥६१॥

यदि कहो कि—वेद्यता तो ब्रह्म में वास्तव नहीं है। तो हम कहेंगे कि—उसमें उपास्यता भी वास्तव नहीं है। यदि कहा जाय कि—वेदन पक्ष में वृत्ति ब्रह्माकार हो सकती है तो

हम कहेंगे उपास्य पक्ष में भी [शब्द प्रमाण के बल से] वृत्ति ब्रह्माकार हो ही सकती है । वृत्ति का ब्रह्माकार होना दोनों ही पक्षों में समान हो सकता है ।

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत् कस्ते द्वेषस्तदीरय ।
मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात् ॥६२॥

यदि मुझ पर यह युक्ति-शून्य उलहना दो, कि उपास्ति में तुम्हें इतनी भक्ति क्यों है ? तो हम पूछेंगे कि तुम्हें उपासना से ही इतना द्वेष क्यों होगया है ? निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने के प्रमाण नहीं मिलते यह कहना भी ठीक नहीं । क्योंकि अनेक श्रुतियों में निर्गुण ब्रह्म की उपासना देखी ही गयी है ।

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्यप्रश्नेऽथ काठके ।
माण्डूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ॥६३॥

निर्गुणोपासना को बताने वाली बहुत सी श्रुतियाँ भी देख लो—शैब्य के प्रश्न करनेपर तापनीय उपनिषत् में निर्गुणोपासना का कथन किया गया है । प्रश्न उपनिषत् के पाँचवें प्रश्न में 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्रश्न ५-५) में निर्गुणोपासना का वर्णन आया है । कठोपनिषत् में 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ २-१५) से प्रारम्भ करके 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म' (कठ-२-१६) 'एतदालम्बनं श्रेष्ठम्' (कठ-२-१७) इत्यादि से प्रणवोपासना कही गई है । माण्डूक्य उपनिषत् में 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' इत्यादि से तीनों अवस्थाओं से परे रहनेवाले चतुर्थ तत्व की उपासना बतायी गयी है । तैत्तिरीय मुण्डक आदि में भी निर्गुणोपास्ति का वर्णन आया ही है ।

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पञ्चीकरण ईरितः ।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ॥६४॥

इस निर्गुणोपासना को कैसे करें ? यह बात श्रीमच्छंकराचार्य के 'पंचीकरण' नाम के ग्रन्थ में कही है । यदि कहो कि यह उपासना मुक्ति का साधन नहीं है, यह तो ज्ञान का ही साधन है । तो हम कहेंगे कि हम इस बात का निषेध नहीं करते । यह तो हमें स्वीकार ही है ।

नानुतिष्ठति कोप्येतदिति चेन्मानुतिष्ठतु ।
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति ॥६५॥

यदि कहो कि सगुणोपासना करने वाले तो बहुत से पाये जाते हैं, निर्गुणोपासना तो कोई भी करता नहीं दीखता । तो हम कहेंगे कि—भले ही कोई निर्गुणोपासना न करो, यह तो करनेवाले पुरुषों की कमी है । पुरुष की कमी से उपासना का क्या बिगड़ता है ?

इतोऽप्यतिशयं मत्वा मन्त्रान् वश्यादिकारिणः ।
मूढा जपन्तु तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम् ॥६६॥

सगुणोपासना से भी सुकर देखकर मूढ लोग वशीकरण आदि मन्त्रों का जप करें, उनसे भी मूर्ख लोग खेती करलें तो भी मुमुक्षु लोग निर्गुणोपासना को कैसे छोड़ देंगे ?

सगुणोपासना का फल भी बहुत दिनों बाद मिलता है । इस कारण ऐहिकफल देने की अधिकता को देखकर, मूढ लोग वशीकरणादि मन्त्रों का जप करें । परन्तु उन्हें देखकर विवेकी लोग सगुणोपासना को छोड़ नहीं देते हैं । अथवा उनसे भी अतिमूर्ख लोग, किसी भी नियम में न बँधने की स्वतन्त्रता

देखकर खेती की उपासना करने लगें। परन्तु उन्हें देखकर मन्त्रों का जप करनेवाले लोग अपने मन्त्रानुष्ठान को छोड़ नहीं बैठते हैं। इसी प्रकार जिन्हें सांसारिक फलों की चाह लगी हुई है, वे अगर निर्गुणोपासना का अनुष्ठान नहीं करते हैं, तो भी मुमुक्षु लोग निर्गुणोपासना को नहीं छोड़ सकते हैं।

तिष्ठन्तु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते।
विध्यैक्यात् सर्वशाखास्थान् गुणानत्रोपसंहरेत् ॥६७॥

मूढ लोगों की बातों को यहीं छोड़कर, अब प्रकृत निर्गुणोपासना का कथन किया जाता है। ['सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्' (वेदान्त ३-३-१) जो जो उपासनायें जहां तहां वेदान्तों में बिखरी पड़ी हैं, क्योंकि चोदना सब जगह एक सी ही है, इस कारण उन उपासनाओं में कोई भी भेद नहीं है]। इस व्याससूत्र के अनुसार निर्गुणोपासना नाम की विद्या तो एक ही है। इस कारण भिन्न-भिन्न शाखाओं में वर्णित उन उन सब उपास्य गुणों को, इसी उपासना में इकट्ठे करके उपासना करनी चाहिये।

आनन्दादेर्विधेयस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः।
आनन्दादय इत्यस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता ॥६८॥

वे गुण दो प्रकार के हैं—एक 'विधेय' दूसरे 'निषेध्य'। उनमें आनन्द, [विज्ञान, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन, विभु, अद्वितीय, आनन्द, पर, प्रत्यगेकरस] इत्यादि जो जो भी विधेय गुण हैं, उन सबका उपसंहार इस उपासना में

कर लेना चाहिए। यह बात 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (वेदान्त ३-३-११) [प्रधान जो ब्रह्मतत्व है उसके जो आनन्द आदि धर्म हैं उनका उपसंहार सभी जगह कर लेना चाहिए] इस सूत्र में व्यासदेव ने कही है।

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसंघस्य संहृतिः ।
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताऽक्षरधियां त्विति ॥६९॥

अस्थूल [अनणु, अह्रस्व, उद्रेश्य, अग्राह्य, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, तथा अव्यय] आदि जो भी निषेध्य गुण हैं, जो जहां तहां अध्यात्मशास्त्र में कहे गये हैं, उन सब का भी उपसंहार इस उपासना में कर लेना चाहिये। यह बात 'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्या मौपसदनवत्तदुक्तम् (वेदान्त ३-३-३३) इस सूत्र में व्यासदेव ने कही है । अक्षर ब्रह्म में द्वैत का निषेध करने वाली जो बुद्धियां हैं उनको सब ही निषेधों में उपसंहार कर डालना चाहिये।

निर्गुणब्रह्मतत्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः ।
न युज्येतेत्युपालम्भो व्यासं प्रत्येव मां न तु ॥७०॥

'निर्गुण ब्रह्म की विद्या में गुणों का उपसंहार तो ठीक ही नहीं है। क्योंकि गुणों का उपसंहार निर्गुण विद्यापन का विरोधी है' यह आक्षेप व्यासदेव पर ही करना चाहिये, मुझ पर नहीं। मैंने तो केवल उनके कहे गुणोपसंहार का कथन कर दिया है।

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः ।
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत्तुष्यतां त्वया ॥७१॥

हिरण्यश्मश्रु युक्त सूर्य आदि सगुण मूर्तियों का कथन न होने से, इस अस्थूलता आदि के होने पर भी निर्गुणता में कोई

विरोध नहीं है [निर्गुणता में विरोध तो किसी सगुण मूर्ति से होता। इससे यह निर्गुणोपासना ही है] ऐसा यदि तू समझ गया है तो तू सन्तोष कर [तुझे तत्व का ज्ञान हो चुका है]

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्वेऽन्तः प्रवेशनम् ।
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्वमुपास्यताम् ॥७२॥

आनन्दादि या अस्थूलादि जो गुण हैं वे तो वस्तु के लक्षक होते हैं [वे वस्तु की तरफ़ को संकेत (इशारा) भर कर सकते हैं—वे उसके स्वरूप नहीं होते हैं] वे उपास्य तत्व के अन्दर तक प्रवेश नहीं करते हैं, ऐसा यदि कहो तो हम कहेंगे कि हां ठीक है । ऐसे लक्षित ब्रह्म की ही उपासना किया करो कि गुण उस के अन्दर तक नहीं प्रविष्ट होते हैं [यों तुम लक्षित ब्रह्म की ही उपासना किया करो]

आनन्दादिभि रस्थूलादिभिश्चात्मात्र लक्षितः ।
अखण्डैकरसः सोहमस्मीत्येव मुपासते ॥७३॥

उपासना की रीति यह है—इन श्रुतियों में जो अखण्डैकरस आत्मा आनन्द आदि तथा अस्थूल आदि गुणों से लक्षित किया गया है, मुमुक्षु लोग उस की उपासना 'सोऽहमस्मि' वही मैं हूँ इस रूप में किया करते हैं।

बोधोपास्त्यो विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु ।
वस्तुतन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम् ॥७४॥

बोध और 'उपासना' में जो भेद है वह भी हमसे सुन लो—ज्ञान तो ज्ञेय वस्तु के अधीन हुआ करता है । उसके विपरीत उपासना कर्ता के अधीन होती है ।

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत् ।
स्वोत्पत्तिमात्रात् संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥७५॥

बोध तो विचार से उत्पन्न हुआ करता है, मुझे बोध न हो यह चाहने पर भी उस बोध को कोई रोक नहीं सकता। वह बोध ज्यों ही उत्पन्न हो जाता है त्यों ही इस संसार की सत्यता को जला देता है [नष्ट कर देता है]

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ।
जीवन्मुक्ति मनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥७६॥

तत्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने से ही नित्यतृप्ति अर्थात् सर्वाधिक सुख को पाकर, जीवन्मुक्ति का महालाभ करके, अपने प्रारब्ध क्षय की बाट जोहने लगता है ।

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालु रविचारयन् ।
चिन्तयेत् प्रत्ययैरन्यै रनन्तरितवृत्तिभिः ॥७७॥

गुरु के उपदेश पर [जिनमें उसने उपास्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया हो] विश्वास करके, स्वयं उस पर कुछ भी विचार न करके, अपने उपास्यतत्व का निरन्तर चिन्तन करे। ध्यान न रहे कि—इस चिन्तन के बीच में अन्य किसी भी विषय का विचार न आने पाये।

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ।
तावद् विचिन्त्य, पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥७८॥

ऐसा चिन्तन कब तक करते जायँ सो भी सुनो—चिन्तन करते करते ऐसी अवस्था आ जायगी, कि तुम्हें स्वयं ही यह भाव होने लगेगा कि यह चिन्त्य स्वरूप तो स्वयं मैं ही हूँ। बस

यहीं चिन्तन को समाप्त कर दो और मरणपर्यन्त इस धारणा को बनाये रक्खो।

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया।
संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ॥७६॥

उपासक भी उपास्य रूप का अभिमान कर लेता है यह बात शास्त्र में देखी गयी है—संवर्ग गुणवाले प्राण की उपासना करने वाला कोई ब्रह्मचारी, जब भिक्षा करने चला तो उसने अभिप्रतारि राजा के सामने अपने आप को संवर्ग रूप मानकर ही भिक्षा की थी। यह बात छान्दोग्य में है।

पुरुषस्येच्छया कर्तुं मकर्तुं कर्तुमन्यथा।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात् प्रत्ययसन्ततिम् ॥८०॥

उपासना तो पुरुष की इच्छा पर निर्भर रहती है। वह चाहे करे, चाहे न करे, चाहे तो उलट पुलट कर डाले। इस लिये उपासना तो सदा ही करनी चाहिये। [उसे मरण-पर्यन्त छोड़ना नहीं चाहिये]

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्नेऽधिवासतः।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्यातापि वासयेत् ॥८१॥

जो सावधान वेदपाठी है, या जो सदा जप करता रहता है, वह दृढ वासना के कारण सुपने में भी वेदपाठ या जप किया ही करता है। इसी प्रकार उपासक लोग भी उपासना की वासना को इतना दृढ करें कि सुपने आदि में भी उसी का ध्यान आने लग पड़े।

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन्।
लभते वासनावेशात् स्वप्नादावपि भावनाम् ॥८२॥

विरोधी विचारों का त्याग करके जब निरन्तर भावना की जाती है तब संस्कारों की प्रबलता हो जाने से सुपने आदि में भी ध्यान होने लग जाता है ।

भुञ्जानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम् ।
ध्यातुं शक्तो न संदेहो विषयव्यसनी यथा ॥८३॥

यदि किसी को अपने उपास्य में अधिक श्रद्धा हो तो अपने प्रारब्ध को भोगते हुए भी विषयव्यसनी की तरह,निरन्तर उपासना कर ही सकता है, इसमें सन्देह मत करो ।

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसंगरसायनम् ॥८४॥

लोक में भी देख लो कि—जिस नारी को परपुरुष का व्यसन पड़ जाता है, वह घर के [लेपन संमार्जन आदि] कामों में लगी रहने पर भी, अपने मन से उसी परसंगरसायन का मजा चखा करती है ।

परसङ्गं स्वादयन्त्या अपि नो गृहकर्म तत् ।
कुण्ठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते ॥८५॥

परसंग का स्वाद लेने वाली उस नारी के घर के काम भी बन्द नहीं हो जाते । वे भी बराबर चलते ही रहते हैं । उसके ये काम तो ऊपर के मन से होते जाते हैं ।

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक् करोति तत् ।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ॥८६॥

अपने घर के कामों का ही जिस नारी को व्यसन है, वह जैसे घर के काम भले प्रकार [जी लगाकर] करती है, परव्यसनिनी नारी उसकी तरह घर के काम प्रेम से करती ही नहीं ।

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत् ।
तत्वविस्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥८७॥

उस नारी के समान ध्यानैकनिष्ठ पुरुष भी अपने लौकिक कामों को अधूरे तौर पर करते रहते हैं । व्यवहार तत्वज्ञान का विरोधी नहीं होता, इस कारण तत्वज्ञानी लोग तो लौकिक कार्यों को भी भले प्रकार निभा ले जाते हैं [ज्ञानी होते ही लौकिक व्यवहार छुट जाता है, या छोड़ देना चाहिये, ऐसा विचार भ्रमपूर्ण है । ज्ञानी लोगों के व्यवहार तो और लोगों से उत्तम प्रकार के होने चाहियें । उनका व्यवहार दूसरों के लिये आदर्श का काम दे, ऐसा होना चाहिये] ।

मायामयः प्रपंचोऽय मात्मा चैतन्यरूपधृक् ।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ॥८८॥

जो तत्व ज्ञानी ऐसा समझकर लौकिक व्यवहार करता है कि—यह प्रपंच तो मायामय है, आत्मतत्व तो केवल चैतन्य रूप है, फिर बताओ कि उसे व्यवहार का विरोध कैसे होगा ?

अपेक्षते व्यवहृति र्न प्रपंचस्य वस्तुताम् ।
नाप्यात्मजाड्यं, किंत्वेषा साधनान्येव कांक्षति ॥८९॥

व्यवहार को न तो यही जरूरत है कि—'प्रपंच सच्चा ही हो' न वह यही चाहता है कि 'आत्मा जड ही हो ।' उसे तो केवल साधनों की ही जरूरत होती है ।

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि, तान् ।
तत्वविन्नोपमृद्नाति, व्यवहारोऽस्य नो कुतः ॥९०॥

जब कि तत्व ज्ञानी पुरुष मन, वाणी, काय तथा बाहर के गृह-क्षेत्र आदि पदार्थों का—जो कि व्यवहार के साध-

हैं—उपमर्द [निवारण] ही नहीं करता है तब फिर इस ज्ञानी का व्यवहार क्यों कर नहीं चलेगा ?

उपमृद्नाति चित्तं चेद् ध्यातासौ न तु तत्ववित् ।
न बुद्धिं मर्दयन् दृष्टो घटतत्वस्य वेदिता ॥९१॥

अगर कोई अपने चित्त का उपमर्द करता है तो वह ध्याता [उपासक] है। वह तत्वज्ञानी नहीं है। लोक में भी देखते हैं कि—घटतत्व का जाननेवाला पुरुष, बुद्धि का मर्दन [किंवा उसे एकाग्र] करता हुआ कहीं भी नहीं देखा जाता।

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद् भासते सदा ।
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥९२॥

यदि केवल एक बार के ही ज्ञान से घट का भास सदा के लिये होजाता है [और चित्त के निरोध की कोई जरूरत नहीं रहती है] तो भला स्वयं प्रकाश यह आत्मा—जो घट से बहुत ही स्पष्ट है—घट की तरह ही क्यों नहीं भास सकता है ? [इस आत्मा के ज्ञान में चित्तनिरोध की कौन-सी आवश्यकता है ?]

स्वप्रकाशतया किं ते तद् बुद्धिस्तत्ववेदनम् ।
बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ॥९३॥

ब्रह्म यद्यपि स्वयं प्रकाश तो है, परन्तु ब्रह्म को विषय करनेवाली बुद्धि ही तो तत्वज्ञान कहाती है, वह बुद्धि तो क्षणिक है [इस कारण वह चाहती है कि—उसकी स्थिति ब्रह्म में बार बार की जांय, उसे बार बार उसमें लगाया जाय] तो भाई ! यह आशंका तो घटादियों में भी समान ही है। [यों

तो घटादि भी यह चाहेंगे कि हम में भी बुद्धि को बार बार लगाया जाय]।

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव, यदा घटः।
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत् सममात्मनि ॥९४॥

घटादि का निश्चय जब होजाता है तब घटज्ञान नष्ट तो हो जाता है [अथवा यों समझो कि घटादिज्ञान क्षणिक तो हैं] परन्तु फिर जब कभी घट की जरूरत हो तभी उस घट को ले जा सकते हैं [उसमें चित्त को स्थिर किये रखने की जरूरत नहीं होती] तो हम कहेंगे कि—यही बात आत्मा के विषय में भी समझ लो। [उसमें भी चित्त को स्थिर कर रखने की कोई आवश्यकता नहीं होती है]।

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम्।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्ववित् ॥९५॥

[इस बात को आत्मा के विषय में यों समझो कि] जब एक बार आत्मा के स्वरूप का निश्चय होजाता है, तब फिर जब कभी अपेक्षा होती है तभी उसके विषय का कथन, मनन या ध्यान ज्ञानी लोग कर ही सकते हैं।

उपासक इव ध्यायन् लौकिकं विस्मरेद् यदि।
विस्मरत्येव सा ध्यानाद् विस्मृतिर्न तु वेदनात् ॥९६॥

तत्वज्ञानी लोग भी, ध्यान करते करते, यदि उपासकों के समान ही, लौकिक बातों को भूलते हैं, तो भूल जायँ। उनका यह विस्मरण ध्यान की प्रबलता से है, यह विस्मरण ज्ञान के कारण नहीं है।

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः ॥९७॥

ध्यान करना तो तत्वज्ञानी की इच्छा पर निर्भर है [वह चाहे तो करे, न चाहे तो न करे] तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे. ३–८) ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः (श्वे. २–१५) इत्यादि शास्त्र तो डंके की चोट यह कह रहे हैं कि कैवल्य तो अकेले ज्ञान से ही मिल जाता है [उसके पाने के लिये ध्यान आदि किसी की भी आवश्यकता नहीं है]

तत्वविद् यदि न ध्यायेत् प्रवर्तेत तदा बहिः ।
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ॥९८॥

'तत्वज्ञानी लोग यदि ध्यान न करेंगे तो फिर बाहर प्रवृत्ति करेंगे ही' ऐसा यदि कोई कहे तो हम कहेंगे, तत्वज्ञानी लोग सुख-पूर्वक वाह्य कामों में प्रवृत्ति करें। उनकी प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं है।

अतिप्रसङ्ग इति चेत् प्रसङ्गं तावदीरय ।
प्रसंगो विधिशास्त्रं चेन्न तत् तत्त्वविदं प्रति ॥९९॥

यदि कहो कि तत्वज्ञानी की बाह्यप्रवृत्ति मानने पर अति प्रसङ्ग हो जायगा। तो हम कहते हैं कि [तुम्हारी बात का उत्तर तो हम पीछे से देंगे पहिले] तुम प्रसङ्ग का अभिप्राय बताओ कि प्रसंग किसे कहते हैं? यदि कहो कि विधि या निषेध शास्त्र को प्रसङ्ग कहते हैं। तो हम कहेंगे कि विधि या निषेध शास्त्र तो ज्ञानी के लिये होते ही नहीं [वे तो अज्ञानी पर ही लागू होते हैं]

वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानो यस्य विद्यते ।
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ॥१००॥

जिस बेसमझ को देह के वर्ण, देह के आश्रम, देह की आयु, और देह की अवस्थाओं का अभिमान हुआ रहता है, [जो अज्ञानी इन सब को अपने ही माना करता है] ये सब विधि और निषेध शास्त्र केवल उसी के लिए होते हैं।

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ॥१०१॥

तत्वज्ञानी को तो ऐसा दृढ निश्चय हुआ रहता है कि—इन वर्णाश्रमादि को माया ने देह में ही कल्पित कर लिया है। ज्ञानरूप आत्मा के तो कोई भी वर्ण या आश्रमादि नहीं होते हैं।

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥१०२॥

जिसने अपने जी से सम्पूर्ण आसक्तियों को निकाल कर फेंक दिया हो, जिसका आशय किंवा ज्ञान निर्मल हो चुका हो, वह तो मुक्त ही है। ऐसा महापुरुष समाधि करे या न करे, काम करे या न करे, [यह सब उसकी इच्छा पर ही निर्भर है। इस बारे में शास्त्र की जुरत उससे कुछ कहने की नहीं होती है]

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थ स्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥१०३॥

[औरों ने भी कहा है कि]—जिसका मन वासनाओं से रहित हो चुका है, कर्म को छोड़ बैठने या करते जाने से फिर उसे कुछ मतलब नहीं रहता। समाधि और जप से उसका कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

आत्मासङ्गस्ततोऽन्यत् स्यादिन्द्रजालं हि मायिकम् ।
इत्यचंचलनिर्णीते कुतो मनसि वासना ॥१०४॥

आत्मा असंग पदार्थ है, उससे भिन्न सभी कुछ इन्द्रजाल के समान मायिक है। ऐसा स्थिर निर्णय कर चुकने के बाद मन में वासना कैसे उठेगी ? भाव यह है कि—तत्वज्ञानी के मन में वासना नहीं उठती। फिर बताओ कि वह उस वासना को हटाने के लिए ध्यान भी क्यों करेगा ?

एवं नास्ति प्रसङ्गोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसञ्जनम् ।
प्रसंगो यस्य तस्यैव शङ्क्येतातिप्रसंजनम् ॥१०५॥

[प्रकृत बात तो इतनी ही है कि] इस प्रकार जब ज्ञानी को प्रसङ्ग ही नहीं है तब फिर उसे अतिप्रसङ्ग कैसे हो जायगा ? यह अतिप्रसङ्ग तो उसी को होता है जिसको कि प्रसङ्ग का बन्धन हो। [प्रसङ्ग वाला पुरुष जब प्रसङ्ग की अवहेलना करता है तब वह उसकी अतिप्रसक्ति कही जाती है।]

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसंजनम् ।
स्यात् कुतोऽतिप्रसङ्गोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥१०६॥

[यह बात लोक में भी देखी जाती है] बालकों पर विधि-शास्त्र नहीं चलता तो उनकी अतिप्रसक्ति भी नहीं मानी जाती। ज्ञानी और बालक दोनों को ही विधि या निषेध शास्त्र का अभाव समान है। फिर इस विचारे ज्ञानी को ही अतिप्रसङ्ग कैसे हो जायगा ?

न किञ्चिद्वेत्ति बालश्चेत् सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ।
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्यु र्नान्ययोर्द्वयोः ॥१०७॥

यदि कहो कि बालक तो कुछ भी नहीं जानता। [उसकी

अज्ञता उस पर विधि का जोर नहीं चलने देती] तो हम कहेंगे कि ज्ञानी सब कुछ जानता है [उसकी सर्वज्ञता उस पर विधि का अंकुश नहीं रखने देती] देखो विधि के अधिकार की बात तो इतनी ही है कि—जो अल्पज्ञ है, उसी के लिए ये विधि और निषेध शास्त्र बनाये गये हैं। अज्ञ और सर्वज्ञ के लिए विधि या निषेध कुछ भी नहीं होता।

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्वविद् यदि ।
तन्न, शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥१०८॥

यदि कहो कि—ऐसा भी क्या तत्वज्ञानी, जो किसी को शाप या वरदान तक न दे सके ? जिसमें ये दोनों सामर्थ्य हों लोक में तो उसी को तत्वज्ञानी [या पहुँचा हुआ महात्मा] समझते हैं। यह विचार ठीक नहीं है। क्योंकि शापादि सामर्थ्य तो उनके तप का फल है [यह कोई तत्वज्ञान का फल नहीं है]

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ।
शापादिकारणा दन्यत् तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥१०९॥

यदि कहो कि व्यास जैसे तत्वदर्शी में भी शापानुग्रहसामर्थ्य [शाप और वरदान की शक्ति] था तो हम कहेंगे कि उनमें वह सामर्थ्य ज्ञान के कारण नहीं था। वह तो उनके तपोबल से था। तप भी दो प्रकार का होता है—एक तप तत्व ज्ञान का कारण है, दूसरे तप से शाप और अनुग्रह का सामर्थ्य उत्पन्न होता है।

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ।
एकैकं तु तपः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ॥११०॥

दोनों प्रकार के तप जिसने किये हों, उसी में सामर्थ्य और ज्ञान दोनों पाये जा सकते हैं। जो तो अकेले अकेले तप को करेगा उसे तो एक ही एक फल मिल सकता है।

सामर्थ्यहीनो निन्द्यश्चेद् यतिभि र्विधिवर्जितः।
निन्द्यन्ते यतयोऽप्यन्यै रनिशं भोगलम्पटैः ॥१११॥

जिन ज्ञानी पुरुषों में शापादि का सामर्थ्य नहीं है और [ज्ञानी होने के नाते] विधि से रहित हैं, तो ऐसे ज्ञानी को विहित कर्मों का पालन करने वाले लोग निन्द्य समझते हैं। इसका उत्तर यह है कि—यदि ऐसी निन्दा से डरोगे तो फिर उन विध्यनुसारी लोगों की निन्दा भी तो विषयलम्पट लोग सदा किया ही करते हैं [वे तो कर्मी को पाखण्डी और पोप नाम से पुकारते हैं। इस निन्दा से जैसे सच्चे कर्मी को कुछ दुःख नहीं होता, इसी प्रकार कर्मी की निन्दा से सामर्थ्यहीन ज्ञानी को दुःख नहीं हो सकता]

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये।
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमन्थरम् ॥११२॥

यदि ये लोग भी भोग की तुष्टि के लिये भोजन वस्त्रादि का उपार्जन करने लगें तो वह उनका यतिपन ही क्या हुआ ? [फिर उन्हें गृहस्थ आश्रम में ही कौनसी आफ़त थी। भाव यह है कि यतिधर्म में दीक्षित पुरुष अपने व्यष्टि अहं के लिये कुछ भी काम नहीं कर सकता है। उसे तो व्यष्टि अभिमान का पोषण करने वाली प्रत्येक बात से परहेज़ करना चाहिये। नहीं तो उसका यतिधर्म नष्ट हो जाता है]

वर्णाश्रमपरान् मूढा निन्दन्त्वित्युच्यते यदि ।
देहात्ममतयो बुद्धं निन्दन्त्वाश्रममानिनः ॥११३॥

यदि यह कहो कि मूढ [अर्थात् विषयलम्पट और पामर] लोगों की निन्दा से वर्णाश्रम धर्म को पालने वाले [कर्मी] की कुछ हानि नहीं होती है । फिर वे भले ही उनकी निन्दा करते रहें, तो हम कहेंगे कि—देह को ही आत्मा मानने वाले, आश्रमों का अभिमान करने वाले, कर्मी लोग तत्वज्ञानी की निन्दा भी भले ही किया करें, उसकी भी उससे कुछ भी हानि नहीं हो सकती ।

तदित्थं तत्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ।
ज्ञानिनाचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम्॥११४॥

[प्रकृत बात तो यही हुई कि] उक्त रीति से तत्वज्ञान हो जाने के बाद लौकिक व्यवहार जिन मन आदि साधनों से चलता है, उनका उपमर्द किंवा विनाश नहीं हो जाता, इस लिये तत्वज्ञानी लोग लौकिक राज्य [उस जैसे बड़े-बड़े काम भी] भले प्रकार चला ही सकते हैं। [ज्ञानी होने का यह अभि-प्राय कदापि नहीं है कि ज्ञानी पुरुष निकम्मा होकर क्षयरोगी की तरह हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाय या कहीं एकान्त गुफा में ही जा पड़े। जिन लोगों का विचार यह है कि ज्ञान हो जाने पर तो कुछ काम हो ही नहीं सकता। वे तो तत्वज्ञान को एक प्रकार का पक्षाघात रोग मानते हैं। ज्ञान तो मन की एक उच्चतम अवस्था है । शरीर आदि के व्यापारों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। ज्ञान हो जाने पर भी शरीर आदि के व्यापार ज्यों के त्यों चलते रह सकते हैं। ज्ञान होने पर केवल

इतना अन्तर होता है कि वे काम अब तक जिस संकीर्ण दृष्टि-कोण से हो रहे थे अब उससे न होकर व्यापक दृष्टिकोण से होने लग पड़ते हैं। यों तत्व ज्ञानी लोग राज्य जैसे बड़े कामों को औरों से अच्छी तरह कर सकते हैं। ज्ञानी में लोभ आदि न रहने से उसके सभी काम आदर्श काम होते हैं।]

मिथ्यात्वबुद्धया तत्रेच्छा नास्ति चेत् तर्हि मास्तु तत्।
ध्यायन्वाथ व्यवहरन् यथारब्धं वसत्वयम् ॥११५॥

उन सबको मिथ्या समझ लेने के कारण, ज्ञानी को उनकी इच्छा ही न रहती हो तो न रहो। [हम तो कहते हैं कि] ज्ञानी लोग अपने प्रारब्ध के अनुसार, चाहें तो ध्यान करते रहें या फिर व्यवहार में लगे रहें।

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद्, यतः।
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत् ॥११६॥

उपासक लोगों को तो सदा ध्यान में ही लगे रहना चाहिए। क्योंकि उपासक तो ध्यान के प्रताप से ही ब्रह्मता को पाता है। उपासक की ब्रह्मता प्रमाणों से समझ में नहीं आती। जैसे कि ध्यान के प्रताप से ही अपने में जो विष्णुता संपादित होती है वह पारमार्थिक विष्णुता नहीं होती। [उसे तो केवल ध्यान से ही क़ायम रखना पड़ता है।]

ध्यानोपादानकं यत्तद्ध्यानाभावे विलीयते।
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते ॥११७॥

जो बात ध्यान से ही उत्पन्न हुई है, वह तो ध्यान के न रहने पर विलीन हो ही जायगी। परन्तु ब्रह्मता ऐसी नहीं होती है। वह तो वास्तव होती है। इस कारण उस ब्रह्मता को जानने

वाला ज्ञान जब नहीं भी रहता तब भी वह नष्ट नहीं हो जाती। [वह तो तब भी बनी ही रहती है। अथवा सच्ची ब्रह्मता उसका ज्ञान जब नहीं भी रहता, तब भी विलीन नहीं हो जाती है। वह तो तब भी बनी ही रहती है।]

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः।
ज्ञापकाभावमात्रेण न हि सत्यं विलीयते ॥११८॥

क्योंकि वह ब्रह्मभाव नित्य है इसलिए ज्ञान तो उसका ज्ञापक [बोधक] ही हो सकता है। जनक नहीं हो सकता। केवल ज्ञापक के न रहने से ही सत्य पदार्थ नष्ट नहीं हो जाता [अभिप्राय यह है कि—ब्रह्मता यदि ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली होती तो ज्ञान के नष्ट होते ही नष्ट हो जाया करती। परन्तु वह नष्ट नहीं होती, इसी से जानते हैं कि—ब्रह्मता उत्पन्न ही नहीं होती। वह तो नित्य है।]

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत्।
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥११९॥

यदि कोई कहे कि—उपासक भी वास्तव ब्रह्म ही होता है, तो हम कहेंगे कि इतना ही क्यों कहते हो? क्या पामर मनुष्य और पशु पक्षी भी वास्तव ब्रह्म नहीं हैं?

अज्ञानादपुमर्थत्व मुभयत्रापि तत् समम्।
उपवासाद् यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथान्यतः॥१२०॥

यदि कोई कि—पामर मनुष्यों और पशु पक्षियों को तो अपनी ब्रह्मता का ज्ञान नहीं होता, इस कारण उनकी ब्रह्मता उनके किसी मतलब की नहीं होती, [ऐसी अज्ञात ब्रह्मता को कोई भी पुरुषार्थ नहीं मानता है] तो हम कहेंगे कि यह बात

दोनों पक्षों में समान है [उपासक को भी तो अपनी ब्रह्मता का निश्चय नहीं होता है इसी कारण उसकी ब्रह्मता अपुरुषार्थ होती है]। हां इतनी बात तो है कि भूखे रहने से जैसे भीख मांगना श्रेष्ठ होता है, इसी प्रकार और सब बातों से ध्यान [उपासना] अच्छा माना जाता है।

पामराणां व्यवहृते वरं कर्माद्यनुष्ठितिः ।
ततोऽपि सगुणोपास्ति र्निर्गुणोपासना ततः ॥१२१॥

पामर लोगों के व्यवहार से तो कर्मानुष्ठान ही श्रेष्ठ है, उससे सगुणोपासना भली है। सगुणोपासना से भी निर्गुणोपासना का दर्जा ऊंचा होता है।

यावद् विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्धते ।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥१२२॥

ज्यों-ज्यों विज्ञान की समीपता आती जाती है, त्यों त्यों श्रेष्ठता की मात्रा बढ़ने लगती है। [निर्गुणोपासना के सर्वश्रेष्ठ होने का कारण यही है कि—] यह उपासना अन्त में धीरे धीरे ब्रह्म ज्ञान के रूप में परिणत होजाती है।

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते ।
विद्यायते तथोपास्ति र्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥१२३॥

फल मिलने के समय में जैसे संवादिभ्रम प्रमाज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार अतिपक्व हो जाने के कारण, मुक्ति का समय आ जाने पर 'उपासना' ही 'ब्रह्मविद्या' हो जाती है।

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ।
प्रमेति चेत् तथोपास्ति र्मान्तरे कारणायताम्॥१२४॥

जो पुरुष संवादिभ्रम से किसी वस्तु को उठाने दौड़ा है, उसे [उस भ्रम से प्रमाज्ञान नहीं होता किन्तु उसे] किसी दूसरे प्रमाण से प्रमाज्ञान हो जाता है। ऐसा यदि कहो तो हम कहेंगे कि इसी प्रकार उपासना भी स्वयं तो ब्रह्मज्ञान नहीं हो जाती। किन्तु दूसरे ज्ञान का कारण बन जाती है। [अर्थात् निर्गुणोपासना निदिध्यासन रूप होकर अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न कर देती है।]

मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि ।
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥१२५॥

यदि कहो कि—यों तो [चित्त की एकाग्रता के सम्पादन के द्वारा] मूर्ति का ध्यान या मन्त्रादि भी अपरोक्षज्ञान के कारण होते हैं तो हम इस बात को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस निर्गुणोपासना में इतनी विशेषता है कि यह उपासना ज्ञान के सबसे अधिक समीप होती है।

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः ।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥१२६॥

[वह निर्गुणोपासना ज्ञान के समीप यों है कि] यह निर्गुणोपासना जब पकने लगती है तब इसकी सविकल्प समाधि हो जाती है। फिर उस सविकल्प समाधि की ही निर्विकल्प समाधि बन जाती है। यह निरोध नाम की समाधि निर्गुणोपासक को अनायास ही प्राप्त हो जाती है।

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसङ्गं वस्तु शिष्यते ।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन् वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः॥१२७॥

निरोध का लाभ हो जाने पर किंवा निर्विकल्प समाधि हो

जाने पर, पुरुष के अन्दर असंग वस्तु शेष रह जाती है। इस असंग वस्तु की भावना जब बार बार की जाती है तब तत्वमसि आदि वाक्यों से तत्वज्ञान [कि ब्रह्मनाम का सत्व मैं ही हूँ यह ज्ञान] उत्पन्न हो ही जाता है ।

निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः ।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः ॥१२८॥

उस समय तो निर्विकारता, असंगता, नित्यता, स्वप्रकाशता, एकता, तथा पूर्णता नामक उदार धर्म; जिन का कि शास्त्रों में वर्णन आता है, झटपट बुद्धि में बैठ जाते हैं। फिर उसे इनके विषय में विवाद या संशय नहीं रहता [जब तक निरोध का लाभ नहीं हो जाता, तब तक निर्विकारता, असंगता, स्वप्रकाशता आदि का सच्चा अर्थ किसी की कल्पना में आता ही नहीं। इन शब्दों के अन्दर जो अनन्त खज़ाना भरा पड़ा है वह उक्त साधन किये बिना किसी को दीखता ही नहीं।]

योगाभ्यास स्त्वेतदर्थोऽमृतबिन्द्वादिषु श्रुतः ।
एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥१२९॥

अमृतबिन्दु आदि उपनिषदों में उसी [निर्विकल्प समाधि को सिद्ध करने] के लिये योगाभ्यास का करना बताया है। [क्योंकि निर्गुण उपासना प्रत्यक्षज्ञान के सब से अधिक निकट है। उससे एक यह दृष्ट फल भी होता है कि निर्विकल्प समाधि का लाभ हो जाता है] यों यह निर्गुण उपासना सगुण उपासना से बहुत ऊँची वस्तु है। यह निर्गुणोपासना दृष्ट [निर्विकल्प-समाधिलाभ] और अदृष्ट[ज्ञान का साधन होने से]दो प्रकारों से सगुणोपासना आदियों से श्रेष्ठ वस्तु है ।

उपेक्ष्य तत् तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम् ।
पिंडं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥ १३० ॥

[जो निर्गुणोपासना अपरोक्षज्ञान को सिद्ध कर सकती है] उसे छोड़ कर जो अविचारी लोग तीर्थाटन और जप तप ही करते रहते हैं,उनका परिश्रम तो उस जैसा ही है जो हाथ में से गुडपिण्ड को फेंक कर हाथ को ही चाट रहा हो [अर्थात् उनका परिश्रम वृथा होता है] ।

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि ।
वाढं, तस्माद् विचारस्यासंभवे योग ईरितः ॥१३१॥

इस बात को तो हम भी स्वीकार करते हैं—कि आत्मतत्व के विचारों को छोड़ कर निर्गुणोपासना करने वाले उपासक भी इसी श्रेणी के हैं [वे गुड फेंक कर हाथ चाटने वाले के समान ही अविचारशील हैं] इसी कारण से शास्त्रकी सम्मति तो यही है कि जिस को विचार करना असंभव होता है उसी के लिये योग [उपासना] का विधान किया गया है ।

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात् तत्वधी नंहि ।
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥१३२॥

जिन पुरुषों के चित्त अत्यन्त व्याकुल हुए रहते हैं, उनको विचार से तत्वज्ञान नहीं हो सकता । उनके लिये तो योग ही मुख्य उपाय है । क्योंकि योग करने से उनका धीदर्प नष्ट हो जाता है ।

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम् ।
सांख्यनामा विचारः स्यन्मुख्यो झटिति सिद्धिदः॥१३३॥

जिन पुरुषों की बुद्धि व्याकुल नहीं होती है, जिनका

आत्मा केवल मोह के आवरण में छिपा रहता है,उनके लिये तो 'सांख्य' नाम का तत्व विचार ही मुख्य उपाय है । क्योंकि उनको उसीसे झटपट सिद्धि मिल जाती है ।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥१३४॥

[योग और सांख्य (उपासना और तत्वज्ञान) दोनों ही तत्वज्ञान के द्वारा मुक्ति को दे देते हैं। यह बात गीता में भी कही गयी है।] कि—सांख्यमार्गी लोग जिस पद को पाते हैं योगमार्गी लोग भी वहां पहुँच जाते हैं। जो ज्ञानी सांख्य और योग को फल में एक समझ लेता है—इनमें भेद नहीं जानता है, वही शास्त्र के मर्म का जानने वाला है ।

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्य मिति हि श्रुतिः ।
यस्तु श्रुते विंरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः॥१३५॥

[श्वेताश्वतर श्रुति में भी कहा है कि] इस जगत् का जो मूल कारण है,वह सांख्य या योग किसीसे भी जाना जासकता है। आज कल 'सांख्य और योग' नामसे प्रसिद्ध शास्त्रों में जो बहुत सी बातें श्रुति के विरुद्ध दीख पड़ती हैं वे 'सांख्य' या योग नहीं है। वे तो 'सांख्या-भास''योगाभास' हैं। [आभास की बाधा जैसे होजाती है वैसे ही उनकी भी बाधा होजायगी]

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः ।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्वं विज्ञाय मुच्यते ॥१३६॥

इस जन्म में जिस की उपासना (योग) परिपक न हो चुकी हो, वह आगे चल कर या तो मरते समय या ब्रह्मलोक में पहुँच कर, तत्व को जान जाता है और मुक्त हो जाता है ।

[उपासक तत्वज्ञान होने से पहले बीच में ही मर जाय तो भी मोक्ष से वंचित नहीं रह जाता है]।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेनं यातीति शास्त्रतः ॥१३७॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं तं तमेवैति (प्र. ८-६) प्राणी अपने मरण काल में जिस जिस भाव को स्मरण करके शरीर को छोड़ता है, उसी उस भाव को प्राप्त हो जाता है। यच्चित्तस्तेनैव प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति (प्र. ३-१०) [मरते समय जैसा चित्त अर्थात् संकल्प होता है, मरते समय जिस देवता मनुष्य पशु पक्षी और वृक्ष आदि के शरीर को अच्छा मान लेता है, उस संकल्प से वह अपनी सब इन्द्रियों के साथ मुख्य प्राण में आ जाता है अर्थात् तब केवल प्राण व्यापार चलता है। इन्द्रिय व्यापार रुक जाता है। वह प्राण तेज अर्थात् उदान से युक्त हो कर भोक्ता को भी संकल्पानुसारी लोक में ले जाता है। कर्म करते समय जैसे संकल्प रहे हैं मरते समय वे वासना रूपसे प्रकट होते हैं। अगले जन्म में उन ही वासनाओं का शरीर बन जाता है। मरण के बाद जैसा शरीर मिलना होता है, वैसी ही वासनायें होती हैं और वे ही योनियां मुमूर्षु को दीखा करती हैं] ऊपर के गीतावाक्य तथा इस श्रुति के कथनानुसार मरते समय के ज्ञान से मुक्ति मिलने की बात समझ में आती है।

अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भाविजन्म, तथा सति ।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात् सगुणोपासने यथा ॥१३८॥

[मरते समय इस जन्म में जो सबसे पिछले विचार होते हैं वे यह बता देते हैं कि अगला जन्म कैसा होगा—कौन सी योनि मिलेगी, ऊपर के दो प्रमाणों से यह तो सिद्ध हो ही जाता है। परन्तु उस के साथ ही मरण काल में ज्ञान हो जाता है और उस से मोक्ष मिल जाता है यह बात भी इन्हीं प्रमाणों से सिद्ध हो जाती है] पिछले ज्ञान जैसे भाविजन्म की सूचना साधारण प्राणी को मिल जाती है, या जैसे पूर्वाभ्यासवश मरण के समय सगुणोपासकों को सगुण ब्रह्म के दर्शन मिल जाते हैं, इसी तरह पूर्वाभ्यास के प्रताप से मरते समय निर्गुणोपासकों को भी निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान हो ही जायगा, इस में वृथा सन्देह क्यों किये जाते हो।

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम्।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥१३९॥

[यदि कहो कि निर्गुणोपासक को तो मरण काल में निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति ही हो सकती है। उसे मुक्ति क्यों कर मिल जायगी ? इसका समाधान यह है कि] उसका तुम निर्गुण नाम भले ही गाते रहो। असल में तो यह मोक्ष ही है। जैसे संवादिभ्रम कहने ही कहने को भ्रम है, असल में तो उसे तत्व ज्ञान ही कहना चाहिये। [ब्रह्म प्राप्ति और मुक्ति ये एक ही पदार्थ के दो नाम रख लिये गये हैं]।

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका।
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥१४०॥

निर्गुण उपासना के सामर्थ्य से जो ज्ञान पैदा होता है, वह ज्ञान ही मूलाविद्या को निवृत्त कर देता है। अर्थात् वह

ज्ञान ही मोक्ष का साधन है [हम मानस क्रिया-रूपी निर्गुणोपासना को साक्षात् मुक्ति का साधन नहीं कहते हैं] अविमुक्तोपासना [भ्रुकुटी में वैश्वानर की उपासना] से तारक ब्रह्म का ज्ञान जैसे हो जाता है [ऐसे ही निर्गुणोपासना से मूलाविद्या को हटा देने वाली बुद्धि उत्पन्न हो जाती है] ।

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिन्द्रियः ।
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ॥१४१॥

सोऽकामो निष्कामः आप्तकाम आत्मकाम अशरीरो निरिन्द्रियः अभयं वै ब्रह्म भवति इत्यादि वाक्यों के द्वारा तापनीय उपनिषत् में मोक्ष को निर्गुणोपासना का फल बताया है ।

उपासनस्य सामर्थ्याद् विद्योत्पत्तिर्भवेत् ततः ।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ॥१४२॥

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे. ३–८) यह शास्त्र कहता है कि ज्ञान के सिवाय मुक्ति का दूसरा रास्ता ही नहीं है । उपासना के सामर्थ्य से भी ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है और ज्ञान से मुक्ति हो जाती है । यों नान्यः पन्था वाले शास्त्र का विरोध नहीं होता ।

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता ।
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैब्यप्रश्ने समीरितः ॥१४३॥

तापनीय उपनिषत् में निष्कामोपासना से मुक्ति मिलने की बात कही है । शैब्यप्रश्न में यह बात कही गयी है कि सकामोपासना करने वाले को ब्रह्मलोक मिलता है ।

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।
स एतस्माज्जीवघनात् परं पुरुषमीक्षते ॥१४४॥

शैब्य प्रश्न में यह बात कही गयी है कि जो इस परम पुरुष की उपासना त्रिमात्र ओंकार से करता है, वह ब्रह्मलोक में ले जाया जाता है। उसके अनन्तर वहीं पर यह भी कहा गया है कि— ब्रह्मलोक में पहुँचा हुआ वह उपासक, इस जीवघन [अर्थात् जीवों की समष्टि इस हिरण्यगर्भ] से भी ऊंचे दर्जे के उपाधि-रहित चैतन्य-रूपी परमात्मा का साक्षात् वहीं कर लेता है।

अप्रतीकाधिकरणे 'तत्क्रतुन्याय' ईरितः ।
ब्रह्मलोकफलं तस्मात् सकामस्येति वर्णितम् ॥१४५॥

'अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण: (ब्रह्म ४-३-१५) उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च' इन दोनों सूत्रों में व्यास मुनि ने कहा है कि— अपनी अपनी कामना के अनुसार ही फल प्राप्त होता है। इस कारण सकाम लोगों के ब्रह्मलोक पाने की बात कही है। [सूत्रार्थ = प्रतीकोपासना न करने वाले उपासकों को अमानव पुरुष ले जाता है ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं। किन्हीं को ले जाता है किन्हीं को नहीं ऐसी दोनों बात मानने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि यह सब संकल्प पर निभर करता है]

निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात् तत्र तत्वमवेक्षते ।
पुनरावर्तते नायं कल्पान्ते च विमुच्यते ॥१४६॥

[सकाम निर्गुणोपासक को तत्वज्ञान होने का कारण यह है कि] निर्गुणोपासना के सामर्थ्य से ब्रह्मलोक में ही उसे तत्व-

ज्ञान हो जाता है। ऐसा पुरुष फिर इस मर्त्यलोक में लौटकर नहीं आता। जब कल्प का अन्त होने लगता है तभी वह हिरण्यगर्भ के साथ मुक्त हो जाता है।

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ।
क्वचित् सगणताप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥१४७॥

वेद में प्रणव की जितनी भी उपासनायें हैं,वे प्रायः सब की सब निर्गुण ही हैं। कहीं कहीं एकाध सगुणोपासना भी आती है।

परापरब्रह्मरूप ओंकार उपवर्णितः ।
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥१४८॥

पिप्पलाद मुनि ने सत्यकाम के प्रश्न के उत्तर में परापर ब्रह्मरूप दो प्रकार का ओंकार बताया है। [इसी को ओंकार की निर्गुण और सगुणोपासना का प्रमाण समझना चाहिए।]

एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।
इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ॥१४९॥

कठोपनिषत् में यम ने भी नचिकेता को यही उत्तर दिया है कि इस ओंकाररूपी आलम्बन [सहारे] को जानकर जो पुरुष जो चाहता है उसे वही मिल जाता है। [यम के उत्तर से भी प्रणवोपासना दो तरह की पायी जाती है।]

इह वा मरणे वास्य ब्रह्मलोकेऽथवा भवेत् ।
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥१५०॥

[प्रकरण का तात्पर्य तो इतना ही है कि] जो निर्गुण की किसी तरह की भी उपासना भले प्रकार कर लेता है उसको इस लोक में या मरते समय अथवा ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्म का साक्षात्कार हो ही जाता है। [वह होने से रुकता नहीं]

अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः ।
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥१५१॥

जो विचार में असमर्थ हैं [विचार करने पर जिन्हें तत्वज्ञान नहीं हो सकता है] उन्हें निर्गुण ब्रह्म की उपासना निरन्तर करनी चाहिए। यह बात आत्मगीता में भी स्पष्ट कही है।

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिन्तयेन्मामशङ्कितः ।
कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितं ध्रुवम् ॥१५२॥

[आत्मगीता में कहा है कि] जिसमें आत्मतत्व को साक्षात् करने की शक्ति न हो, वह निःशंक होकर, मेरी उपासना ही किया करे। समय आने पर मैं उसके अनुभव में आऊँगा और निश्चय ही फलित हो जाऊँगा।

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना ।
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः ॥१५३॥

अगाध निधि को पाने का जैसे खोदने के सिवाय और कोई उपाय ही नहीं है, इसी प्रकार आत्मचिन्ता को छोड़ कर मेरे पाने का भी और कोई उपाय नहीं है।

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात् पुनः ।
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥१५४॥

[पुरुष को चाहिए कि] बुद्धिरूपी कुदाल के सहारे से, देह रूपी पत्थर को हटा कर, और मन रूपी भूमि को बार बार खोद कर, मुझ निधि को प्राप्त कर ही ले।

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥१५५॥

यदि किसी को अनुभूति न हो तो भी उसे 'मैं ब्रह्म हूँ'

यह उपासना करनी ही चाहिए। ध्यान का तो इतना प्रताप है कि—उससे असत् भी मिल जाता है [उपासक लोग असत् देवभाव को भी प्राप्त कर लेते हैं] अपना स्वरूप होने के कारण, नित्यप्राप्त जो सर्वात्मक ब्रह्म है, वह ध्यान से मिल जाता है, इसका तो कहना ही क्या ?

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद् दिने दिने।
पश्यन्नपि न चेद् ध्यायेत् कोऽपरोऽस्मात् पशुर्वद॥१५६॥

ध्यान करने से दिन पर दिन अनात्मबुद्धि ढीली पड़ती जाती है। ध्यान के इस महाफल को देख कर भी यदि कोई ध्यान न करे तो इससे बड़ा पशु और कौन होगा ?

देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम्।
पश्यन् मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१५७॥

सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष तो यह है कि ध्यान का ऐसा अद्भुत प्रभाव है कि इससे देहाभिमान का विध्वंस हो जाता है। अद्वितीय आत्मा के दर्शन मिलते हैं। [इस मरने वाले देह में से 'मैंपने' का अभिमान टूट जाने के कारण] अपने स्वाभाविक अमरपने का लाभ हो जाता है। फिर तो इस मरने वाले देह के रहते रहते ही अपना निजस्वरूप ब्रह्म प्राप्त हो जाता है।

ध्यानदीपमिमं सम्यक् परामृशति यो नरः।
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ॥१५८॥

जो पुरुष इस 'ध्यानदीप' का विचार भले प्रकार करता है, वह सभी संशयों से मुक्त हो जाता है और फिर सदा ब्रह्म का ध्यान करने लगता है।

इतिश्रीमद्विद्यारण्यविरचितपंचदश्यां ध्यानदीपप्रकरणम्।

नाटकदीपप्रकरणम्

परमात्माद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया ।
स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥१॥

सृष्टि से पहले वह परमात्मा परमानन्द से परिपूर्ण था, वह अपनी माया शक्ति से अपने आप ही जगद्रूप हो गया और फिर वही जीवरूप से उसी में प्रवेश कर बैठा ।

विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत् ।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम् ॥२॥

वह परमात्मा जब विष्णु आदि उत्तम देहों में प्रविष्ट हुआ तब देवता बन गया । वह जब मर्त्य आदि अधम देहों में घुसा तब मर्त्यभाव को प्राप्त हो गया । [भाव यह है कि यह दीखने वाला उत्तमाधम भाव स्वाभाविक नहीं है। किन्तु शरीर रूपी उपाधि के कारण से है। ऐसी अवस्था में जब एक ही परमात्मा सब शरीरों में प्रविष्ट हुआ है तब फिर पूज्यपूजक भाव या उत्तमाधम भाव क्यों है ? इस प्रश्न का समाधान हो जाता है ।]

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥३॥

अनेक जन्मों के भजन से [अनेक जन्मों में किये हुए कर्मों को ब्रह्म में समर्पण करने से] यह प्राणी आत्मविचार करना

चाहा करता है। आत्मविचार के प्रभाव से जब [अपने अद्व-यानन्द रूप को ढकने वाली] माया नष्ट हो जाती है तब वह फिर पहले की तरह स्वयं [परमानन्दपूर्ण परमात्मा] ही शेष रह जाता है।

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ।
बन्धः प्रोक्तः,स्वरूपेण स्थितिर्मुक्ति रितीर्यते ॥४॥

अद्वितीय ब्रह्म [के सच्चे बन्ध या मोक्ष का निरूपण तो कोई कर ही नहीं सकता। इस कारण जब उस अद्वयानन्द] को दुःखी होने का भ्रम हो जाता है तब बस यही उसका 'सद्वयपना' और यही उसका 'बन्ध' कहाता है। [उस दुःखी-पने का हट जाना किंवा] अपने स्वरूप में पहुँच जाना ही मोक्ष कहा जाता है।

अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते ।
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥५॥

यह बन्धन अविचार का किया हुआ है। विचार से ही इसकी निवृत्ति हो सकती है। इस कारण [तत्वसाक्षात्कार होने तक] सदा ही जीव और परमात्मा का विचार करता रहे।

अहमित्यभिमन्ता यः कर्ताऽसौ, तस्य साधनम् ।
मनस्तस्य क्रिये अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ॥६॥

[चिदाभास से युक्त] जो अहंकार देहादि में मैंपने का अभिमान किया करता है, उसी को 'कर्ता' या जीव कहते हैं। उस जीव [के अभिमान करने] का साधन मन कहाता है। वह क्रमानुसार कभी अन्तर्वृत्ति और कभी 'बहिर्वृत्ति' नाम की दो प्रकार की क्रियायें किया करता है।

अन्तर्मुखाहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥७॥

उस मन की 'मैं' यह अन्तर्मुख वृत्ति तो कर्ता का उल्लेख किया करती है । उसी मनकी बहिर्मुख रहने वाली 'इदं' यह वृत्ति देह से बाहर के पदार्थों को 'यह' रूप में विषय किया करती है ।

इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः ।
असांकर्येण तान् भिन्द्याद् घ्राणादीन्द्रियपंचकम् ॥८॥

[मन तो सामान्यतया 'इदं' को विषय करता है परन्तु] उस इदं के जो विशेष विशेष धर्म [गन्ध, रूप, रस आदि] हैं ,उन को तो पृथक् पृथक् घ्राण आदि पाँच इन्द्रियां ही प्रकट किया करती हैं । [यों मन का भी उपयोग हो जाता और घ्राण आदि इन्द्रियें भी व्यर्थ नहीं होतीं] ।

कर्तारं च क्रियां तद्वद् व्यावृत्तविषयानपि ।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥९॥

जो तो केवल चिद्रूप होकर कर्ता को भी, क्रिया ['मैं' 'यह' की मनोवृत्तिरूपी] को भी, तथा एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण गन्धादि विषयों को भी, एक ही यत्न से प्रकाशित किया करता है, उसी चिद्रूप को यहां [वेदान्त में] साक्षी कहते हैं ।

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥१०॥

नृत्यशाला में रक्खा हुआ दीपक प्रभु [नृत्यशाला के मालिक] को, सभ्यों को, तथा नर्तकी को, समान रूप से प्रकाशित किया

करता है [वह किसी के प्रकाश के लिए घटता बढ़ता नहीं है और जब नृत्यशाला में से ये सब लोग चले जाते हैं] जब वहां कोई भी नहीं रहता तब भी वह वहां दीप्त हुआ रहता है।

अहंकारं धियं साक्षीं विषयानपि भासयेत् ।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥११॥

ऊपर के दृष्टान्त की तरह ही यह साक्षी तत्व अहंकार को, बुद्धि को और विषयों को, प्रकाशित किया करता है। [सुषुप्ति आदि के समय] जब तो अंहकार आदि कोई भी नहीं रहता, तब भी वह [साक्षी] पहले ही की तरह जगमगाता रहता है।

निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ।
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥१२॥

वह कूटस्थ साक्षी तो ज्ञप्ति [किंवा स्वप्रकाश चैतन्य] रूप से सदा ही भासता रहता है। यह बिचारी बुद्धि उसी [सदा-विभात] साक्षी की प्रभा से प्रकाश्यमान होकर, अनेक रूप से नाचा करती है। ['यह घट है' 'यह पट है' इत्यादि अनेक रूपों में विकृत होती रहती है।]

अहंकारः प्रभुः, सभ्या विषया, नर्तकी मतिः ।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥१३॥

अहंकार ही इस [जगत्रूपी] नाटक का प्रभु है [क्योंकि नाटक के मालिक की तरह विषय भोग की सफलता और विफलता से हर्ष और विषाद इसी अहंकार को होते हैं] विषय ही इस नाटक के सभ्य हैं [नाटक के दर्शकों को सुख दुःखमयी घटना देखने पर भी जैसे सुख दुःख कुछ नहीं होता, इसी प्रकार इन विषयों को भी सुख दुःख कुछ नहीं होता] बुद्धि ही इस

नाटक की नर्तकी है [क्योंकि नर्तकी की तरह नाना तरह के विकार इसी में होते हैं]। ताल आदि को धारण करने वाली तो इन्द्रियां ही हैं [क्योंकि ये इन्द्रियां बुद्धि के विकारों के अनुकूल व्यापार करने लगती हैं]। यह साक्षी ही इन सब का अवभासक दीपक है [क्योंकि यही इन सब को प्रकाशित किया करता है।]

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद् यथा।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत् ॥१४॥

दीपक जैसे अपने स्थान पर ही रक्खा हुआ अपने चारों ओर [के सम्पूर्ण पदार्थों को] प्रकाशित किया करता है, इसी प्रकार स्थिर रूप से स्थायी यह साक्षी भी (विकारी न होकर ही) बाहर और अन्दर प्रकाश किया करता है।

बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यान्तरहंकृतिः ॥१५॥

['अनन्तरमबाह्यम्' (बृ० ३-८-८) इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार साक्षी में तो अन्दर और बाहर का कोई भी विभाग नहीं होता] यह सब बाहर अन्दर का विभाग तो देह [रूपी पैमाने] के कारण ही हो जाता है। विषय तो शरीर से बाहर रहते हैं। अहंकार तो शरीर के अन्दर होता है। [इसीसे अन्दर बाहर यह व्यवहार होने लगा है। आत्मा में अन्दर बाहर कहते नहीं बनता।]

अन्तःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः।
भास्यबुद्धिस्थचाञ्चल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥१६॥

शरीर के अन्दर बैठी हुई वह बुद्धि [रूपरसादि को ग्रहण

करने के लिए]इन्द्रियों के साथ साथ[अथवा इन्द्रियों के द्वारा] बार बार बाहर निकला करती है। बसं बुद्धि की इसी चंचलता को [बुद्धि के भासक] साक्षी में वृथा ही आरोपित कर लिया जाता है। [उस साक्षी में वास्तविक चंचलता नहीं है।]

गृहान्तरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ॥१७॥
निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ ।
अकुर्वन् बुद्धिचाञ्चल्यात् करोतीव तथा तथा ॥१८॥

झरोखे में होकर घर में गया हुआ नन्हा सा सूर्यप्रकाश, अचल ही होता है। [वह हिलता जुलता नहीं है] उस आतप के बीच में जब कोई पुरुष अपना हाथ हिलाने लगता है, तब जिस प्रकार वह आतप भी हिलने सा लगता है, ठीक इसी प्रकार साक्षी तो अपने ही स्थान में [किंवा अपनी अचल मर्यादा में] बैठा रहता है, वह कभी बाहर अन्दर आता जाता नहीं है। परन्तु फिर भी बुद्धि की चंचलता के कारण, वैसा वैसा करता हुआ सा [व्यर्थ ही] प्रतीत होने लगता है।

न बाह्यो नान्तरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ ।
बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ॥१९॥

[पहिले श्लोक में जो साक्षी को अपने स्थान पर स्थित बताया है उसका अभिप्राय सुन लो] वह साक्षी बाह्य या आन्तर कभी नहीं होता। ये तो दोनों बुद्धि के ही देश कहाते हैं। बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि की प्रतीति के बन्द होने पर यह भाव अथवा यह प्रकाश, जहाँ [स्वतन्त्र रूप से] जगमगाता रहता है, उसी को इस साक्षी का स्थान समझ लो।

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक्।
सर्वदेशप्रक्लृप्त्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥२०॥

यदि कहो कि—सम्पूर्ण व्यवहार के बन्द हो जाने पर तो कोई भी देश भासा नहीं करता फिर उसको वहाँ कैसे पहचानें? तो हम कहेंगे कि तुम उसको बिना ही देश [स्थान] का समझ लो [भाव यह है कि देश आदि की जितनी भी कल्पनायें हैं उन सब कल्पनाओं का जो अधिष्ठान है उसे तो अपने से भिन्न किसी देश की कुछ अपेक्षा ही नहीं होती।] शास्त्र में भी उसको कहीं कहीं सर्वगत आदि कहा गया है, वह भी सर्वदेश की कल्पना के कारण ही कहा है। वह साक्षी आत्मा स्वभाव से सर्वगत कदापि नहीं है [स्वभाव से तो वह अद्वितीय और असंग ही है]

अन्तर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं परिकल्पयेत्।
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत् ॥२१॥

अन्दर या बाहर या जिस किसी भी देश की कल्पना यह बुद्धि कर लेती है उस देश का यह आत्मा 'साक्षी' कहाने लगता है [वास्तव में तो सर्वगतपन की तरह सर्वसाक्षिपन भी कोई पदार्थ नहीं है] इसी प्रकार अन्य वस्तुओं में भी साक्षी को समझ लेना चाहिए।

यद्यद् रूपादि कल्प्येत बुद्ध्या तत्तत् प्रकाशयन्।
तस्य तस्य भवेत् साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः॥२२॥

बुद्धि से जिस जिस रूपादि की कल्पना की जाती है, उस उस [कल्पित पदार्थ] को प्रकाशित रखने वाला यह आत्मा उस उसका 'साक्षी' कहाने लगता है [यदि तुम उसके असली रूप

को पूछो तो हम कहेंगे कि] वह स्वयं तो वाणी और बुद्धि का अविषय ही है [फिर उसे साक्षी भी कैसे कह दें ?]

कथं तादृङ् मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ।
सर्वग्रहोपसंशान्तौ स्वयमेवावशिष्यते ॥२३॥

यदि वह साक्षी अवाङ् मनोगोचर है तो फिर मैं मुमुक्षु ऐसे उसको कैसे ग्रहण करूँ ? इसका उत्तर यही है कि—उसे तुम ग्रहण ही मत करो ! [तुम ग्रहण करने के झगड़े में ही मत फंसो] जब सर्वग्रह शान्त हो जायगा [जब इस सब कुछ कहाने वाले द्वैत की प्रतीति बन्द हो जायगी] तब समझते हो क्या शेष रह जायगा ? देखो उस समय यह स्वयं ही शेष रह गया होगा [इसी को हम साक्षी कहते हैं । इसी को हम वाणी और बुद्धि का अगोचर बताते हैं ।]

न तत्र मानापेक्षास्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ।
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ॥२४॥

सर्वग्रह की शान्ति हो जाने पर जो स्वात्मा शेष रहता है, उसके प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह तो स्वयं प्रकाश-स्वरूप ही है । वह आत्मा स्वयं प्रकाशस्वरूप कैसे है ? यह जानना हो तो गुरु के मुख से वेदान्त का अध्यन करो । [इस गहन तत्व का ज्ञान तुम्हारे स्वतन्त्र स्वाध्याय से या किसी ग्रन्थ का अनुवाद पढ़ने से नहीं हो सकेगा । यह बात तो अनुभव वाला ही समझा सकेगा]

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ।
शरणं, तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ॥२५॥

यदि मन्दाधिकारी लोग सर्वग्रह का त्याग न कर सकते हों तो वे बुद्धि की शरण ले लें। अन्दर या बाहर सब जगह बुद्धि के अधीन हुए हुए इस साक्षी का वे लोग अनुभव करें [वे लोग यह विचारें कि—यह बुद्धि जिस जिस बाह्य या आभ्यन्तर पदार्थ की कल्पना करती है, उस उस पदार्थ का साक्षी होकर यह परमात्मा उसके अधीन सा रहता है। वे लोग इसी मार्ग से परमात्मा का अनुभव प्राप्त करें।]

इतिश्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां नाटकदीपप्रकरणम्

ब्रह्मानन्दे योगानन्दप्रकरणम्

ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि, ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ।
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥१॥

अब हम ब्रह्मरूप आनन्द किंवा ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थ का वर्णन करेंगे। जब कोई उस आनन्द तथा उस ग्रन्थ को सम्पूर्ण रूप से जान लेगा तब वह ऐहिक और आमुष्मिक दोनों प्रकार के अनर्थों से छूट कर सुखरूप हो जायगा। [उसको जो इस लोक के देह पुत्रादि में 'मैं' और 'मेरेपन' का अभिमान करने से आध्यात्मिक आदि ताप होते थे, या परलोक में जिन तापों के मिलने की संभावना थी वह उन सब को सम्पूर्णरूप से छोड़ कर सुख रूप ब्रह्मतत्त्व ही हो जायगा।]

ब्रह्मवित् परमाप्नोति, शोकं तरति चात्मवित् ।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वानन्दी भवति नान्यथा ॥२॥

ब्रह्मदर्शी पर को पा लेता है। आत्मज्ञानी शोक को तर जाता है। रस ब्रह्म ही है। रस को पाकर ही आनन्दी होता है और तरह से नहीं।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् (तै० २-१) इस वाक्य में कहा गया है कि जो ब्रह्म को जानता है वह पर अथवा उत्कृष्ट आनन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त कर चुकता है। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकं

चात्मवित् (छा० ७-१-३) इस श्रुति में कहा गया है कि देश-काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित आत्मतत्व को जान लेने वाला पुरुष शोक अर्थात् इस अज्ञानमूलक संसार समुद्र को लांघ जाता है। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति (तै०२-७) इस श्रुति में कहा गया है कि जिसको कहीं पर 'ब्रह्म' और कहीं पर 'आत्मा' कहा जाता है वह यह आत्मा रस किंवा सार अथवा आनन्दरूप है, उस आनन्दरूप ब्रह्म को पाकर [मैं ब्रह्म हूँ इस ज्ञान से प्राप्त करके] आनन्दी हो जाता है—मर्यादा-रहित और सर्वाधिक सुख को पा लेता है। ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान को छोड़ कर किसी भी दूसरे साधन के अनुष्ठान से आनन्दी नहीं हो सकता। इन सब वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञान से अनिष्ट की निवृत्ति होती है और इष्ट की प्राप्ति होती है।

प्रतिष्ठां विन्दते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः।
कुरुतेऽस्मिन्नन्तरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ॥३॥

जब अपने आपे में प्रतिष्ठा पा लेता है तब वह अभय हो जाता है। जब इसमें भेद कर बैठता है फिर उसे भय लगने लगता है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये ऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ऽथ सोऽभयं गतो भवति (तै०२-७) इस श्रुति में कहा गया है कि जिस समय यह मुमुक्षु इन्द्रियों से न दीखने वाले, स्वरूप होने के कारण अपना न कहा सकने वाले, शब्दों से न कहे जाने वाले, किसी के आश्रय में न रहने वाले, अपनी ही महिमा में ठहरने वाले, विद्वानों के अनुभव में आने वाले, इस आत्मा में अभय अर्थात् भेद रहित होकर, प्रतिष्ठा अर्थात् अपनी ब्रह्म

रूप स्थिति को, श्रवणादि के द्वारा उपार्जन कर लेता है ऐसा जानने वाला पुरुष फिर उसी समय भयरहित मोक्षरूपी अद्वितीय ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। फिर आगे 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति (तै० २–७) इस श्रुति में कहा गया है कि जब तो वही मुमुक्षु उसी प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में थोड़ा सा भी [उपास्य उपासक आदि रूपी] भेद करता या देखने लगता है तब तुरन्त ही उस भेददर्शी को भय अर्थात् संसार प्रयुक्त दुःख होने लगता है।

वायुः सूर्यो वन्हिरिन्द्रो मृत्यु र्जन्मान्तरेऽन्तरम् ।
कृत्वा धर्मं विजानन्तोऽप्यस्माद् भीत्या चरन्ति हि ॥४॥

भीषास्माद्वातः पवते (तै० २–८) इसमें कहा गया है कि [जगत् के नियामक कहाने वाले] वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र तथा मृत्यु ये पांचों देवता पिछले जन्मों में अपने धर्म को जानते हुए भी केवल अन्तर कर लेने [किंवा प्रत्यगात्मा और ब्रह्म तत्व का भेद समझ लेने] के कारण अब उसी ब्रह्म के भय से [इन वायु आदि जन्मों में] अपने अपने कामों में ही सदा लगे रहते हैं [जैसे कि डण्डे के डर से तेली का बैल अपने चक्कर पर घूमता रहता हो।]

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ।
एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता ॥५॥

ब्रह्मतत्व के आनन्द को समझ चुकने वाला पुरुष फिर किसी बात से भय नहीं करता। कर्मरूपी अग्नि की चिन्ता बस केवल इस ज्ञानी को ही नहीं तपाती [शेष तो सब प्राणी इसी कर्तव्याग्नि की ज्वालाओं से झुलसते और जलते भुनते रहते हैं]

ब्रह्मानन्द का ज्ञान हो जाने से अनर्थ की निवृत्ति को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहने वाली श्रुति यह है कि 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् नबिभेति कुतश्चन (तै० २-८-९) ब्रह्म के स्वरूपभूत आनन्द को अपरोक्ष रूप से जान लेने वाला पुरुष किसी से भी नहीं डरता। न तो उसे ऐहिक व्याघ्रादि का ही डर रहता है और न पारलौकिक मायादि से ही वह भय मानता है। एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम् इस वाक्य में कहा गया है कि पुण्य पाप कर्मरूपी जो अग्नि है उससे बनी हुई यह चिन्ता कि मैंने पुण्य क्यों नहीं किया और पाप क्यों कर डाला— बस एक इस तत्वज्ञानी को ही संतप्त नहीं करती। इस तत्व को न जानने वाले लोग तो इस चिन्ता से सदा संतप्त होते ही रहते हैं।

एवं विद्वान् कर्मणी द्वे हित्वात्मानं स्मरेत् सदा।
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ॥६॥

ऐसा जानने वाला पुरुष दोनों [पुण्यपाप] कर्मों को छोड़ कर सदा आत्मा को ही याद रखता है और किये हुए कर्मों को आत्मरूप ही जाना करता है।

स य एवं विद्वानेतं आत्मानं स्पृणुते उभेह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते इस श्रुति में कहा गया है कि इस पुरुष और आदित्य में एक ही आत्मा है। इस रीति से जो कोई पुरुष जान जाता है वह जब संसार में प्रवृत्त होता है तब वह इन पुण्य पापों को छोड़कर इस ब्रह्माभिन्न प्रत्यगात्मा को सदा प्रसन्न करता किंवा स्मरण करता रहता है। पुण्यपाप को मिथ्या समझकर छोड़ देता है। इस कारण उनकी चिन्ता ही उसे नहीं रहती। फिर

उस चिन्ता से होने वाला ताप भी उसे कैसे होगा ? यह विद्वान् पुरुष देहादि की प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले पुण्य-पाप कर्मों को आत्मरूप ही देखता है। यों आत्मा से अभिन्न हो जाने के कारण पुण्य-पाप कर्म उसके तापक नहीं रहते।

भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥७॥

उस परावर के देख लिये जाने पर इसकी हृदयग्रन्थि खुल जाती है, सब सन्देह मिट जाते हैं और सभी कर्म नष्ट होजाते हैं।

'पर' भी हिरण्यगर्भ आदि का पद जिसके सामने 'अवर' अर्थात् निकृष्ट जंचने लगता है, उस 'परावर' परमात्मा का साक्षात्कार जब किसी को होजाता है तब उस साक्षात्कारी की अन्योन्याध्यासरूपी हृदय-ग्रन्थि—जिसमें बुद्धि और चिदात्मा दोनों ही रस्सी की गांठ की तरह हिलमिल रहे हैं—विदीर्ण हो जाती है। फिर तो आत्मा देहादि से भिन्न है या नहीं ? भिन्न होने पर भी कर्तृत्व आदि धर्म वाला है या नहीं ? अकर्ता होने पर भी ब्रह्म से भिन्न है या नहीं ? अभेद होने पर भी उसके ज्ञान से मुक्ति मिलेगी या नहीं ? इत्यादि सभो संशय टूक टूक हो जाते हैं। फिर इस ज्ञानी के संचित और आगामी कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि उनका निदान अज्ञान ही शेष नहीं रहता।

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पन्था न चेतरः।
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक् ॥८॥

उसी को जानने वाला जन्म मरण के चक्कर से छूट सकता है, छूटने का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। देव को जानकर

ही फांसा खुल सकता है । क्लेशों के नष्ट हो जाने पर फिर जन्म लेना नहीं पड़ता।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे. ३-८) इस श्रुति में कहा है कि उस पूर्वोक्त परमात्मा को जानने वाला ही इस मृत्यु रूपी संसार को अतिक्रमण कर जाता है। अर्थात् आत्मज्ञान के सिवाय मुक्ति का दूसरा कोई भी साधन नहीं है। ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्म-मृत्युप्रहाणिः (श्वे. १-११) इस श्रुति में कहा गया है कि— देव अर्थात् स्वप्रकाश ब्रह्मात्मा को जो कोई जान लेता है किंवा अपरोक्षरूप से अनुभव कर लेता है फिर उसके काम क्रोध आदि सभी पाशों की हानि हो जाती है। जब उसके रागादि क्लेश क्षीण हो जाते हैं तब फिर उसके जन्म और मृत्यु भी नहीं होते। क्योंकि नष्ट हुए रागादि अगला जन्म दिलाने वाले कर्मों को उत्पन्न ही नहीं कर सकते। यों परलोक के न रहने पर इस आत्मज्ञान से जैसे इस लोक के अनिष्ट नष्ट होते हैं, इसी तरह परलोक के अनिष्ट भी मर जाते हैं।

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान्।
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥६॥

धीर पुरुष देव को जानकर इसी जन्म में और इसी लोक में हर्ष शोक करना छोड़ देता है। किये और बेकिये पुण्य पाप फिर इसे कभी भी दुःखी नहीं करते।

'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (कठ. १-२-१२) इस श्रुति में कहा गया है कि—धैर्य अर्थात् ब्रह्म-चर्य आदि साधनों से सम्पन्न पुरुष, चिदानन्दरूपी देव को जान

कर, इसी जन्म में हर्ष और शोक करना छोड़ देता है। नैनं कृताकृते तपत: इस वाक्य में कहा गया है कि—किया और बेकिया हुआ पुण्य तथा पाप इस ज्ञानी को तप्त नहीं करता। एक प्रकार का चित्तविकार ही 'ताप' कहाता है। जब पुण्य किया जाता है तब हर्ष रूपी विकार उत्पन्न होता है। जब नहीं किया जाता तब विषाद रूपी विकार होता है। इसके विपरीत जब पाप का आचरण न हो तब हर्ष होता है जब हो जाय तब विषाद होता है। तत्वज्ञानी में तो ये दोनों ही,दोनों तरह के विकारों को उत्पन्न नहीं कर सकते। क्योंकि उस तत्व-ज्ञानी को तो अविक्रिय ब्रह्मरूपता का परिज्ञान हो चुकता है। भाव यह है कि—नव ज्ञानियों में इष्टानिष्ट की प्राप्ति या परि-हार के लिये प्रवृत्ति दीखती भी हो परन्तु दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान जिन्हें हो जाता है उन्हें फिर हर्ष शोक नहीं होते। वे फिर इष्टा-निष्ट की प्राप्ति या परिहार का उद्योग छोड़ बैठते हैं।

इत्यादि श्रुतयो वह्वचः पुराणैः स्मृतिभिः सह ।
ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानि मानन्दं चाप्यघोषयन् ॥१०॥

ये ही नहीं, ऐसी बहुत सी श्रुतियें, स्मृतियें तथा पुराण, इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि ब्रह्मज्ञान से अनर्थ की हानि और आनन्द की प्राप्ति होती है।

आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा ।
विषयानन्द इत्यादौ ब्रह्मानन्दो विविच्यते ॥११॥

'ब्रह्मानन्द' 'विद्यानन्द' और 'विषयानन्द' यों तीन प्रकार का आनन्द जानना चाहिये। [इनमें से पिछले दोनों आनन्द ब्रह्मानन्दमूलक होते हैं इस लिये] पहले [योगानन्द, आत्मा-

नन्द, अद्वैतानन्द नाम के तीनों अध्यायों में] ब्रह्मानन्द का ही विभाग करके दिखायेंगे ।

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद् ब्रह्मलक्षणम् ।
अन्नप्राणमनोबुद्धींस्त्यक्त्वाऽऽनन्दं विजज्ञिवान् ॥१२॥

भृगु नाम के पुत्र ने अपने वरुण नाम के पिता से ब्रह्म के लक्षण ["जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे से जीते रहते हैं मरते समय जिसमें प्रविष्ट हो जाते हैं, उसको जानो वही ब्रह्म है"] को सुना और जब उसने अन्न प्राण मन और बुद्धि नामक कोशों में इस लक्षण को नहीं पाया तब उसे उनके अब्रह्म होने का निश्चय हो गया । फिर इन सब को छोड़ कर अन्त में उसने [आनन्द में ब्रह्म का लक्षण मिलने से] आनन्द को ही ब्रह्म जान लिया ।

आनन्दादेव भूतानि जायन्ते तेन जीवनम् ।
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशयः ॥१३॥

[आनन्द में ब्रह्म का लक्षण कैसे घट जाता है सो भी देख लो] ग्राम्यधर्म [मैथुन] से जब माता पिता को आनन्द आता है तब उसी से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं । [विषयभोगादि मूलक] आनन्द के सहारे से ही ये प्राणी जीवन धारण कर रहे हैं । उन प्राणियों का लय भी उसी आनन्द में हो जाता है [सुषुप्ति के समय प्रतीत होने वाला जो स्वरूपभूत आनन्द है उसी में ये प्राणी लीन हो जाते हैं । क्योंकि सुषुप्ति में आनन्द की अधिकता के सिवाय और किसी का भी अनुभव नहीं होता] इस कारण कहते हैं कि आनन्द नाम की जो वस्तु है

वही तो ब्रह्म है [सब के अनुभव से सिद्ध होने के कारण] इसमें सन्देह न करना चाहिये।

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटी द्वैतवर्जनात् ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ॥१४॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा (छा० ७-२४-१) इस छान्दोग्य श्रुति में कहा गया है कि भूत [आकाश आदि और उनके कार्य जरायुज अण्डज आदि] की उत्पत्ति जब तक नहीं हुई थी उससे पहले त्रिपुटी रूपी द्वैत [ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय-रूपी तीन आकारों का नाम ही द्वैत है उस] के न रहने से, बस एक भूमा नाम का परमात्मा ही परमात्मा था [उस समय उसमें देश काल और वस्तुकृत परिच्छेद नहीं था। क्योंकि वेदान्तों का यह सिद्धान्त है कि] प्रलयकाल में ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी रहती ही नहीं।

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता, ज्ञानं मनोमयः ।
ज्ञेयाः शब्दादयो, नैतत्त्रयमुत्पत्तितः पुरा ॥१५॥

उस भूमा परमात्मा से उत्पन्न होने वाला, विज्ञानमय नाम का यह जीव 'ज्ञाता' कहाता है। मन में प्रतिबिम्बित होकर मनोमय कहाने वाला वही चैतन्य 'ज्ञान' कहा जाता है। शब्द स्पर्श आदि 'ज्ञेय' प्रसिद्ध ही हैं। ये तीनों उत्पत्ति से पहले नहीं थे। [उस समय ये कारणरूप ही हो रहे थे।]]

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते ।
समाधिसुप्तिमूर्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥१६॥

प्रकृत तात्पर्य यही है कि—[ज्ञाता आदि] तीनों जब नहीं रहते तब समाधि सुषुप्ति और मूर्छा के समय उस निर्द्वैत पूर्ण

भूमा का अनुभव हुआ करता है। [समाधि में उस निर्द्वैत पूर्ण आत्मा का अनुभव विद्वान् को होता है। सुषुप्ति और मूर्छा में उस निर्द्वैत पूर्ण भूमा का अनुभव सर्वसाधारण को भी हुआ करता है।] सुषुप्ति आदि के समय परिच्छेदक न रहने पर जैसे आत्मा में पूर्णता आ जाती है, इसी प्रकार सृष्टि बनने के पहले भी भेदक के न रहने से वह आत्मा पूर्ण ही रहता है।

यो भूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि।
सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने ॥१७॥

'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति' (छा. ७–२४–१) इसमें बताया गया है कि प्रथम कहा हुआ जो 'भूमा है' वही सुख किंवा आनन्द है। भूमा और सुख में कोई भी भेद नहीं है। जो अल्प है [जो परिच्छिन्न है, जिसके ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय नाम के तीन तीन टूक हो जाते हैं] उसमें तो सुख है ही नहीं। अपनी अवस्था पर अत्यधिक शोक करने वाले नारद को सनत्कुमार ने यही बात समझायी थी।

सपुराणान् पञ्च वेदाञ्शास्त्राणि विविधानि च।
ज्ञात्वाप्यनात्मवित्वेन नारदोऽतिशुशोच ह ॥१८॥

चारों वेदों, पुराणों और विविध शास्त्रों को जानकर भी, आत्मज्ञानरहित होने के कारण, नारद को बड़ा ही शोक हो गया था।

वेदाभ्यासात् पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता।
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता ॥१९॥

[वेदादि को जानने से तो शोक की निवृत्ति हो जानी चाहिये थी, फिर इन्हें जानकर भी नारद के अतिशोकी होने

का कारण यह था कि] वेदाभ्यास से पहले पहले तो आध्यात्मिक आदि तीन ताप ही इसे शोकी रखते थे। अब तो उसे इन वेदों का अभ्यास करना पड़ता है। इनके भूलने का डर बना रहता है। पराजय की शंका लगी रहती है। अपने से थोड़े पढ़े को देखकर गर्व भी हो जाता है। यों वेद पढ़ने के बाद उसके शोक के कारण बढ़ गये हैं।

सोहं विद्वन् प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम्।
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृपिः ॥२०॥

[नारद ने स्वयं अपने मुख से यह बात कही है कि] हे विद्वन्! वह मैं शोक में फंसा पड़ा हूँ। उस मुझको आप शोक से पार कर दीजिये। यों जब उसने शोक की निवृत्ति का उपाय बूझा था तब सनत्कुमार ऋषि ने अपने जाने हुए] सुखरूप ब्रह्म को ही शोकनिवृत्ति का उपाय बता दिया था। [उसने कहा था कि सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम् (छा. ७–२२–१) यदि शोक का पार पाना है तो सुख को ही जान लो कि सुख क्या तत्व है? सुख को जान लेने पर शोक करने का प्रसंग नहीं आयेगा। सुख तत्व को न समझने के कारण ही संसारी प्राणी उसे विषयों में तलाश करते हैं। यदि वे सुख तत्व को समझ जांय तो उनकी सुख की बाह्य मांग बन्द हो जाय और वे शोक-सागर को एक क्षण में पार कर सकें। यही उस ऋषि का अभिप्राय था]

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः।
दुःखमेवेति मत्वाह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ॥२१॥

सनत्कुमार मुनि ने जब यह कहा था कि 'अल्प में सुख

नहीं है' तब उन्होंने यह समझ कर ही कहा था कि—वैषयिक [विषयों की मार्फ़त मिले हुए] सुख हजारों शोकों से आच्छादित रहते हैं, इस कारण वे तो एक प्रकार के दुःख ही हैं।

वैषयिक सुखरूपी मांस के टुकड़े पर हजारों शोकरूपी गीधों और बाघों के दांत लगे रहते हैं—वे उस पर सदा मंडराते रहते हैं और उसे नोच नोच कर खाते रहते हैं। इस कारण वैषयिक सुख को सुख कहना ही भूल है। वह तो एक प्रकार दुःख ही है। वह तो ऐसा है जैसे किसी को खाज में ही आनन्द आता हो। उसको तो सुख के वेश में आने वाला दुःख ही मानना चाहिये।

ननु द्वैते सुखं मा भूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम्।
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ॥२२॥

अच्छा यह तो मान लिया कि द्वैत में सुख नहीं है। परन्तु हमें तो दीखता है कि अद्वैत में भी सुख नहीं है। यदि अद्वैत में सुख होता तो वह [विषयसुखादि की तरह] उपलब्ध होना चाहिये था [उपलब्ध न होने से मानते हैं कि अद्वैत में भी सुख नहीं है] यदि कोई कहने लगे कि अद्वैत में तो सुख की उपलब्धि होती है तो उससे कहो कि फिर तो त्रिपुटी बन जायगी [और अद्वैत नहीं रह सकेगा। तब तो अनुभविता अनुभव और अनुभाव्य ये तीन आकार मानने ही पड़ेंगे और अद्वैत का नाश हो जायगा।]

मास्त्वद्वैते सुखं किन्तु सुखमद्वैतमेव हि।
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकांक्षा स्वयंप्रभे ॥२३॥

[सिद्धान्ती उत्तर देता है कि] अद्वैत में सुख न सही, परन्तु अद्वैत ही सुख है इस बात का प्रमाण बूझना चाहो तो यह तुम्हारा प्रमाण का प्रश्न ही नहीं बनता। क्योंकि स्वयंप्रकाश वस्तु में तो प्रमाण की आवश्यकता होती ही नहीं।

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद् भवानिदम्।
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन् सुखं नास्तीति भाषते ॥२४॥

अद्वैत की स्वप्रकाशता में भी प्रमाण बूझना चाहो तो हम कहेंगे कि उसमें तो तुम्हारा वाक्य ही प्रमाण है। क्योंकि तुम प्रमाणों के बिना ही अद्वैत को मानकर, केवल सुख पर आक्षेप करते हो कि अद्वैत में सुख नहीं है। [इस कारण कहते हैं कि अद्वैत तत्व—जिसको तुम 'मैं' कहते हो—स्वयंप्रकाश ही है।]

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं त्वद्वचोनूद्य दूषणम्।
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद् द्वैततः पुरा ॥२५॥

[पूर्वपक्षी कहता है] मैं अद्वैत को मानने वाला नहीं हूँ। किन्तु मैं तो तुम्हारे कथन का अनुवाद करके उस पर दूषण दे रहा हूँ। ऐसी अवस्था में मेरे शब्दों से अद्वैत की सिद्धि करना अनुचित है। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि अच्छा तो यह बताओ कि द्वैत से पहले क्या था?

किमद्वैत मुत द्वैत मन्यो वा कोटिरन्तिमः।
अप्रसिद्धो, न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः, शिष्यतेऽग्रिमः ॥२६॥

बताओ? द्वैत से पहले अद्वैत था, द्वैत था, या कोई और कोटि थी? द्वैत और अद्वैत से भिन्न कोई तीसरी कोटि तो प्रसिद्ध ही नहीं है। द्वैत से पहले द्वैत ही हो यह तो ठीक नहीं

है। क्योंकि तब तक तो द्वैत की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। इस कारण प्रथम पक्ष ही शेष रह जाता है अर्थात् द्वैत की उत्पत्ति से प्रथम अद्वैत ही था।

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्येति चेद्वद।
निर्दृष्टान्ता सदृष्टान्ता वा कोट्यन्तर मत्र नो ॥२७॥

यदि कहो कि अद्वैत की सिद्धि युक्ति से तो हो जाती है, परन्तु अनुभव से तो अद्वैत का अनुमोदन नहीं होता। तो बताओ कि जो युक्ति अद्वैत को सिद्ध करती है वह किसी दृष्टान्त को न देकर सिद्ध करती है, या दृष्टान्त को देकर सिद्ध करती है ? इन दोनों अवस्थाओं के अतिरिक्त तीसरी बात तो हो ही नहीं सकती।

नानुभूति र्न दृष्टान्त इति युक्तिस्तु शोभते।
सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम् ॥२८॥

[जो (इसी प्रकरण के २७श्लोक में) कहता है कि अद्वैत की सिद्धि युक्ति से ही होती है, अनुभव से अद्वैत की सिद्धि नहीं होती वह अनुभूति का तो निषेध ही कर रहा है, और दृष्टान्त के बिना युक्ति कुछ सिद्ध नहीं कर सकती। फिर यह कहना कि] बिना ही दृष्टान्त के अद्वैत सिद्धि हो जाती है आपके ही मुंह को शोभा देने वाली बात है [विवेचक लोग तो ऐसी बात को मान ही नहीं सकते कि बिना दृष्टान्त के भी कोई बात युक्ति से सिद्ध हो जाती हो] अब केवल सदृष्टान्तत्व पक्ष शेष रह जाता है [कि दृष्टान्त देकर ही युक्ति किसी अर्थ को सिद्ध किया करती है] उसमें आपको ऐसा दृष्टान्त देना चाहिये जो हम दोनों वादियों को सम्मत हो।

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत् ।
इति चेत् सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टान्तमीरय ॥२९॥

[पूर्ववादी कहता है कि अच्छा लो दृष्टान्त भी सुन लो] प्रलय तो एक प्रकार का अद्वैत [अर्थात् द्वैत रहित अवस्था] है। क्योंकि उस समय द्वैत की उपलब्धि नहीं होती। जिस जिस में द्वैत की उपलब्धि नहीं होती वह वह सभी अद्वैत होता है जैसे कि सुप्ति। इस पर हमारा कहना है कि सुप्ति अद्वैत होती है इस बात को सिद्ध करने के लिये भी तुम्हें अन्य दृष्टान्त देना पड़ेगा। [यदि तुम अपनी सुप्ति का दृष्टान्त दोगे तो उसे कोई जानता नहीं। वह तो दूसरे के प्रति असिद्ध है। इस कारण उसकी सिद्धि के लिये कोई और दृष्टान्त तुम्हें टटोलना ही पड़ेगा।]

दृष्टान्तः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत् ।
यः स्वसुप्तिं न वेत्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥३०॥

यदि तुम दूसरे की सुप्ति का दृष्टान्त दो 'सुप्तिरद्वैता परसुप्तिवत्' तब तो यह तुम्हारी बड़ी [भद्दी] चतुराई है [क्योंकि अप्रसिद्ध होने के कारण परसुप्ति का तो तुम्हें दृष्टान्त ही नहीं देना चाहिये] भला जो तुम अपनी सुप्ति को भी नहीं जानते हो वह तुम दूसरे की सुप्ति की बातें क्यों करते हो [जिसे अपनी सुप्ति का ज्ञान नहीं है उसे परसुप्ति का ज्ञान भी नहीं हो सकता।]

निश्चेष्टत्वात् परः सुप्तो यथाहमिति चेत् तदा ।
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं भवेद् बलात् ॥३१॥

यदि अनुमान से परसुप्ति को सिद्ध करना चाहो कि— परः सुप्तः निश्चेष्टत्वात् अहमिव दूसरा सोया पड़ा है क्योंकि

[इसके प्राण चल रहे हैं और] निश्चेष्ट पड़ा है जैसे कि मैं सोया करता हूँ । इस पर हम कहेंगे कि बस तब तो मेरे प्रति सुषुप्ति का दृष्टान्त देने वाले तेरी सुषुप्ति ही, तेरे न चाहने पर भी [तेरी इच्छा के विरुद्ध भी] स्वयं प्रकाश सिद्ध हो जाती है। [जभी तो तुम उसका उदाहरण दे रहे हो। नहीं तो बताओ कि अपनी सुप्ति को तुम कैसे जानते हो ?]

नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तस्तथाप्यङ्गीकरोषि ताम् ।
इदमेव स्वप्रभत्वं यद् भानं साधनैर्विना ॥३२॥

[तुम्हारे न चाहने पर भी, सुप्ति स्वयंप्रकाश कैसे सिद्ध हो जाती है सो भी देख लो]—सुप्ति को ग्रहण करने वाली इन्द्रियें नहीं होतीं [क्योंकि वे उस समय अपने कारण में विलीन हो जाती हैं] तुम्हारे पास कोई दृष्टान्त भी नहीं है फिर भी तुम उस सुप्ति को मान रहे हो। इसे देखकर यही कहना पड़ता है कि ज्ञान के साधनों के बिना भी प्रकाशित होते रहना यही [सुषुप्ति की] 'स्वयंप्रकाशता' है।

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे, वद सुप्तौ सुखं कथम् ।
शृणु, दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ॥२३॥

[प्रश्न यह है कि] सुषुप्ति अद्वैत और स्वयंप्रकाश भले ही हो, परन्तु सुषुप्ति में सुख है, यह कैसे मान लें ? इस का उत्तर है कि—उस समय [सुख का विरोध करने वाला] दुःख नहीं रहता, इस कारण सुख ही शेष रह जाता है। [क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के समान सुख दुःख भी विरोधी वस्तुएँ हैं। जब दुःख नहीं रहता तब सुख शेष रह ही जाता है। जैसे कि अन्धकार के न रहने पर प्रकाश शेष रह जाता है।]

अन्धः सन्नप्यनन्धः स्याद्विद्धोऽविद्धोऽथ रोग्यपि ।
अरोगीति श्रुतिः प्राह, तच्च सर्वे जना विदुः ॥३४॥

तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वान्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवति उपतापी सन्ननुपतापी भवति (छ. ८–४–२) तन्नन्नपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति (छ. ८–१०–३) इस श्रुति में कहा गया है कि—सुषुप्ति के आ जाने पर अन्धा अन्धा नहीं रहता, ज़खमी ज़खमी नहीं रहता, रोगी अरोगी हो जाता है । [अर्थात् देहाभिमान के कारण उत्पन्न हुए दोष सुषुप्ति में भाग जाते हैं] इस बात को सब लोग ही जानते हैं [कि—रोग से पीडित भी पुरुष को जब सुषुप्ति आ जाती है तब उसे उस के दुःख का अनुभव नहीं होता ।]

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु ।
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादितिचेद् विषमं वचः ॥३५॥

केवल दुःख के न होने से ही सुख की कल्पना करना ठीक नहीं है । देखा जाता है कि—ढेले और पत्थर आदि में दोनों का ही अभाव होता है [उन में जहां दुःख नहीं है, वहां उनमें सुख भी तो नहीं है] इस का उत्तर यह है कि तुम्हारा दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के अनुसार नहीं है]

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ।
दैन्याद्यभावतो लोष्टे दुःखाद्यूहो न संभवेत् ॥३६॥

[दार्ष्टान्तिक के अनुसार न होने की बात भी देख लो कि] दूसरे के दुःख और दूसरे के सुख की ऊहना उस के मुख की दीनता और उसके मुख के विकास को देख कर ही तो की जाती है [कहा जाता है कि—विषादी मुख वाला

होने से यह तो दुःखी है और प्रसन्न मुख वाला होने से यह सुखी है । प्रकृत तात्पर्य तो यही हुआ कि] लोष्ठ आदि में दीनता या विकास आदि लिंग नहीं पाये जाते इस कारण उनमें दुःख सुख की कल्पना ही नहीं हो सकती [यही कारण है कि लोष्ठ आदि में यह भी निश्चय नहीं किया जा सकता कि उनमें दुःखाभाव है ।]

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः ।
भावो वेद्योऽनुभूत्यैव, तदभावोऽपि नान्यतः ॥३७॥

[अनुभवसिद्ध होने के कारण अपने सुख दुःख तो ऊहना [कल्पना] के योग्य ही नहीं होते, किंवा अनुमेय नहीं होते । इस कारण उन सुख दुःखों का सद्भाव जैसे अनुभूति (प्रत्यक्ष) से मालूम हो जाता है, उसी तरह उन सुख दुःख का अभाव भी अनुमान आदि से ही नहीं जाना जाता । किन्तु उन सुख दुःख का अभाव भी प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है [अपने और पराये सुख दुःख में यही बड़ी विषमता है]

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोऽनुभूतिभिः ।
विरोधिदुःखराहित्यात् सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥३८॥

जब कि अपने सुखादि अनुभवगम्य सिद्ध हो चुके तब अपनी सुषुप्ति में का दुःखाभाव भी अनुभव से ही सिद्ध हो गया । जागरण के समय जैसे सुख का विरोधी दुःख बना रहता है सुख का विरोधी वैसा दुःख सुषुप्ति में नहीं रहता । इस कारण सुषुप्ति के समय निर्विघ्न (बाध रहित) सुख मान ही लेना चाहिये ।

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ।
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत् तत्र नो भवेत् ॥३९॥

उस सुषुप्ति में यदि सुख ही नहीं है तो बड़े भारी प्रयासों से कोमल शय्या आदि साधनों का उपार्जन क्यों किया जाता है ?

दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद् रोगिणस्तथा ।
भवत्वरोगिण स्त्वेतत् सुखायैवेति निश्चिनु ॥४०॥

यदि कहो कि यह सब साधन संग्रह तो दुःखनाश के लिये किया जाता है तो हम कहेंगे कि [दुःख नाश को इसका फल कहना ठीक नहीं है । क्योंकि] यह फल तो केवल रोगी को ही हो सकता है [जो अरोगी है उसके लिये क्या कहोगे ?] जब कोई रोग ही नहीं है तब तो इन साधनों का सम्पादन सुख के लिये ही है ऐसा निश्चय कर लो ।

तर्हि साधनजन्यत्वात् सुखं वैषयिकं भवेत् ।
भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ॥४१॥

अच्छा सौषुप्त सुख को साधनजन्य मानोगे तो तुम्हें उस को वैषयिक सुख मानना होगा । [फिर तुम उसे आत्मस्वरूप कैसे कह सकोगे ?] इसका उत्तर यह है कि—निद्रा आने से पहले पहले जो शय्या और आसनादि से सुख होता है उसे तो हम भी वैषयिक सुख मानते हैं ।

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ।
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत् परे सुखे ॥४२॥

परन्तु निद्रा आजाने पर जो सुख होता है वह तो किसी भी साधन से नहीं होता [क्योंकि उस समय उन शय्या आदि साधनों का विचार ही किसी को नहीं रहता] निद्रा आने से पहले पहले तो इस जीव की बुद्धि शय्या आदि से मिलने वाले सुखों की तरफ को रहती है । परन्तु निद्रा आजाने पर तो वही बुद्धि

[विषय सुख में से निकल कर] परम सुख में डूब जाती है [उस समय जीव की बुद्धि स्वरूप सुख में विलीन हो जाती है। यों निद्रा से पहला सुख विषय सुख है। निद्रा आ जाने पर मिलने वाला सुख स्वरूप सुख है।]

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि।
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद् विषये सुखम् ॥४३॥

[ऊपर की बात को तीन श्लोकों में विस्तारपूर्वक यों समझो कि] जागते समय जो अनेक व्यापार यह जीव करता है, उनसे थक कर जब मृदुशय्या आदि पर विश्राम लेता है, तब उसके अनन्तर [दुःखदायी व्यापारों से मिलने वाले] विरोधी दुःखों के हटा दिए जाने पर, जब वह स्वस्थचित्त हो जाता है, [जब इसका मन व्याकुल नहीं रह जाता] उसी समय शय्या आदि विषयों से मिलने वाले सुख का साक्षात्कार यह किया करता है।

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति।
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ॥४४॥

[विषयों को उपार्जन करता करता तंग हो कर जब उस दुःख को हटाने के लिए कोमल शय्या पर लेट जाता है, तब इस की बुद्धि अन्तर्मुख हो जाती है,] अन्तर्मुख हुई उस बुद्धिवृत्ति में [सामने रक्खे हुए दर्पण की तरह] स्वरूपभूत जो आनन्द है वह प्रतिबिम्बित हो जाता है। [बस इसी को 'विषयानन्द' कहते हैं] परन्तु इस समय इस विषयानन्द को अनुभव करते हुए भी त्रिपुटी के रहने के कारण जीव को श्रम होता ही है।

तच्छ्रमस्यापनुत्यर्थं जीवो धावेत् परात्मनि ।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥४५॥

[उसके बाद यह होता है कि] उस उपर्युक्त श्रम को हटाने के लिए वह जीव परमात्मा में को दौड़कर चला जाता है। वहां जाकर उस ब्रह्म के साथ एकता किंवा तादात्म्य को पाकर वह जीव स्वयं भी सुपुप्ति के समय प्रकट होने वाला ब्रह्मानन्द हो जाता है। [तभी तो कहा है कि सता सोम्य तदा सपन्नो भवति (छा० ६–८–१) हे सोम्य उस समय सत् से सम्पन्न हो जाता है]

दृष्टान्ताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ।
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः ॥४६॥

शकुनि, श्येन, कुमार, महाराजा और महाब्राह्मण ये पांच दृष्टान्त सुप्त्यानन्द को सिद्ध करने के लिए श्रुति ने दिये हैं।

शकुनिः सूत्रबद्धः सन् दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ।
अलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तस्तम्भाद्युपाश्रयेत् ॥४७॥
जीवोपाधिमनस्तद्वद्‌ धर्माधर्मफलाप्तये ।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥४८॥

[स यथा शकुनिः सूत्रेण बद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपाश्रयते एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः (छा० ६–८–२) बालक लोग खेल के लिए सूत्र में बुलबुल आदि पक्षियों को बाँध कर हाथ आदि पर बैठा लेते हैं उसको ध्यान में रख कर इस श्रुति में कहा गया है कि]—सूत्र से बंधा हुआ पक्षी, इधर उधर कुछ उड़ कर वहां ठहरने का

आधार न पाकर, फिर अपने बन्धन स्थान हाथ आदि पर ही लौट आता है ॥४७॥ इसी प्रकार जीव की उपाधि यह मन भी धर्माधर्म के सुख दुःख रूपी फलों को अनुभव करने के लिए, स्वप्न और जाग्रत् में, जहां तहां भ्रमण करके, जब भोगदायी कर्म क्षीण हो जाते हैं तब [अपने उपादान अज्ञान में] विलीन हो जाता है। [उस समय उस मन से उपहित जो 'जीव' है वह 'परमात्मा' ही हो जाता है]

श्येनो वेगेन नीडैकलम्पटः शयितुं व्रजेत् ।
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद् ब्रह्मानन्दैकलम्पटः ॥४६॥

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ स्वालयायैव ध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्मा आनन्दाय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' (बृ० ४-३-२२) इस श्रुति में कहा गया है कि जैसे आकाश में सब ओर घूमता हुआ श्येन पक्षी गगन में घूमने की थकावट को हटाने के उद्देश्य से, सोने के लिए केवल मात्र घोंसले की ओर जल्दी जल्दी जाता है, ठीक इसी प्रकार यह जीव भी केवल मात्र ब्रह्मानन्द का लम्पट होकर सुषुप्ति के लिए जल्दी ही हृदयाकाश में पहुँच जाता है।

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन् ।
रागद्वेषाद्यनुत्पत्ते रानन्दैकस्वभावभाक् ॥५०॥
महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्वभोगतः ।
मानुषानन्दसीमानं प्राप्यानन्दैकमूर्तिभाक् ॥५१॥
महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ।
विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ॥५२॥

'स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते' (बृ. २–१–१९) इस श्रुति में कहा गया है कि—जैसे स्तनपायी बालक पेट भर कर स्तन पीकर कोमल शय्या पर पड़ा पड़ा हंसता रहता है और अपना पराया न पहचानने के कारण रागद्वेष से रहित होकर सुख की मूरत बना रहता है, या जैसे सार्वभौम महाराज [अशुद्ध बुद्धि होने पर भी] सब मानुषानन्दों से युक्त होने के कारण, जब कि उसे किसी वस्तु की चाह नहीं रहती तब मानुपानन्द की सीमा पर पहुंच कर आनन्द की मूर्ति दीखा करता है, या जैसे कोई महा ब्राह्मण ज़िसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो चुका हो जब 'मैं कृत कृत्य हो चुका' ऐसी विद्यानन्द की सीमा को पा जाता है किंवा जीवन्मुक्ति को पा लेता है, तब परमानन्द स्वरूप ही हो जाता है। ठीक इसी प्रकार सोया हुआ पुरुप भी आनन्द रूप हो गया होता है।

मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ।
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥५३॥

मुग्ध, बुद्ध और अतिबुद्ध ये ही तीन लोक में सुखी माने जाते हैं [जिनको विवेक नहीं है, उनमें बालक सब से सुखी माना जाता है। जिन्हें कुछ विवेक है, उनमें सार्वभौम राजा सर्वाधिक सुखी गिना जाता है। जो अतिविवेकी है उनमें आत्मदर्शी को सर्वाधिक सुखी मानते हैं] इन तीनों के अतिरिक्त और तो सब सदा रागद्वेषादिसंकुल रहने के कारण दुःखी ही बने रहते हैं। वे सुखी कभी नहीं होते [इसी कारण उन किसी का दृष्टान्त नहीं दिया है]

कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानन्दैकतत्परः ।
स्त्रीपरिष्वक्तवद् वेद न बाह्यं नापि चान्तरम् ॥५४॥

प्रकृत में तो हमें यही कहना है कि स्तनपायी कुमार या महाराजा आदि जैसे आनन्द में मग्न रहते हैं ऐसे ही यह सुषुप्त प्राणी केवल ब्रह्मानन्द को भोगा करता है। तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् (बृ. ४–३–२१) इस वाक्य में कहा गया है कि जैसे कोई कामी स्त्री का आलिंगन कर लेने पर अन्दर बाहर के विषयज्ञान से शून्य होकर सुख की मूर्ति हो जाता है इसी प्रकार सुषुप्ति के समय प्राज्ञ परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त हुआ यह जीव भी बाह्य और आन्तर कुछ भी नहीं जानता और आनन्दरूप हो गया होता है।

बाह्यं रथ्यादिकं वृत्तं, गृहकृत्यं यथान्तरम् ।
तथा जागरणं बाह्यं, नाडीस्थः स्वप्न आन्तरः ॥५५॥

[ऊपर के वाक्य में जो बाह्य और आन्तर दो शब्द आये हैं उनके अर्थ यों जानने चाहियें] जैसे लोक में गली कूचा आदि बाह्य तथा घर के काम आन्तर कहाते हैं, इसी प्रकार जागरण को 'बाह्य' कहा जाता है तथा नाड़ी में प्रतीत होने वाला स्वप्नप्रपंच 'आन्तर' कहाता है।

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ।
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥५६॥

अत्र पिताऽपिता भवति (बृ. ४–३–२२) इत्यादि श्रुति में कहा गया है कि—सुप्तिकाल जब आता है तब पिता पिता नहीं रहता। यों जीवत्व का वारण कर दिया है कि सुप्ति के

समय ब्रह्म ही रह जाता है जीव नहीं रहता। क्योंकि उस समय संसारिभाव का कहीं पता ही नहीं चलता [भाव यह है कि—सुप्ति में जीव के जो आध्यासिक पितृत्व आदि धर्म हैं वे नहीं रहते। जीवभाव की प्रतीति के बन्द हो जाने पर अर्थात् ही ब्रह्मभाव शेष रह जाता है।]

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि।
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान् भवत्ययम् ॥५७॥

तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान् हृदयस्य भवति (बृ. ४-३-२२) इस वाक्य में बताया गया है कि—पितापने आदि का जो अभिमान है वही तो सुख दुःख का आकर है। जब वह अभिमान नहीं रह जाता तब यह जीव सब शोकों के पार पहुँच जाता है [यह संसार देहाभिमानमूलक है। जब देहाभिमान नहीं रहता तब संसार भी नहीं रहता। देहाभिमान के भूलते ही सब प्रकार के शोक समाप्त हो जाते हैं।]

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृतः।
सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ॥५८॥

आथर्वणी श्रुति कहती है कि—यह सकल [जाग्रदादि] प्रपंच जब [अपनी उपदान, तमःप्रधान प्रकृति में] विलीन हो जाता है तब उसी तमोमयी प्रकृति से ढका हुआ यह जीव सुख रूप [ब्रह्म] को प्राप्त हो जाता है।

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किंचिदवेदिषम्।
इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति चोत्थितः ॥५९॥

[सबका अनुभव भी इसी बात को कह रहा है कि—] 'इस समय मैं सुख पूर्वक सोया। इतने समय मैंने कुछ भी नहीं

जाना' यों निद्रा के समय के सुख और अज्ञान दोनों का स्मरण, सोकर उठा हुआ पुरुष किया करता है [इस कारण कहना पड़ता है कि सुप्ति में सुख है]

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ।
चिदात्मत्वात् स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥६०॥

जो भी परामर्श होता है वह अनुभूत विषय का ही होता है [अनुभव न किये हुए विषय का तो स्मरण हो ही नहीं सकता] इस कारण उस समय सुप्ति में सुख का अनुभव माना जाता है । सुख का अनुभव करने के साधनों के विना हो वह सुख स्वतः प्रतीत हो जाता है क्योंकि वह सुख चिदात्मा है [अर्थात् वह सुख स्वयंप्रकाशचिद्रूप है] । उसी स्वयंप्रकाश सुख के सहारे से ही [उस सुख को ढकने वाले] अज्ञान की भी प्रतीति हो जाती है ।

ब्रह्म विज्ञान मानन्दमिति वाजसनेयिनः ।
पठन्त्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ॥६१॥

वाजसनेयी शाखा वाले कहते हैं कि—'ब्रह्म' 'विज्ञान' तथा 'आनन्द' दो रूप का है । इस कारण जो भी स्वयं प्रकाश सुख है वह सब ब्रह्म तत्व ही है । वह और कुछ नहीं है [फिर सुषुप्ति के स्वयं प्रकाश सुख को भी ब्रह्मरूप ही मानना चाहिए]

यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ ।
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ॥६२॥

['मैंने उस समय कुछ नहीं जाना' इस स्मरण की अन्यथानुपपत्ति से जिस अज्ञान को हम पहचानते हैं] उसी अज्ञान में प्रमाता और प्रमाण कहाने वाले विज्ञानमय और मनोमय

दोनों ही विलीन हो जाते हैं। [वे अपने विज्ञानमयत्व आदि आकार को छोड़कर कारण रूप में पहुँच जाते हैं। अर्थात् उस समय 'विज्ञानमय' और 'मनोमय' दोनों ही नहीं रहते] उन 'विज्ञानमय' और 'मनोमय' की विलयावस्था 'निद्रा' कहाती है। उसी निद्रा को विद्वान् लोग 'अज्ञान' भी कहते हैं [सोच कर देखलो नींद भी तो अज्ञान ही है]

विलीनघृतवद् पश्चात् स्याद् विज्ञानमयो घनः।
विलीनावस्थ आनन्दमयशब्देन कथ्यते ॥६३॥

[अग्निसंयोग आदि से] पिघला हुआ घृत, पीछे शीतल-वायु के संयोग से जैसे गाढ़ा हो जाता है, इसी प्रकार [जाग्र-दादि के भोगदायी कर्मों के क्षय हो जाने के कारण] निद्रारूप से विलीन हुआ अन्तःकरण [फिर जब भोगदायी कर्मों के वश से, जागरण अवस्था आती है] विज्ञानरूप से घनका [गाढ़ा] हो जाता है। वह घन विज्ञान ही आत्मा की उपाधि होती है इस कारण आत्मा भी विज्ञानमय हो जाता है। वही जब पहले विलीन अवस्था में था—[जब वह अवस्था उसकी उपाधि बन रही थी] तब उसी को 'आनन्दमय' कहा जाता था।

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिम्बिता।
सैव तद्बिम्बसहिता लीनानन्दमयस्ततः ॥६४॥

[ऊपर के श्लोक की बात को अधिक स्पष्ट रीति से यों समझना चाहिए कि] सुप्ति से पहले क्षण में जो अन्तर्मुख बुद्धि-वृत्ति होती है उसमें जब सुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसके बाद उस प्रतिबिम्ब को लिये ही लिये, वही वृत्ति जब निद्रारूप से विलीन हो जाती है तब वही 'आनन्दमय' कहाने लगती है।

अन्तर्मुखो य आनन्दमयो ब्रह्मसुखं तदा ।
भुङ्क्ते चिद्बिम्बयुक्ताभि रज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ॥६५॥

वह जो अन्तर्मुख 'आनन्दमय' है वह चिदाभास से युक्त, तथा अज्ञान से उत्पन्न हुई वृत्तियों के द्वारा ब्रह्मसुख [किंवा स्वरूपभूत सुख] को भोगता अर्थात् अनुभव किया करता है।

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः ।
इति वेदान्तसिद्धान्तपारगाः प्रवदन्ति हि ॥६६॥

[उस समय जागरण की तरह सुख के अनुभव का जो अभिमान नहीं होता उस का कारण तो यह है कि]—वे अज्ञान-वृत्तियां बहुत ही सूक्ष्म होती हैं [वे बुद्धिवृत्तियों की तरह स्पष्ट नहीं होतीं ।] बुद्धिवृत्तियां तो बहुत ही स्पष्ट होती हैं । यह बात वेदान्तसिद्धान्त के पारङ्गत लोग बताते हैं ।

अज्ञान वृत्तियों का पता नहीं चलता कि वे कैसी कैसी हैं और कितनी हैं ? जब तो उन अज्ञान वृत्तियों से बुद्धिवृत्तियें बन जाती हैं, तब हम को मालूम पड़ता है कि हमारे अन्दर इतना कूड़ा कचरा भरा पड़ा है । जब तक हमारा अज्ञान बुद्धिवृत्तियों के रूप में प्रकट नहीं हो जाता तब तक हम अपने आप को बड़ा महात्मा समझ बैठते हैं । एकान्त में जाकर साधन करने से यह एक बड़ी कमी रह जाती है कि अज्ञान वृत्तियों को बुद्धिवृत्ति बनने का अवसर ही नहीं मिलता और यों हमें अपने विषय में मिथ्याज्ञान या मिथ्याभिमान हो जाता है । समाज में रह कर साधन करने से हमारे अन्दर के अज्ञान की बार-बार बुद्धिवृत्ति बनती रहती है और हमें अपने अज्ञान का पता चलता रहता है । यों हम दुरभिमान से भी बचते हैं और उस

अज्ञान को हटाने में भी तत्पर रहते हैं अर्थात् हमारे साधन को परीक्षा नित्य ही होतो रहती है। इस दृष्टि से व्यवहार के साथ साथ साधन करना अधिक लाभदायक प्रतीत होता है। व्यवहार से हट कर आत्मसाधन करने वाले लोग प्राय: करके व्यवहार के झंझट में स्थिर बुद्धि नहीं रह सकते हैं। यों साधन का यह मार्ग बहुत से साधकों को अधूरा रख देता है ऐसा मालूम पड़ता है।

माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ।
आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता ॥६७॥

माण्डूक्य और तापनीय आदि श्रुतियों में यह बात अत्यन्त ही स्पष्ट है कि 'आनन्दमय' तो भोक्ता है तथा 'ब्रह्मानन्द' भोग्य है।

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ।
आनन्दमय आनन्दभुक् चेतोमयवृत्तिभिः ॥६८॥

[सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः (माण्डूक्य ५) इस माण्डूक्य श्रुति में कहा गया है कि] सुषुप्ति का जो अभिमानी है, वह जब एकीभाव को प्राप्त हो जाता है, उसमें जब प्रज्ञानघनता आजाती है, तब वह आनन्दमय किंवा आनन्द प्रचुर हो जाता है। वही आनन्दमय, [जिन में चैतन्य की अधिकता रहती है—जो चैतन्य के प्रतिबिम्ब से से युक्त होती हैं] उन अपनी चेतोमय वृत्तियों से आनन्द को भोगा करता है।

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराधुना ।
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतन्दुलपिष्टवत् ॥६९॥

जो आत्मा पहले जागरणकाल में विज्ञानमय आदि [विज्ञान

मय,मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतजोमय, काममय अकाममय,क्रोधमय, अक्रोधमय आदि] आकारविशेषों से युक्त था, वही अब लय के कारण [विज्ञान आदि उपाधियों के विलीन हो जाने के कारण]एकरूप हो जाता है। मानो बहुत से चावलों को पीस कर उन की एक पिठ्ठी बना ली गयी हो। [इसी को उसका एकीभाव कहते हैं]

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवत् ।
घनत्वं हिमविन्दूना मुदग्देशे यथा तथा ॥७०॥

[उस श्रुति के प्रज्ञानघन शब्द का अर्थ यह है कि]—पुरा अर्थात् पहले जाग्रदादि के समय घटादि को विषय करने वाली प्रज्ञान नाम की जो बहुत सी बुद्धिवृत्तियां थीं, अब [सुषुप्तिकाल के आजाने पर जब कि कोई भी घटादि विषय नहीं रहते तब] उन सब वृत्तियों का एक घन हो जाता है [अब उनका केवल एक चिद्रूप ही हो जाता है] जैसे कि उत्तर दिशा में बरफ़ की बहुत सी बूदों का घनाकार पिण्ड हो गया हो।

तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते ।
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ॥७१॥

यह जो वेदान्तों में साक्षी कहाने वाली प्रज्ञानघनता है उसी को तो लौकिक लोग [जिन्हें शास्त्र का संस्कार ही नहीं है] तथा तार्किक आदि लोग,दुःखाभाव कहते हैं या समझते हैं। क्योंकि उस समय जितनी भी दुःखवृत्तियां होती हैं उन सभी का विलय हो जाता है [वे लोग इसी बात को न समझ कर उस प्रज्ञानघनता को ही दुःखाभाव समझ बैठते हैं]

अज्ञानबिम्बिता चित् स्यान्मुखमानन्दभोजने ।
भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ॥७२॥

[उस श्रुति के चेतो मुख का अर्थ यह है कि]—सुषुप्ति-काल के ब्रह्मानन्द को भोगने का मुख [साधन] अज्ञानवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही तो है [उस ब्रह्मानन्द को भोगता हुआ भी वह उसे छोड़कर जो कि दुःखों के घर [इस जागरण] में आता है उसका कारण यह है कि—यह जीव पुण्य पाप नामक कर्मपाश में बंधा हुआ है, इस कारण उस] कर्म से प्रेरित हुआ यह जीव, साक्षात् देखे हुए भी ब्रह्मानन्द को छोड़ कर, बाहर निकल आता है अर्थात् जाग पड़ता है ।

कर्म जन्मान्तरेऽभूद् यत् तद्योगाद् बुध्यते पुनः ।
इति कैवल्यशाखायां कर्मजो बोध ईरितः ॥७३॥

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः इस कैवल्यशाखा में कहा गया है कि—जन्मान्तर में किये हुए कर्मों से यह प्राणी फिर जागरण में आ जाता है । अर्थात् जागरण अवस्था यों ही बिना कारण के नहीं आजाती किन्तु यह कर्मज है ।

कंचित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना ।
अनुगच्छेद् यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ॥७४॥

[सुप्ति में ब्रह्मानन्द भोगना मिलजाता है इसका चिह्न भी सुनलो]—जब आदमी जाग जाता है तब भी थोड़ी देर तक सुषुप्ति में जिस ब्रह्मानन्द का अनुभव उसने किया था उसी के संस्कार चालू रहते हैं । जभी तो जागने के प्रारम्भ में बिना ही विषय के सुखी होकर यह प्राणी चुपचाप बैठा रहता है

[इसी से जानते हैं कि उस ने ब्रह्मानंद को भोगा था और अब भी उसके संस्कारों से वह सुखी हो रहा है]

कर्मभिः प्रेरितः पश्चान्नानादुःखानि भावयन् ।
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानन्दमेषोऽखिलो जनः ॥७५॥

[फिर सदा मौन होकर ही क्यों नहीं बैठा रहता इसका कारण भी सुन लो] पूर्वोक्त कर्मों से प्रेरित हुए सभी प्राणी पीछे से जब संसार के नाना दुःखों की भावना करने लगते हैं तब फिर ये सभी प्राणी धीरे धीरे [हाय ! हाय ! उस जगज्जीवन] ब्रह्मानन्द को भूल जाते हैं ।

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने ।
ब्रह्मानन्दे नृणां, तेन प्राज्ञोऽस्मिन् विवदेत कः ॥७६॥

[ब्रह्मानन्द में संशय न करने का एक यह भी कारण है कि] सभी मनुष्यों को नींद से पहले और नींद के पीछे ब्रह्मानन्द में स्नेह बना रहता है [जभी तो निद्रा के आदि में कोमल शय्या आदि का संपादन करते हैं । निद्रा समाप्त हो जाने पर उस ब्रह्मानन्द को न छोड़ने के कारण चुप चाप बैठे रहते हैं] ऐसी अवस्था में कौन समझदार होगा जो इस आनन्द में विवाद करेगा ?

ननु तूष्णीं स्थितौ ब्रह्मानन्दश्चेद् भाति,लौकिकाः ।
अलसाश्चरितार्थाः स्युः, शास्त्रेण गुरुणात्र किम् ॥७७॥

जो ब्रह्मानन्दानुभव गुरुशुश्रूषा आदि प्रयासों से मिला करता है वह अगर चुप रहने मात्र से किसी को मिल सकता हो तब तो लौकिक पामर लोग तथा आलस में पड़े रहने वाले

अहदी लोग सभी कृतार्थ हो जाने चाहियें। फिर श्रवणादि परिश्रम की क्या आवश्यकता रह जायगी ?

वाढं, ब्रह्मेति विद्युश्चेत् कृतार्था स्तावतैव ते।
गुरुशास्त्रे विनात्यन्तं गम्भीरं ब्रह्म वेत्ति कः ॥७८॥

'यह ब्रह्मानन्द है' ऐसा यदि कोई उनमें से पहचान जाय तो वह अवश्य ही कृतार्थ हो कर रहे। परन्तु गुरु और शास्त्र के विना [मन वाणी से अगम्य सर्वज्ञ सर्वान्तर सर्वात्मरूप] उस गम्भीर ब्रह्म को और किस उपाय से कौन जान सकता है ? [अर्थात् गुरु और शास्त्र के बिना इस तत्व का पता नहीं चलता]

जानाम्यहं त्वदुक्त्याद्य कुतो मे न कृतार्थता।
शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ॥७९॥

यदि यह बूझा जाय कि—तुम्हारे कहने से मैं ब्रह्मानन्द को जान तो गया हूँ परन्तु मैं कृतार्थ क्यों नहीं हो पाया हूँ ? इसके उत्तर में अपने जैसे किसी प्राज्ञाभिमानी का वृत्तान्त सुन लीजिये।

चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत।
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ॥८०॥

किसी तुम्हारे जैसे ने यह सुना था कि—चतुर्वेदज्ञ को यह बहुत सा धन दे दो। बस इस बात को सुन कर वह कह उठा कि वेद चार हैं यह तो मैं जानता ही हूँ और यों मैं चतु-र्वेदज्ञ हो गया हूँ, इस कारण यह धन मुझे ही दे दो [इसी तरह तुम भी कहते हो कि मैं ब्रह्मज्ञ हो गया हूँ मैं कृतार्थ क्यों नहीं हुआ ?]

संख्यामेवेष जानाति न तु वेदानशेषतः ।
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ॥८१॥

यह तो संख्या को ही जानता है, वेदों के स्वरूप को यह सम्पूर्ण रीति से नहीं जानता है, ऐसा यदि तुम कहो तो हम कहेंगे कि तुम भी तो ऐसे ही सम्पूर्ण ब्रह्म को नहीं जानते हो।

अखण्डैकरसानन्दे मायातत्कार्यवर्जिते ।
अशेषत्वसशेषत्ववार्तावसर एव कः ॥८२॥

[शंका करने वाला कहता है] जो अखण्ड एक रस आनन्द है, जिसमें माया और उसका कार्य कुछ भी नहीं है, उसमें सम्पूर्ण और अधूरे की बात को अवसर ही कहाँ है ?

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि ।
शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते संपाद्यत्वेन शिष्यते ॥८३॥

[उत्तर] 'अखण्डैकरस' 'अद्वितीय' 'सच्चिदानन्दरूप' इत्यादि शब्द ही शब्द कहना जानते हो अथवा उनका जो स्वगतादि-भेदशून्यता रूपी गम्भीर अर्थ है उसको भी पहचानते हो ? क्योंकि मुख से शब्दों का उच्चारण कर देने पर भी तुम्हें अर्थ बोध करना शेष रह ही जाता है।

अर्थे व्याकरणाद् बुद्धे साक्षात्कारोऽवशिष्यते ।
स्यात् कृतार्थत्वधीर्यावत् तावद् गुरुमुपास्व भोः ॥८४॥

व्याकरणादि से परोक्षज्ञान जब कर लिया जाता है, तब भी संशयादि को हटा कर प्रत्यक्ष करना शेष रह ही जाता है। जब तक तुम्हारी बुद्धि तुम्हें अपने कृतार्थ होने का नीरव संदेश न सुनादे तब तक तुम गुरु की उपासना करते रहो। [जब कृतार्थत्व बुद्धि उत्पन्न हो जाय तभी ज्ञान की सम्पूर्णता समझ लेना]

आस्तमेतद् यत्र यत्र सुखं स्याद् विषयैर्विना ।
तत्र सर्वत्र विद्धयेतां ब्रह्मानन्दस्य वासनाम् ॥८५॥

इस सब को यहीं छोड़कर अब प्रकृत बात कहते हैं कि—जहां जहां [तूष्णींभाव आदि के समय] विषयानुभव के बिना भी सुख होता हो वहां सभी जगह इस ब्रह्मानन्द की वासना को समझ लो ।

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति ।
अन्तर्मुखमनोवृत्तावानन्दः प्रतिविम्बति ॥८६॥

विषयों के मिल जाने पर भी जब उन विषयों की इच्छा शान्त हो जाती और मन अन्तर्मुख होता है तब उस अन्तर्मुख मन में इसी आनन्द का प्रतिविम्ब पड़ा करता है । [यही 'विषयानन्द' किंवा दुनियादारी का सुख कहाता है]

ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम् ।
अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन ॥८७॥

'ब्रह्मानन्द' 'वासनानन्द' तथा 'विषयानन्द' इन तीन आनन्दों के बिना जगत् में कोई आनन्द ही नहीं है ।

'ब्रह्मानन्द' वह है जो सुषुप्ति में स्वप्रकाशरूप से भासा करता है । 'वासनानन्द' वह है जो कि चुप बैठने पर विषयानुभव के बिना ही प्रतीत हुआ करता है । अभिलषित विषय के मिलने पर जब कि मन अन्तर्मुख हो जाया करता है तब जो उसमें आत्मानन्द का प्रतिबिम्ब हो जाता है वह तो 'विषयानन्द' कहाता है ।

शंका—इसी प्रकरण के ११ वें श्लोक में "आनन्दस्त्रिविधो 'ब्रह्मानन्दो' 'विद्यासुखं' तथा 'विषयानन्दः" इस प्रकार तीन तरह का आनन्द

बताया है । अब यहां ब्रह्मानन्द वासनानन्द और आनन्द का प्रतिबिम्ब यों नये ही तीन भेद कर दिये हैं । यह पूर्वोत्तर विरोध है । इसके अतिरिक्त इसी प्रकरण के 'यावद्यावदहंकार' इस ९८ वें श्लोक में तथा 'तादृक् प्रमान्' इस १२१ वें श्लोक में निजानन्द और मुख्यानन्द का भी वर्णन है । तथा अगले आत्मानन्द प्रकरण में 'मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत्' उससे भिन्न ही आत्मानन्द का वर्णन आया है । अद्वैतानन्द के पहले श्लोक में योगानन्द नाम का भेद भी मालूम हो रहा है । अद्वैतानन्द के १०५ श्लोक में अद्वैतानन्द एक नया ही भेद देख रहे हैं । ऐसी अवस्था में इन तीनों आनन्दों के अतिरिक्त और कोई आनन्द है ही नहीं" यह कहना विरुद्ध प्रतीत होता है । उत्तर—अन्तःकरण वृत्तिरूप होने के कारण से विद्यानन्द भी विषयानन्द में ही अन्तर्भूत हो जाता है । तथा निजानन्द मुख्यानन्द आत्मानन्द योगानन्द और अद्वैतानन्द नाम के सभी आनन्द ब्रह्मानन्द से भिन्न कुछ भी नहीं है । इसी प्रकरण के ९८वें श्लोक में जिस निजानन्द का वर्णन है वह भी ब्रह्मानन्द से अतिरिक्त तत्व नहीं है क्योंकि इससे अगले १००वें श्लोक में इस निजानन्द को ही ब्रह्मानन्द कहा है । मुख्यानन्द भी ब्रह्मानन्द ही है क्योंकि आगे आनन्दवासना की उपेक्षा करके मुख्यानन्द की भावना, तत्पर होकर करने की बात कही है यों इस में ब्रह्मानन्द को ही मुख्यानन्द कहा है । आत्मानन्द और अद्वैतानन्द तो ब्रह्मानन्द ही है । इस कारण ब्रह्मानन्द वासना और प्रतिबिम्ब वाला भेद ठीक ही है ।

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्ययम् ।
आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ॥८८॥

यों आनन्द के तीन प्रकार का होने पर भी जो स्वयंप्रकाश आनन्द 'विषयानन्द' को और 'वासनानन्द' को उत्पन्न किया करता है उसी को 'ब्रह्मानन्द' जानना चाहिये ।

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ।
ब्रह्मानन्दे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ॥८९॥

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति इत्यादि 'श्रुतियों' से, 'मैं सुख पूर्वक सोया था' इत्यादि परामर्श के और तरह से न हो सकने वाली 'युक्ति' से तथा सुषुप्ति के 'अनुभव' से अब तक यह सिद्ध किया जा चुका है कि सुषुप्ति काल में स्वयंप्रकाश ब्रह्मानन्द रहता है। अब जागरण काल में भी ब्रह्मानन्द को जानने का जो उपाय है उसका वर्णन किया जायगा उसे सुन लो।

य आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम् ।
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥९०॥

सुषुप्तिकाल का जो उपरिवर्णित 'आनन्दमय' है, वह जब विज्ञानमयता को पालता है तब फिर स्थानभेद के कारण कर्मानुसार 'स्वप्न' या 'जागरण' में आता है।

नेत्रे जागरणं कण्ठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदम्बुजे ।
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥९१॥

नेत्र में 'जागरण' रहता है कण्ठ में 'स्वप्न' होता है हृदय कमल में 'सुषुप्ति' होती है। यह जीव केवल नेत्र ही नहीं किन्तु पैर से मस्तकपर्यन्त देह को व्याप्त करके जागा करता है।

आत्मा का स्वाभाविक स्थान हृदय है परन्तु अहंकार और ममता की प्रेरणा से जब वहां नहीं रहा जाता तब आत्मा का प्रतिबिम्ब विषयभोगलिप्सा के लिये मलिन हो जाता है तब जाग्रत अवस्था में तो नेत्र तथा स्वप्न अवस्था में कण्ठ उस के निवास स्थान बन जाते हैं।

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायःपिण्डवत्ततः ।
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ॥९२॥

[देह को व्याप्त करने की रीति यह है कि] तपे हुए लोह-पिण्ड के साथ जैसे अग्नि का तादात्म्य हो जाता है इसी तरह मनुष्य जाति वाले देह के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर 'मैं मनुष्य हूँ' यह निश्चय करके बैठ जाता है। [फिर उसे अपने मनुष्य होने में थोड़ा सा भी संशय नहीं रहता]

उदासीनः सुखी दुःखी त्यवस्थात्रयमेत्यसौ ।
सुखदुःखे कर्मकार्ये, त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥९३॥

[देह के साथ तादात्म्याभिमान कर लेने के कारण] यह जीव उदासीन, सुखी, दुःखी इन तीन अवस्थाओं को प्राप्त होता है, इन तीनों अवस्थाओं में से सुख और दुःख ये दोनों कर्मजन्य हैं [अर्थात् सुखी या दुखीपन भी कर्मजन्य ही है] परन्तु औदासीन्य तो स्वभाव से ही होता है [जब कर्म बन्द हो जाता है तब उदासीनता स्वभाव से ही आ जाती है। उसके लिए कर्म की आवश्यकता नहीं होती ।]

बाह्यभोगान् मनोराज्यात् सुखदुःखे द्विधा मते।
सुखदुःखान्तरालेषु भवेत् तूष्णीमवस्थितिः ॥९४॥

'बाह्य भोग' तथा 'मनोराज्य' से दो दो प्रकार सुख दुःख होते हैं [एक बाह्य भोगों से मिलने वाले सुख दुःख दूसरे मनोराज्य से मिलने वाले सुख दुःख] परन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है कि न तो सुख ही होता है और न दुःख ही। सुखों और दुःखों के बीच बीच चुप रहने की अवस्था आती है ।

न क्वापि चिन्ता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन् ।
औदासीन्ये निजानन्दभानं वक्त्यखिलो जनः ॥९५॥

जब कोई मनुष्य यह कहता है कि आज मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है, इस लिये आज मैं सुख पूर्वक बैठा हूँ, तब वह दूसरे शब्दों में यह स्वीकार कर रहा है कि उदासीनता के समय स्वरूपानन्द की स्फूर्ति हुआ करती है [इससे यह जान लेना चाहिये कि जागरण काल में भी आत्मानन्द का भान प्राणियों को होता ही है ।]

अहमस्मीत्यहंकारसामान्याच्छादितत्वतः ।
निजानन्दो न मुख्योऽयं, किन्त्वसौ तस्य वासना ॥९६॥

[इस आनन्द को ब्रह्मानन्द न मानकर वासनानन्द ही मानने का कारण भी सुन लो] यह उपर्युक्त आनन्द 'मैं हूँ' ऐसे एक सामान्य [सूक्ष्म] अहंकार से आवृत रहता है [इस आनन्द को भोगते समय अपने 'देवदत्तादिपने' का विचार नहीं रहता किन्तु मैं हूँ ऐसा एक सामान्य (अस्पष्ट) अहंकार बना रहता है] इस कारण यह आनन्द मुख्य आनन्द नहीं है । किन्तु यह तो मुख्यानन्द की वासना है । [इसी से इसको 'वासनानन्द' कहते हैं ।] मुख्य आनन्द में मैं हूँ ऐसा अहंकार नहीं रहना चाहिये ।

नीरपूरितभाण्डस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम् ।
किन्तु नीरगुणस्तेन नीरसत्तानुमीयते ॥९७॥

जल से भरा हुआ जो घड़ा है, उसके बाहर की ओर जब स्पर्श करते हैं, तब जो शैत्य प्रतीत होता है, वह शैत्य 'जल' नहीं है [क्योंकि उसमें द्रवपना नहीं पाया जाता ।] वह शैत्य

तो जल का गुण है। उस शैत्य से तो जल के होने का अनु-मान भर हुआ करता है।

यावद्यावदहङ्कारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः।
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टे र्निजानन्दोऽनुमीयते ॥९८॥

[प्रकृत बात तो यह हुई कि] निरोध समाधि के अभ्यास से जितना जितना अहंकार का विस्मरण होता जायगा—अहम् आदि वृत्तियें विलीन होती जायंगी और योगी के चित्त में सूक्ष्मता आती जायगी] उतना ही उतना निजानन्द अनुभव में आने लगेगा अथवा उतना ही उतना निजानन्द व्यक्त होने लगेगा ऐसा अनुमान से जाना जाता है।

अनुमान यों करना चाहिए—जिन क्षणों में हम अहंकार का संकोच करने बैठते हैं, उनमें पिछले पिछले क्षणों में, पहले पहले क्षणों से अधिक आत्मानन्द आविर्भूत होता जाता है। क्योंकि अहंकार का संकोच करने वाले क्षणों की लम्बाई उत्त-रोत्तर चढ़ती ही जाती है। अहंकार के विस्तार ने आत्मानन्द को ढक रक्खा था। अब अहंकार का संकोच होने से वह निजानन्द उघड़ने लगता है—फैलने लग पड़ता है। तात्पर्य यह है कि—जैसे जैसे अहंकार का संकोच बढ़ने लगेगा तैसे तैसे निजानन्द भी बढ़ता ही जायगा।

सर्वात्मना विस्मृतः सन् सूक्ष्मतां परमां व्रजेत्।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत् ॥९९॥

जब अहंकार का विस्मरण पूर्णरूप से हो जाता है तब यह परम सूक्ष्म हो जाता है [सब वृत्तियों के विलीन हो जाने पर भी] अन्तःकरण का स्वरूप विलीन नहीं होता इसलिए उसे

निद्रा नहीं कह सकते [निद्रा तो वही है जब कि बुद्धि कारण रूप में पहुँच गई हो] अन्तःकरण के स्वरूप का विलय न होने से ही योगी का देह निद्रा की तरह गिर नहीं पड़ता [इससे समझ लेना चाहिए कि अन्तःकरण का स्वरूप अभी विलीन नहीं हुआ है ।]

न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत् सुखम्।
स 'ब्रह्मानन्द' इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥१००॥

गीता के छठे अध्याय में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है कि—जिस समय द्वैत का भान बन्द हो जाय, और नींद भी न आय, उस समय जो सुख किसी को भासता हो, बस वही 'ब्रह्मानन्द' है ।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥१०१॥

गीता के ब्रह्मानन्दबोधक वे श्लोक ये हैं—धीर बुद्धि के सहारे से धीरे धीरे मन की उपरति की साधना करो । जब मन को आत्मसंस्थ कर चुको [जब मन को यह निश्चय करा चुको कि यह सब कुछ आत्मा ही है 'आत्मा से भिन्न यह कुछ भी नहीं है'] तब बस फिर कुछ भी न सोचो । [यह तो योग की अन्तिम हालत है ।]

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१०२॥

[ऐसी ऊँची अवस्था को जो योगी लाना चाहें वह पहले यह करें कि] जो मन [स्वभाव दोष से ही] चंचल है,जो अस्थिर है [जो एक विषय में बंध कर कभी नहीं रहता] ऐसा मन जिस

जिस शब्दादि कारण को लेकर बाहर निकल पड़ता हो, उस उस शब्दादि की ओर से उसे रोक कर [उन उन शब्दादियों के मिथ्यात्व आदि दोष दिखा कर, उसे वैराग्य का उपदेश देकर, वहाँ से हटा कर] आत्मा के वश में करता जाय। [इस प्रकार योगाभ्यासी पुरुष का मन अभ्यास के प्रताप से आत्मा में ही शान्त होने लगेगा ।]

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥१०३॥

[मन के शान्त होने पर जो होता है उसे भी सुन लो। संसार की मोह ममता आदि ही बड़े क्लेश कहाते हैं। ये क्लेश रजोगुण से उत्पन्न होते हैं] वह रजोगुण जिसका शान्त हो चुका हो, इसी कारण जिसका मन प्रशान्त हो गया हो [जिसके मन में विक्षेपों का उठना सर्वथा रुक गया हो। 'यह सब ब्रह्म ही है' इस निश्चय के कारण] जिसे ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो गई हो जो [जीवन्मुक्त हो गया हो] जो अकल्मष अर्थात् धर्माधर्म से छूट चुका हो, ऐसे इस योगी को ही उत्तम सुख मिलता है [अर्थात् उस सुख के क्षय हो जाने या उससे अधिक सुख के होने का दोष नहीं होता ।]

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥१०४॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥१०५॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥१०६॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥१०७॥

[ऊपर के संक्षिप्त अर्थ को गीता में ही विस्तार पूर्वक यों समझाया गया है कि] जिस समय चित्त योगसेवा के प्रताप से सब विषयों से हटकर उपराम को पा लेता है, जिस समय समाधिभावना से शुद्ध किये हुए अन्तःकरण के द्वारा आत्मा अर्थात् ज्योतिः स्वरूप पर चैतन्य को देख देख कर [विषयों में नहीं किन्तु] अपने आप में ही तुष्ट होने लगता है॥१०४॥ जिस समय आत्मा में स्थित हुआ यह योगी आत्यन्तिक [अर्थात् अनन्त] तथा केवल बुद्धि से गृहीत होने वाले अतीन्द्रिय [अर्थात् इन्द्रियों की पकड़ में न आने वाले किंवा विषयों से उत्पन्न न होने वाले ऐसे किसी अपूर्व] सुख का अनुभव किया करता है। उस आत्मा में स्थित हुआ यह योगी उस आत्म तत्व से च्युत नहीं होता [अर्थात उसे कभी नहीं भूलता] ॥१०५॥ जिस आत्मा को पाकर दूसरे लाभों को उससे अधिक मानना छोड़ देता है, जिस आत्मतत्व में स्थित हुआ यह योगी बड़े भारी दुःखों से भी [शस्त्रों के भयंकर घावों से भी—प्रह्लाद के समान] विचलित नहीं होता ॥१०६॥ दुःखों के संयोगों का वियोग कर देने वाली उस पवित्र अवस्था को ही 'योग' जान लो। जिस 'योग' का वर्णन पहले कर चुके हैं उस 'योग' को निश्चय [अर्थात् अध्यवसाय] से निर्वेद रहित मन से करना चाहिए ॥१०७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥१०८॥

विगतकल्मष अर्थात् योग में आने वाले विघ्नों को पार कर डालने वाला यह योगी, सदा ऊपर कही रीति से आत्मा का अनुसन्धान करता करता करता, विना ही प्रयास के ब्रह्म सम्बन्धी [अर्थात् अविनश्वर सर्वातिशायी] सुख को पा लेता है।

उत्सेक उदधे र्यद्वत् कुशाग्रेणैकविन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः ॥१०९॥

कुशाग्र से उठाई हुई एक एक बूंद से समुद्र का उत्सेक अर्थात् बहिःसेचन किया जाय तो यह किसी समय में जाकर तभी हो सकता जब कि इस काम से कभी भी खिन्न न हुआ जाय और इस काम को लगातार जारी रक्खा जाय। ठीक इसी प्रकार मन का निग्रह भी यदि अखिन्न होकर किया जाय तो काल पाकर हो ही सकता है। [इस रीति से समुद्र को सुखा डालने का जैसा पक्का धीरज टिट्टिभी में था वैसा दृढ निश्चय करके यदि कोई बैठ जाय तभी मन का निग्रह किया जा सकता है]

एक टिट्टिभी के अण्डों को समुद्र ने वहा लिया था। अपने अण्डों को निकालने के लिए उस टिट्टिभी ने समुद्र को सुखा-देने का निश्चय किया। अब वह अपनी चोंच में एक एक बूंद लाती थी और समुद्र से बाहर डाल जाती थी। उस टिट्टिभी में उस बड़े समुद्र को सुखा देने का इतना लम्बा अखण्ड धीरज था। वैसा लम्बा अखण्ड धीरज जिन साधकों में होगा वे ही मन का निग्रह कर सकेंगे। जो तो यह सोचते होंगे कि हमें प्रयत्न करते करते महीनों बीत गए अभी तक मनोनिग्रह नहीं हो पाया ऐसे अधीर साधक लोग इस मार्ग में अवश्य ही निराश होंगे।

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ।
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ॥११०॥

गीता में ही नहीं मैत्रायणी शाखा में भी शाकायन्य नाम के किसी मुनि ने, अपने शिष्य बने हुए बृहद्रथ राजर्षि के प्रति ब्रह्मसुख का कथन समाधि का वर्णन करके किया है ।

यथा निरिन्धनो वन्हिः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥१११॥

[उस में कहा गया है कि] ईंधन को जला चुकने वाली अग्नि जैसे अपने कारण [अग्नि] में ही शान्त हो जाती है [अपने लपट आदि विशेष आकारों को छोड़ कर केवल अग्नि मात्ररूप में आजाती है] ठीक इसी प्रकार यह अन्तःकरण भी निरोध समाधि का अभ्यास करने से राजस आदि सब वृत्तियों के नष्ट हो जाने के कारण अपनी योनि अर्थात् केवल सत्त्वरूप में शान्त हो जाता है [उस समय सत्व ही सत्व शेष रह जाता है अन्तःकरण नहीं रहता]

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः ।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥११२॥

जो मन सत्यकामी हो चुका है, [सत्य आत्मा के सिवाय जिसे और किसी की कामना ही नहीं रह गयी है इसी कारण] जो अपने कारण में शान्त हो बैठा है इसी लिए शब्दादि विषय की ओर से जिसने अपना मुख मोड़ लिया है [जो बाह्यज्ञान से शून्य हो गया है] ऐसे [संस्कारी] मन की दृष्टि में कर्म के वश से प्राप्त होने वाले [साधनों के अधीन] सुखादि अनृत हो

जाते हैं [उन को यह समझ लिया जाता है कि ये तो मायिक होने से मिथ्या हैं]

चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत् सनातनम् ॥११३॥

[यद्यपि यह ठीक है कि यह संसार चित्त से नहीं बना है। परन्तु यह संसार भोग्य तो चित्त के कारण से ही बन जाता है इस कारण कहते हैं कि] चित्त ही संसार है [यह सभी के अनुभव में आने वाली बात है। तभी तो सुपुप्ति आदि के समय जब चित्त का विलय हो जाता है तब भोग नहीं होता] जब कि चित्त ही संसार है तब फिर उस चित्त को [अभ्यास या वैराग्य आदि] प्रयत्न से शुद्ध कर लेना चाहिए। [चित्त के रज और तम हटा कर उसे एकाग्र कर लेना चाहिए।] जिस देहधारी का चित्त जिस पुत्रादि में पड़ा रहता है वह देह धारी तन्मय ही हुआ रहता है। [उस पुत्रादि की सकलता और विकलता को वह अपने आत्मा में ही आरोपित कर लेता है] यह एक अनादिसिद्धि रहस्य है ।

भाव यह है कि—आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, परन्तु चित्त के संपर्क से ही उस में संसारीपना आ गया है। ऐसी अवस्था में चित्त का शोध करने से ही संसार की निवृत्ति हो सकेगी।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥११४॥

जब किसी के चित्त में इतना प्रसाद आ जाता है कि वह ब्रह्मतत्व का अनुसन्धान कर सके तब फिर वह शुभाशुभ सभी कर्मों का क्षय कर डालता है अर्थात् कर्मों में से अहंबुद्धि को

हटा लेता है। [सरकण्डे की रूई जैसे आग में सहसा भड़ भड़ा उठती है इसी तरह उसके सम्पूर्ण पाप सहसा नष्ट होजाते हैं।] प्रसन्न चित्त वाला वह, आत्मा [अर्थात् स्वस्वरूप अद्वितीयानन्दरूप ब्रह्म तत्व] में स्थित होकर, ['वही मैं हूँ' इस निश्चय के कारण सम्पूर्ण दृश्यों को छोड़कर] चिन्मात्र रूप में स्थिर होकर, अविनाशी जो सुख है [जो कि उसी का स्वरूप है] उसे पा लेता है।

शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म त्याज्य हैं। पुण्य कर्म से सुख मिलता है। सुख से प्रमाद बढ़ता है। प्रमाद से पापाचरण होता है। पापाचरण से दुःख मिलता है। दुःख से पश्चात्ताप होता है। पश्चात्ताप से पुण्यवासना उत्पन्न होती है। पुण्यवासना से फिर पुण्य कर्म होता है। यों यह पुण्य पाप का चक्कर अनन्त काल से घूम रहा है। यों इस चक्कर पर ध्यान रक्खें तो पुण्य भी पाप की तरह ही घातक है। इसीलिए वह भी त्याज्य है। इन दोनों को छोड़ कर अक्षय सुख के मार्ग पर हमें चल पड़ना चाहिए।

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात् तत् को न मुच्येत बन्धनात्॥११५

प्राणी का चित्त विषय रूपी चरागाह में जैसे स्वभाव से ही रमा रहता है, वही चित्त यदि ब्रह्म में उसी तरह आसक्त हो जाय तो भला कौन इस संसार से मुक्त न हो जाय ?

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥११६॥

शुद्ध और अशुद्ध यों दो प्रकार का मन होता है। काम

क्रोधादि के सम्पर्क से तो मन अशुद्ध हो जाता है। कामरहित मन ही शुद्ध मन कहाने लगता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥११७॥

मन से ही बन्धन और मन से मनुष्यों को मोक्ष मिला करता है। 'विषयासक्त' मन बंधवा देता है। 'निर्विषय' मन मुक्ति दिला देता है।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥११८॥

जिस चित्त को आत्मा में लगा दिया जाता है, जिस चित्त के रज तम रूपी मल समाधि रूपी जल से धो दिये जाते हैं, उस चित्त को [समाधि में] जो आनन्द आता है, उस आनन्द का वर्णन वाणी से तो किया ही नहीं जा सकता [क्योंकि वह तो एक अलौकिक ही सुख है। वह तो मौन की अलौकिक भाषा में ही समझा और कहा जा सकता है] वह स्वरूपभूत सुख तो केवल अन्तःकरण से ही गृहीत हुआ करता है।

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम्।
तथापि क्षणिको ब्रह्मानन्दं निश्चाययत्यसौ ॥११९॥

यद्यपि चिरकाल तक स्थिर रहने वाली ऐसी समाधि मनुष्यों को दुर्लभ होती है, तो भी क्षणिक भी वह [समाधि] ब्रह्मानन्द का निश्चय तो करा ही देती है।

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा ।
निश्चिते तु सकृत् तस्मिन् विश्वसित्यन्यदाप्ययम्॥१२०

जो श्रद्धालु है, जिसे इस बात की धुन लग गई है [कि इसे तो अब सिद्ध करके ही छोड़ूँगा] वह तो इस समाधि में आनन्द मिलने का निश्चय कर ही लेता है [उसे लम्बा प्रयास करते करते कभी कभी एकाध क्षण के लिए इस आनन्द की झांकी मिल ही जाती है] क्षणिक समाधि में एक बार जब इस ब्रह्मानन्द का निश्चय उसे हो जाता है तब फिर वह और समय भी आनन्द के होने का विश्वास कर लेता है ।

तादृक् पुमानुदासीनकाले प्यानन्दवासनाम् ।
उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः ॥१२१॥

श्रद्धादि पूर्वक एक बार भी जिसे निश्चय हो गया है ऐसा मनुष्य, उदासीनता के समय में जो पूर्वोक्त आनन्द वासना आया करती है उसकी भी उपेक्षा कर देता है—उसे भी हटने को कह देता है—और तत्पर होकर मुख्यानन्द की ही भावना किया करता है ।

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥१२२॥
एवं तत्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्ति मागतः ।
तदेवास्वादयत्यन्तः बहिर्व्यवहरन्नपि ॥१२३॥

परपुरुष के संभोग का व्यसन जिस नारी को लग जाता है, वह जैसे घर के कामों में व्यग्र सी दीखने पर भी, अन्दर मन में तो उसी परसङ्ग के मजे को चाखती रहती है ॥१२२॥ इसी प्रकार जब कोई धीर पुरुष 'पर' तथा 'शुद्ध' आत्मतत्व

में एक वार क्षण भर के लिए भी विश्राम पा लेता है तब फिर वह बाहर लोकव्यवहार करता हुआ भी अन्दर अपने मन में तो उसी आत्मतत्व का आस्वाद लिया करता है। [यों व्यवहार करते हुए भी आत्मसाधन चल सकता है। अर्थात् व्यवहार ज्ञान का विरोधी नहीं है।]

धीरत्वमक्षप्रावल्ये प्यानन्दास्वादवाञ्छया।
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिन्तायां प्रवर्तनम् ॥१२४॥

[विषयों के सामने आने पर, विषयों की ओर को पुरुष को खींच ले जाने का सामर्थ्य इन्द्रियों में है। यों] इन्द्रियों की प्रवलता होने पर भी आत्मसुख का आस्वाद लेने की उदार इच्छा से, जव सारी इन्द्रियों का तिरस्कार कर दिया जाय, और आत्मानुसन्धान में ही प्रवृत्त हुआ जाय, तब यही 'धीर-पना' कहाता है।

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वास्ते विश्रमं गतः।
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥१२५॥

वोझा उठाने वाला पुरुष थकाने वाले सिर के बोझे को उतार कर जैसे श्रमरहित हो जाता है, इसी प्रकार संसार के व्यापारों का परित्याग कर देने पर, जब किसी को वैसी ही वुद्धि हो जाय, कि मैं अब श्रमरहित हो गया हूँ—तब वस इसी को 'विश्राम' कहा जाता है।

विश्रान्तिं परमां प्राप्त स्त्वौदासीन्ये यथा तथा।
सुखदुखदशायां च तदानन्दैकतत्परः ॥१२६॥

[जिस परम विश्रान्ति का वर्णन ऊपर किया है वह] परम विश्रान्ति जिस पुरुष को मिल जाती है, वह पुरुष जिस तरह

अपनी उदासीन' अवस्था में लगन के साथ, परमानन्द का स्वाद लेने को उद्यत रहता है, उसी तरह उसका यह स्वभाव हो जाता है कि—फिर वह सुख दुःख प्राप्त होने के समय या सुख दुःख के कारणों के प्राप्त होने के समय में भी [उन सब का विचार छोड़ छोड़ कर] आत्मानन्द का आस्वाद लेने में ही तत्पर रहने लगता है।

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृङ्गारे यादृशी तथा।
धीरस्योदेति विषयेऽनुसन्धानविरोधिनि ॥१२७॥

सती होने वाली स्त्री के लिए जब अग्निप्रवेश का कारण उपस्थित हो जाता है। शीघ्र ही देहत्याग की बलवती दृढं इच्छा जब जाग उठती है तब उसको इस त्याग में विघ्न डालने वाले शृङ्गार की कुछ भी परवाह नहीं रहती। ठीक इसी प्रकार वैराग्यादि साधनसम्पन्न विवेकी को, उस विषयसुख की पर-वाह नहीं रहती, जो कि ब्रह्मानुसन्धान का विरोधी होता है।

भाव यह है कि विषयसुख, विषयसम्पादन के प्रयत्न में पुरुष को इतना वहिर्मुख बना देता है कि वह पुरुष फिर आत्मा-नुसन्धान कर ही नहीं सकता। इस कारण विवेकी लोगों को वैषयिक सुख की इच्छा ही नहीं होती। भले ही उसको अनुकूल समझ कर संसारी लोग उसके लिए मरते फिरें। जैसे दुःख आत्मविचार का विरोधी होता है वैसे ही विषयसुख भी आत्म-विचार का विरोधी है।

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ।
कुर्वन्त्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवदितस्ततः ॥१२८॥

कव्वे की आंखों की तरह योगी की बुद्धि कभी तो आत्मा

नन्द में और कभी आत्मानन्द के अविरोधी सुख में आती जाती रहती है।

एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः ।
यात्यायात्येवमानन्दद्वये तत्त्वविदो मतिः ॥१२९॥

जैसे कव्वे की एक ही आंख [पुतली] होती है, वह बायीं और दायीं दोनों आंखों में पर्याय से गमागम करती रहती है। इसी प्रकार विवेकी की बुद्धि भी दोनों आनन्दों में जाती आती रहती है।

भुञ्जानो विषयानन्दं ब्रह्मानन्दं च तत्ववित् ।
द्विभाषाभिज्ञवद् विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ ॥१३०॥

'विषयानन्द' और 'ब्रह्मानन्द' दोनों आनन्दों को एक ही साथ भोगने वाला तत्वज्ञानी, दुभाषिये के समान लौकिक और वैदिक दोनों ही तरह के आनन्दों को जाना करता है। जैसे कोई दुभाषिया दोनों से बातचीत करके दोनों के मन की जान लेता हो इसी प्रकार तत्वज्ञानी भोग भी करता है और ब्रह्मानन्द को भी जानता रहता है।

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक् ।
गङ्गामग्नार्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥१३१॥

जिस पुरुष का आधा शरीर गंगा जल में डूब रहा हो और आधे पर सूरज की धूप पड़ रही हो, वह जैसे एक ही समय शीत और उष्ण दोनों का अनुभव करता रहता है, इसी प्रकार दुःखों की प्राप्ति होने पर भी, [पहली अज्ञानदशा की तरह] उसको उद्वेग नहीं होता। क्योंकि वह तो दो दृष्टि वाला होजाता है [विपत्ति के पहाड़ के टूट पड़ने पर भी वह तो वैदिक ब्रह्मा-

नन्द को याद करके आनन्दमग्न हुआ रहता है जिस समय उसे दुःख हो रहा है उसी समय उसे ब्रह्मानन्द भी तो आरहा है वह उस को दुःखी होने नहीं देता]

इत्थं जागरणे तत्वविदो ब्रह्मसुखं सदा ।
भाति,तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद् भासते तथा ॥१३२॥

इस प्रकार जागरण काल में चाहे तो सुखानुभव होता हो, चाहे दुःखानुभव हो रहा हो, और चाहे वे उदासीन होकर चुप चाप बैठे हों, तत्वज्ञानी लोगों को सदा ही ब्रह्मानन्द प्रतीत होता रहता है। केवल जागरण काल में ही नहीं किन्तु जाग्रत् की वासना से उत्पन्न होने वाले सुपने में भी जाग्रत् अवस्था की तरह ही उनको ब्रह्मसुख भासा करता है।

अविद्यावासनाऽप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ।
स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं च वीक्षते ॥१३३॥

यह तो कहा ही नहीं जासकता कि केवल आनन्दवासना से ही सुपने आते हों। सुपने तो अविद्यावासना से भी आते हैं। इस कारण जो सुपना अविद्या वासना से आता है, उस सुपने में ज्ञानी को भी मूर्खों की तरह ही सुख और दुःख देखने पड़ जाते हैं।

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकम् ।
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥१३४॥

ब्रह्मानन्द नाम का जो पांच अध्याय का ग्रन्थ है उस के इस प्रथमाध्याय में, ब्रह्मानन्द को प्रकाशित करने वाले योगी के अनुभव का वर्णन किया गया है। [इसमें बताया गया है कि

सुषुप्ति अवस्था में, उदासीन काल में, समाधि भावना के समय तथा सुख दुःख की दशा में स्वयंप्रकाश ब्रह्मानन्द को प्रकाशित करने वाला योगी का अनुभव कैसा होता है।]

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नाम प्रथमोऽध्यायः।

ओम्

ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दप्रकरणम्

नन्वेवं वासनानन्दाद् ब्रह्मानन्दादपीतरम् ।
वेत्तु योगी निजानन्दं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ॥१॥

[अब ब्रह्मानन्द के अन्तर्गत 'आत्मानन्द' नाम के द्वितीय अध्याय का आरम्भ किया जाता है] शिष्य ने प्रश्न किया कि—वासनानन्द और ब्रह्मानन्द से भिन्न जो आत्मानन्द है उसको योगी लोग तो [इससे पहले योगानन्द नाम के प्रकरण में कहे अनुसार] जान ही सकेंगे । परन्तु इस आत्मानन्द को वे मूढ लोग—जिनकी गति योग में नहीं—कैसे जानें ?

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ।
पुनः पुनर्देहलक्षैः किं नो दाक्षिण्यतो वद ॥२॥

[गुरु ने उत्तर दिया कि] यह अतिमूढ पुरुष तो [बीते हुए अनन्त कोटि जन्मों में किये हुए] पुण्य पापों के बस में आ आकर अनेक प्रकार की लाखों योनियों में जन्मता और मरता रहेगा ही । हमारी चतुराई से क्या होना है ? [तात्पर्य यह है कि अति मूढ को तो ब्रह्मविद्या का अधिकार ही नहीं है। उसे जीने मरने दो उसकी चिन्ता मत करो ।]

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद्दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ।
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥३॥

यदि तुम शिष्य लोग अनुजिघृक्षु हो—शिष्यों का उद्धार करने की यदि तुम्हें इच्छा हो और तुम्हारे दाक्षिण्य से उनका

उद्धार रूपी प्रयोजन सिद्ध होता दीख पड़ता हो तो तुम यह बताओ कि वह मूढ [जिस पर तुम कृपालु हुए हो] जिज्ञासु है या पराङ्मुख है ? [उसे संसार से वैराग्य हो गया है या वह अभी संसार में आसक्त हो रहा है ?]

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद् विमुखाय यथोचितम् ।
मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत् ॥४॥

यदि वह तत्वज्ञान से विमुख अर्थात् रागी है तो उसको उसके राग के अनुकूल कर्म या उपासना का यथोचित उपदेश कर देना चाहिए। [यदि उस मूढ को ब्रह्मलोकादि की कामना है तो उसे उपास्ति बता देनी चाहिए और यदि वह स्वर्ग का मजा लूटना चाहता है तो उसे कर्म का मार्ग बताना चाहिए] यदि तो वह मन्दप्रज्ञ जिज्ञासु है तो उसे आत्मानन्द से समझाना चाहिए। [उसके सामने आत्मानन्द की विवेचना करनी चाहिए और उसे अज्ञाननिद्रा से जगा लेना चाहिए]

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम् ।
न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन् ॥५॥

याज्ञवल्क्य नाम के ऋषि ने मैत्रेयी नाम की अपनी पत्नी को 'अरे पत्नी को पति के लिए पति प्रिय नहीं होता' इत्यादि शब्दों से इसी आत्मानन्द की विवेचना करते करते आत्म बोध करा दिया था।

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः ।
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥६॥

पति, पत्नी, पुत्र, वित्त, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव,

वेद तथा भूत, ये सभी कुछ भोक्ता आत्मा के लिए होने से ही प्यारे हो जाते हैं [इन में से एक भी पदार्थ स्वरूप से प्यारा नहीं होता]

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा ।
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यै स्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥७॥

जब पत्नी को पति की इच्छा होती है, तभी वह पति से प्रेम करती है। परन्तु उसका पति भूख में, किसी अनुष्ठान में या किसी रोगादि में, फंसा होता है, तो वह उस पत्नी को नहीं चाहता [इस कथन से यह समझलो कि पत्नी का प्रेम इकतर्फा प्रेम है। यह प्रेम अकेली पत्नी का ही स्वार्थ है]

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थ एव करोति ताम् ।
पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥८॥

पत्नी का वह प्रेम पति के लिए नहीं होता। किन्तु वह पत्नी उस प्रेम को तो अपने लिए ही करती है। उधर पति की भी यही अवस्था है। वह भी अपने मतलब से ही पत्नी से प्रेम किया करता है। वह भी पत्नी के लिए पत्नी से प्रेम कभी नहीं करता।

अन्योन्यप्रेरणेप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥९॥

जब तो दोनों की इच्छा से दोनों एक साथ ही प्रवृत्त होते है [तब भी प्रीति को उभयार्थ न मानना चाहिए क्योंकि] तब भी तो वे दोनों [इसी प्रकार अपनी अपनी कामना को पूरा करने की] अपनी अपनी इच्छा से ही प्रवृत्त हुआ करते हैं। [पत्नी अपनी इच्छा से पति को प्रेरणा करती है और पति अपनी इच्छा से पत्नी को प्रेरणा किया करता है।]

श्मश्रुकण्टकवेधेन बाले रुदति तत्पिता ।
चुम्बत्येव न सा प्रीति र्बालार्थे स्वार्थ एव सा ॥१०॥

[दृष्टान्त में भी देख लो कि—अपनी एकपक्षीय (एकतर्फा) इच्छा से ही प्रवृत्ति होती है] डाढ़ी मूँछ के काँटे जब चुभते हैं और बालक रोता है तब भी उसका पिता उस बालक को चूमता ही जाता है । क्या पिता के इस प्रेम को बच्चे की प्रीति के लिए ही कहोगे ? पिता का यह प्रेम तो अपनी तुष्टि के लिए ही होता है ।

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् ।
प्रीतिं करोति सा स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शङ्कितम् ॥११॥

[जो पति पत्नी तथा पुत्रादि चेतन पदार्थ हैं, उनकी प्रीति में स्वार्थ परार्थ का सन्देह हो भी जाता हो, परन्तु जो पदार्थ अचेतन होने के कारण कुछ इच्छा ही नहीं करते, उन पदार्थों से जब हम प्रीति करते हैं, तब तो परार्थता की शंका ही नहीं रह जाती] देखो, इच्छा से हीन रत्न आदि धन को यत्न से पालता हुआ धनी, जब उस वित्त पर प्रेम करता है तब उस धनी का वह प्रेम स्वार्थमूलक ही होता है । धनी का वह प्रेम धन के लिए किया हुआ प्रेम है ऐसी शंका कोई नहीं करता ।

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात् ।
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ॥१२॥

बैल तो बोझ को ढोना नहीं चाहता, परन्तु व्यौपारी उससे जबरदस्ती बोझ ढुआना चाहता है । बोझ ढोने के लिए रक्खे हुए उस बैल पर जो वणिक् का प्रेम होता है वह तो वणिक् के ही लिए होता है । वह प्रेम बैल के लिए कैसे हो जायगा ?

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया ।
अचेतनाया जातेर्नो सन्तुष्टिः पुंस एव सा ॥१३॥

'मैं ब्राह्मण हूँ इसी से मैं पूजनीय हूँ' इस प्रकार ब्राह्मण्य-निमित्तक पूजा से जो सन्तोष होता है, वह सन्तोष अचेतन ब्राह्मण जाति को नहीं होता। वह सन्तोष तो [ब्राह्मणपन के अभिमानी] पुरुष को ही होता है।

क्षत्रियोहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ।
न जाते, वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ॥१४॥

'मैं क्षत्रिय हूँ, इसी से मैं राज करता हूँ' इसमें जो राज्य भोग के कारण सुख होता है, वह क्षत्रियत्व जाति वाले पुरुष को ही होता है। क्षत्रियत्व जाति को उसका कुछ भी सुख नहीं होता [क्योंकि जाति तो जडपदार्थ है] वैश्यादि जातियों में भी इसी प्रकार समझने के लिए उपलक्षण रूप में इनका नाम लिया है। उनमें भी यही बात समझनी चाहिए।

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम् ।
लोकयोर्नोपकाराय, स्वभोगायैव केवलम् ॥१५॥

[कर्म और उपासना से] 'स्वर्ग या ब्रह्मलोकादि मुझे प्राप्त हो जाय' यह जो वाञ्छा प्राणी को होती है, यह लोकों की भलाई के लिए नहीं होती। यह तो केवल अपने भोग के लिए होती है।

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यन्ते पापनष्टये ।
न तन्निष्पापदेवार्थं, तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ॥१६॥

पाप की निवृत्ति के लिए जो ईश या विष्णु आदि देवता

पूजे जाते हैं, वह पूजा उन निष्पाप देवताओं के लिए नहीं होती। किन्तु वह पूजा तो पूजक के लिए ही की जाती है [यों अपने स्वार्थ के लिए ही ईश्वर पूजा की जाती है। ईश्वर का तो उसमें कुछ भी स्वार्थ नहीं होता।]

ऋगादयो ह्यधीयन्ते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये।
न तत् प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ॥१७॥

व्रात्यपन से बचने के लिए ऋगादि वेदों का अध्ययन किया जाता है। वेदों में तो उस व्रात्यपन की संभावना भी नहीं होती। वह तो मनुष्यों में ही प्रसक्त होता है [यों अपने स्वार्थ के लिए ही वेदाध्ययन किया जाता है।]

भूम्यादिपञ्चभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः ।
हेतुभिश्चावकाशेन वाञ्छन्त्येषां न हेतवः ॥१८॥

सारे प्राणी किसी वस्तु को रखने के लिए भूमि को, प्यास निवारण करने के लिए जल को, पाक और शोषण करने के लिए अग्नि और वायु को तथा अवकाशदान करने के कारण आकाश को चाहते हैं। इन पृथिवी आदि भूतों को तो स्थान आदि की कुछ आवश्यकता ही नहीं होती है।

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वाञ्छति।
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥१९॥

स्वामी जो भृत्य को चाहता है, भृत्य जो स्वामी को चाहता है, सो सब अपने अपने उपकार के लिए ही तो चाहता है। दूसरों का किया हुआ उपकार दूसरों को नहीं मिलता।

कोई भी किसी दूसरे की भलाई करना नहीं चाहता सभी संसार स्वार्थी है। दुनिया के परोपकारी कहलाने वाले लोग

भी स्वार्थी ही हैं। वे जब किसी को दुःखी देखते हैं तब उनके जी में एक कांटा सा चुभा करता है। हृदय में चुभने वाले अपने उस कांटे को निकालने के लिए ही वे परोपकार में प्रवृत्त होते हैं। परोपकार किये बिना उनके जी का कांटा निकलता ही नहीं। यों परोपकारी लोग भी अन्ततः सच्चे स्वार्थी ही हैं।

सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसन्धातुमीदृशम् ।
उदाहरणबाहुल्यं, तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥२०॥

[यों इच्छापूर्वक जितने भी व्यवहार होते हैं उन] सब व्यवहारों में इसी प्रकार आत्मप्रीति को दिखाने के लिए पति पत्नी आदि बहुत से उदाहरण दिये हैं। इस कारण समझदार को आत्ममति की वासना कर लेनी [आत्मविषयक बुद्धि बना लेनी] चाहिए [सब पदार्थों को आत्मा का उपकारी समझ कर, आत्मा को ही सब से अधिक प्रिय जान लेना चाहिए।]

अथ केयं भवेत् प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि ।
रागो वध्वादिविषये, श्रद्धा यागादिकर्मणि ।
भक्तिःस्याद् गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि ॥२१॥

अब प्रश्न यह है कि—यह जो निजात्मा में प्रीति सुनी जाती है। उस प्रीति का रूप क्या है? क्या वह राग है? श्रद्धा है? भक्ति है? या इच्छा है? यदि वह राग हो तो वधू आदि में ही हो। यदि वह श्रद्धा हो तो वह यागादि में ही हो। यदि वह भक्ति हो तो वह गुरु आदि में ही हो। यदि वह इच्छा हो तो वह अप्राप्त वस्तु ही में हो। [आत्मा का शेष (अंग) होने से सब पदार्थ प्रिय होते हैं और आत्मा प्रियतम होता है। प्रेम के स्वरूप को जाने बिना आत्मा की प्रियतमता

समझ में आती ही नहीं। इस कारण प्रेम के स्वरूप की विवेचना इस श्लोक में बूझी है। प्रेम ऐसा होना चाहिए जो सभी पदार्थों पर लागू हो सकता हो। यदि वह सब पदार्थों पर लागू नहीं होता है तो वह प्रेम नहीं है। उसको सर्वविषयक सिद्ध करने के लिए प्रीति का रूप बताना चाहिए जो सब में पाया जा सकता हो।]

तर्ह्यस्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी।
प्राप्ते, नष्टेऽपि, सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ॥२२॥

उसका उत्तर यह है कि यदि वह प्रीति रागादिरूप नहीं हो सकती है तो आप उस प्रीति को केवल सुख को विषय करने वाली एक सात्त्विक वृत्ति मान लो। उस प्रीति को सत्त्वगुण से बनी हुई अन्तःकरण की वृत्ति समझ लो। जब कोई वस्तु प्राप्त हुई रहती है या जब कोई वस्तु प्राप्त होकर नष्ट हो जाती है अथवा अप्राप्त रहती है तब भी उसके विषय में यह [केवल सुख को विषय करने वाली सात्त्विक] वृत्ति बनी ही रहती है। इस कारण इस वृत्ति को इच्छा से भिन्न माना जाता है। [क्योंकि इच्छा तो केवल अप्राप्त सुखादि को ही अपना विषय बनाया करती है और यह वृत्ति प्राप्त अप्राप्त सभी को अपना विषय बनाती है]

सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः ॥२३॥
आत्मानुकूल्यादन्नादिसमश्चेदमुनात्रकः ।
अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन् कर्मकर्तृता ॥२४॥

प्रश्न होता है कि—सुख के साधन होने के कारण जैसे अन्न पानादि प्रिय देखे गए हैं इसी प्रकार यदि यह आत्मा भी

अनुकूल किंवा प्रिय होने के कारण ही [अन्नपानादि के समान] सुख का साधन होता होगा,तो इसका क्या समाधान करते हो ? इस का उत्तर यह है कि—अच्छा यह बताओ कि तुम्हें इस आत्मा से किस की अनुकूलता करनी है ? [ऐसा तो कोई दीख नहीं पड़ता कि इस आत्मा को जिस के अनुकूल बना दिया जाता हो। आत्मा से भिन्न तो कोई और भोक्ता है ही नहीं। यदि कहो कि वह स्वयं अपने आप के ही अनुकूल हो जायगा तो हम कहेंगे कि] एक में कर्म और कर्ता की दोनों बात नहीं रह सकतीं। [वही आत्मा उपकार्य भी हो और वही उपकारक भी हो, यह दोनों विरुद्ध धर्म एक आत्मा में कैसे टिकेंगे ?]

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥२५॥

विषयजन्य जो सुख है, उनमें प्रीति तो होती है [किन्तु उनमें प्रगाढ प्रीति नहीं होती] इसके विपरीत आत्मा तो अत्यन्त प्रिय होता है [इस कारण उसे विषयजन्य सुखों के समान मत मानो। जैसे विषयसुख भोक्ता के काम आता है, वैसे यह आत्मा किसी भोक्ता के उपयोग में आने वाला तत्व नहीं है] देख लो कि विषय सुखों में रहने वाली यह प्रीति व्यभिचार कर जाती है—[यह प्रीति कभी पूर्वसुखों को छोड़ कर दूसरे सुखों में पहुँच जाती है—एक सुख में बँध कर बैठे रहना इस प्रीति को पसन्द नहीं है] परन्तु आत्मा में जो प्रीति रहती है वह कभी व्यभिचार नहीं करती—[वह विषयान्तर में कभी नहीं जाती। इस कारण आत्मप्रीति को ही निरतिशय प्रीति कह सकते हैं।]

एकं त्यक्त्वान्यदादत्त सुखं वैषयिकं सदा ।
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन् व्यभिचरेत् कथम् ॥२६॥

वैषयिक सुखों की तो यह आदत है कि वे सदा एक को छोड़ कर दूसरे से नेह जोड़ लेते हैं। छोड़ने और ग्रहण करने के अयोग्य होने के कारण आत्मा तो छोड़ा या ग्रहण किया ही नहीं जा सकता। फिर यह प्रीति उसमें व्यभिचार कैसे कर सकेगी ?

हानादानविहीनेऽस्मिन्नुपेक्षा चेत् तृणादिवत् ।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ॥२७॥

परत्याग करना और स्वीकार कर लेना, ये दोनों ही जिस आत्मा में नहीं वन सकते, यदि उस आत्मा को तृण आदि तुच्छ पदार्थों की तरह उपेक्षा करना चाहो, तो भी अयोग्य होने के कारण उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। क्योंकि जिस आत्मा की उपेक्षा करनी है वह तो उस उपेक्षा करने वाले का स्वरूप ही है [जो निजात्मा अर्थात् अपना अविनाशी स्वरूप है, स्वरूप होने के कारण ही वह अपने से भिन्न तृणादि विषय के समान, उपेक्षा का विषय ही नहीं हो सकता।]

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ।
ततो द्वेषाद् भवेत् त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥२८॥

जब कोई दारुण रोग, या दारुण क्रोध किसी पर आक्रमण करता है तब वह मर जाना चाहता है। इस दृष्टान्त को लेकर आत्मा में द्वेष की संभावना हो जाती है और सांप बिच्छू के समान यह आत्मा भी द्वेष के कारण त्याज्य हो जाता है ऐसी शंका का करना ठीक नहीं है [क्योंकि वह त्याग तो

आत्मा से भिन्न देह का ही हो सकता है। आत्मा का त्याग कभी हो ही नहीं सकता।]

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा।
न त्यक्तर्यस्ति स द्वेष स्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥२९॥

देख लो कि जो देह त्याग करने के योग्य है, वह तो आत्मा ही नहीं है। देह का त्याग करने वाला, देह से भिन्न जो जीव है, उसी को 'आत्मा' कहते हैं। प्रकृत तात्पर्य तो यही है कि—वह द्वेष त्याग करने वाले आत्मा से नहीं हो सकता। यदि किसी को त्याज्य देहादि पदार्थों में द्वेष हो तो उससे मेरे सिद्धान्त में क्या हानि होगी ? [जो मैं यह मान रहा हूँ कि आत्मा का त्याग नहीं हो सकता, उस मेरे मत में त्याज्य देहों में किसी रोगी या किसी क्रोधी को द्वेष हो भी तो उससे मेरे सिद्धान्त की क्षति नहीं होती।]

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः।
सिद्धो, यथा पुत्रमित्रात् पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥३०॥

[सुख और सुख के साधन पति-पत्नी आदि] सभी कुछ जब आत्मार्थ हो जाते हैं [जब ये सब अपने उपकारक हो जाते हैं] तभी प्रिय होते हैं, इस कारण से भी आत्मा ही अत्यन्तप्रिय माना जाता है। लोक में भी देखा जाता है कि—पुत्र के मित्र से [जिस पर कि हमारा प्रेम पुत्र के द्वारा होता] पुत्र ही [व्यवधानरहित प्रेम का पात्र होने के कारण] पिता को अधिक प्यारा लगता है [इसी प्रकार जो सब पदार्थ अपने सम्बन्धी होने के कारण प्रेम के पात्र बन गये हैं उन सब पदार्थों की अपेक्षा वह आत्मा अधिक प्यारा होता है]

मा न भूवमहं किन्तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥३१॥

अपने अनुभव से भी पूछ लो कि—'मेरा कभी भी असत्व न हो। किन्तु मैं सदा ही बना रहूँ' ऐसी प्रार्थना सभी प्राणी करते पाये जाते हैं। जब कि सभी ऐसी प्रार्थना करते हैं तब आत्मा में प्रत्यक्ष ही निरतिशय प्रीति सिद्ध हो जाती है।

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ।
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ॥३२॥

यों अनुभव युक्ति और श्रुति इन तीनों प्रमाणों से प्रथम कही हुई रीति से, यद्यपि आत्मा में निरतिशय प्रेम सिद्ध हो चुका है, तो भी श्रुत्यादि के रहस्यों को न समझने वाले कोई कोई पुरुष आत्मा को भी पुत्रभार्यादि का शेष किंवा उपकारक कहते हैं।

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ।
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ॥३३॥

वे कहते हैं कि—'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि श्रुति में इसी भाव से पुत्र को मुख्य आत्मा कहा है। पुत्र के मुख्य आत्मा होने की बात ऐतरेय आदि उपनिषदों में भी स्पष्ट कही गयी है।

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ।
अथास्येतर आत्मायं कृतकृत्यः प्रमीयते ॥३४॥

उनमें कहा गया है कि—इस पिता का यही वह पुत्ररूप आत्मा [जो पुरुष के देह में गर्भरूप से रहता है, जिसको बड़े प्रेम से पालनीय कहा जाता है] पुण्य कर्मों के करने के लिए, अपना प्रतिनिधि बना कर, छोड़ा जाता है। उसके पश्चात् इस

पिता का यह पितृरूप आत्मा अपने आप तो कृतकृत्य होकर मर जाता है।

सत्यप्यात्मनि लोकोस्ति नापुत्रस्यात एव हि ।
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ॥३५॥

'नापुत्रस्य लोकोस्ति' इस वाक्य में कहा गया है कि— आत्मा के होने पर भी अगर पुत्र नहीं है, तो पिता को पर-लोक नहीं मिलता। मनीषी लोग शिक्षित पुत्र को ही लोक्य [अर्थात् परलोक का साधन] बताते हैं।

मनुष्यलोको जय्यः स्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो ।
मुमूर्षुर्मन्त्रयेत् पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रकैः ॥३६॥

'सोयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा'(बृ० १–५–१६) इस वाक्य में कहा गया है कि मनुष्यलोक का सुख तो केवल पुत्र स हो सम्पादित हो सकता है। कर्म आदि दूसरे किसी साधन से मनुष्यलोक के सुख का उपार्जन नहीं हो सकता। [देखते हैं कि जिसके पुत्र नहीं होता उसको सुख के साधन धन सम्पत्ति को देख देख कर भी निर्वेद हुआ करता है] मुमूर्षु पिता को चाहिए कि मरते समय 'त्वं ब्रह्म' इत्यादि तीन मन्त्रों के द्वारा पुत्र का अनुशासन करे।

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ।
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते ॥३७॥

इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियों ने आत्मा को पुत्र भार्या आदि का शेष कहा है। इसके अतिरिक्त लौकिक लोग भी पुत्र की प्रधा-नता को मानते ही हैं।

स्वस्मिन् मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद् वित्तादिना यथा ।
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ॥३८॥

देखा जाता है कि—अपने मर जाने पर भी पुत्र पत्नी आदि, क्षेत्र आदि सम्पत्ति के द्वारा जैसे जीते रहें, वैसा यत्न यह प्राणी किया करता है। इससे यही सिद्ध होता है कि—पुत्र भार्या आदि ही मुख्य हैं [क्योंकि अपना प्रयास सह सह-कर भी पुत्रादि के जीवन का उपाय किया जाता है, इसी से समझते हैं कि पुत्रादि ही प्रधान हैं।]

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित् ।
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा ॥३९॥

इसका समाधान यह है कि—उक्त रीति से कहीं कहीं पुत्रादि मुख्य तो होते हैं। परन्तु केवल इतनी सी बात से यह आत्मा किसी का शेष नहीं बन जाता। गौण, मिथ्या तथा मुख्य ये तीन भेद आत्मा के होते हैं। [सो जिस जिस व्यव-हार में, जिस जिस तरह की आत्मता विवक्षित होती है, उस-उस व्यवहार में उस-उस आत्मा की प्रधानता मानी जाती है।]

देवदत्तस्तु सिंहोऽयमित्यैक्यं गौणमेतयोः ।
भेदस्य भासमानत्वात् पुत्रादेरात्मता तथा ॥४०॥

'यह देवदत्त तो शेर है' ऐसा जब कोई कहता है तब शेर तथा देवदत्त इन दोनों की जो एकता भासती है वह गौण है। क्योंकि इन दोनों का भेद तो प्रत्यक्ष ही प्रतीत होता रहता है। इसी प्रकार भेद के प्रत्यक्ष प्रतीत होते रहने के कारण पुत्रादि भी गौण आत्मा माने जा सकते हैं। [मुख्य नहीं]

भेदोस्ति पंचकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ ।
मिथ्यात्मतातः कोशानां स्थाणोश्चौरात्मता यथा ॥४१॥

आनन्दमयादि जो पांच कोष हैं, वे यद्यपि साक्षी से भिन्न हैं, परन्तु यह भेद किसी को भी भासता नहीं है । इस कारण इन कोशों को मिथ्या आत्मा कहा जाता है । जो स्थाणु वस्तुतः चोर से भिन्न है उस स्थाणु की चोररूपता जैसे मिथ्या होती है [ऐसे ही ये पांच कोष भी मिथ्या आत्मा कहा सकते हैं]

न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ।
सर्वान्तरत्वात् तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ॥४२॥

अप्रतियोगी होने के कारण, साक्षी का भेद न तो है ही और न प्रतीत ही होता है । सर्वान्तर होने के कारण उस साक्षी को ही मुख्य आत्मा माना जाता है ।

पुत्र या देह आदि का प्रतियोगी जैसे स्वयं होता है इस प्रकार स्वयं का कोई भी (सच्चा) प्रतियोगी नहीं होता, [क्योंकि देहादि सभी पदार्थ आरोपित हैं] इस कारण साक्षीरूप इस आत्मा का, पुत्रादि गौण आत्माओं की तरह, किसी से भी भेद प्रतीत नहीं होता है और न देहादि मिथ्या आत्माओं की तरह किसी से भेद है ही । देह या पुत्रादि जितने भी मिथ्या आत्मा या गौण आत्मा है, उन सभी से आन्तर होने के कारण इस साक्षी को ही मुख्य आत्मा माना जाता है ।

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता ।
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ॥४३॥

यों आत्मा के तीन प्रकार का होने पर भी जिन व्यवहारों में जिसको आत्मा होना चाहिये, उन व्यवहारों में वही आत्मा

प्रधान होता है । उससे भिन्न और दोनों तरह के आत्मा 'शेष' किंवा 'गौण' हो जाते हैं ।

आत्मा यद्यपि तीन प्रकार का है तौ भी पालन में 'पुत्र' 'मुख्यात्मा' होता है । पोषण के समय 'देह' ही 'मुख्यात्मा' माना जाता है । तथा ब्रह्मात्मत्व का अनुसन्धान करते समय 'साक्षी' को ही 'मुख्यात्मा समझा जाता है । जब इनमें से किसी एक को 'मुख्यात्मा' माना जाता है तब उस समय वही एक शेषी किंवा मुख्य होता है। उस समय उससे भिन्न और सबके सब शेष अथवा अमुख्य हो जाते हैं ।

मुमूर्षो गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ।
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः॥४४॥

गृहरक्षादि कामों में मुमूर्षु को गौणात्मा का ही उपयोग हो सकता है । मुख्यात्मा या मिथ्यात्मा का नहीं । इस कारण ऐसे कामों में पुत्र ही शेषी होता है ।

देख लो कि—घर की रक्षा आदि जो काम हैं उनमें पुत्र या भार्या आदि गौणात्माओं का ही उपयोग हो सकता है । क्योंकि वे उस के बाद भी जीवित रहना चाहते हैं। अविकारी होने के कारण मुख्य आत्मा [जो साक्षी है घर की रक्षा में उस] का तो कुछ उपयोग ही नहीं हो सकता। मिथ्या आत्मा [जो देह है वह] तो मरने को तैयार बैठा है । उससे भी घर की रक्षा नहीं हो सकती । इस कारण ऐसे काम में पुत्र ही 'शेषी' किंवा 'मुख्यात्मा' हो सकता है ।

अध्येता वन्हिरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते ।
अयोग्यत्वेन, योग्यत्वाद् बटुरेवात्र गृह्यते ॥४५॥

'यह पढ़ने वाला तो अग्नि है' इस वाक्य में, पढ़ने के अयोग्य होने के कारण [वहाँ पर] विद्यमान भी अग्नि नहीं लिया जाता। किन्तु उचित होने के कारण पढ़ने के योग्य तीव्र बालक का ही अग्नि शब्द से ग्रहण किया जाता है [इस दृष्टान्त के अनुसार ही, अपने मरने के बाद घर की रक्षा करने के लिये, अपने आपे को छोड़ कर, पुत्र को ही 'आत्मा' माना जाता है।]

कृशोऽहं पुष्टि माप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता।
न पुत्रं विनियुङ्क्तेऽत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ॥४६॥

'मैं अब कृश होगया हूँ, अब घी दूध खा कर पुष्ट हो जाऊँगा' इत्यादि लौकिक व्यवहारों में तो जो देह के लिये पुष्टि-कारक अन्न खा सकता है उस को ही 'आत्मा' समझना चाहिये। देखते हैं कि कोई भी अपने शरीर की पुष्टि को लक्ष्य बना कर पुष्टि करने वाले अन्न का भोजन, पुत्र को नहीं कराता [किन्तु स्वयं अपने देह को ही कराता है। ऐसे स्थलों में मिथ्या आत्मा यह देह ही—प्रधान हो सकता है। मुख्यात्मा को तो कुछ खिलाया ही नहीं जासकता। गौणात्मा को खिलाने से अपने शरीर में पुष्टि नहीं आती]

तपसा स्वर्ग मेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता।
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत् कृच्छ्रादिकं ततः ॥४७॥

'तप करके उससे स्वर्ग को पाऊँगा' इत्यादि व्यवहार जब किया जाता है, तब कर्ता जो विज्ञानमय है, वही आत्मा होना चाहिये [इस व्यवहार में देहादि को आत्मा मानें तो काम नहीं चलता। क्यों कि देह तो यहीं जल कर भस्म हो जाता है] यही कारण है कि देह के भोगों को लात मार कर कृच्छ्र

चान्द्रायण आदि व्रत किये जाते हैं [इन कृच्छ्रादि से कर्ता कहाने वाले विज्ञानमय का ही उपकार होता है। क्योंकि यही विज्ञानमय लोकान्तरगमन आदि किया करता है]

मोक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् ।
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किंचिच्चिकीर्षति ॥४८॥

'मुझे मुक्ति पानी है' यह विचार जब आता है तब इस विचार में चेतनतत्व ही आत्मा होना चाहिये। क्योंकि तब यह [अधिकारी] पुरुष गुरु [आचार्योपदेश] तथा शास्त्र [वाक्यार्थ] के विचार से उस चिदात्मतत्व को जान लेता है [कि मैं कर्ता भोक्ता आदि कुछ नहीं हूं। मैं तो सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्व ही हूँ] अपने इस रूप को जान चुकने के बाद यह पुरुष कुछ भी करना नहीं चाहता है। [इस मोक्षव्यवहार में चेतन तत्व ही आत्मा होना चाहिये। इस में कर्ता आदि आत्माओं से काम नहीं चल सकता]

विप्रक्षत्रादयो यद्वद् बृहस्पतिसवादिषु ।
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम् ॥४९॥

विप्र क्षत्रिय आदि जिस प्रकार पृथक् पृथक् बृहस्पति सवादियों में व्यवस्थित हैं [ब्राह्मण को बृहस्पतिसव का ही अधिकार है। राजसूय क्षत्रिय ही कर सकता है। वैश्यस्तोम वैश्य को ही करना चाहिये] इसी प्रकार 'गौण' 'मिथ्या' या मुख्य' तीनों प्रकार के 'आत्मा' यथायोग्य अपने अपने यवहारों में प्रधान रहते हैं।

तत्र तत्रोचिते प्रीति रात्मन्येवातिशायिनी ।
अनात्मनि तु तच्छेपे प्रीति रन्यत्र नोभयम् ॥५०॥

जिस जिस व्यवहार में जो जो आत्मा उचित होता है, उस व्यवहार में उसी उचित आत्मा [अथवा यों कहो कि उपयोगी होने से प्रधान बने हुए उसी आत्मा] में प्रेम की अधिकता हो जाती है। जो जो अनात्मपदार्थ उस आत्मा का शेष होता है, उस में भी प्रेम तो हो जाता है, परन्तु उस में निरतिशय प्रेम नहीं हो सकता। जो पदार्थ न तो आत्मा ही हो और न आत्मा का शेष [उपकारक, अंग] ही हो उसमें तो दोनों तरह का प्रेम [अतिशय प्रेम और साधारण प्रेम] नहीं पाया जाता।

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद् द्वेधा, मार्गतृणादिकम्।
उपेक्ष्यं, व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥५१॥

आत्मा और आत्मशेष से भिन्न जो पदार्थ होते हैं वे भी दो दो तरह के होते हैं—एक 'उपेक्ष्य' दूसरे 'द्वेष्य'। उनमें से मार्ग में पड़े हुए तिनके आदि उपेक्ष्य [उपेक्षा करने योग्य] होते हैं तथा अपने को हानि पहुँचाने वाले व्याघ्र या सर्प आदि 'द्वेष्य' होते हैं। यों संसार के पदार्थ चार श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं।

आत्मा, शेष, उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि।
न व्यक्तिनियमः किन्तु तत्तत्कार्यात् तथा तथा ॥५२॥

(१) आत्मा (२) आत्मा का शेष (३) उपेक्ष्य तथा (४) द्वेष्य ये चार श्रेणियां संसार के पदार्थों की हैं। इन चारों मे 'यही प्रियतम है' 'यही प्रिय है' 'यही उपेक्ष्य है' और 'यही द्वेष्य है' ऐसा कोई भी नियम नहीं हो सकता। किन्तु उन उन [उपकारादि] कामों के कारण ये वैसे वैसे हो जाया करते हैं

[ये अपना रूप बदल देते हैं । कभी प्रिय द्वेष्य हो जाते हैं और द्वेष्य प्रिय बन जाते हैं इत्यादि ।]

स्याद् व्याघ्रः संमुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः ।
लालनादनुकूलश्चेद् विनोदायेति शेषताम् ॥५३॥

देख लो कि—जो व्याघ्र सामने से [खाने को] आता है वह 'द्वेष्य' होता है । जब वह लौट कर दूसरी तरफ़ निकला चला जाता है तब वही 'उपेक्ष्य' हो जाता है । वही व्याघ्र यदि लालन से अपने अनुकूल हो जाय तो अपने विनोद की वस्तु हो जाती है, यों अपना उपकारक होकर अपना 'प्रिय' किंवा 'शेष' हो जाता है ।

व्यक्तीनां नियमो मा भूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः ।
आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ॥५४॥

यद्यपि 'प्रिय' 'अप्रिय' या 'उपेक्ष्य' आदि नाम की कोई भी एक नियत वस्तु नहीं होती, फिर भी व्यवहार की व्यवस्था तो लक्षण के कारण हो ही जाती है । अनुकूलता 'प्रिय' का लक्षण है । प्रतिकूलता 'द्वेष्य' का लक्षण बताया जाता है । जो तो अनुकूल भी न हो और प्रतिकूल भी न हो उसको 'उपेक्ष्य' मानते हैं ।

आत्मा प्रेयान्, प्रियः शेषो, द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ।
इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत् ॥५५॥

[इस सब का संक्षेप यही है कि]—आत्मा अत्यन्त प्रिय है । शेष अर्थात् अपने साधन बने हुए पदार्थ प्रिय कहाते हैं । आत्मा और आत्मा के शेष से भिन्न जितने भी पदार्थ होते

है, उन में से किसी से तो द्वेष होता है और किसी की उपेक्षा की जाती है। यों चार विभागों के कारण लोक की व्यवस्था हो रही है [इन चार विभागों के अतिरिक्त और किसी प्रकार के पदार्थ नहीं पाये जाते] आत्मा आदि की जो प्रियतमता आदि हमने बतायी है वह याज्ञवल्क्य को भी सम्मत है [देखो बृहदारण्यक मैत्रेयी ब्राह्मण]

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद् वित्तात् तथान्यतः ।
सर्वस्मादान्तरं तत्त्वं तदेतत् प्रेय इष्यताम् ॥५६॥

केवल मैत्रेयी ब्राह्मण में ही नहीं, किन्तु पुरुषविध ब्राह्मण में भी आत्मा को प्रियतम कहा है। वहाँ कहा गया है कि—पुत्र से, धनधान्य से और सभी कुछ से, यह आत्मतत्व अत्यन्त अन्दर का पदार्थ है। इस कारण इस को प्रेय [अर्थात् प्रियतम] मान लेना चाहिये।

श्रौत्या विचारदृष्ट्यायं साक्ष्येवात्मा न चेतरः ।
कोशान् पंच विविच्यान्तर्वस्तुदृष्टि विंचारणा ॥५७॥

प्रकृत में तो हमें इतना ही कहना है कि—श्रौती विचारदृष्टि करें तो यह अकेला साक्षी तत्व ही 'आत्मा' कहा सकता है। इस से भिन्न पुत्रादि कुछ भी आत्मा नहीं है। यदि [तैत्तिरीय श्रुति में बताये प्रकार से] अन्नमय आदि पांच कोशों को आत्मा से पृथक् कर लिया जाय और उन सब के अन्दर छिपी हुई जो आत्मवस्तु है उससे विचार की आंखें भिड़ा दी जांय, तो बस यही 'विचारणा' कहाती है।

जागरस्वप्नसुप्तीना मागमापायभासनम् ।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥५८॥

अन्दर की आत्मवस्तु को देखने की विधि किंवा आत्मविचार की पद्धति तो यह है कि—[आने जाने वाली जो] 'जागरण' 'स्वप्न' तथा 'सुषुप्ति' अवस्था हैं, इनमें से अगली के आने और पिछली के चले जाने की प्रतीति जिस नित्य चैतन्य रूप साक्षी से हुआ करती है वही स्वप्रकाशचिद्रूप पदार्थ 'आत्मा' है ।

शेषाः प्राणादिवित्तान्ता आसन्नास्तारतम्यतः ।
प्रीतिस्तथा तारतम्यात् तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥५६॥

शेष[अर्थात् उस साक्षी से भिन्न] प्राण से लेकर वित्तपर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं [जिन को आगे बताया गया है] न्यूनाधिक भाव से आत्मा के समीपवर्ती होते हैं। जिस अनुपात से वे आत्मा के समीपवर्ती हैं उसी अनुपात से उन सब (प्राणादियों) में प्रीति पायी जाती है ।

वित्तात् पुत्रः प्रियः,पुत्रात् पिण्डः,पिण्डात् तथेन्द्रियम् ।
इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः, प्राणादात्मा प्रियः परः ॥६०॥

[प्रीति की न्यूनाधिकता इस प्रकार होती है कि] धन से तो पुत्र प्यारा होता है। पुत्र की अपेक्षा शरीर पर अधिक प्यार किया जाता है। शरीर से इन्द्रियें अधिक प्यारी होती हैं। इन्द्रियों से प्राण प्यारे हैं। आत्मा तो प्राणों से भी बहुत अधिक प्रिय माना गया है ।

सभी प्राणी पुत्र की विपत्ति को हटाने के लिये धन को व्यय कर डालते हैं। पुत्र पर विपत्ति आने पर धन की पर्वाह नहीं की जाती। कभी कभी तो अपने देह की रक्षा के लिये पुत्रों तक को छोड़ दिया जाता है। इन्द्रियों के नाश को बचाने के लिये लाठी डण्डों की मार से देह को पिटवाना पड़ता है और

इन्द्रियों को बचा लेते हैं। मरने का प्रसङ्ग आपड़े तो इन्द्रियों का छेदन भी सहन किया जाता है और प्राणों को बचा लिया जाता है। आत्मा का कल्याण दीख पड़ता हो तो प्राणों का परित्याग करते हुए 'गर्व' और 'हर्ष' दोनों ही पाये जाते हैं। यों जो जो पदार्थ आत्मा के जितना जितना अधिक निकट है, वह उतना ही उतना अधिक प्रिय होता है। इस बातका अनुमोदन सभी का अनुभव कर रहा है। परन्तु आत्मा की सर्वाधिक प्रियता की ओर को पामर पुरुषों का ध्यान जाता ही नहीं। वहां तक तो विद्वानों का अनुभव ही पहुँच सकता है।

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः।
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येव निर्णयः॥६१॥

यों आत्मा की प्रियतमता प्रमाण से सिद्ध भी है तो भी ज्ञानी और अज्ञानी की विप्रतिपत्ति को हटाने के लिये श्रुति ने उन दोनों के विवाद का वर्णन कर दिया है और यही निर्णय किया है कि आत्मा ही प्रियतम है।

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात् प्रेयानित्याह तत्ववित्।
प्रेयान् पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः॥६२॥

'अन्य सब दृश्य पदार्थों से अधिक प्रिय तो यह साक्षी ही है' ऐसा तत्वज्ञानी समझता है। मूढबुद्धि का तो यह विचार होता है कि—प्रियतम तो पुत्रादि ही हैं यह साक्षी आत्मा तो इन [प्रियतम पुत्रादि] को भोगने के लिये इस संसार में उतरा है।

आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि।
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात् तयोः क्रमात्॥६३॥

आत्मा से भिन्न को प्रिय कहने वाले दो होते हैं—एक

'शिष्य' दूसरा 'प्रतिवादी'। शिष्य के लिये उत्तर यही है कि उसे आत्मबोध कराया जाय [और उसके अनुभव से ही आत्मा की प्रियता को कहलाया जाय] प्रतिवादी के लिये उत्तर यही है कि उसे शाप दिया जाय—उसे भय अर्थात् इस मन्तव्य से होने वाली हानि दिखायी जाय [जैसा कि ६९ श्लोक में दिखाया गया है।]

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्ववित् ।
स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ॥६४॥

[तत्वज्ञानी पुरुष शिष्य और प्रतिवादी दोनों को एक ही उत्तर देता है कि]—हे शिष्य ! या हे प्रतिवादिन् तेरा माना हुआ [पुत्रादिरूपी] प्रिय जब नष्ट होने लगेगा तब वह तुम्हें [दोनों को] रुलायेगा। [रोक लेगा,बांध कर बैठा लेगा] शिष्य जब इस उत्तर को सुनता है तब अपने प्रेमपात्र पुत्रादि के दोषों का निम्नरीति से विचार करके उनकी दोषदुष्टता को पहचान जाता है।

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥६५॥
जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ।
उपनीतेऽप्यविद्यत्व मनुद्वाहश्च पण्डिते ॥६६॥
यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥६७॥

दोषों का विचार करने की रीति यह है कि—जब पुत्र की आशा नहीं होती तब माता पिता को उस अजात पुत्र से चिर-काल तक बड़ा क्लेश रहता है। पुत्र की आशा भी हो और गर्भपात हो जाय तब और भी क्लेश होता है। प्रसव काल में

माता को अकथनीय दुःख देता है। उत्पन्न होने पर ग्रहपीडा या रोगों का आक्रमण हो जाय तो माता पिता को बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता है। कुमारावस्था में यदि वह विद्या न पढ़ने लगे तो भी माँ-बाप दुःखी ही रहते हैं। उपनयन हो जाने पर यदि विद्या प्राप्त न कर सके तो भी दुःख का कारण बन जाता है। पण्डित होकर यदि उसका विवाह न हो सके तो मां बाप के कष्ट का अन्त ही मत पूछो। युवा होकर यदि परस्त्री-गमनादि दुराचार करने लगे तो मां बाप मुँह दिखाने योग्य भी नहीं रहते। सन्तान वाला होकर भी यदि वह दरिद्र रहे तो भी वे उससे चिन्तित ही रहते हैं। धनी होकर भी यदि वह भरी जवानी में मर जाय तब तो माता पिता की आंखों के सामने अंधेरा हो जाता है। यों माता पिता की कष्टकथा का अन्त ही नहीं होता।

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा, निजात्मनि।
निश्चित्य परमां प्रीतिं, वीक्षते तमहर्निशम् ॥६८॥

इस प्रकार पुत्र, स्त्री आदि जितने भी प्रिय प्रतीत होने वाले पदार्थ हैं, उनके दोषों को जानकर, उनसे प्रेम छोड़कर, अपने आत्मा में ही परम प्रेम का निश्चय करके, दिन रात उस आत्मा का ही अनुसन्धान करने लग जाता है।

आग्रहाद् ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षममुञ्चतः।
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ॥६९॥

आग्रह से [कि पुत्रादि की प्रियता को तो मैं कभी छोड़ ही नहीं सकता हूँ] तथा ब्रह्मविद्वेष से [कि इसके कहे हुए ब्रह्म की तो मैं धज्जी उड़ा डालूँगा] अपने पक्ष को न छोड़ने वाले

प्रतिवादी को नरक मिलता है तथा अनेक योनियों में दोष देखने पड़ते हैं [उसे अनेक तिर्यगादि जन्मों में कभी इष्ट का वियोग होगा और कभी अनिष्ट की प्राप्ति होगी। यही शाप ज्ञानी लोग दिया करते हैं। उनके 'प्रियं त्वां रोत्स्यति' कहने का यही अभिप्राय होता है।]

ब्रह्मविद् ब्रह्मरूपत्वादीश्वर स्तेन वर्णितम् ।
यद्यत् तत्तत् तथैव स्यात् तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ॥७०॥

[ईश्वरोह तथैव स्यात् बृ-१-४-८ इस वाक्य में कहा गया है कि] ब्रह्मज्ञानी को अपने ब्रह्मत्व का अनुभव हो गया है। इस से वह ईश्वर पद को पा चुका है। अब वह अपने शिष्यादि के प्रति जो [भली या बुरी] बात कहता है, उस ज्ञानी का जो शिष्य है, या जो प्रतिवादी है, उन दोनों को उसका कहा हुआ इष्ट या अनिष्ट अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। [यों ज्ञानी का कहा हुआ एक ही वाक्य शिष्य के लिये उपदेश और वादी के लिये शाप रूप हो जाता है]

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ।
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ॥७१॥

['आत्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति' (बृ-१-४-८) इस वाक्य में कहा गया है कि] जो शिष्य आत्मा को ही निरतिशय प्रेम का पात्र समझ कर सदा आत्मा की सेवा करता है [किंवा सदा आत्मस्मरण रखने लगता है] उसका प्रिय माना हुआ यह आत्मा, वैसे कभी भी नष्ट नहीं हो जाता, जैसे प्रतिवादी का माना हुआ प्रिय नष्ट

हो जाता है [किन्तु वह तो सदानन्द रूप हो कर भासने लगता है]

परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपता ।
सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥७२॥

[यों यहां तक यह सिद्ध हो चुका कि] निरतिशय प्रेम का विषय होने से यह आत्मा परमानन्दरूप है । [तैत्तिरीय और बृहदारण्यक श्रुतियों में बताया गया है कि] चक्रवर्ती राजा से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त पदों में जहां जहां प्रीति की वृद्धि होती है, वहां वहां सुख की भी वृद्धि होती है । यों जब प्रीति की निरतिशयता भी समझ में आसकती है तब आनन्द की निरतिशयता भी समझी जा सकती है । [राजा को अपने उपकरणों (साधनों) में प्रीति अधिक होती है तो उसे सुख भी अधिक ही होता है]

चैतन्यवत् सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ।
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा ॥७३॥

शंका यह होती है कि—यदि चैतन्य के समान सुख या आनन्द भी चिदात्मा का स्वभाव हो, तो जैसे सब बुद्धिवृत्तियों में चैतन्य की अनुवृत्ति होती है वैसे सब बुद्धिवृत्तियों में आनन्द की भी अनुवृत्ति होनी चाहिये ।

मैव मुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ॥७४॥

यह शंका न करनी चाहिये । दृष्टान्त में देख लो कि—दीप के दो स्वरूप हैं एक 'उष्ण' दूसरा 'प्रकाश' । घर में जब दीपक जलता है तब उसकी प्रभा तो घर को व्याप्त कर लेती

है परन्तु उसकी उष्णता व्याप्त नहीं करती। ठीक इसी प्रकार बुद्धिवृत्तियों में चैतन्य की तो अनुवृत्ति हो जाती है परन्तु आनन्द की अनुवृत्ति नहीं होती।

गन्धरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक्।
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥७५॥

एक द्रव्य में गन्ध, रूप, रस और स्पर्श सभी रहते हैं, परन्तु एक इन्द्रिय, इनमें से एक ही गुण को ग्रहण करती है, दूसरे को नहीं। ठीक इसी प्रकार चैतन्य और आनन्द इन दोनों में से, केवल चैतन्य का भास लोगों को होता है, आनन्द का नहीं होता।

चिदानन्दौ नैव भिन्नौ गन्धाद्यास्तु विलक्षणाः।
इति चेत् तदभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ॥७६॥

यदि कहा जाय कि—दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में तो बड़ी विषमता है। क्योंकि चित् और आनन्द तो भिन्न नहीं हैं, गन्धादि तो परस्पर भिन्न भिन्न हैं। तो उत्तर देने से पहले यह बताओ कि—चित् और आनन्द का जो अभेद है वह साक्षी आत्मस्वरूप में है ? या कहीं अन्यत्र है [या यह भेद उसकी उपाधि कहाने वाली वृत्तियों में है। पूछने का तात्पर्य यह है कि चिदानन्द का अभेद स्वाभाविक है या औपाधिक है ?]

आद्ये गन्धादयोऽप्येवमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः।
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात् तयोर्भिदा ॥७७॥

चित् और आनन्द का साक्षी में कोई भेद नहीं है, इस पक्ष में, पुष्प में रहने वाले गन्धादि भी इसी तरह [साक्षी में] परस्पर भेद रहित हैं। क्योंकि एक को छोड़कर एक को उस

में से लाया ही नहीं जा सकता । अब यदि भेद को औपाधिक मानें, अर्थात् गन्धादि को ग्रहण करने वाली घ्रणादि इन्द्रियों के भेद से ही, उन गन्धादि में भी भेद मान लें तब तो ठीक उसी तरह वृत्ति भेद के कारण [क्रमानुसार चित् और आनन्द को अभिव्यक्त करने वाली राजस और सात्विक वृत्तियों के भिन्न भिन्न होने से] उन चिदानन्दों का भी औपाधिक भेद हो ही जायगा ।

सत्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः ।
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात् सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः॥७८॥

[चित् और आनन्द की एकता देखनी हो तो सात्विक वृत्तियों में देखो] पुण्य कर्मों के प्रताप से जब बुद्धिवृत्ति का सात्विक परिणाम होता है तब चित् और आनन्द की एकता भासने लग पड़ती है । क्योंकि सात्विक वृत्तियें निर्मल होती हैं । [इन दोनों के भेद के भासने का कारण भी सुन लो कि] रजोवृत्तियों के मलिन होने के कारण इनमें सुखभाग दीखना बन्द हो जाता है । [तब भूल से यह समझा जाता है कि हम चित् ही चित् हैं सुख हम में है ही नहीं, सुख तो कहीं से लाना होगा]

तिंतिणीफल मत्यम्लं लवणेन युतं यदा ।
तदाम्लस्य तिरस्कारा दीषदम्लं यथा तथा ॥७९॥

[होता हुआ भी सुखभाग कैसे ढक जाता है ? क्यों नहीं दीखता ? इसके लिये दृष्टान्त देख लो] जैसे कि इमली का फल बहुत खट्टा होता है, जब उसमें नमक मिला दिया जाता है तब उसकी खटाई छिप जाती है और बहुत कम हो जाती है । इसी प्रकार रजोवृत्तियों में भी आनन्द का तिरोभाव हो जाता है ।

ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दतात्मनि ।
विवेक्तुं शक्यतामेवं विना योगेन किं भवेत् ॥८०॥

[रहस्य बात पूछता है कि]ऊपर जिस रीति से समझाया गया है, उस रीति से परम प्रेम का स्थान होने के कारण आत्मा की परमानन्दता का विवेक हो भी सकता हो, तो भी ऐसे थोथे विवेक से क्या होना है ? मुक्ति के साधन योग के विना क्या होगा ? [क्योंकि मुक्ति का साधन अपरोक्ष ज्ञान तो योग से होता है]

यद्योगेन तदेवेति वदामो, ज्ञानसिद्धये ।
योगः प्रोक्तो, विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते ॥८१॥

[इस का उत्तर हम यह देते हैं कि] जो योग से होना है, वही इस विवेक से हाथ आ जायगा [भाव यह है कि जैसे योग अपरोक्ष ज्ञान का कारण है वैसे विवेक से भी अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है] पहले अध्याय में अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि के लिये जैसे योग बताया है इसी प्रकार [इस अध्याय में दिखाये हुए गौण आदि आत्माओं के विवेक के द्वारा पांच कोषों के] विवेक से भी ज्ञान उत्पन्न हो ही जाता है ।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥८२॥

[गीता स्मृति में कहा भी है कि] सांख्य [अर्थात् आत्मानात्मविवेकी] लोग जिस मोक्षरूप स्थान को पा लेते हैं योगी लोग भी उसी को पा लेते हैं। यों गीता में 'योगी' और 'विवेकी' दोनों के फलों की एकता बतायी गयी है [ज्ञान के द्वारा मोक्ष-रूपी एक ही फल दोनों के हाथ लग जाता है]

असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥८३॥

कोई अधिकारी ऐसे होते हैं कि उनके लिये 'योग' असाध्य होता है। किन्हीं को तो ज्ञान का निश्चय होना कठिन हो जाता है। यों अधिकारियों की विचित्रता के कारण, परमेश्वर ने 'ज्ञान' और 'योग' दोनों मार्गों को कहा है।

योगे कोतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः।
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः ॥८४॥

आपके योग में तो इस ज्ञान से कोई भी उल्लेखयोग्य विशेषता नहीं पायी जाती। देख लो कि—'विवेक' और 'योग' दोनों का ज्ञानरूपी एक ही फल होता है। जैसे योगी लोग रागद्वेप से रहित होते हैं वैसे ही विवेकी लोग भी रागद्वेप से हीन पाये जाते हैं।

न प्रीति र्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः ॥८५॥

जिस विवेकी को यह मालूम हो जाता है कि—आत्मा ही एक प्रियतम पदार्थ है, उसे फिर विषयों में प्रीति ही नहीं रहती यही कारण है कि फिर उसे किन्हीं विषयों में राग भी नहीं होता। क्योंकि वह किसी विषय को अनुकूल ही नहीं मानता। फिर उसे किसी से द्वेष भी नहीं होता। क्योंकि वह किसी विपय को अपने प्रतिकूल ही नहीं समझता।

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि।
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः ॥८६॥

देहादि के प्रतिकूल जितने पदार्थ होते हैं, उनसे जैसे विवेकी लोग द्वेष करते हैं, वैसे योगी भी करते हैं। यदि कहो कि [प्रतिकूल विच्छू सांप आदि से] द्वेष करने वाले को तो हम योगी ही नहीं मानते, तो हम कहेंगे कि वैसे द्वेषी को हम विवेकी भी कब कहते हैं ? [वैसा द्वेष करने वाला तो विवेकवान् भी नहीं माना जा सकता]

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम् ।
समाधौ नेति चेत् तद्वन्नाद्वैतत्वविवेकिनः ॥८७॥

व्यवहार काल में जैसे योगी को द्वैत का प्रतिभान होता रहता है, वैसे ही विवेकी को भी हुआ करता है। यदि कहो कि—योगी को समाधि करते समय द्वैत का भान नहीं होता, [यही योगी में विवेकी से विशेषता है] तो हम कहेंगे कि उसी तरह विवेकी को भी जब वह अद्वैत आत्मतत्वका विवेक करने बैठता है, तब द्वैत का प्रतिभान नहीं रहता।

विवक्ष्यते तदस्माभि रद्वैतानन्दनामके ।
अध्याये हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमङ्गलम् ॥८८॥

विवेकी को जैसे द्वैत का भान नहीं रहता है सो तो हम अद्वैतानन्द नाम के अगले तीसरे अध्याय में कहेंगे। यों सभी कुछ मङ्गल ही मङ्गल है।

सदा पश्यन्निजानन्द मपश्यन्निखिलं जगत् ।
अर्थाद् योगीति चेत् तर्हि संतुष्टो वर्धतां भवान् ॥८९॥

जो सदा आत्मानन्द को देखता रहता है, जिसे यह सम्पूर्ण जगत् नहीं दीखता [जिसको द्वैत का दर्शन बन्द हो जाता है] वह तो एक प्रकार से योगी ही हो गया है, ऐसा यदि तुम कहो

तो अच्छा तुम ऐसे ही सन्तुष्ट हो जाओ और वृद्धि पाओ। हम कब कहते हैं कि उपासना करनी ही चाहिये। ब्रह्मज्ञान से बढ़कर और है ही क्या।

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये ।
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः ॥९०॥

ब्रह्मानन्द नाम के ग्रन्थ के इस द्वितीयाध्याय में मन्दाधिकारी पर अनुग्रह करने के लिए 'आत्मानन्द' का विवेचन किया गया।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दः

ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्दप्रकरणम्

योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम् ।
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु ॥१॥

जिसको पहले 'योगानन्द' कहा है उसी को 'आत्मानन्द' समझलो—[उसमें और उसमें कोई भेद नहीं है]यह सद्वितीय आत्मानन्द ब्रह्मानन्द कैसे हो सकता है सो भी सुन लो ।

प्रथमाध्याय में 'ब्रह्मानन्द' 'विद्यानन्द' तथा 'विषयानन्द' इन तीन तरह का आनन्द बताया था । द्वितीयाध्याय में उन तीनों आनन्दों से अधिक एक और आत्मानन्द का वर्णन कर चुके हैं । उसका अभिप्राय यह है कि—जिसको प्रथमाध्याय में योगानन्द कहा था उसी को आत्मानन्द समझो । उसमें और उसमें कोई भी भेद नहीं है । भाव यह है कि—योग के द्वारा साक्षात्कार होने के कारण उसी ब्रह्मानन्द को योगानन्द कह देते हैं । जब तो इस योगरूपी उपाधि की विवक्षा नहीं रहती तब उसे सीधे शब्दों में ब्रह्मानन्द या निजानन्द ही कहने लगते हैं । इसी प्रकार गौण आत्मा कौन है ? मिथ्या आत्मा कौन से हैं ? मुख्य आत्मा किसे कहते हैं ? इस आत्मविवेचन के बाद जिस आनन्द की प्राप्ति होती है उसे 'आत्मानन्द' कह दिया है । असल में योगानन्द और आत्मानन्द एक ही बात है । जिस द्वारा वह आनन्द प्रकट होता है, उसी के नाम से

उसका नाम रख लिया जाता है। फिर प्रश्न यह होता है कि जिस आत्मानन्द का वर्णन हो चुका है, वह तो सद्वितीय है। उसके साथ तो, उसके सजातीय पुत्र स्त्री आदि गौण आत्मा देहादि मिथ्या आत्मा, तथा उसके विजातीय आकाशादि पदार्थ विद्यमान रहते हैं, फिर ऐसे आत्मानन्द को ब्रह्मानन्द कैसे मान लें ? इसका उत्तर अगले श्लोक में दिया है।

आकाशादिस्वदेहान्तं तैत्तिरीयश्रुतीरितम् ।
जगन्नास्त्यन्यदानन्दादद्वैतब्रह्मता ततः ॥२॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः (तै० २-१) इस तैत्तिरीय श्रुति में जिस आकाशादि स्वदेहपर्यन्त जगत् का वर्णन आया है, [जिसके होने से द्वैत की शंका पैदा हो सकती है] वह सब [जगत् का कारण जो आनन्द है उस आनन्द से पृथक् कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि [उस सब के रहने पर भी वह आत्मानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूप ही है। [आकाश आदि देहपर्यन्त जगत् में द्वैत की शंका मत करो। यह सब मूल में अद्वैत ब्रह्मतत्व ही है।]

आनन्दादेव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत् ।
आनन्द एव लीनं चेत्युक्तानन्दात् कथं पृथक् ॥३॥

[आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते (तै०३-६) इस श्रुति में कहा गया है कि] आनन्द से ही वह उत्पन्न हुआ है [समागम होने पर माता पिता को जब आनन्द आता है तब यह जगत् उत्पन्न होता है] वह आनन्द में ही निवास करता है [आनन्द के बिना इसका ठहरा रहना कठिन हो जाता है। इस आनन्द से निराश हो जाने पर कुए में डूब कर या विष आदि

खाकर मर जाता है] अन्त में भी आनन्द में ही लीन हो जाता है। जब श्रुति स्वयं यह बात कह रही है तो यह जगत् अपने कारण उक्त आनन्द से पृथक् कैसे है ? तुम्हीं बताओ।

कुलालाद् घट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शङ्कयताम्।
मृद्वदेष उपादानं, निमित्तं न कुलालवत् ॥४॥

कुम्हार से घट उत्पन्न हुआ है और वह उससे भिन्न भी है, ऐसी शंका न करो। क्योंकि यह आत्मानन्द तो, मिट्टी जैसे घड़े का उपादान कारण होती है इसी प्रकार, इस जगत् का उपादान कारण है। यह कुम्हार की तरह का केवल निमित्त कारण नहीं है। [यह तो जाले का मकड़ी की तरह निमित्त भी है और उपादान भी है।]

स्थितिर्लयश्च कुम्भस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित्।
दृष्टौ तौ मृदि, तद्वत् स्यादुपादानं तयोः श्रुतेः ॥५॥

कुम्भ की स्थिति और कुम्भ का लय, कुम्हार में कभी नहीं होते [इस कारण कुम्हार उसका उपादान नहीं होता] घड़े की स्थिति और घड़े का लय उसके उपादान मिट्टी में ही होते हुए प्रत्यक्ष देखे गये हैं। ठीक उसी तरह जगत् का उपादान आनन्द ही है। श्रुति ने स्वयं अपने मुख से जगत् की स्थिति और जगत् के लय को आनन्द में होता हुआ माना है।

उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्ति, परिणामि च।
आरम्भकं च, तत्रान्त्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ॥६॥

उपादान तीन प्रकार का होता है—एक 'विवर्ती' दूसरा 'परिणामी' तीसरा 'आरम्भक'। इनमें से 'आरम्भ' और 'परिणाम' ये दोनों ही पक्ष निरवयव वस्तु में लागू नहीं हो सकते।

आरम्भवादिनोऽन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिमूचिरे ।
तन्तोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तन्तुपटौ खलु ॥७॥

आरम्भवादी [वैशेषिक नैयायिक आदि] कहते हैं कि अन्य [कार्य से सर्वथा भिन्न रहने वाले कारण] से अन्य अर्थात् कार्य नाम की वस्तु उत्पन्न हुआ करती है [जो कि उससे सर्वथा भिन्न ही होती है] वे कहते हैं कि तन्तु से वस्त्र की उत्पत्ति देखी जाती है। इस कारण वे तन्तु और वस्त्र परस्पर भिन्न ही है। [क्योंकि पट से निकलने वाले काम तन्तुओं से नहीं निकाल सकते ।]

अवस्थान्तरतापत्ति रेकस्य परिणामिता ।
स्यात् क्षीरं दधि,मृत् कुम्भः,सुवर्णं कुण्डलं यथा ॥८॥

एक ही वस्तु जब पहली अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था में आ जाती है तब उसी को 'परिणाम' कहते हैं। जैसे कि परिणाम होने पर दूध दही हो जाता है, मिट्टी घड़ा बन जाती है, सोने की बाली हो जाती है ।

अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत् ।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ, व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ॥९॥

अपनी पूर्वावस्था भी न छूटे और दूसरी अवस्था का भान भी होने लग पड़े तो इसे 'विवर्त' कहते हैं। रज्जुसर्प इसका उदाहरण है [रज्जुरूप से विद्यमान जो पदार्थ है वही सर्परूप से भी भासने लगता है। यद्यपि हमने सावयव पदार्थ का ही दृष्टान्त दिया है परन्तु] यह विवर्त निरवयव पदार्थों में भी देखा जाता है। देखते हैं कि आकाश यद्यपि निरवयव है तो भी वह तल सा दीखा करता और उसमें भी नीलवर्णता की

कल्पना अर्थात् आरोप [उस आकाश के रूप को न जानने वाले लोग] कर ही लेते हैं।

ततो निरंश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम् ।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैन्द्रजालिकशक्तिवत् ॥१०॥

ऊपर के दृष्टान्त से जब कि निरंश में भी विवर्त होना सम्भव है तब यह भी मान ही लेना चाहिए कि—निरवयव आनन्द में यह जगत् कल्पित कर लिया गया है। कल्पना करने वाले की तलाश हो तो मायाशक्ति को ही कल्पना करने वाली मान लो। इसका दृष्टान्त देखना चाहो तो ऐन्द्रजालिक की शक्ति को देख लो [ऐन्द्रजालिक में रहने वाली जो मणि-मन्त्रादिरूपी माया शक्ति होती है, वह गन्धर्वनगर आदि की कल्पना कर डाला करती है। क्या यह बात हम लोक में नहीं देखते हैं ?]

शक्तिः शक्तात् पृथङ् नास्ति तद्वद् दृष्टे, न चाभिदा ।
प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ॥११॥

शक्ति शक्ति वाले से भिन्न नहीं है क्योंकि ऐसा ही [अभिन्न होना ही] देखा जाता है। शक्ति शक्ति वाले से अभिन्न भी नहीं है क्योंकि [अकेली] शक्ति का प्रतिबन्ध देखने में आता है। यदि शक्ति [उससे पृथक्] कोई चीज नहीं है तो बताओ कि यह प्रतिबन्ध किस वस्तु का होता है ?

प्रश्न यह है कि—आनन्दात्मा से भिन्न माया को मानें तो द्वैत मानना पड़ता है। इसका उत्तर हमें यह देना है कि वह माया तो अनिर्वचनीय होने से अनृत है। इसीसे द्वैत नहीं बनता। देखलो कि लौकिक अग्नि आदि की शक्तियों को भी भिन्न या

अभिन्न कुछ भी बताया नहीं जा सकता। क्योंकि अग्नि आदि की शक्ति अग्नि आदि के स्वरूप से भिन्न नहीं होती है। क्योंकि अग्नि आदि के स्वरूप से पृथक् वह दीख ही नहीं पड़ती है। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि मणिमन्त्रादि से शक्ति का प्रतिबन्ध होता पाया जाता है। इस कारण अग्नि आदि के स्वरूप से भिन्न शक्ति माननी चाहिए। यदि अग्न्यादि से भिन्न शक्ति न मानोगे तो बताना होगा कि वह प्रतिबन्ध किस का होता है ?

शक्तेः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबन्धनम् ।
ज्वलतोग्नेरदाहे स्यान्मन्त्रादिप्रतिबन्धता ॥१२॥

शक्ति वैसे तो किसी को भी आंखों से नहीं दीखती। उसे तो केवल कार्य से ही अनुमान कर सकते हैं। फिर जब कारण होने पर भी कार्य न होता हो तब प्रतिबन्ध को मानना पड़ता है। दृष्टान्त देख लो कि—जब आग जल रही हो और दाह न होता हो तब यह मानना होता है कि मन्त्रादि ने शक्ति का प्रतिबन्ध कर दिया है।

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन् ।
परास्य शक्ति विविधा क्रियाज्ञानबलात्मिका ॥१३॥

[ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् (श्वे० १-३) इस श्रुति में कहा गया है कि] मुनि लोग जगत् के कारण को जानने की इच्छा से, जब ध्यान योग में बैठे, तब उन्होंने देव अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा की मायारूपी शक्ति को देख पाया, जो शक्ति अपने गुणों [अर्थात् अपने कार्य स्थूल-सूक्ष्म शरीरों] से छिपी बैठी थी ये [शरीर जिस का प्रत्यक्ष

दर्शन नहीं होने देते थे। पारास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वे० ६-८) इस में कहा गया है कि] जगत् को बनाने वाली, उस ब्रह्म की पराशक्ति, नाना प्रकार की सुनी गयी है। वह माया शक्ति क्रिया ज्ञान और बल अर्थात् इच्छा रूप होती है*।

इति वेदवचः प्राह, वसिष्ठश्च तथाब्रवीत् ।
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥१४॥

माया के विषय में उपर्युक्त बात श्रुतियों ने कही है। वसिष्ठमुनि ने भी इस मायाशक्ति की विचित्रता का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि वह परब्रह्म सर्वशक्तियुक्त है, वह ब्रह्म नित्य पूर्ण और अद्वितीय है [यों उन्होंने क्रमानुसार ब्रह्म के सोपाधिक रूप का भी और निरुपाधिक रूप का भी कथन कर दिया है।]

ययोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति ।
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेषूपलभ्यते ॥१५॥

वह परब्रह्म, जब जब, जिस जिस, मायाशक्ति के कारण उल्लास किंवा विकास को प्राप्त हो जाता है, तब तब वह वह शक्ति हम पर प्रकट हो जाया करती है [अर्थात् जब वह शक्ति प्रकट नहीं भी होती तब भी अप्रकट दशा में ब्रह्म में यह जगत् रहता है। हे राम ! तुम देखलो कि देवतिर्यङ् मनुष्यादि शरीर में

* कभी वह शक्ति ज्ञान रूप हो जाती है, फिर इच्छा रूप में दीखती है, फिर क्रिया रूप में हो जाती है, कभी कभी दो या तीनों रूप एक साथ धारण कर लेती है।

वही चिच्छक्ति देखी जा रही है । [उस शक्ति के क्षुद्र कण ही नाना शरीरों की चेतना के रूप में जब तब प्रकट होते रहते हैं]

स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्ति स्तथोपले ।
द्रवशक्तिस्तथाम्भःसु दाहशक्तिस्तथानले ॥१६॥
शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ।

वायु में उसकी स्पन्दशक्ति प्रकट होती है। पत्थर में उसकी दार्ढ्य शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है । जलों में उसकी द्रवशक्ति प्रकट दशा में देखी जा सकती है । अग्नि में उसकी दाहशक्ति देखने में आती है । आकाश में उसकी शून्यशक्ति पायी जाती है । विनाशी पदार्थों में उसकी नाशशक्ति को देख सकते हैं ।

यथाण्डेऽन्तर्महासर्पो जगदस्ति तथात्मनि ॥१७॥

[कहाँ तक कहूँ] जैसे सांप के अण्डे के भीतर महासर्प अनभिव्यक्त दशा में छिपा पड़ा रहता है, इसी प्रकार आत्मा में यह जगत् अनभिव्यक्त दशा में रहता है ।

फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् ।
ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥१८॥

फल फूल पत्ते लता शाखा टहनी और मूल वाला पेड़ जैसे एक बीज में [सूक्ष्म रूप में छिपा] रहता है इसी प्रकार यह विचित्र जगत् ब्रह्म में रहता है ।

क्वचित् काश्चित् कदाचिच्च तस्मादुद्यन्ति शक्तयः ।
देशकालविचित्रत्वात् क्ष्मातलादिव शालयः ॥१९॥

देश और काल के विचित्र होने के कारण कहीं किसी देश में और किसी काल में कोई कोई शक्तियें अभिव्यक्त हो जाती

हैं [सब शक्तियें एक स्थान और एक काल में ही उदित नहीं होतीं] देखते हैं कि भूमि में बहुत से बीज पड़े रहते हैं परन्तु वे सब एक साथ उदित नहीं होते। किन्तु किसी देश और किसी काल [ऋतु] में कोई कोई बीज अंकुर को उत्पन्न कर देते हैं।

स आत्मा सर्वगो राम ! नित्योदितमहावपुः ।
यन्मनाङ् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥२०॥

हे राम ! सर्वत्र विद्यमान नित्य प्रकाशमान तथा देश कालादि की मर्यादा में कभी न आने वाले स्वरूप वाला वह आत्मा जिस समय [आत्मबोध कराने वाली] मनन शक्ति को [जो कि माया का परिणाम रूप है] धारण कर लेता है, तब उसको 'मन' कहने लगते हैं।

आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टी
पश्चात् प्रपंचरचना भुवनाभिधाना ।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभगबालजनोदितेव ॥२१॥

[मनन शक्ति का उल्लास जब होता है तब] पहले तो मन [उत्पन्न] होता है। उसके पश्चात् बन्ध और मोक्ष की कल्पना जाग पड़ती है। उसके अनन्तर पर्वत नगर नदी समुद्रादि प्रपंच की रचना—जिसको भुवन भी कहते हैं—हो जाती है। इस तरह की यह जगत् की अवस्था प्राणियों के जी में जम गई है [कल्पित होने पर भी सच्ची सी प्रतीत होने लगती है] कहानी सुनने के शौकीन बच्चों को सुनाई हुई कथा को जैसे वे बच्चे सच्ची ही मान लेते हैं, इसी प्रकार यह जगत् भी सत्य माना जाने लगा है।

बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम् ।
क्वचित् सन्ति महाबाहो राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ॥२२॥
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भे एव न च स्थितः ।
वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्तासति पत्तने ॥२३॥
स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गत्य विमलाशयाः ।
गच्छन्तो गगने वृक्षान् ददृशुः फलशालिनः ॥२४॥
भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते ।
सुखमद्य स्थिताः पुत्र ! मृगयाव्यवहारिणः ॥२५॥
धात्र्येति कथिता राम ! बालकाख्यायिका शुभा ।
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया ॥२६॥

बालकों को बहलाने के लिए धायी एक बड़ी मनोहर कहानी कहा करती हैं कि—किसी देश में तीन बड़े सुन्दर राजकुमार रहते हैं। उनमें से दो तो अभी तक उत्पन्न ही नहीं हुए हैं। और एक तो अभी तक गर्भ में ही नहीं आया है। वे तीनों के तीनों बड़े धर्मपूर्वक एक अत्यन्त असत् नगर में रहते हैं। एक बार वे तीनों उदार राजकुमार अपने शून्य नगर में से निकल कर जा रहे थे कि उन्होंने आकाश में फलों से लदे हुए बहुत से पेड़ देखे। वे तीनों राजपुत्र भविष्यत् नगर में शिकार खेलते खेलते आज आनन्द पूर्वक रह रहे हैं। हे राम ! धायी ने ये एक बड़ी मनोहर कहानी कही थी। वह भोला बच्चा अपनी विचारशून्य [भोली] बुद्धि से इसे ठीक मान बैठा।

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ।
बालकाख्यायिकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ॥२७॥

ठीक इसी प्रकार इस संसाररचना का हाल है [विचार कर देखें तो कहीं भी इसकी शृंखला नहीं जुड़ती। खोदते खोदते रेत की दीवार की तरह,विचार करते करते ही यह तितर बितर हो जाती है] परन्तु जिनके चित्त को विचार करना नहीं आता बालकों की कहानी की तरह उनके लिए ही यह संसाररचना सच्ची हो जाती है।

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ।
वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ॥२८॥

इत्यादि उपाख्यानों के द्वारा मायाशक्ति का विस्तृत निरूपण वसिष्ठ ने किया है। उसी मायाशक्ति का निरूपण अब किया जायगा।

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।
स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥२९॥

यह मायाशक्ति अपने कार्य [जगत्] से और अपने आश्रय [ब्रह्म] इन दोनों से ही विलक्षण [किंवा विपरीत] स्वभाववाली होती है। दृष्टान्त में देख लो कि वन्हि की शक्ति का कार्य 'स्फोट' [विदारण] तथा शक्ति का आश्रय 'अङ्गार' तो प्रत्यक्ष ही दीखा करते हैं। शक्ति का अनुमान तो कार्य को देख कर ही किया जाता है। [इस कारण वह शक्ति उन दोनों (कार्य और आश्रय अथवा स्फोट और अंगार) से विलक्षण होती है]

पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योऽत्र मृत्तिका ।
शब्दादिभिः पञ्चगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ॥३०॥

मिट्टी की शक्ति के विषय में भी यही बात समझ लो— मोटे और गोल पेट वाला घट तो मिट्टी की शक्ति का कार्य है।

उस कार्य का आश्रय मिट्टी तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नाम के पाँच गुणों वाली है। परन्तु शक्ति तो इन दोनों से ही विलक्षण होती है [वह न तो घटरूप ही है और न वह मृत्तिका रूप ही है।]

न पृथ्वादिर्नशब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा।
अत एव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति ॥३१॥

कार्य के धर्म मुटापा आदि, तथा आश्रय के धर्म शब्दादि कोई भी शक्ति में नहीं पाये जाते। इस कारण वह शक्ति अपने कार्य तथा अपने आश्रय से विलक्षण होती है। वह तो कुछ ऐसी ही विलक्षण वस्तु है। कार्य और आश्रय से विलक्षण होने के कारण ही वह अचिन्त्य है [उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता] भेद अभेद या अचिन्त्यत्वादि किसी भी रूप से उसका निर्वचन हो ही नहीं सकता।

कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता।
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ॥३२॥

मिट्टी की शक्ति घटादि कार्य की उत्पत्ति से पहले तो मिट्टी में छिपी पड़ी रहती है [इस कारण प्रकट नहीं होती] कुलाल दण्ड चक्र आदि की सहायता जब उस शक्ति को मिल जाती है तब वह विकार [कार्य] के आकार की हो जाती है।

पृथुत्वादिविकारान्तं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम्।
एकीकृत्य घटं प्राहुः विचारविकला जनाः ॥३३॥

जो लोग विचारहीन हैं, वे पृथुत्वादिरूपी कार्य को, तथा शब्दस्पर्शादिरूपी मिट्टी को, अपने अविचार के कारण एक [वस्तु] बना कर उसे 'घट' कहने लगते हैं। [यदि वे लोग

विचार करें तो उन्हें मोटा और गोल रूप अलग दिखाई दे तथा स्पर्शादिरूपी मिट्टी अलग दीखने लगे और घट नाम की कोई वस्तु ही वहाँ न रह जाय।]

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः।
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुम्भता ॥३४॥

[घट के व्यवहार के अविचारमूलक होने का कारण यह है कि] कुलाल के व्यापार से पहले जो मिट्टी का भाग है, वह तो घट है ही नहीं। कुलाल आकर जब मिट्टी पर कुछ व्यापार कर लेता है और जब मोटे गोल आदि आकार वाली कोई चीज बन जाती है तब उसे ही 'घट' कहना ठीक हो जाता है।

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात्।
नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात् ॥३५॥

वह घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं है। क्योंकि मिट्टी से पृथक् करके उसे देखा ही नहीं जा सकता। और न वह घड़ा मिट्टी से अभिन्न ही होता है, क्योंकि पहले जब पिण्डदशा थी तब तो वह दीखता ही नहीं था। [यों वह घड़ा पारमार्थिक पदार्थ नहीं है, उसे तो अनिर्वचनीय शक्ति ने बना कर खड़ा कर दिया है।]

अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत् तेन शक्तिजः।
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता, व्यक्तत्वे घटनामभृत् ॥३६॥

इस कारण जैसे शक्ति अनिर्वचनीय है, वैसे ही घट भी अनिर्वचनीय है। इसी से कहते हैं कि यह 'घट' शक्ति से ही उत्पन्न हुआ है। किसी को 'शक्ति' और किसी को 'घट' कहने

का कारण यह है कि—जब तक अव्यक्त अवस्था रहती है, तब तक उसे 'शक्ति' कहते हैं। जब व्यक्तावस्था आ जाती है तब उसी का 'घट' नाम पड़ जाता है।

ऐन्द्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा।
पश्चाद् गन्धर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ॥३७॥

ऐन्द्रजालिक में रहने वाली माया भी मणिमन्त्रादि का प्रयोग करने से पहले पहले व्यक्त नहीं होती। पीछे से तो गन्धर्व सेना आदि के रूप से प्रकट हो जाया करती है [इससे यह समझ लो कि माया पहले अप्रकट रहती है और पीछे से प्रकट हो जाती है।]

एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम्।
विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः ॥३८॥

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'(छा० ६-४-१) इस श्रुति ने इसी सब विचार को लेकर मायामय [अर्थात् माया का कार्य] होने से, विकार [अर्थात् कार्यों] को तो अनृत [मिथ्या] कहा है तथा घटादि विकारों के आधार मिट्टी की ही सत्यता का वर्णन किया है।

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो,नास्य सत्यता।
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ॥३९॥

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'(छा०६-४-१) इस श्रुति ने कहा है कि ये जितने कार्य दीख रहे हैं ये सब वाणी से बोले जाने वाले नाम ही नाम तो हैं। ये घटादि कार्य सत्य नहीं हैं (नाम के सिवाय इनका पारमार्थिक रूप कुछ भी

नहीं है)। [इन घटादि कार्यों का आधार बनी हुई] स्पर्श आदि गुणवाली केवल मिट्टी ही सत्य पदार्थ है।

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः।
पर्यायः कालभेदेन, तृतीयस्त्वनुगच्छति ॥४०॥

'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'इन दोनों का आधार' ये तीन ही पदार्थ हैं। [घट आदि कार्य व्यक्त कहाते हैं। इन कार्यों की कारण शक्ति अव्यक्त कही जाती है। कार्य और शक्ति इन दोनों का 'आधार' मिट्टी होती है]। इन तीनों में पहले दोनों [कार्य तथा शक्ति] का कालभेद से पर्याय [क्रम] रहता है। [कभी कार्य होता है और कभी शक्ति रहती है। शक्ति और कार्य ये दोनों ही कादाचित्क हैं। इसी से ये मिथ्या या अनृत कहे जाते हैं]। किन्तु इन दोनों का आधार तीसरा पदार्थ जो मिट्टी आदि है वह तो दोनों में ही अनुगत रहता है [वह मिट्टी कार्यावस्था में भी रहती है और शक्ति काल में भी बनी रहती है। यों त्रिकालस्थायी होने से वही सत्य तत्व है]।

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्तिनाशभाक्।
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ॥४१॥

व्यक्त कहाने वाले घटादि पदार्थ यद्यपि निस्तत्व [अर्थात् स्वरूप से असत्] हैं तो भी भासा करते हैं। इनके उत्पत्ति और विनाश भी रहते हैं। जब ये उत्पन्न हो जाते हैं तब मनुष्य शब्दों में इनका नाम रख लेते हैं। [इन्हीं सब कारणों से इन विकारों (कार्यों) को 'असत्य' कहा जाता है।]

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्तते।
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद् व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ॥४२॥

व्यक्त [कार्य] पदार्थ जब नष्ट भी हो जाते हैं तब भी [उन कार्यों से अभिन्न] यह नाम, नाम लेने वाले आदमियों की जिह्वा पर चढ़ा रह जाता है। अब तो वह व्यक्त [कार्य] पदार्थ वाणी से लिये जाने वाले केवल उस नाम से ही निरूपणीय [व्यवह्रियमाण] रह जाता है [उसके व्यवहार का अब कोई साधन नहीं रह जाता] इस कारण वह तद्रूप [अर्थात् नाम के ही रूप वाला किंवा नामात्मक] कहलाने लगता है।

भाव यह है कि—विवादास्पद जो घट है वह घटशब्द-रूप ही होना चाहिये, क्योंकि उसका व्यवहार ठीक इसी प्रकार घटशब्द से होता है जिस प्रकार घट इस शब्द का व्यवहार घट शब्द से होता है। यों व्यक्त पदार्थ नामात्मक होते हैं।

निस्तत्वत्वाद् विनाशित्वाद् वाचारम्भणनामतः ।
व्यक्तस्य न तु तद् रूपं सत्यं किञ्चिन्मृदादिवत् ॥४३॥

व्यक्त घटादि कार्यों का मोटा गोल आदि जो रूप [या आकार] हमें दीखता है वह कुछ भी, जैसे मिट्टी सत्य है, वैसे सत्य नहीं हैं। क्योंकि वह आकार तो निस्तत्व है [उसका वास्तव रूप तो कुछ भी नहीं है] विनाशी है [मिट्टी के रहते रहते ही वह तो नष्ट हो जाता है] तथा वाणी से कहा हुआ एक शब्द मात्र ही तो है। यदि यह आकार असत्य न होता तो जैसे मिट्टी आदि निस्तत्व नहीं है, विनाशी नहीं है या केवल नाम मात्र ही नहीं हैं ऐसे ही यह भी होते।

व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक् ।
सतत्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ॥४४॥

व्यक्त पदार्थ की स्थिति के समय, व्यक्त पदार्थ की उत्पत्ति

से पहले, तथा व्यक्त के नष्ट हो जाने के बाद, यों तीनों ही कालों में एक रूप रहने वाला मिट्टी नाम का पदार्थ, सतत्व [अर्थात् वास्तवरूप वाला] तथा विकार के साथ नष्ट न होने वाला सत्य-पदार्थ कहाता है।

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतै र्नामभिरीरितः।
अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्तते ॥४५॥

शंका—व्यक्त घट या विकार इन तीन नामों [शब्दों] से कहा हुआ कार्य नाम का पदार्थ यदि अनृत है [यदि वह कारण से भिन्न कोई चीज़ नहीं है] तो यह बताओ कि मिट्टी रूपी कारण का ज्ञान हो जाने पर उसकी निवृत्ति क्यों नहीं हो जाती है?

निवृत्त एव, यस्मात् ते तत्सत्यत्वमतिर्गता।
ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा, नत्वभासनम् ॥४६॥

इसका उत्तर यह है कि—ज्ञान हो जाने पर उसकी निवृत्ति तो हो ही जाती है। क्योंकि अब तुमने घटादियों को सत्य समझना छोड़ दिया है। [इन सोपाधिक भ्रमस्थलों में तो] बोध से ऐसी ही निवृत्ति मानी गई है [कि इनकी सत्यत्व बुद्धि जाती रहे] इनके स्वरूप की प्रतीति होनी ही बन्द हो जाय यह बात [सोपाधिक भ्रमस्थलों में] ज्ञान से कदापि नहीं होती। [हां रज्जु सर्पादि के निरुपाधि भ्रमस्थलों में तो यही होता है कि सर्पादि रूप का भान होना ही बन्द हो जाता है।]

पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः।
तटस्थमर्त्यवत्तस्मिन्नैवास्था कस्यचित् क्वचित् ॥४७॥

[सोपाधि भ्रम का दृष्टान्त देखलो कि]—जल में नीचे को

मुख किए हुए जो आदमी दीखता है वह वस्तुतः नहीं होता। क्योंकि ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी उस छायापुरुप को, किनारे पर खड़े हुए पुरुप की तरह, कभी कहीं भी सत्य नहीं मान लेता [वह समझ लेता है कि जलरूपी उपाधि के कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है। जब तक जलरूपी उपाधि बनी है तब तक ऐसी मिथ्या प्रतीति होती ही रहेगी। इसी प्रकार सर्वकारण आत्म-तत्व का ज्ञान हो जाने पर, विवेकी पुरुप इस जगत् को मिथ्या मान लेता है। उसके बाद फिर जब उसे यह जगत् भासता है तब वह इसे इन्द्रियोपाधिक भ्रम समझ कर टालता रहता है। वह जान लेता है कि जब तक ये इन्द्रियें बनी हैं, तब तक ऐसी प्रतीति होती ही रहेगी। वह फिर इसको सत्य मानकर कोई व्यवहार नहीं करता। सोपाधिक भ्रमों का यही हाल होता है।]

ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम्।
मृद्रूपस्यापरित्यागाद् विवर्तत्वं घटे स्थितम् ॥४८॥

ऐसा बोध हो जाने को ही अद्वैतवादी पुरुषार्थ मानता है। [उसके मत में आनन्दात्मा से भिन्न सभी कुछ को मिथ्या समझ लेने पर ही अद्वितीय आनन्द की अभिव्यक्ति हो सकती है] जब तक सांसारिक पदार्थों के सत्य होने की वासना नहीं टल जाती तब तक अद्वैतानन्द प्रकट होता ही नहीं। देखो, घट की मिट्टी ने, घट बन जाने पर भी, अपने मृद्रूप का परित्याग नहीं किया है, इस कारण यह घट मिट्टी का विवर्त है। [यही कारण है कि मिट्टी का ज्ञान हो जाने पर घट के सत्यत्व की बुद्धि निवृत्त हो जाती है]

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत् तत् क्षीररूपवत् ।
मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुण्डलयो र्न हि ॥४९॥

[घट को मिट्टी का परिणाम नहीं मान सकते क्योंकि।] जिन दुग्धादि में परिणाम माना जाता है, उन में तो पूर्वरूप का त्याग कर दिया जाता है। [परन्तु विवर्त के उदाहरण] घट और कुण्डल के बन जाने पर भी उनके उपादान कारण मिट्टी और सुवर्ण, उन में से निवृत्त नहीं हो जाते हैं। [यह बात लोक में प्रसिद्ध ही है]।

घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ।
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ॥५०॥

[यदि कहो कि—] घट के टूट जाने पर तो मृद्भाव नहीं पाया जाता। क्योंकि घट के फूट जाने पर तो कपाल देखे जाते हैं। तो हम कहेंगे कि यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि चूरा हो जाने पर—जबकि कपाल भी नहीं रहते तब—मिट्टी को देखा जा सकता है। इस कारण घट को मिट्टी का विवर्त ही मानना चाहिये। सोने में तो यह आक्षेप चल भी नहीं सकता क्योंकि कुण्डल आदि के टूट जाने पर भी सोने का स्वरूप तो अत्यन्त स्पष्ट दीखता ही रहता है।

क्षीरादौ परिणामोऽस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात् ।
एतावता मृदादीनां दृष्टान्तत्वं न हीयते ॥५१॥

जब दूध का दही बन जाता है तब फिर वह लौट कर दूध नहीं बन सकता इस कारण क्षीरादि में तो परिणाम मानना पड़ता है परन्तु इतने मात्र से [क्षीरादि के परिणामी होने से] मिट्टी आदि के विवर्त का दृष्टान्त होने में कुछ बिगड़ नहीं जाता।

[भाव यह है कि पूर्वरूप को छोड़कर दूसरी अवस्था को प्राप्त होने के कारण दुग्धादि तो केवल परिणामी ही हैं। मिट्टी और सुवर्ण तो अवस्थान्तर को भी पा लेते हैं और अपने पूर्वरूप को भी नहीं छोड़ते हैं इस कारण वे 'परिणामी' भी हैं और 'विवर्त' भी हैं]।

आरम्भवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत्।
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ॥५२॥

['परिणाम' और 'विवर्त' दोनों बात मान लेने पर भी मिट्टी आदि को आरम्भक नहीं मानते क्योंकि] आरम्भवादी [नैयायिक आदि] के मत में तो घट आदि कार्यों में मिट्टी आदि कारण द्रव्य दुगने दुगने हो जायेंगे !. [उनके मत में कार्याकार से रहने वाली और कारणाकार से रहने वाली दो मिट्टी हो जांयगी। फिर उन दोनों मिट्टियों में गुरुत्वादि भी दुगने दुगने हो जांयगे] क्योंकि आरम्भवादी लोग कार्य के रूपस्पर्शादि अलग मानते हैं और कारण के रूपस्पर्शादि को अलग बताते हैं। [अर्थात् वे कार्य कारण का भेद मानने वाले हैं। इस दोष के कारण हमें आरम्भवाद तो सर्वथा माननीय नहीं है]

मृत् सुवर्णमयश्चेति दृष्टान्तत्रयमारुणिः।
प्राहातो वासयेत् कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥५३॥

छान्दोग्य उपनिषत् में उद्दालक नाम वाले अरुणपुत्र ने 'मिट्टी' 'सुवर्ण' और 'लोहा' ये तीन दृष्टान्त कार्यों के अनृत होने में दिये हैं। कई दृष्टान्त देने का भाव यही है कि जब बहुत से पदार्थों में कार्यों का अनृत होना पाया जा रहा है तब फिर भूत भौतिक सभी पदार्थों में कार्यों के मिथ्यापन की वासना साधक लोग किया करें।

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् ।
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते ॥५४॥

छान्दोग्य में उसी अरुणिने 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६-१-४) इत्यादि वाक्यों में 'कारण [मिट्टी आदि] के ज्ञान से घटादि सब कार्यों का ज्ञान हो जाता है' ऐसा कहा है । इस पर प्रश्न यह होता है कि सत्य पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर, उससे विलक्षण जो घटादि अनृत पदार्थ हैं उन का ज्ञान कैसे हो सकता है ? यह हमें समझाओ ।

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः ।
वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधः कारणबोधतः ॥५५॥
अनृतांशो न बोद्धव्य स्तद्बोधानुपयोगतः ।
तत्वज्ञानं पुमर्थं स्या न्नानृतांशाववोधनम् ॥५६॥

लोक में मिट्टी के सहित घटादि विकार को ही कार्य कहते हैं [अकेले घटादि को नहीं] । सो इस कार्य में जो सच्चा मृद्भाग है इस सत्यांश का ज्ञान तो कारण के ज्ञान से ही हो जाता है । ५५ । शेष रहा हुआ जो मिथ्या भाग है, वह तो ज्ञातव्य है ही नहीं । क्योंकि उसके ज्ञान का तो कुछ उपयोग ही नहीं होता । जो वस्तु तत्व है [जिस वस्तु की बाधा नहीं होती] उस वस्तु का ज्ञान किसी को हो, तो उससे ही जानने वाले का कुछ प्रयोजन सिद्ध हो सकता है । इसी से तत्व ज्ञान को पुरुषार्थ माना गया है । अनृत भाग किंवा विकार को जानने का तो कुछ प्रयोजन ही नहीं होता है ।

तर्हि कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानमितीरिते ।
मृद्बोधान्मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात् कोऽत्र विस्मयः ॥५७॥

पूर्वपक्षी पूछता है कि—'कारण [मिट्टी आदि] के ज्ञान से कार्य का [अर्थात् कार्य में जो मिट्टी आदि सत्य भाग है उस का] ज्ञान हो जाता है' ऐसा कहने पर तो तुमने दूसरे शब्दों में यही बात [लौट फेर कर] कही कि—मिट्टी के बोध से मिट्टी का बोध हो जाता है । फिर बताओ कि तुमने विस्मय करने वाली नयी बात कौनसी कही । [यह तो तुम्हारा केवल शाब्दिक चमत्कार ही हुआ आर्थिक नहीं] ।

सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ।
विस्मयो मास्त्विहाज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ॥५८॥

इसका उत्तर यह है कि—कार्य घटादियों में जो वास्तव अंश है, वह कारणस्वरूप ही है, ऐसा जो लोग जानते हैं, उन लोगों को विस्मय भले ही न हो । परन्तु जो अज्ञ हैं, जिन्हें तत्व ज्ञान नहीं है, उनको इस बात से जो विस्मय होता है, उसे कौन हटा सकता है ?

आरम्भी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे ।
ज्ञाते सर्वमतिं श्रुत्वा, प्राप्नुवन्त्येव विस्मयम् ॥५९॥

आरम्भी [जो समवायी असमवायी और निमित्त कारणों से भिन्न कार्य को उत्पन्न हुआ मानते हैं] परिणामी [जो पूर्वरूप का त्याग करके रूपान्तर की प्राप्ति रूपी परिणाम को मानते हैं] तथा लौकिक [जो इन दोनों प्रक्रियाओं को नहीं जानते केवल लोक व्यवहार में लिपटे पड़े हैं] ये तीनों ही जब यह सुनते हैं कि एक कारण के परिज्ञान से अनेक कार्यों का ज्ञान

हो जाता है तब इन तीनों को बड़ा विस्मय होता है । [उनकी दृष्टि में यह एक बड़े ही अचम्भे की बात है कि एक के ज्ञान से सब का ज्ञान हो जाता हो

अद्वैतेऽभिमुखीकर्तुमेवात्रैकस्य बोधतः ।
सर्वबोधः श्रुतौ, नैव नानात्वस्य विवक्षया ॥६०॥

छान्दोग्यश्रुति में जो एक कारण के विज्ञान से सब कार्यों का ज्ञान होना कहा है उसमें कार्यों के नानात्व की विवक्षा नहीं है । उसका यह मतलब नहीं है कि हमारे पाठकों को कार्यों की अनेकता का परिज्ञान कराया जाय किन्तु उनका अभिप्राय तो केवल इतना ही है कि अद्वैतज्ञान की ओर अधिकारियों को अभिमुख कर दिया जाय [इस महाफल का लालच दिखा कर उन्हें अद्वैतज्ञान की ओर को आकृष्ट किया जाय यही उनका अभिप्राय है ।

एकमृत्पिण्डविज्ञानात् सर्वमृन्मयधीर्यथा ।
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ॥६१॥

प्रकृत तात्पर्य तो यह हुआ कि—घटादि पदार्थ जिस के बनते हैं, उस एक मिट्टी के पिण्ड को जान लेने से, मिट्टी क बने हुए घटादि सभी पदार्थों का बोध जैसे हो जाता है, इसी प्रकार सब के उपादान एक ब्रह्म को जान लेने पर, उसी से बने हुए इस सकल जगत् का बोध हो ही जाता है यह भी जानलो ।

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म, नामरूपात्मकं जगत् ।
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥६२॥

ब्रह्मतत्व तो सत् चित् आनन्द स्वरूप है और यह जगत्

नामरूपात्मक है 'ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दमात्रम्' इत्यादि उत्तर-तापनीय उपनिषद् में ब्रह्म को सच्चिदानन्दस्वरूप बताया है।

सद्रूपमारुणिः प्राह, प्रज्ञानं ब्रह्म बह्वृचः।
सनत्कुमार आनन्दमेवमन्यत्र गम्यताम् ॥६३॥

अरुण के पुत्र उद्दालक मुनि ने सदेव सोम्येदमग्र आसीत् इत्यादि छान्दोग्य श्रुति में ब्रह्म के सद्रूप का वर्णन किया है। बह्वृच शाखा वालों ने ऐतरेय उपनिषत् में 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० ५-१) इत्यादि में ब्रह्म को ज्ञानरूप कहा है। छान्दोग्य श्रुति में सनत्कुमार ने नारद के प्रति 'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा०७-२३) इत्यादि वाक्यों के द्वारा ब्रह्म को आनन्दरूप बताया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझलो। [तैत्तिरीय आदि श्रुतियों में भी 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ६-६) इत्यादि वाक्यों के द्वारा ब्रह्म के इन तीनों स्वरूपों का जहां तहां वर्णन आता है]।

विचिन्त्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति।
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ॥६४॥

सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते तथा अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि (छा०६-३-२) इन श्रुतियों में जगत् के स्रष्टव्य नामरूपों को भी दिखाया गया है [सच्चिदानन्द तत्त्व के होने में जैसे श्रुति प्रमाण है वैसे ही नाम और रूप की बताने वाली भी श्रुतियें हैं यही इस श्लोक का भाव है]

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा।
अचिन्त्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ॥६५॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत मासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्यक्रियतासौनामायमिदं

रूप इति (बृ. १-४-७) इस श्रुति में कहा गया है कि—सृष्टि से पहले यह सब जगत् अव्याकृत था [अर्थात् इस का नाम और इसका रूप अप्रकट दशा में था] सृष्टि बन चुकने पर वह जगत् दो प्रकार से [अर्थात् वाच्य वाचक भाव से] व्यक्त हो गया है । तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् (बृ. १-४-७) इस वाक्य के अव्याकृत शब्द से ब्रह्म में रहने वाली यह अचिन्त्यशक्ति माया ही ली गयी है । [इस श्रुति का अव्याकृत शब्द इस माया को ही कह रहा है] ।

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥६६॥

['तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते' इस श्रुतिखण्ड का भाव इस श्लोक में दिखाया गया है] अव्याकृत नाम की वही माया, अविक्रिय ब्रह्म में रहती रहती ही, अनेक रूप से परिणाम को प्राप्त होती आती है [यह भूत भौतिक सभी प्रपंच उसी अव्याकृत नाम वाली माया का विकार किंवा परिणाम है] मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् इस श्रुति में कहा है कि पूर्वोक्त 'माया' को प्रकृति अर्थात् उपादान कारण जानना चाहिये । माया का आश्रय होने के कारण जो 'मायी' कहाता है उसको महेश्वर अर्थात् माया का नियामक मान लो । [माया और मायी सर्वथा भिन्न भिन्न प्रकार के हैं]

आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः।
अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत् त्रयम् ॥६७॥

मायोपहित ब्रह्म का सब से पहला विकार [कार्य] आकाश ही है । वह 'अस्ति' 'भाति' और 'प्रिय' रूप [किंवा सच्चिदा-

नन्दस्वरूप] है । अवकाश उसका अपना निजी स्वरूप है । उसका जो यह निजीरूप है यही मिथ्या है । पहले कहे हुए वे तीनों रूप मिथ्या नहीं होते ।

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चापि नाशतः ।
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा ॥६८॥

आकाश का जो वह अवकाश नाम का चौथा रूप है, वह आकाश के व्यक्त होने से पहले भी नहीं था और नाश हो जाने के पश्चात् भी न रहेगा । इस कारण वह तो मिथ्या ही है । विचार कर देख लो कि—आदि और अन्त में जो बात नहीं रहती वह मध्य में भी नहीं होती । [भाव यह कि उत्पत्ति और विनाश के बीच बीच में प्रतीत होने वाला यह अवकाश असत् पदार्थ है]

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ॥६९॥

अर्जुन के प्रति कृष्ण भगवान् ने भी यही कहा है कि—ये भूत पहले भी अव्यक्त थे । हे भारत ! ये बीच में कुछ काल के लिये व्यक्त हो गये हैं । अन्त में जाकर ये फिर अव्यक्त में लीन हो जायेंगे ।

मृद्वत् ते सच्चिदानन्दा अनुगच्छन्ति सर्वदा ।
निराकाशे सदादीना मनुभूति र्निजात्मनि ॥७०॥

घटादि कार्यों में जैसे मिट्टी तीनों कालों में अनुगत रहती है, इसी प्रकार वे सच्चिदानन्द नाम के तीनों रूप, सदा अनुगत रहते हैं । जब आकाश नहीं रहता—[जब आकाश को भूल

जाते हैं] तब भी इन सच्चिदानन्द धर्मों का अनुभव अपने आत्मा में तो होता ही रहता है ।

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ।
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग् विभाति हि ॥७१॥

[उसी का स्पष्टीकरण] बताओ कि—जब तुम अवकाश को भूल जाते हो तब तुम्हें क्या भान होता रहता है ? यदि कहो कि शून्य का भान होता है तो हम कहेंगे कि अच्छा यों ही सही। तुम उसका नाम शून्य ही रख लो । वैसे तो अवकाशाभाव रूपसे प्रतीत होने वाली वह कोई वस्तु प्रतीत तो होती ही है ।

तादृक्त्वादेव तत्सत्व मौदासीन्येन तत् सुखम् ।
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ॥७२॥

[शून्य नजर आता है ऐसा तुम कहते हो] तादृक्पने के कारण अर्थात् उपर्युक्त रूप से प्रतीत होने के कारण ही उसकी सत्ता तो सिद्ध हो ही जाती है [उसका स्वरूप तो मानना ही पड़ता है] उस समय उदासीनावस्था होने के कारण वह तत्व सुख ही है । जो तत्व अनुकूल भी न हो और प्रतिकूल भी न हो वही तो निज सुख होता है ।

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात् प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ।
द्वयाभावे निजानन्दो निजदुःखं न तु क्वचित् ॥७३॥

आनुकूल्य हो तो हर्ष होता है । प्रातिकूल्य जान पड़े तो दुःख होता है । जब तो आनुकूल्य या प्रातिकूल्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता तब 'निजानन्द' भासने लग पड़ता है । निजानन्द की तरह निज दुःख भी होता होगा ऐसी शंका मत करो । क्योंकि दुःख में निजपना तो कहीं देखा ही नहीं जाता ।

निजानन्दे स्थिरे हर्षशोकयो व्यत्ययः क्षणात् ।
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ॥७४॥

यह निजानन्द तो स्थिर ही है [यह तो सदानन्दरूप ही है] इसलिये सदा हर्ष ही हर्ष रहना चाहिये । शोक कदापि न होना चाहिये । फिर भी जो क्षण क्षण में हर्ष शोक का व्यत्यय होता रहता है वह [उस निजानन्द को ग्रहण करने वाले] मन के क्षणिक होने से होता है । मन के क्षणिक होने से उससे गृहीत होने वाले हर्ष और शोक भी क्षणिक ही हैं और क्षणिक होने के कारण ही ये हर्ष तथा शोक मानस माने जाते हैं ।

आकाशेऽप्येवमानन्दः सत्ताभाने तु संमते ।
वाय्वादिदेहपर्यन्तं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ॥७५॥

जैसे आत्मा में आनन्द रहता है इसी प्रकार आकाश में भी आनन्द रहता है । आकाश में के उसी आनन्द की प्रतीति अवकाश के विस्मरण हो जाने पर निजात्मा में होती है । यह बात यहां तक सिद्ध की गयी । आकाश में 'सत्ता' तथा 'भान' भी रहते हैं परन्तु उस का प्रतिपादन हम नहीं करते, क्योंकि उन्हें तो तुम भी मानते ही हो । आकाश में जिस तरह सच्चिदानन्द धर्म रहते हैं इसी तरह वायु से लेकर शरीरपर्यन्त पदार्थों में भी यही बात समझ लेना कि उनमें भी सच्चिदानन्द धर्म हैं ।

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वन्हे र्दाहप्रकाशने ।
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ॥७६॥

सच्चिदानन्द धर्म तो सबमें हैं ही । परन्तु गति तथा स्पर्श वायु का निज रूप हैं । अग्नि के निज रूप दाह तथा प्रकाश हैं । जल का निज रूप द्रवत्व है । भूमि का निजरूप कठिनता होती है ।

असाधारण आकार ओषध्यन्नवपुष्यपि ।
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम् ॥७७॥

ओषधि अन्न तथा शरीरों में भी उन उन का असाधारण आकार होता ही है । उन उन के उचित रूप को अपने मन से समझ लेना चाहिये ।

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा ।
तिष्ठन्ति सच्चिदानन्दा विसंवादो न कस्यचित् ॥७८॥

सब वस्तुओं में नाम रूप तो भिन्न भिन्न होते ही हैं परन्तु सच्चिदानन्द नाम के धर्म सब में एक रूप ही होते हैं। इसमें किसी भी विवेकी को विसंवाद नहीं है ।

निस्तत्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते ।
बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत् ॥७९॥

इन दीख पड़ने वाले नामरूपों की गति हमसे पूछो तो हम कहेंगे कि—ये दोनों नाम रूप तो 'निस्तत्व' किंवा कल्पित ही हैं । क्योंकि इनके जन्म और नाश [बार बार] होते ही रहते हैं । समुद्र में जैसे बुलबुलों को देखते हो, इसी प्रकार इन नाम रूपों को बुद्धि के सहारे ब्रह्मतत्व में ही देखा करो ।

सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन् पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते ।
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ॥८०॥

जब कोई अधिकारी इस पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म को बुद्धि से देख पाता है [बुद्धि का उड़ान मारकर सब जगह देख आता है] तब फिर वह धीरे धीरे नाम रूपों की अवज्ञा करने लग पड़ता है [उसे फिर यह सब पसारा नहीं भाता किन्तु उसे तो कारण तत्व ही प्यारा लगने लगता है]

यावद् यावदवज्ञा स्यात् तावत्तावत् तदीक्षणम् ।
यावद् यावद् वीक्ष्यते तत् तावत्तावदुभे त्यजेत् ॥८१॥

जितनी जितनी [नाम रूपों की] अवज्ञा होती जाती है उतना ही उतना ब्रह्म का दर्शन होने लगता है । और जितना ही जितना वह ब्रह्म तत्व दीखने लगता है उतना ही उतना वे दोनों [नामरूप] छूटने लगते हैं [नाम रूप की अवज्ञा से ब्रह्म दर्शन बढ़ता है और ब्रह्मदर्शन से नाम रूप में से आस्था हट जाती है । श्लोक का भाव यह है कि ब्रह्मज्ञान की दृढता के लिये द्वैत की अवज्ञा करते रहना चाहिये]

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ॥८२ ॥

इन दोनों [द्वैतावज्ञा और ब्रह्मदर्शन] अभ्यासों से जब इस अधिकारी की विद्या स्थिर हो जाती है, तब यह पुरुष जीते जी ही मुक्त हो जाता है । उसके शरीर इन्द्रिय तथा मन प्रारब्ध के अनुसार जैसे तैसे रह सकते हैं । [उनसे (शरीर के भिन्न भिन्न प्रारब्धों से) उसकी मुक्ति में बाधा नहीं होती]

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥८३॥

उसी का चिन्तन, उसी का कथन, एक दूसरे को उसी को समझाना और सदा तन्निष्ठ होकर रहना, इसी को ज्ञानी लोग 'ब्रह्माभ्यास' समझते हैं ।

वासनानेककालीना दीर्घकालं निरन्तरम् ।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥८४॥

अनादि काल से लेकर जो वासनायें हृदय में घुसी बैठी हैं

[और अपने आत्मा की जगह सदा से ही द्वैत का प्रतिभास करा रही हैं] वे दीर्घ काल तक निरन्तर और श्रद्धापूर्वक ज्ञानाभ्यास करने पर पूर्ण रूप से भाग जाती हैं।

मृच्छक्तिवद् ब्रह्मशक्ति रनेकाननृतान् सृजेत् ।
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ॥८५॥

मिट्टी की शक्ति जैसे घट शराव आदि अनेक अनृत पदार्थों को बना डालती है, इसी प्रकार ब्रह्म की शक्ति भी अनेक कार्यों को बना डालती है। अथवा यों समझो कि—जीव की निद्रा सुपना इसके उदाहरण हैं [जैसे जीव की निद्रा शक्ति अनेक स्वप्नों को उत्पन्न कर देती है, इसी प्रकार ब्रह्म की मायाशक्ति अनेक कार्यों का सर्जन कर डालती है]

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुघटस्वप्नकारिणी ।
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थत्यन्तकारिणी ॥८६॥

जैसे यह जीव की निद्राशक्ति दुर्घट स्वप्नों को बना देती है, इसी प्रकार ब्रह्म में रहने वाली यह माया नाम की शक्ति 'सृष्टि' 'स्थिति' तथा 'प्रलय' कर डालती है।

स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत् स्वमूर्धच्छेदनं यथा ।
मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥८७॥

[निद्रा की दुर्घटकारिता देखो कि]—सुपने में कभी आकाश में उड़ान मारता दीख पड़ता है, कभी अपने सिर कटन की बात को प्रत्यक्ष देखता है, कभी क्षणमात्र में सैकड़ों वर्ष बीत जाते हैं, कभी फिर मरे हुए पुत्रादि देखने को मिल जाते हैं।

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ।
यथा यथेक्ष्यते यद्यत् तत्तद् युक्तं तथा तथा ॥८८॥

'यह ठीक है' और 'यह ठीक नहीं है' ऐसी व्यवस्था सुपने के पदार्थों में हो ही नहीं सकती। वे तो जैसे जैसे देखे जाते हैं, वैसे वैसे ही वे ठीक होते हैं।

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा।
मायाशक्ते रचिन्त्योऽयं महिमेति किमद्भुतम् ॥८६॥

जब कि जीव की निद्राशक्ति की भी ऐसी महिमा देखी गई है [जब कि वह भी अपने में तर्कशास्त्र को चलने नहीं देती है] तब फिर ब्रह्म की माया शक्ति की महिमा अचिन्त्य हो तो इसमें आश्चर्य क्यों करते हो ?

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं वहुविधं सृजेत्।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पत्यसौ ॥९०॥

पुरुष जब सोया पड़ा है [कोई भी प्रयत्न नहीं करत] तो भी उसकी निद्रा अनेक तरह के स्वप्नों को उत्पन्न करती रहती है, इसी प्रकार निर्विकार ब्रह्म में रहने वाली यह माया भी इस नाना जगत् को कल्पित कर लेती है।

खानिलाग्निजलोर्व्यण्डलोकप्राणिशिलादिकाः।
विकाराः प्राणिधीष्वन्तश्चिच्छाया प्रतिविम्बिता ॥९१॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, अण्ड, लोक, प्राणी तथा शिला आदि माया के बनाये हुए पदार्थ हैं। प्राणियों की बुद्धियों में [इतनी विशेषता है कि उनमें] चैतन्य की छाया प्रतिबिम्बित हो गई है, इस कारण वे चेतन हो गये हैं [जिनमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ पाया है वे जड रह गये हैं]

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानन्दलक्षणम्।
समानं ब्रह्म, भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक् ॥९२॥

सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म तो चेतन और अचेतन सभी पदार्थों में समान होता है। उनके केवल 'नाम' और 'रूप' ये ही दोनों भिन्न भिन्न होते हैं। [चेतन और अचेतन का भेद चिद्रूप ब्रह्म का किया हुआ नहीं है क्योंकि ब्रह्मतत्व तो चेतन और अचेतन सभी का उपादान है]।

ब्रह्मण्येते नामरूपे परे चित्रमिव स्थिते।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत् ॥९३॥

पटरूपी आधार में जैसे चित्र बना रहता है, इसी प्रकार ये नाम और रूप भी ब्रह्मतत्व में स्थित हो रहे हैं अर्थात् कल्पित हो रहे हैं। [सब कुछ की कल्पना का आधार होने से ही तो वह ब्रह्मतत्व सर्वगत सिद्ध होता है] उस सर्वगत ब्रह्मतत्व को यदि कोई जानना चाहे, तो वह कल्पित नाम रूपों की उपेक्षा किंवा परित्याग कर दे। [कल्पितनाम रूप छूट जायंगे तो पीछे से अधिष्ठान ब्रह्म का दर्शन अवश्य होगा अर्थात् फिर उसे अकल्पित सच्चिदानन्द तत्व दीखने लग पड़ेगा। उस अकल्पित तत्व को कल्पित नाम रूपों ने ढक रक्खा है। हमारा काम यह है कि अकल्पित से कल्पित को फिर ढक दें। इसी को 'ईश्वरतत्व से ढकना' भी कहते हैं। यही बात ईशावास्य के पहले मन्त्र में कही है]।

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम्।
तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद् यथा तथा ॥९४॥

पानी में जब अधोमुख अपना देह दीख पड़ता है तो जैसे उसकी उपेक्षा करके, अपने तीरस्थ देह में ही तात्पर्य किंवा ममता बनी रहती है, इसी प्रकार [जगत् के दीखने वाले नाम

रूपों का परित्याग कर देने पर ही सच्चिदानन्द तत्व के दर्शन हो सकते हैं।]

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ।
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ॥९५॥

जैसे हजारों मनोराज्य हो रहे हों तो भी उनकी सब सदैव उपेक्षा कर देते हैं, इसी प्रकार विवेकी लोग हजारों प्रकार से दीखने वाले इन नाम रूपों की भी उपेक्षा किया करें।

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवत्येवान्यथान्यथा ।
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ॥९६॥

मनोराज्य जिस प्रकार क्षण क्षण में बदला करता है, जो बीत जाता है वह फिर लौट कर नहीं आता, इसी प्रकार यह बाह्य व्यवहार भी [क्षण क्षण में बदलता है और जो बीत जाता है वह फिर लौट कर नहीं आता है]

न बाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थाविरे तथा ।
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ॥९७॥

देख लो कि जवानी में बचपन ढूँढे भी नहीं मिलता है। बुढ़ापे में जवानी का भी यही हाल हो जाता है। मरा हुआ पिता फिर लौट कर नहीं आता है। बीता हुआ दिन फिर नहीं फिरता है।

मनोराज्याद् विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके ।
अतोऽस्मिन् भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ॥९८॥

[इस सब का तात्पर्य यही ह कि] जो लौकिक पदार्थ क्षणध्वंसी हैं उनमें मनोराज्य से विशेषता ही क्या है ? इसलिये

[क्षणिक होने के कारण] हम कहते हैं कि लौकिक पदार्थों के भासने पर भी उनको सत्य समझना छोड़ दो।

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिन्तने।
नटवत् कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम् ॥९९॥

जब लौकिक पदार्थों की उपेक्षा कर दी जायगी तब [ब्रह्म चिन्तन का जो विघ्न है वह जाता रहेगा और] बुद्धि ब्रह्मचिन्तन में निर्विघ्न लग जायगी [यदि पूछो कि फिर ज्ञानी लोगों का व्यवहार कैसे चलेगा तो सुनो।] नट लोग नाटक करते समय जैसे बनावटी आस्था से अपने काम का निभाव कर लेते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी के लौकिक काम तो बनावटी आस्था से भी निभ जाते हैं।

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा।
नामरूपान्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ॥१००॥

पानी ऊपर वहता भी रहो, परन्तु उस पानी के नीचे पड़ी हुई भारी शिला जैसे स्थिर रहती है, हिलती जुलती नहीं, इसी प्रकार नाम रूप में परिवर्तन होता भी रहो—[बुद्धि संसरण करती भी रहो] परन्तु कूटस्थ जो ब्रह्म है [उस बुद्धि का साक्षी जो निर्विकार ज्ञानी आत्मा है] वह कभी अन्यथा [विकारी] नहीं हो जाता। [अर्थात् ज्ञानी लोग संसार के साथ बहते नहीं] व्यवहार में आने पर भी ज्ञानी में विकार नहीं आता। उसकी बुद्धि जब व्यवहार में लगी रहती है तब भी उसका साक्षी आत्मा निर्विकार ही रहता है।

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद् वियत्।
सच्चिद्घने तथा नानाजगद्गर्भमिदं वियत् ॥१०१॥

दर्पण में कोई भी छिद्र नहीं होता [जहां कि कोई भी वस्तु समा सके] परन्तु दर्पण में ऐसा मालूम होता है मानो अगणित वस्तुओं से भरा हुआ आकाश ही उसके अन्दर बैठा हो। ठीक इसी प्रकार नाना जगत् से परिपूर्ण यह आकाश उस सच्चि-द्घन अखण्ड ब्रह्म में [व्यर्थ ही] प्रतीत हो रहा है ।

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदन्तस्थेक्षणं तथा।
अमत्वा सच्चिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः ॥१०२॥

जब तक पहले कोई दर्पण को नहीं देख लेता तब तक उसके अन्दर की वस्तु को कोई भी नहीं देख पाता। इसी प्रकार जब तक कि सच्चिदानन्द तत्व की प्रतीति किसी को नहीं हो लेती है तब तक उसे नामरूपात्मक जगत् की प्रतीति कैसे होगी ? [दर्पण के अन्दर की वस्तु को देखने से पहले दर्पण का दीख लेना जैसे आवश्यक है इसी प्रकार नामरूप (जगत्) का परिज्ञान होने से पहले ही सच्चिदानन्दतत्व की प्रतीति हो लेती है]

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता।
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ॥१०३॥

[सावधान होकर सुनिए] बुद्धिवृत्ति के उदय होने से पहले तो तुम्हें सच्चिदानन्द तत्व का ही भास होता है। हम कहते हैं कि बस यहीं अपनी बुद्धि को रोक रक्खो [उस सच्चिदानन्द मात्र का ही ग्रहण करते रहो] उसके बाद आये हुए नाम रूप में बुद्धि को मत जाने दो इस तरह अभ्यास को बढ़ाने पर निर्विषय ब्रह्म की प्रतीति होने लगेगी।

हमको तो अकेले सच्चिदानन्द की प्रतीति नहीं होती। उसके

साथ ही नामरूप भी प्रतीत होते हैं। अकेले सच्चिदानन्द की प्रतीति का क्या उपाय करें? यही बात इस श्लोक में बतायी है।

एवं च निर्जगद् ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्।
अद्वैतानन्द एतस्मिन् विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम् ॥१०४॥

जब तुम ब्रह्म को इस प्रकार निर्जगत् कर सकोगे तब वह ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप हो जायगा। [उसकी नामरूप धारी कालिमा धुल जायगी।] बस इसी को 'अद्वैतानन्द' कहते हैं। मुमुक्षुलोग चिरकाल तक इसी 'अद्वैतानन्द' में विश्राम लेते रहें।

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयेऽध्याय ईरितः।
अद्वैतानन्द एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिन्तया ॥१०५॥

ब्रह्मानन्द नाम के ग्रन्थ में तृतीयाध्याय समाप्त हुआ। जगत् के मिथ्यात्व की चिन्ता करने से 'अद्वैतानन्द' जाग उठता है।

इतिश्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां ब्रह्मानन्दे
अद्वैतानन्दो नाम तृतीयोऽध्यायः

ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दप्रकरणम्

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया ।
ब्रह्मानन्दं पश्यतोऽथ विद्यानन्दो निरूप्यते ॥१॥

क्रमानुसार पहले तीन अध्यायों में वर्णित योग से या आत्म-विवेक से या फिर द्वैत के मिथ्यापन की चिन्ता करने से, जब कोई ब्रह्मानन्द के साक्षात् दर्शन कर रहा हो, उस समय उसको जो ज्ञानानन्द होता है उसी का निरूपण इस प्रकरण में किया जायगा ।

विषयानन्दवद् विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः ।
दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥२॥

जिस प्रकार वह विषयानन्द एक प्रकार की बुद्धिवृत्ति है, इसी प्रकार यह 'विद्यानन्द' भी एक प्रकार की बुद्धिवृत्ति ही है । इस विद्यानन्द को दुःखाभाव आदि चार प्रकार का कहते हैं ।

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योहमित्यसौ ।
प्राप्तप्राप्योहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥३॥

(१) मुझे कोई भी दुःख नहीं, (२) मेरी सब कामनायें पूर्ण हो गई हैं, (३) मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, (४) मुझे जो पाना था सो प्राप्त हो गया है, यों 'विद्यानन्द' चार प्रकार का होता है ।

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ।
निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः ॥४॥

दुःख दो प्रकार का होता है—एक इस लोक का दूसरा परलोक का। बृहदारण्यक का [अगला] श्लोक ऐहिक [इस लोक के] दुःख की निवृत्ति को कह रहा है।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् ? कस्य कामाय ? शरीरमनुसंज्वरेत् ॥५॥

यदि कोई पुरुष आत्मा को जान जाय कि 'यह तत्व मैं हूँ' तो बताओ फिर वह किस वस्तु की चाहना को लेकर और किस के लिए इस शरीर के पीछे [इसके दुःख से] दुःखी होता फिरे ? [जब वह आत्मा को पहचानेगा तब उसे पता चलेगा कि उसके आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु है ही नहीं। इसीलिए वह कुछ भी चाहना छोड़ देगा। जब उसे ज्ञात होगा कि आत्मा ऐसा असंग तत्व है उसको किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है बस फिर वह किसी के लिए कुछ भी न चाहेगा।]

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः ।
चित्तादात्म्यात् त्रिभिर्देहैर्जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत् ॥६॥

'जीवात्मा' और 'परमात्मा' इन दो तरह का आत्मा कहा जाता है। चैतन्य का 'स्थूल' 'सूक्ष्म' तथा 'कारण' नाम के तीन शरीरों के साथ तदात्म्य [तादात्म्य भ्रम] जब हो जाता है तब चैतन्य ही भोक्ता बन जाता है और वही भोक्ता 'जीव' कहाने लगता है।

परात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः ।
गत्वा भोग्यत्वमापन्न स्तद्विवेके तु नोभयम् ॥७॥

परमात्मा तो सच्चिदानन्दस्वरूप ही है परन्तु वह परमात्मा [क्योंकि नामरूप की कल्पना का अधिष्ठान है इसलिए] नामरूप के साथ तादात्म्य को पाकर भोग्य बन जाता है। जब उन तीनों शरीरों से तथा इस नामरूपात्मक जगत् से उस आत्मतत्व का विवेक [भेद ज्ञान] कर लिया जाता है तब फिर न तो 'भोक्ता' तत्व ही रहता है और न 'भोग्य' तत्व ही रह जाता है।

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत्।
ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता, न त्वात्मनो ज्वराः ॥८॥

यह प्राणी 'भोक्ता' के लिये जब किसी 'भोग्य' पदार्थ को चाहता है तब इसे शरीर के साथ [अनिवार्य रूप से] दुःखी होना ही पड़ता है। ज्वर तो तीनों शरीरों में होते ही रहते हैं। आत्मतत्व को तो ज्वर कभी नहीं होते।

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः।
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे, द्वयोर्बीजं तु कारणे ॥९॥

'वात' 'पित्त' 'कफ' नाम के धातुओं में जब विषमता आ जाती है तब स्थूल शरीर में व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। ये ही स्थूल शरीर के 'ज्वर' कहाते हैं। काम क्रोध आदि विकार सूक्ष्म शरीर के 'ज्वर' कहे जाते हैं। परन्तु दोनों प्रकार के ज्वरों का बीज तो कारण शरीर में ही रहता है।

अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते।
अपश्यन् वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत् परात्मवित् ॥१०॥

अद्वैतानन्द नाम के १३वें प्रकरण में कहे हुए प्रकार से जब [माया के कार्य नामरूप में से सच्चिदानन्दस्वरूप] परमात्म-

तत्त्व का विवेक कर लिया जाता है [जब उस आत्मतत्त्व को इस सब नामरूपात्मक जगत् से पृथक् पहचान लिया जाता है] जब ज्ञानी को कोई भी सच्चा भोग्य नहीं दीख पड़ता [जब वह इस प्रपंच को मिथ्या मान लेता है] तब बताओ कि वह परात्मा का जानने वाला ज्ञानी कौन से भोग्य की इच्छा करे ?

आत्मानन्दोक्तरीत्यास्मिन् जीवात्मन्यवधारिते ।
भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र, शरीरे तु ज्वरः कुतः ॥११॥

आत्मानन्द नाम के १२वें अध्याय में बतायी हुई रीति से जीवात्मा के [असंग कूटस्थ चैतन्य] स्वरूप का निश्चय जब किसी को हो जायगा तब फिर कोई भी भोक्ता [या कामयिता] हो नहीं रहेगा [विचार की आंच के सामने भोक्तृ भाव जल जायगा] ऐसी अवस्था में इस बिचारे जड़ शरीर में ज्वर होगा ही कैसे ? [इसको ज्वर के होने का पता कैसे चलेगा ?]

पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ।
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिन्ता नैनं तपेदिति ॥१२॥

पुण्य या पाप करने की इच्छा [नीयत] ही पारलौकिक दुःख कहाता है । प्रथमाध्याय में [११ वें प्रकरण में] बताया गया है कि इस ज्ञानी को तो चिन्ता सताती ही नहीं ।

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा ।
वेदनादूर्ध्वमागामि कर्मणोऽश्लेषणं बुधे ॥१३॥

जैसे इस कमल के पत्ते में पानी का संपर्क नहीं होता इसी प्रकार आत्मज्ञान हो जाने के बाद इस ज्ञानी में आगामी कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता । [अर्थात् आगामी कर्मों की चिन्ता भी

उसे नहीं रहती। यही बात *तद्यथा पुष्करपर्णे* इत्यादि श्रुति में कही गयी है।]

इषीकातूणतूलस्य वन्हिदाहः क्षणाद् यथा।
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥१४॥

तद्यथेषीकतूल मग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते (छा. ५–२४–३) इस श्रुति में कहा गया है कि जैसे सर कण्डे या कांस की रुई, आग में एक क्षण में जल जाती है, इसी प्रकार ज्ञानी के [करोड़ों कल्पों से] संचित किये हुए कर्म भी ज्ञान [के माहात्म्य] से [तत्क्षण] दग्ध हो जाते हैं। [यों उसे संचित कर्मों की चिन्ता भी नहीं रह जाती] कि इन का क्या बनेगा ?]

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥१५॥

गीता में भी कहा है कि—हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि ईंधनों को जला डालती है, इसी प्रकार [सुलगी हुई] यह ज्ञानाग्नि भी, तीनों प्रकार के कर्मों [क्रियमाण आगामी और संचित] को भस्मसात् कर देती है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१६॥

गीता में ही यह भी कहा है कि—जिस ज्ञानी को अहंकार युक्त भाव नहीं रहता, [कि यह मैं करता हूँ मैं करने वाला हूँ] जिस ज्ञानी की बुद्धि संसार में लिप्त नहीं होती, वह यदि इन सब लोकों को मार भी दे, तो भी वह मारने वाला नहीं समझा जाता और इस कर्म से वह बन्धन में भी नहीं आ सकता।

मातापित्रोर्वधः स्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ।
न मुक्तिं नाशयेत् पापं मुखकान्तिर्न नश्यति ॥१७॥

यही बात कौषीतकी उपनिषत् में यों कही गयी है कि—माता पिता का वध, चोरी, गर्भपात या और ऐसा ही पाप कर्म ज्ञानी की मुक्ति को रोक नहीं सकता। ऐसे ऐसे महाभयंकर पापों से भी ज्ञानी के चेहरे की कान्ति फीकी नहीं पड़ती।

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ।
सर्वान् कामानसावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः ॥१८॥

ज्ञानी के दुःखाभाव का वर्णन यहां तक किया गया। उसी तरह ज्ञानी को सब कामनाओं की प्राप्ति भी बतायी गयी है। ऐतरेय श्रुति में कहा गया है कि यह ज्ञानी सब कामनाओं को पाकर अमर हो चुका है।

जक्षन् क्रीडन् रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः ।
शरीरं न स्मरेत्, प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ॥१९॥

[छान्दोग्य में तो यहां तक कहा है कि]—खाता, खेलता, स्त्रियों से रमण करता, सवारियों पर बैठता, तथा और भोग्य पदार्थों को भोगता हुआ भी ज्ञानी, इस शरीर को याद तक नहीं करता [उसे यह मालूम ही नहीं रहता कि यह शरीर क्या कर रहा है ? वह तो निरन्तर आत्मसागर में डूबा रहता है] उस समय उस का प्राण प्रारब्ध कर्मों के सहारे से उस शरीर को जीवित रखता रहता है। [जब उस शरीर के प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जायेंगे तब वह शरीर तुरन्त ही गिर जायगा]।

सर्वान् कामान् सहाप्नोति नान्यवज्जन्म कर्मभिः ।
वर्तन्ते श्रोत्रिये भोगा युगपत् क्रमवर्जिताः ॥२०॥

तैत्तिरीय श्रुति में कहा है कि—ज्ञानी लोग संसार की सम्पूर्ण कामनाओं को एक ही साथ पा लेते हैं। दूसरे अज्ञानी लोग जैसे कर्मों को कर करके जन्मपरम्परा में फंसे रहते हैं, वैसे इन [दिखावटी] कर्मों से ज्ञानी को जन्म लेना नहीं पड़ता। अज्ञानी लोग जैसे क्रमानुसार भोगों को भोगा करते हैं श्रोत्रिय को वैसे भोग नहीं होता। उसको तो सब भोग एक ही साथ बिना क्रम के होते हैं। [इसी प्रकरण के ३४ श्लोक में जाकर यह विषय स्पष्ट हो गया है ।]

युवा रूपी च विद्यावान् नीरोगो दृढ़चित्तवान् ।
सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥२१॥
सर्वैं र्मानुष्यकै र्भोगैः संपन्नस्तृप्तभूमिपः ।
यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥२२॥

जवान हो, रूपवान् हो, विद्यावान् हो, नीरोग हो, स्थिर चित्त हो, भारी सेना हो, धन धान्य से पूर्ण पृथिवी का शासन कर रहा हो, अथवा संक्षेप में यों कहना चाहिए कि मनुष्यों को जितने भी भोग प्राप्त हो सकते हैं वे सभी उसे प्राप्त हों, ऐसे तृप्त भूपति को जो आनन्द मिल सकता है, ब्रह्मज्ञानी पुरुष भी उसी आनन्द को लूटा करता है [तैत्तिरीय और बृहदारण्यक उपनिषदों में यह बात कही गई है ।]

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ।
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥२३॥

[प्रश्न यह है कि सार्वभौम राजा को विषयों की प्राप्ति होती है, श्रोत्रिय को कोई विषय प्राप्त नहीं होता। फिर भी इन दोनों का आनन्द, एक सा कैसे होता है ? इसी का उत्तर इस

श्लोक में दिया है] सार्वभौम राजा और श्रोत्रिय इन दोनों को ही मर्त्यभोगों की इच्छा नहीं रहती, इस कारण इन दोनों को एक सी ही तृप्ति होती है। भेद केवल इतना ही है कि सार्वभौम राजा तो भोग चुकने पर निष्काम हुआ है। दूसरा श्रोत्रिय तो विवेक के प्रताप से [विना भोगे ही] निष्काम हो जाता है। यों इन दोनों को एक सी ही तृप्ति हो जाती है।

श्रोत्रियत्वाद् वेदशास्त्रैर्भोगदोषानवेक्षते ।
राजा बृहद्रथो दोषांस्तान् गाथाभिरुदाहरत् ॥२४॥
देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ।

श्रोत्रिय होने के कारण, वेद शास्त्रों के द्वारा, वह भोगों के दोषों को देखता रहता है [इस कारण विवेक के प्रताप से वह निष्काम हो जाता है] बृहद्रथ राजा ने मैत्रायणी शाखा में गाथाओं के द्वारा विषय के दोषों का वर्णन किया है [उसमें देह, चित्त तथा भोग्य के दोषों का विस्तारपूर्वक वर्णन आया है]

शुना वान्ते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥२५॥

कुत्ते से वमन की हुई खीर को खाने का विचार भी जैसे कोई नहीं करता, इसी प्रकार विवेकी पुरुष को दोषयुक्त भोगों की कामना ही नहीं होती।

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसंचये ।
दुःखमासीद् भाविनाशादतिभीरनुवर्तते ॥२६॥

[श्रोत्रिय की महिमा सार्वभौम राजों से ऊँची है] यद्यपि श्रोत्रिय और राजा दोनों ही समान रूप से निष्काम हुए प्रतीत होते हैं, परन्तु राजा को तो साधनों को इकट्ठा करने में पहले भी [काफी] दुःख हुआ था 'आगामी में तो ये सब भोग नष्ट

हो ही जायंगे' इस विचार के आने पर तो राजा को बड़ा ही भय होता रहता है।

नोभयं श्रोत्रियस्यात स्तदानन्दोऽधिकोऽन्यतः।
गन्धर्वानन्द आशास्ति राज्ञो, नास्ति विवेकिनः ॥२७॥

श्रोत्रिय को तो ये दोनों ही नहीं होते—न तो उसे साधन संचय करने का दुःख ही होता है और न आगामी में उनके नाश होने का डर ही रहता है। इस कारण श्रोत्रिय का आनन्द सार्वभौम राजा से अधिक होता है। [श्रोत्रिय में एक और भी अधिकता होती है कि] राजा तो अपने से ऊपरले गन्धर्वानन्द के पाने की आशा किया करता है। विवेकी को तो ऐसी कोई भी दुराशा नहीं होती।

अस्मिन् कल्पे मनुष्यः सन् पुण्यपाकविशेषतः।
गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ॥२८॥

इस कल्प में पहले मनुष्य था, किन्तु किसी पुण्य के फल से उसे गन्धर्वभाव मिल गया तो उसको 'मर्त्यगन्धर्व' कहते हैं।

पूर्वकल्पे कृतात् पुण्यात् कल्पादावेव चेद् भवेत्।
गन्धर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगन्धर्व उच्यते ॥२९॥

पूर्व कल्प में किये हुए पुण्यों से कल्प के प्रारम्भ में ही जो गन्धर्व बन जाते हैं उनको 'देवगन्धर्व' कहा जाता है।

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः।
कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः ॥३०॥
अस्मिन् कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम्।
अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ॥३१॥

'अग्निष्वात्ता' आदि को लोक में 'चिरवासी पितर' माना

जाता है। जो कल्प के प्रारम्भ में ही देव बन गये थे वे 'आजान देवता' कहे जाते हैं॥३०॥ जो तो इसी कल्प में अश्वमेध आदि कर्म करके महापद को पाकर आजानदेवों के भी पूज्य हो जाते हैं वे 'कर्मदेवता' होते हैं।

यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविन्द्रबृहस्पती ।
प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥३२॥

यम अग्नि आदि 'देवता' कहाते हैं। इन्द्र और बृहस्पति भी प्रसिद्ध ही हैं। प्रजापति को विराट् कहते हैं। ब्रह्मा को सूत्रात्मा माना गया है।

सार्वभौमादिसूत्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः ।
अवाङ्मनसगम्योऽयमात्मानन्दस्ततः परः ॥३३॥

सार्वभौम राजा से लेकर सूत्रात्मा तक सब के सब अपने से ऊपर के पद की कामना किया करते हैं। परन्तु यह जो आत्मानन्द है यह तो मन और वाणी से अगम्य है। यही कारण है कि वह इन सब से ऊँचा है [विवेकी पुरुष को किसी की भी कामना नहीं रहती, इससे उसका दर्जा सब से ऊँचा हो जाता है।]

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः ।
निःस्पृहस्तेन सर्वेषा मानन्दाः सन्ति तस्य ते ॥३४॥

उन उनके कमनीय सभी सुखों की ओर से श्रोत्रिय पुरुष तो निःस्पृह बना रहता है। यही कारण है कि—उन सब को मिल कर जितना आनन्द आता है उतना अकेले श्रोत्रिय को निःस्पृह होने से ही मिल जाता है।

वे लोग उन उन कामनाओं को पूरा करके भी तो कुछ

काल के लिए अपने आपको निःस्पृह ही कर लेते हैं और तभी वे आनन्दी होते हैं। उनकी निःस्पृहता उन उन कामनाओं के अधीन [मातहत] होती है। उन उन कामनाओं के पूरा हुए बिना उन्हें आनन्द मिल ही नहीं सकता। इसके विपरीत विवेकी को तो कुछ कामना ही नहीं होती। वह तो सदा ही निःस्पृह बना रहता है, यों वह सदा ही आनन्द लूटा करता है। इसी कारण विवेकी का दर्जा सबसे ऊँचा माना गया है। मनु ने भी कहा है 'यस्त्वेतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यस्त्वेतान् केवलांस्त्यजेत्' प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते'। जो इन सबको पा ले और जो इन को केवल छोड़ ही भरदे, सब कामों को पाने से त्याग की [मानस त्याग की] महिमा बहुत अधिक है।

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता, यद्वा साक्षिचिदात्मना ।
स्वदेहवत् सर्वदेहेष्वपि भोगानवेक्षते ॥३५॥

ज्ञानी की सर्वकामप्राप्ति की बात यहां तक प्रतिपादित की गयी। अब इसी बात को दूसरी रीति से कहा जाता है कि— जैसे अपने देह में [आनन्दाकार बुद्धि का साक्षी हो कर] आनन्दी होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों में जो जो भोग भोगे जा रहे हैं, उन सबका ही साक्षी होकर उन सब के भोगों को यह अकेला ही भोगने लगता है। इस रीति से भी ज्ञानी को 'सर्वकामाप्ति' हो जाती है।

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः ।
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान् कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥३६॥

यदि यह कहा जाय कि इस रीति से तो अज्ञानी को भी 'सर्वकामावाप्ति'हो ही जाती है—वह भी तो सबका साक्षी होता

ही है तो उसका उत्तर यह है कि—हां, अज्ञानी को भी 'सर्वकामावाप्ति' तो होती है परन्तु ज्ञान न होने के कारण उससे उस [विचारे] की तृप्ति नहीं होती [मैं सब बुद्धियों का साक्षी हूँ ऐसा ज्ञान अज्ञानी को नहीं होता और वह उस तृप्ति से वंचित रह जाता है] यही बात तैत्तिरीय श्रुति में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कही है कि—जो इस तत्व को पहचान जानता है उसी की सब कामनायें पूरी हो जाती हैं। न जानने वाले तो केवल न जानने से ही इस महालाभ से वञ्चित ही रह जाते हैं। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् (तै० ब्र० १)।

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा।
अहमन्नं तथान्नादश्चेति साम ह्यधीयते ॥३७॥

ज्ञानी की 'सर्वकामावाप्ति' का तीसरा भी एक प्रकार है कि—वह ज्ञानी अपनी सर्वात्मकता [सर्वरूपता] को साम के द्वारा यों गाया करता है। वह प्रत्येक वस्तु को अपना आत्मा समझता है—वह जान जाता है कि मैं ही अन्न हूँ और मैं ही अन्न को खाने वाला भी हूँ। सामवेद में भी कहा है कि—अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। (तै० ३-१०) ऊपर के श्लोक में साक्षिभाव से सर्वकामप्राप्ति का वर्णन है इस श्लोक में सर्वात्मभाव से सर्वकामप्राप्ति का प्रतिपादन किया है।

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते।
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ॥३८॥

यहां तक 'दुःखाभाव' और 'कामाप्ति' दोनों का निरूपण किया जा चुका। अब आगे 'कृतकृत्यता' तथा 'प्राप्तप्राप्यता' को भी समझ लो।

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ।
त एवात्रानुसन्धेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥३९॥

कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्यता दोनों का ही निरूपण हम ने तृप्तिदीप नाम के प्रकरण में भले प्रकार कर दिया है, तौभी बुद्धि की शुद्धि के लिये उन्हीं श्लोकों को यहां भी समझ लेना चाहिये ।

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहुकृत्यं परास्याभूत् तत् सर्वमधुना कृतम् ॥४०॥

जब तक यह अज्ञानी था तब तक [इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिये] इस लोक और परलोक के कामों को सिद्ध करने के लिये तथा मुक्ति को पाने के लिये इसको बहुत कुछ करना शेष था, परन्तु अब आत्मज्ञान हो जाने पर [सांसारिक फल की इच्छा न रहने से] इसने वह सब कुछ कर ही सा डाला है ।

तदेतत् कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसन्दधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥४१॥

जो चीजें आत्मा की कृतकृत्यता का विरोध किया करती हैं उनके साथ ['कि मैं भी कभी ऐसा ही था'] जब अपनी कृत-कृत्यता को याद करता है तब नीचे लिखे प्रकार से तृप्ति उमड़ पड़ती है ।

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥४२॥
अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥४३॥

जो अज्ञानी होने के कारण ही दुःखी हैं, वे पुत्र स्त्री आदि की चाह में फंस कर, संसाररूपी झाड़ में उलझे पड़े रहें। मैं भी कभी ऐसा उलझा पड़ा था परन्तु यह तो बताओ कि परमानन्द से परिपूर्ण मैं भला अब कौनसी इच्छा से संसाररूपी चक्कर पर चढ़कर घूमता रहूँ? ॥४२॥ जिन अज्ञानियों को परलोक यात्रा में मजा आता हो वे [अपने वहम को पूरा करने के लिये] भले ही कर्म किया करें। परन्तु यह तो बताओ कि जो मैं सर्वलोकस्वरूप हो चुका हूँ वह मैं अब इन कर्मों को किस लिये करूँ और कैसे करूँ? ॥४३॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥४४॥

जो अधिकारी हैं वे लोग चाहे शास्त्रों पर टीकायें लिखें या वेदों को पढ़ायें परन्तु मुझ अक्रिय का तो कोई अधिकार ही नहीं रह गया है।

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च।
द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥४५॥

सोना और भिक्षा स्नान तथा शौच की न मुझ आत्मा को कुछ आवश्यकता है और न मैं यह सब कुछ करता ही हूँ [यह तो सब यह शरीर ही किया करता है] फिर भी यदि देखने वाले संसारी लोग इन सब को मुझ में ही मानते हैं तो वे माना करें। दूसरों के मान लेने से मुझ में क्या हो जायगा? तृप्तिदीप के २५८ वें श्लोक में इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है।

गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवन्हिना।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥४६॥

दूसरों ने जिन गुंजाओं को अग्नि मान लिया है, वे गुंजा जैसे सचमुच ही जलाने नहीं लगतीं, इसी प्रकार दूसरों के माने हुए संसार के धर्मों को मैं आत्मा भी प्राप्त नहीं होता हूँ।

शृण्वन्त्वज्ञाततत्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥४७॥

जिनको तत्व का परिज्ञान आज तक नहीं हो पाया है, वे लोग इस तत्व का श्रवण करें। परन्तु इस तत्व को अच्छी तरह जानता हुआ मैं अब इसे क्यों सुनूँ? जिनको अभी तक इस तत्व में कोई संशय हो रहा हो वे लोग इस तत्व का मनन भी करें। परन्तु संशय रहित हो चुकने वाला मैं तो अब इस का मनन नहीं करूंगा।

विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्यये ॥
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥४८॥
अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥४९॥

जिसे अभी तक विपरीत ज्ञान हो रहा है उस का निदिध्यासन करना तो ठीक है, परन्तु जब किसी को विपर्यय ही न हो तब ध्यान कैसे होगा? मुझे तो अब कभी इस देह के आत्मा का विपरीत ज्ञान होता ही नहीं।४९। मैं जो अब भी कभी कभी यह कह देता हूँ कि मैं मनुष्य हूँ? सो यह व्यवहार तो अनादि काल से बसी हुई वासनाओं के प्रताप से हो जाता है।

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥५०॥

प्रारब्ध कर्मों का क्षय जब होगा तब यह व्यवहार स्वयं

बन्द होजायगा। जब तक किसी के कर्म क्षीण नहीं हो जायँगे तब तक तो हजार ध्यान करने पर भी यह व्यवहार शान्त नहीं हो सकेगा। तृप्तिदीप के २६३ वें श्लोक में विस्तारपूर्वक व्याख्या की गयी है।

विरलत्वं व्यवहृते रिष्टं चेद् ध्यानमस्तु ते।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥५१॥

यदि तुम व्यवहार को विरल [कम] करना चाहते हो तो तुम्हारे लिये ध्यान करना ठीक है। परन्तु व्यवहार को अबाधक देखता हुआ मैं भला ध्यान क्यों करूँ? [मुझे उसकी आवश्यकता ही क्या है?]

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद् विकारिणः ॥५२॥

क्योंकि मुझे कोई विक्षेप नहीं होता इसी से मुझे समाधि भी नहीं होती है। देखो कि—विक्षेप और समाधि ये दोनों तो विकारी मन को ही होते हैं।

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक्।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥५३॥

जो मैं नित्यानुभव रूप ही हूँ, उस मेरा पृथक् अनुभव क्या होगा! मुझे तो अब यह निश्चय हो गया है कि जो करना था सो कर डाला और जो पाना था सो पा चुका हूँ।

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥५४॥

लौकिक या शास्त्रीय या और किसी तरह का व्यवहार प्रारब्ध के अनुकूल चलता रहे, मैं तो अकर्ता और अलेप ही रहता हूँ।

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेहं का मम क्षतिः ॥५५॥

या फिर मैं तो कृतकृत्य ही हूँ, परन्तु तो भी लोक पर अनुग्रह करने की इच्छा से [उनको उनका मार्ग दिखाने के लिये] शास्त्रीय मार्ग से ही आचरण करता हूँ। इससे मेरी हानि ही क्या है ?

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥५६॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥५७॥

देवार्चन, स्नान, शौच तथा भिक्षा आदि कार्यों को यह शरीर किया करे । यह वाणी ज़ोर से जपती रहे या वेदान्तों का पाठ करती रहे । यह बुद्धि चाहे तो विष्णु का ध्यान करे, या ब्रह्मानन्द में विलीन हो जाय । परन्तु मैं तो इन में से कुछ भी करता या करवाता नहीं हूँ मैं तो केवल साक्षी हूँ ।

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥५८॥

कृतकृत्य होने के कारण जो पहले ही तृप्त हो चुका है, जब वह प्राप्तप्राप्यता से फिर और अधिक तृप्त होता है तब मन ही मन ऐसा विचार किया करता है —

धन्योहं धन्योहं नित्यं स्वात्मानमंज़सा वेद्मि ।
धन्योहं धन्योहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥५९॥

मैं धन्य हूँ । क्योंकि अपने नित्य आत्मा को ठीक ठीक

समझ गया हूँ । मैं धन्य हूँ क्योंकि अब मुझे ब्रह्मानन्द स्पष्ट दीखने लगा है ।

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥६०॥

मैं धन्य हूँ । क्योंकि आज मैं किसी भी सांसारिक दुःख को नहीं देख रहा हूँ । मैं धन्य हूँ क्योंकि मेरा अज्ञान न मालूम कहां भाग गया है ।

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥६१॥

मैं धन्य हूँ मुझे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा है । मैं धन्य हूँ क्योंकि जो कुछ मुझे पाना था वह सभी कुछ आज मेरा सिद्ध हो गया है ।

धन्योहं धन्योहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥६२॥

मैं धन्य हूँ बताओ कि संसार में आज मेरे समान तृप्त कौन है ? मैं और अधिक कहां तक कहता जाऊँ, बस मैं तो यही कहता हूँ कि मैं धन्य हूँ और अनन्त बार धन्य हूँ ।

अहो पुण्य महो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्ते रहो वयमहो वयम् ॥६३॥

ओहो ! आज मेरे कोटि जन्मों के पुण्यों के ढेर ने फलरूप धारण किया है । इस पुण्य संपत्ति के कारण आज मैं कृतकृत्यता की झूल में पड़ा झोटे ले रहा हूँ ।

अहो शास्त्र महो शास्त्र महो गुरु रहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥६४॥

जिन शास्त्रों, जिन अध्यात्मदर्शी गुरुओं, जिन ज्ञानों और जिन आनन्दों के कारण से, आज मुझे यह धन्य अवस्था हाथ लगी है, उन सब को अनेक अनेक बार धन्यवाद है [वे सब के सब आज मुझे मेरा परम पद देकर समुत्तीर्ण हो गये हैं। उनकी महिमा को गाने के लिये मैं शब्दों को कहां से लाऊँ ?]

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे चतुर्थोऽध्याय ईरितः।
विद्यानन्द स्तदुत्पत्तिपर्यन्तोऽभ्यास इष्यताम् ॥६५॥

ब्रह्मानन्द नाम के ग्रन्थ में 'विद्यानन्द' नाम का चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ। इस विद्यानन्द की उत्पत्ति जब तक न हो जाय तभी तक ब्रह्माभ्यास करना आवश्यक होता है। [इसके उत्पन्न हो जाने पर फिर ब्रह्माभ्यास करना शेष नहीं रह जाता]

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां ब्रह्मानन्दे
विद्यानन्दप्रकरणम्

ब्रह्मानन्दे विषयानन्दप्रकरणम्

अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् ।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥१॥

अब इस ग्रन्थ में ब्रह्मानन्द के ही एक भाग 'विषयानन्द' का निरूपण कर रहे हैं। क्योंकि वह भी ब्रह्मज्ञान का उपयोगी है। श्रुति ने भी अपने मुख से इस विषयानन्द को ब्रह्मानन्द का ही एक भाग कहा है।

एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः ।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते ॥२॥

श्रुति ने कहा है कि—जो कि अखण्ड और एकरस आनन्द है वही तो उस ब्रह्म का परमानन्द कहाता है। ये सम्पूर्ण भूत इसी परमानन्द की एक बूंद की किसी छोटी सी मात्रा को ही तो भोग रहे हैं।

शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ।
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्य मित्याद्याः शान्तवृत्तयः ॥३॥
तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः ।
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥४॥

मन की शान्त घोर तथा मूढ ये तीन तरह की वृत्तियां होती हैं। वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि 'शान्त' वृत्तियां कहाती हैं। तृष्णा, स्नेह, राग, तथा लोभ आदि 'घोर' वृत्तियां हैं। संमोह तथा भय आदि 'मूढ' वृत्तियां कही गयी हैं। [शान्त वृत्तियां सात्विक हैं, घोर वृत्तियां राजस होती हैं, मूढ वृत्तियां तामसी वृत्तियां मानी गयी हैं]।

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ।
प्रतिबिम्बति, शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति ॥५॥

ऊपर कही हुई इन सभी वृत्तियों में ब्रह्म की चित्स्वभावता प्रतिबिम्बित हो रही है। शान्त वृत्तियों में इतनी विशेषता होती है कि उनमें चेतनता के साथ ही सुख भी प्रतिबिम्बित होता है ।

रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ।
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥६॥

श्रुति में कहा है कि यह आत्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो गया है । अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् (ब्रह्मसू. ३–२–१८) इस में व्यास ने भी यही बात कही है। [जैसे यह ज्योतिर्मय सूर्य स्वयं एक है परन्तु जलपात्रों के भेद से भेदयुक्त जलों के अनुसार अनेक हो जाता है इसी प्रकार अजन्मा यह आत्मदेव स्वयंप्रकाश और एक ही है परन्तु माया रूपी उपाधि से शरीरों के अनुसार होकर भिन्न (अनेक) सा हो जाता है]

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥७॥

श्रुति कहती है कि सब भूतों में एक ही तो भूतात्मा व्यवस्थित हो रहा है । वह [ज्ञानी को] एक रूप में और [अज्ञानी को] जल के चांद की तरह अनेक रूप में दीख पड़ता है ।

जले प्रविष्टश्चन्द्रोऽयमस्पष्टः कलुषे जले ।
विस्पष्टो निर्मले, तद्वद् द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥८॥

[निरवयव ब्रह्म कहीं तो चिन्मात्ररूप से प्रतीत हो और कहीं चैतन्य और आनन्द दोनों का भान हो, यह विभाग कैसे

ठीक होगा ? इस बात का उत्तर यह है कि]—यह चांद जब मैले जल में प्रविष्ट होता है तब यह भी अस्पष्ट दीखने लगता है, परन्तु निर्मल जल में स्पष्ट दीख पड़ता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म तत्व भी शुद्ध और अशुद्ध वृत्तियों में दो तरह का हो जाता है।

घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहितः।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥९॥

[ऊपर की बात को विस्तार से यों समझो कि]—घोर और मूढ वृत्तियों में मलिनता के कारण सुख भाग ढका हुआ रहता है। उन वृत्तियों में थोड़ी सी निर्मलता होती है इस कारण केवल चिदंश का ही प्रतिबिम्ब हुआ रहता है।

यद्वापि निर्मले नीरे वन्हे रौष्ण्यस्य संक्रमः।
न प्रकाशस्य, तद्वत् स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥१०॥

अथवा दूसरे दृष्टान्त से इस बात को यों समझो कि निर्मल जल में अग्नि की उष्णता तो पहुंच जाती है परन्तु अग्नि का प्रकाश उसमें नहीं पहुंच पाता। ठीक इसी तरह घोर और मूढ वृत्तियों में चिदंश ही पहुंच पाता है [परन्तु 'सुखांश' का संक्रमण उनमें नहीं होता]

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा।
शान्तासु सुखचैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः ॥११॥

काष्ठ में तो जैसे उष्णता और प्रकाश दोनों ही उद्भूत हो जाते हैं, इसी प्रकार शान्त वृत्तियों में भी 'सुख' और 'चैतन्य' दोनों ही उद्भूत हो जाते हैं।

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्था तूभयोः समा ।
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥१२॥

वस्तु का जैसा स्वभाव हो उसके अनुसार व्यवस्था मानना तो दोनों ही पक्षों में समान है । क्योंकि नियामक की जब कल्पना की जाती है तब वह अनुभव के अनुसार ही तो की जाती है ।

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते ।
शान्तास्वपि क्वचित् कश्चित् सुखानुभव ईक्ष्यताम् ॥१३॥

लोक में देखते हैं कि—घोर या मूढ अवस्थाओं में सुखानुभव होता दीखता ही नहीं । इसी तरह अनुभव के अनुसार यह भी देख लो कि—शान्त वृत्तियों में भी सुखानुभव होता है या नहीं ?

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत् तदा ।
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात् तत्र नो सुखम् ॥१४॥

घर या खेत आदि की कामना जब किसी पर सवार हो जाती है तब फिर कामावस्था में उसे सुख हो ही नहीं सकता । क्योंकि वह राजस काम घोर होता है । [वह सुख को उद्भूत होने ही नहीं देता ।]

सिद्ध्येन्नवेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद् विवर्धते ।
प्रतिबन्धे भवेत् क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥१५॥

यह मेरा काम सिद्ध होगा या नहीं ? यह विचार जब आता है तब दुःख होने लगता है । जब काम सिद्ध नहीं होता तब दुःख बढ़ने लगता है । जब कोई उस काम में प्रतिबन्ध

डालता है तब क्रोध आने लगता है। जब कामना के प्रतिकूल बात देखनी पड़ जाती है तब उससे द्वेष होने लगता है।

अशक्यश्चेत् प्रतीकारो विषादः स्यात् स तामसः।
क्रोधादिषु महद् दुःखं सुखशङ्कापि दूरतः ॥१६॥

जब उसका कुछ इलाज नहीं हो सकता तब उस समय जो विषाद होता है वह तामस कहाता है [उसमें भी सुख नहीं होता]। क्रोधादियों में तो स्पष्ट ही बड़ा दुःख देखा जाता है वहाँ तो सुख की थोड़ी सी भी संभावना नहीं होती।

काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शान्ता तत्र महत् सुखम्।
भोगे महत्तरं, लाभप्रसक्तावीषदेव हि ॥१७॥
महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानन्दे तदीरितम्।
एवं क्षान्तौ तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात् ॥१८॥

काम्यपदार्थ का लाभ जब किसी को हो जाता है उस समय जो शान्त हर्ष वृत्ति उत्पन्न होती है उसमें बड़ा सुख होता है। जब तो हम उस काम्यपदार्थ को भोगते हैं तब और भी बड़ा सुख होता है। लाभ की आशा होने पर तो थोड़ा ही सुख होता है। वैराग्य में तो बड़े से भी बड़ा सुख होता है यह बात विद्यानन्द नाम के प्रकरण में कही गई है। इसी प्रकार क्षमा और उदारता के समय भी बड़ा सुख होता है। क्योंकि क्षमा और उदारता क्रम से क्रोध और लोभ का निवारण कर देती हैं।

यद्यत् सुखं भवेत् तत्तद् ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात्।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ॥१९॥

यों जहाँ कहीं जो भी कुछ सुख होता है, वह सब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने के कारण ब्रह्मतत्त्व ही है। [इष्ट भोग के

प्राप्त हो जाने पर जब इस प्राणी की वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब] वह ब्रह्म उस अन्तर्मुख वृत्ति में निर्विघ्नता के साथ [बेरोक टोक] प्रतिबिम्बित हो जाता है [तभी उस प्राणी को सुख होता है ।]

सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद् द्वयम् ॥२०॥

'सत्ता' 'चैतन्य' तथा 'आनन्द' ये तीन ही तो ब्रह्म के स्वभाव हैं । मिट्टी और पत्थर आदि में ब्रह्म की सत्ता ही सत्ता व्यक्त होती है । चैतन्य और सुख दोनों ही उनमें व्यक्त नहीं होते ।

सत्ता चितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः ।
शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं, मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ॥२१॥

घोर और मूढ वृत्तियों में [ब्रह्म के] 'सत्ता' और 'चैतन्य' नाम के दो स्वभाव व्यक्त हुए रहते हैं । शान्तवृत्तियों में तो [ब्रह्म के] सत्ता चैतन्य तथा आनन्द ये तीनों ही स्वभाव व्यक्त होते हैं । इस प्रकार मिश्र [अर्थात् प्रपंच सहित] ब्रह्म का निरूपण किया गया ।

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां, तौ च पूर्वमुदीरितौ ।
आद्येऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ॥२२॥

यदि कोई चाहे तो ज्ञान और योग की चलनी में छानकर उस ब्रह्म को अमिश्र अर्थात् प्रपंच से रहित कर सकता है । उन ज्ञानयोगों का वर्णन पहले ही कर दिया गया है । पहले अध्याय में योग का चिन्तन किया गया है । पिछले दो अध्यायों में ज्ञान का वर्णन है ।

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम् ।
असत्ता नरशृङ्गादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥२३॥
घोरमूढधियोर्दुःखमेवं माया विजृम्भिता ।
शान्तादिबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ॥२४॥

'असत्ता' 'जडता' तथा 'दुःख' ये तीनों ही माया के स्वरूप हैं। जिनमें से 'असत्ता' मनुष्य के सींगों में होती है, 'जडता,' काष्ट और शिला आदि में पाई जाती है।

घोर और मूढ वृत्तियों में दुःख रहता है। इस प्रकार संसार में सब ही जगह माया का प्रतिभास हो रहा है। बुद्धि की जो शान्त आदि वृत्तियाँ हैं उनके साथ एकता हो जाने के कारण वह ब्रह्म शान्त आदि वृत्तियों में मिश्रित हो जाता है।

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत् पुमानसौ ।
नृशृङ्गादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद् यथायथम् ॥२५॥

यह सब कुछ हमने इसलिए कहा है कि जो पुरुष ब्रह्मतत्व का ध्यान करना चाहे, नृशृंगादि के समान मिथ्या पदार्थों की उपेक्षा करके [जो तत्व शेष रह जाता है, उस] शेष रहे हुए तत्व का ध्यान यथा योग्य रीति से करता रहे।

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिन्तनम् ।
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्विचिन्तनम् ॥२६॥
शान्तासु सच्चिदानन्दांस्त्रीनप्येवं विचिन्तयेत् ।
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिन्ताः क्रमादिमाः ॥२७॥

शिलादि के नाम रूपों को छोड़ कर सन्मात्र का चिन्तन करना चाहिए। घोर और मूढ बुद्धियों में से तो दुःख को छोड़ कर ब्रह्म के सच्चिद्रूप का चिन्तन करना चाहिए। सात्विक

शान्त वृत्तियों में तो सत्-चित् तथा आनन्द इन तीनों को भी इसी तरह ध्यान करना चाहिए। ये ऊपर कही तीनों चिन्तायें क्रमानुसार कनिष्ठ मध्यम और उत्कृष्ट कहाती हैं। ये तीनों चिन्तायें एक समान नहीं हैं।

मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम्।
उत्कृष्टं वक्तुमेवात्र विषयानन्द ईरितः ॥२८॥

[जिन मन्द लोगों को निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने का अधिकार नहीं है, वे] मन्द लोग मिश्र [सोपाधिक] ब्रह्म का चिन्तन व्यवहार काल में भी करते रहें तो उनके लिये यही उत्कृष्ट बात है। इसी बात को बताने के लिये विषयानन्द का वर्णन हमने किया है।

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यादुत्तमोत्तमम्।
चिन्तनं, वासनानन्दे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम् ॥२९॥

उदासीनावस्था में धीवृत्ति के शिथिल हो जाने पर [विना वृत्ति का] सर्वोत्तम चिन्तन [ध्यान] हो जाता है। यों वासनानन्द में ध्यान चार प्रकार का हो गया।

उदासीनता के आ जाने पर बुद्धिवृत्ति के शिथिल हो जाने के कारण [जब कि किसी प्रकार की भी वृत्ति शेष नहीं रह जाती] यह विना वृत्ति का ध्यान सब ध्यानों से ऊँचे दर्जे का माना गया है। इस विषयानन्द नाम के प्रकरण में यहां तक चार प्रकार का ध्यान बताया जा चुका। तीन तरह का सवृत्तिक ध्यान ऊपर के श्लोकों में बताया गया है। इस श्लोक में चौथे अवृत्तिक ध्यान का वर्णन किया गया है। जड में सत्ता का ध्यान

मूढ में सत्ता और चैतन्य का ध्यान, सात्विक में सत्ता चित् तथा आनन्द का ध्यान यों तीन तरह का सवृत्तिक ध्यान है।

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु।
ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत् ॥३०॥

इस ब्रह्मानन्द नाम के ग्रन्थ में ज्ञान और योग के द्वारा जिस ध्यान को बताया है वह कोई ध्यान नहीं है। वह तो ब्रह्मविद्या ही है। ध्यान करते करते जब चित्त एकाग्र हो जाता है तब यह ब्रह्मविद्या स्थिर हो जाती है। [इसका स्थिर हो जाना ही इसका उत्पन्न होना कहाता है]

विद्यायां सच्चिदानन्दा अखण्डैकरसात्मताम्।
प्राप्य भान्ति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात् ॥३१॥

विद्या [ज्ञान-साक्षात्कार] हो जाने पर तो सत् चित् आनन्द ये तीनों ही अखण्ड एकरस होकर दीखने लगते हैं। फिर ये तीनों पृथक् पृथक् नहीं रहते। क्योंकि उस समय भेदक उपाधियां ही शेष नहीं रहतीं।

शान्ता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः।
योगाद् विवेकतो वैषामुपाधीनामपाकृतिः ॥३२॥

शान्त या घोर वृत्तियां तथा शिला आदि पदार्थ ही भेदक उपाधियें मानी गयी हैं। इन उपाधियों का परिहार या तो 'योग' से हो सकता है या फिर 'विवेक' [ज्ञान] से ही इनका परिहार किया जा सकता।

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयंप्रभे।
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते ॥३३॥

इस सब का निचोड़ यही है कि—जब उपाधि रहित स्वयं-

प्रकाश भासने लग पड़ता है तब फिर यह दीखने वाली त्रिपुटी नहीं रह जाती। यही कारण है कि उस को 'भूमानन्द' कहा जाता है।

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे पंचमोध्याय ईरितः।
विषयानन्द एतेन द्वारेणान्तः प्रविश्यताम् ॥३४॥

ब्रह्मानन्द नाम के ग्रन्थ में विषयानन्द नाम का पांचवां अध्याय समाप्त हुआ। मन्दाधिकारी लोग इसी को द्वार बना कर आत्ममन्दिर में घुस बैठें।

प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान् स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान्॥३५॥

इस ब्रह्मानन्द नाम की पुस्तक से हरि और हर प्रसन्न हो जांय। [अपना प्रसन्न रूप साधकों को दिखाने पर उतारू हो जांय]। शुद्ध मन वाले जितने भी प्राणी उनके आश्रय में पड़े हैं वे उन सब का पालन करें [उन्हें इस संसार सागर से पार कर दें।]

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां
ब्रह्मानन्दे विषयानन्दः समाप्तः

[पंचदशी समाप्ता]

ओम्

पंचदशी के प्रत्येक प्रकरण के भावपूर्ण संक्षेप

श्लोकों को पढ़ने से पूर्व यदि इन संक्षेपों को पढ़ लिया जायगा तो प्रकरण का भाव समझने में बहुत सहायता मिलेगी।

ओम्

[१]

तत्वविवेक का संक्षेप

जिन को जिस बात की आवश्यकता हो और उसको ग्रहण करने में समर्थ भी हों, तो वे उसके 'अधिकारी' कहाते हैं। जो जिस बात के अधिकारी नहीं होते, वे यदि उस बात को सुनें भी तो वे उसे न समझने के कारण उससे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते। जिनके चित्त रागादि दोषों से रहित हो चुके हों, जिन्हें संसार की सच्ची स्थिति का पूर्ण परिज्ञान हो चुका हो, जिन पर माया का मोहक प्रभाव पड़ना बन्द होगया हो, जिनका ज्ञाननेत्र खुलना चाहता हो, वसन्त ऋतु के आने पर सर्वतः अंकुरित पौदे के समान ज्ञानाङ्कुर जिनके अन्दर से फूट निकलने की तैयारी कर चुका हो, संक्षेप में यों कहो कि जो नित्यानित्य वस्तुओं को पहचान चुके हों, इसी कारण इस लोक और परलोक के भोगों से जिन्होंने मुंह मोड़ लिया हो, जिनकी इन्द्रियाँ भी निगृहीत होगयी हों, जिनके मन के पांव में शम की भारी शंखला पड़ गयी हो, जिनके लिये अब केवल एक मुक्ति का ही दर्वाजा खुला रह गया हो, उन लोगों को सरलता से तत्वज्ञान कराने के लिये इस प्रकरण का निर्माण किया गया है, वे ही इसको पढ़ने के अधिकारी हैं। इससे उनको तत्व अर्थात् अनारोपित रूप की पहचान हो जायगी कि वह कौनसा है ?

ब्रह्म का जो सच्चिदानन्द स्वरूप शास्त्र में बताया गया है ठीक वही लक्षण इस जीव में भी पाया जाता है। पहले 'सत्ता' को ही देख लें। सभी कहते हैं कि 'मैं हूँ' अर्थात् मेरी सत्ता है [मैं सत् हूँ] मैं एक त्रिकाल में रहने वाला पदार्थ हूँ। अब ज्ञान के विषय में भी विचार करें—जागरण काल में हमें शब्दस्पर्शादि के अनगिनत ज्ञान होते हैं। उन ज्ञानों में, ज्ञान के विषय, शब्द या स्पर्श आदि, भले ही पृथक् पृथक् होते जायँ, परन्तु उन सब विषयों को प्रकाशित करने वाला 'ज्ञान' तो सदा एकरूप ही रहता है। इस ज्ञान में जो कि भेद प्रतीत होने लगा है, वह शब्दस्पर्शादि उपाधियों के कारण ही है। जागरण और स्वप्न के ज्ञानों का विचार भी इसी प्रक्रिया से कर लेना चाहिये। जागरण और स्वप्न भले ही भिन्न भिन्न होते जायं, परन्तु उभयवर्ती सूत्ररूप जो ज्ञान है, वह तो अखण्ड ही रहता है। सोते समय जो हमें अज्ञान का ज्ञान रहता है, वह ज्ञान भी एक अखण्ड तत्व ही है। कहने का तात्पर्य यही है कि दिन पर दिन, मास पर मास, वर्ष पर वर्ष, युग पर युग और कल्प पर कल्प बीत गये और बीतते चले जायेंगे; परन्तु यह ज्ञानदेव लुहार के ऐरन के समान, वैसे के वैसे ही स्वयंप्रकाश बन कर डट रहे हैं और डटें रहेंगे। इन ज्ञानदेव ने इस त्रिभुवन को व्याप्त कर रक्खा है। यदि अरबों कोस दूर अपने मन को भेजें या अनन्त कोटि सूर्यों का चक्कर लगाने का अपने मन को आदेश दे दें, तो भी यह ज्ञानदेव वहां पहले से ही बैठे पाये जाते हैं। सृष्टि बनने से पहले भी ये थे और नष्ट हो जाने के पश्चात् भी रहेंगे ही। ये न हों तो उन दोनों अवस्थाओं को कैसे जानें? बस, ये व्यापक (देश और काल में व्यापक) ज्ञान ही आत्मा हैं। अब इनकी

परमानन्दरूपता का भी थोड़ा विचार करें। हरएक प्राणी अपने को ऐसा आशीष देता है कि मैं तो सदा ही बना रहूँ। जानते हो ऐसी आशंसा का गुप्त कारण क्या है? इसका कारण आत्मा की सामान्य आनन्दरूपता नहीं है, किन्तु आत्मा की परमानन्द-रूपता ही ऐसी सर्वहृदयेश्वरी अभिलाषा का मुख्य कारण है। इस आत्मप्रेम को परमानन्दरूप कह देने का साहस हमने यों किया है कि यह प्रेम अपने स्वार्थ से तो दूसरों में भी हो जाता है, परन्तु दूसरों के स्वार्थ से अपने में प्रेम होने की बात कहीं देखी नहीं गई।

यों जो (सत् चित् आनन्द) लक्षण ब्रह्म में बताये जाते हैं वे सभी इस आत्मा में भी पाये जाते हैं। अब जिसको अधिकारी देखते हैं, उससे वेदान्त और आचार्य यह महावार्ता कह देते हैं कि ओ दिङ्मूढ प्राणी! आत्मा और ब्रह्म ये दो पदार्थ नहीं हैं। ये तो एक ही वस्तु के दो नाम रख लिये गये हैं।

आत्मा की जिस परमानन्दरूपता का वर्णन ऊपर किया है, वह ऐसी विचित्र परिस्थिति में फँस गई है कि वह ज्ञात भी रहती है और अज्ञात भी बनी रहती है। आत्मा की इस परमानन्द-रूपता को अंशतः छिपा लेने वाली अविद्या के ही 'माया' और 'अविद्या' नाम के दो बड़े भेद हैं। इन्हीं से ईश्वर, प्राज्ञ, आकाश आदि पांच भूत, पांच ज्ञानेन्द्रियें, मन, बुद्धि, पांच कर्मेन्द्रियें, पांच प्रकार के प्राण, ये सब कुछ उत्पन्न हो जाते हैं। इनसे फिर तैजस और हिरण्यगर्भ का जन्म होता है। फिर इन पांचों भूतों को स्थूल रूप में लाने के लिये इनका मिश्रण किया जाता है, जिसे 'पंचीकरण' कहते हैं। उन पंचीकृत भूतों से ब्रह्माण्ड भुवन तथा अनेक प्रकार के स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है।

कारण और सूक्ष्म शरीर तो सम्पूर्ण प्राणियों के एक समान ही होते हैं केवल स्थूल शरीरों में ही भिन्नता है। 'वैश्वानर' और 'विश्व' की कल्पना भी इन ही स्थूल शरीरों के आधार से की जाती है। विश्व कहाने वाले इन देवता पशु पक्षी और मनुष्यादियों को, अन्दर के गुप्त तत्व का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं है। तमाशा देखने वाले बालक जैसे द्वारों पर खड़े रहते हैं, उसी तरह ये अपने अज्ञान के कारण सदा ज्ञानेन्द्रिय द्वार पर खड़े रहते हैं और कर्मेन्द्रिय रूपी मजदूरों से कुछ उलट पुलट कराया करते हैं। इनकी बेसमझी को कहां तक कहा जाय, ये ऐसे चक्कर में फंसे हैं, ये ऐसे भंवर में पड़ गये हैं कि इनका निस्तार होना ही कठिन हो गया है।

ये काम करते हैं इसलिये कि कुछ भोग [मजा] करेंगे। ये भोगते हैं इसलिये कि कुछ काम करेंगे। कर्म करने के कारण तो इनको उस कर्म का फल भोगना आवश्यक हो जाता है। भोग कर जब इन्हें कुछ क्षुद्र मजा हाथ आ जाता है तब ये दुगने उत्साह से फिर-फिर कर्मजाल में फँस जाते हैं। यों कर्म से भोग और भोग से कर्म की उत्पत्ति होती रहती है। इन कर्म और भोगों का पार ही इनके हाथ नहीं आता। इनके मन में कभी यह सवाल ही पैदा नहीं होता कि क्या हम सदा इस कर्म और भोग की श्रृंखला में ही जकड़े रहेंगे? या कभी हमको इससे छुट्टी भी मिलेगी? बेद्वार के दर्वाजे में बन्द किये अन्धों की तरह ये जन्मजन्मान्तरों में चक्कर लगाते रहते हैं। इन्हें कभी भी सुख के दर्शन नहीं होते। इनकी हालत नदी में बहते हुए उन कीड़ों की सी होती है जो एक भंवर से निकल कर दूसरे में फँस जाते हैं, उसमें से निकल कर तीसरे में जा गिरते हैं। जब कभी किसी

के कोटि पुण्यों का उदय होता है तब उसे संसार के गहन तत्व के पारखी गुरु के दर्शन मिल जाते हैं।

संसार में जल के अथाह समुद्र भेर पड़े हैं परन्तु मेघ के द्वारा आया हुआ जल ही पेय होता है। इसी प्रकार आत्मतत्व इस संसार में अनन्त रूप से परिपूर्ण हो ही रहा है, परन्तु वह हमारा उपयोगी तो गुरु के द्वारा ही होता है। गाय के शरीर में जो घी रहता है वह उसके शरीर को पुष्ट नहीं करता। जब तो उसी को दुहकर बिलोकर फिर उस गाय को खिलाते हैं तब उसके शरीर की पुष्टि होती है। इसी प्रकार जो हमारा मथन करके आत्मसर्पि निकाल कर हमें ही खिला सके, वैसे गुरु की आवश्यकता रहती ही है। गुरु की आवश्यकता पर कबीर के शब्द बड़े ही हृदयग्राही हैं:—

> वस्तु कहीं ढूँढे कहीं केह विध आवे हाथ।
> कहे कबीर तब पाइया जब भेदी लीना साथ॥
> भेदी लीना साथ कर दीना वस्तु लखाय।
> कोटि जनम का पन्थ था क्षण में पहुँचा जाय॥

उस आचार्य के उपदेश से पांच कोशों में छिपे हुए आत्मा की सम्भावना मन में दृढतापूर्वक बैठ जाती है। जब यह आत्मा पांचों कोशों से छिप जाता है तब आत्मविस्मरण होकर इसे संसार मे फंसना पड़ जाता है।

मूँज में से जैसे तुली को निकाल लेते हैं इसी प्रकार आचार्यों की बताई युक्ति से जब धीर लोग इन तीनों शरीरों में रमे हुए आत्मतत्व का उद्धार कर चुकते हैं, तब उस उद्धृत आत्मा में वे ही लक्षण स्पष्ट दीखने लगते हैं जो कि ब्रह्म में बताये गये हैं। लक्षण की एकता को देख कर तब साधक को कहना पड़ जाता

है कि मैं तो परब्रह्म तत्व ही हूँ। इतने से पर और अपर आत्मा की एकता की सम्भावना तो पाठकों के हृदय में बैठ ही जाती है। तत्वमसि आदि जो महावाक्य हैं वे इसी एकता की साक्षी देकर चले जाते हैं। अधिकारी लोग इन वाक्यों को जब विधिपूर्वक सुनते हैं तब उन्हें अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म की दिव्य सूचना मिल ही जाती है।

श्रवण और मनन के प्रताप से जब इस परमार्थ में की विचिकित्सायें भाग जाती हैं और इसी परमार्थ में चित्त को ठहरा कर, तैल की धारा के समान एकाकार वृत्ति का प्रवाह बहा दिया जाता है, तब बस यही 'निदिध्यासन' कहाता है। इस निदिध्यासन की जब परिपाकावस्था आती है तब उसके माहात्म्य का क्या वर्णन करें। तब तो ध्याता और ध्यान दोनों ही खोये जाते हैं। उस समय के ध्येयैकगोचर चित्त की अलौकिक अवस्था को तो ऐसा समझो जैसा कि वायुरहित प्रदेश में जलता हुआ या चित्र में खींचा हुआ कोई दीपक ही हो। ऐसी अवस्था जब किसी के चित्त की हो जाय तब उसे समझ लेना चाहिए कि 'समाधि' होने लगी है। इस समाधि का महाद्भुत प्रताप यह है कि हमने अनादिकाल से जो अनन्त कर्मों के कूड़े इकट्ठे कर रक्खे हैं वे सब के सब इस समाधि से नष्ट हो जाते हैं। शुद्ध धर्म की वृद्धि होने लगती है, जिससे कार्यसहित अविद्या को मार भगाने वाला साक्षात्कार आ धमकता है। इस समाधि को करते करते जब सम्पूर्ण वासनाजाल विनष्ट हो चुके हों, जब पुण्य पाप नाम के कर्मों के ढेर का समूल उन्मूलन हो चुका हो, तब कहीं जाकर 'तत्वमसि' आदि वाक्यों का सच्चा अर्थ समझ में आया करता है। ऐसी उदार अवस्था के आने से पहले पहले

हमें जो कि आत्मविषयक ज्ञान होता है उसे तो परोक्ष ज्ञान ही समझना चाहिए। परन्तु यह जो अपरोक्ष ज्ञान है यह जब किसी को होता है तब उसका संसार का कारण मूलाज्ञान भी जल-भुन कर खाक हो जाता है।

ऐसा तत्वविवेक जब कोई कर लेगा और अपने मन को इसी लक्ष्य की महादीक्षा भी दे देगा, तब उसे अपरोक्ष ज्ञान होकर ही रहेगा। उसका संसार-बन्धन टूट फूट कर शतधा विदीर्ण हो जायगा। फिर परम पद को पाने में उसे क्षण भर का भी विलम्ब नहीं होगा। चाह तो उसे यह भी कह सकते हैं कि वह सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही हो जायगा।

गंभीर सूचना

जो तत्त्व है अर्थात् जो अनारोपित (अकल्पित) वस्तु है उस का दिग्दर्शन इस प्रकरण में कराया गया है। इस प्रकरण का गंभीर अभिप्राय यह है कि एक ही स्थान पर दो अकल्पित पदार्थ रह ही नहीं सकते हैं। एक स्थान पर अकल्पित पदार्थ तो एक ही ठहर सकता है यह एक सर्वमान्य नियम है। जहां एक अकल्पित (सच्ची) रस्सी पड़ी है, वहां ही पर दूसरा अकल्पित (सच्चा) सांप भी हो यह हो हीं नहीं सकता। हां, यह तो हो सकता है कि जहां पर सच्ची रस्सी हो वहीं पर कल्पित सांप भी रह रहा हो। सच्चे और कल्पित का एक साथ होना तो भ्रमस्थल में प्रत्यक्ष देखते ही हैं। जहाँ जहाँ भी हमको कल्पित पदार्थ प्रतीत हुआ करते हैं वहाँ-वहाँ उनका तत्त्व अर्थात् उनका अनारोपित स्वरूप उनके साथ तो रहता ही है परन्तु वह उस समय छिप सा जाता है। उस पदार्थ के तत्त्व को यदि हम जान लें, तो कल्पित

पदार्थ, सुपने के पदार्थों की तरह, क्षण भर में अदृश्य (गुम) हो जाते हैं। इसी प्रकार यह समझें कि इस संसार का भी जो तत्त्व है, अर्थात् जो इस संसार का अनारोपित स्वरूप है वह तो एक ही है और वह भी छिप सा रहा है। वह 'सत्य' 'ज्ञान' और 'परमानन्द' स्वरूप है। परन्तु इस तत्त्व के ऊपर जो अनेक प्रकार के आरोप होगये हैं, इस तत्त्व के आधार से जो कि अनेक कल्पित देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अन्य भूत भौतिक पदार्थ प्रतीत होने लग पड़े हैं, उन्होंने हमारा सारा ही ध्यान अपनी ओर खींच लिया है और अब हमें सर्वत्र 'असत्य' 'अज्ञान' और दुःखों के ढेर ही ढेर दिखाई पड़ रहे हैं। जैसे रस्सी का सांप, सारा ध्यान अपनी ओर खींचकर रस्सी को प्रतीत होने ही नहीं देता है, इसी प्रकार इन कल्पित पदार्थों ने तत्त्व की प्रतीति को रोक दिया है और स्वयं हमारे सामने आकर खड़े हो गये हैं। सांप को देखकर जैसे भय और कम्प आदि हो जाते हैं; इसी प्रकार इन देहादि पदार्थों को देखने से अब तो जन्म मरण आदि का चक्र चल पड़ा है। हम अभागे प्राणी जन्मने के लिये मरते हैं और मरने के लिये जन्म लेते हैं। भोग के लिये कर्म करते हैं और कर्म करने के लिये भोगते हैं। यों हम अज्ञानोपहत होकर मूर्ख बालकों की तरह इस चक्कर को निरन्तर घुमाते ही जाते हैं। जब पुण्यपरिपाक से किसी तत्त्व के पारखी से भेंट हो जाती है और वह कृपा करता है तब इन कल्पित चीजों की पहचान होकर, अकल्पित सच्चिदानन्द वस्तु पर साधक की दृष्टि जा पड़ती है और बस तभी संसरण बन्द हो जाता है। कारुणिक आचार्य तत्व (अकल्पित पदार्थ) का जो स्वरूप है वह बता देते हैं। तब उस पर मनन चल पड़ता है और मनन

करते करते, निःसन्दिग्ध हो जाने पर, चित्त को उसी तत्व में जमा दिया जाता है। इस तत्व में जमते जमते, जब मन की अवस्था, नसवीर खिंचे हुए दीपक की सी शान्त हो जाय, तब यही समाधि अवस्था कही जाती है। इस समाधि के हाथ लगने पर, कर्मों के ढेर में आग लग जाती है और संसारबन्धन गल जाता है। इस अवस्था में परमपद को साधक के पास आना ही पड़ता है।

दर्पण ठोस होता है, उसके अन्दर तिल धरने को भी कहीं स्थान नहीं होता, परन्तु उसी के अन्दर, अनेक पदार्थों को अपने पेट में लिये हुए, लम्बा चौड़ा आकाश व्यर्थ ही दीखा करता है। इसी प्रकार, वह सच्चिदानन्द तत्व भी, सर्वत्र ठसाठस भरा पड़ा है, यह शिला की तरह ठोस है, इसमें जरा सा भी कहीं को छिद्र नहीं है, कि इसमें कहीं कोई तिनका तक भी समा सके। परन्तु इस दुर्घटकारिणी माया के प्रताप से, अनन्त वस्तुओं को अपने पेट में लिये हुए यह सारा जगत्, इसी निश्छिद्र सच्चिदानन्द में भ्रम से व्यर्थ ही प्रतीत हो रहा है। दर्पण के अन्दर अनन्त आकाश को देखते हुए भी जैसे हम दर्पण की निर्मलता को जानते ही रहते हैं और उस दर्शन पर विश्वास नहीं करते हैं, इसी प्रकार सच्चिदानन्द के अन्दर अनन्त जगत् को देखते हुए भी उसकी निर्मलता यदि हमारे मन पर चढ़ जाय, यदि हमारे मन पर इस सच्चिदानन्द रूपी जल के चार छींटे आपड़ें और मन को इस तत्व की महादीक्षा मिल जाय, मन इसी तत्व में रम जाय और बाह्य दर्शन पर से विश्वास (आस्था) उठ जाय तो समझिये कि अतत्व (आरोपित) चीजें हट गयीं और तत्व [अर्थात् अनारोपित] चीज हाथ लग गयी है। इस तत्व को पकड़ा देना ही तत्वविवेक नाम के प्रकरण का उद्देश्य है।

[२]

पंचभूतविवेक का संक्षेप

पंचभूतविवेक नाम के दूसरे प्रकरण में बताया गया है कि वर्षा ऋतु में पर्वत से ही उत्पन्न होने वाले तिनके जिस प्रकार पर्वत को ही ढक लेते हैं, इसी प्रकार ये पांचभूत उसी (सत् अद्वैत तत्व) से उत्पन्न हुए हैं परन्तु इन्होंने उसे ही छिपा डाला है। अब हम साधकों का यह परम कर्त्तव्य है कि इन पांचों भूतों का विश्लेषण करके, छिपे हुए उस तत्व को फिर दुबारा पहचान लें। पहचानने की रीति यह है कि ग्यारह इन्द्रियों से युक्तियों से और शास्त्रों से जिस पसारे को हम देख रहे हैं वह पसारा सृष्टि बनने से पहले नहीं था। तब एक सत् ही सत् था। वह सत् क्योंकि निरवयव तत्व है इस कारण पेड़ में जैसे पत्र पुष्प और फलादियों से होने वाला स्वगत भेद रहता है वह भी तब नहीं था। एक पेड़ का दूसरे पेड़ से जैसे सजातीय भेद होता है वैसा सजातीय भेद भी तब नहीं था। एक पेड़ का विजातीय पत्थर आदि से जैसे भेद होता है वैसा विजातीय भेद भी तब नहीं था। यों स्वगत स्वजातीय और विजातीय भेद से हीन एक तत्व तब था। कई लोगों को तो यह एक तत्व की बात बड़ी ही असह्य प्रतीत होती है। जैसे समुद्र में डूबने से स्थलचारी का दम घुटता है, इसी प्रकार अखण्ड एकरस तत्व को सुन कर और मन के प्रचार के लिये अवकाश न पाकर, वे लोग वहां की गम्भीर शान्ति से घबरा उठते हैं। दूषित वायु में रहने के आदी जैसे सुगन्ध वायु से नाक सकोड़ते हैं और घबराते हैं इसी प्रकार बहुव्याकुल-

चित्तों को अनन्त शान्तिदायक अखण्ड एकरस तत्व भी भयानक दीखता है। बालक जैसे जंगल में डरता है इसी तरह अखण्ड तत्व से भी कई लोगों को भय लगता है। परन्तु उनके डरने का कोई भी उचित कारण नहीं है। जब कोई समाधि करता है और जब निश्चित हो जाने की गम्भीर अवस्था आती है और तूष्णींभाव का उदय होता है, तब उस अखण्ड सद्वस्तु का अनुभव साधकों को स्पष्ट ही होता है। 'उस समय तो कुछ भी नहीं रहता है' ऐसा विचार ठीक नहीं है, क्योंकि शून्य (कुछ नहीं) को जानने वाला जो कोई तत्त्व है उसको 'कुछ भी नहीं' कहना अनुचित है। शून्य को तो शून्य का ज्ञान होता ही नहीं है। जब हम निर्मनस्क होते हैं, उस निर्मनस्क अवस्था का जो साक्षी है, वही तत्त्व सत् पदार्थ है। इस सत् में इस पसारे को फैलाने की जो शक्ति रहती है, वह न तो असत् ही है, क्योंकि प्रतीत होती है और न सत् ही है, क्योंकि वह सदा नहीं रहती। उसकी बाधा हो जाती है। देवदत्त में देवदत्त की शक्ति भी रहती है, परन्तु शक्ति को और देवदत्त को दो नहीं गिना जाता। ये दोनों मिल कर एक ही गिने जाते हैं। इसी तरह ब्रह्म और उसकी शक्ति दो तत्व नहीं गिने जाते। कहने का तात्पर्य यह है शक्ति के कारण द्वैत नहीं होता है। जैसे शक्ति के कारण द्वैत नहीं होता है, ठीक इसी तरह शक्ति के जो स्थूल कार्य (पृथिव्यादि) हैं उनसे भी द्वैत की शंका को अवकाश नहीं है। उस शक्ति से, सब से प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। उसमें जो सत्ता है वह इस सत् से ही आई है। सत् का ही आकाश बन गया है। 'आकाश की सत्ता' ऐसा कहना दार्शनिक भूल है। यह सत्ता वायु आदि अगले भूतों में भी गई है। आकाश उनमें नहीं गया, इसी कारण कहते हैं कि आकाश

और सत्ता भिन्न भिन्न तत्त्व है। आकाश में से सत्ता को पृथक् कर लो फिर बताओ आकाश का क्या रूप रह गया है? सत् से भिन्न होने के कारण वह तो अब निश्चय ही असत् है। असत् होने पर भी प्रतीत हो रहा है,यही तो माया का चमत्कार है। आकाश तो कभी सत् हो ही नहीं सकता और सद्वस्तु में कहीं जरा सा भी स्थान नहीं है कि उसके अन्दर आकाशादि अन्य पदार्थ समा सकें। इसीलिये तत्त्वज्ञानी की दृष्टि जब आकाश पर पड़ेगी, तब वह उसे निस्तत्व समझेगा और जब सद्वस्तु पर उसका ध्यान जायगा तब वह उसे निश्छिद्र किंवा निरन्तर ही समझेगा। यों प्रत्येक भूत और प्रत्येक भौतिक पदार्थ की असत्ता पर जब बार बार विचार चलेगा, तब अद्वैत के सत्य होने की बात दृढतर होती जायगी। परन्तु ध्यान रहे कि इस असत्यवासना का प्रभाव व्यवहार पर कुछ भी नहीं पड़ेगा। वह तो पहले जैसा ही चलता जायगा। व्यवहार को बन्द कर देने का जो एक वृथा विचार नवीन साधकों को हो जाता है वह भूल होती है। होना यह चाहिये कि जो व्यवहार अब तक अपने संकीर्ण दृष्टिकोण से चल रहा था वही अब व्यापक जगदात्मा के दृष्टिकोण से चलना चाहिये। इस ज्ञान से पदार्थों का स्वरूप बदल नहीं जाता है। यह ज्ञान तो केवल हमारे दृष्टिकोण को बदलता है। ज्ञानी के व्यवहार में अवश्य ही कुछ ऐसा चमत्कार आ जाना चाहिये कि उसका व्यवहार आकर्षक हो, सदय हो, नमूने का हो, अनुकरणीय हो, लोकहित में बाधा न डालता हो। ऐसा जिसका व्यवहार हो वही ज्ञानी है। उस ज्ञानी की जिस परिमाण से द्वैत की अवज्ञा (अनादर) दृढ होगी उसी परिमाण से अद्वैत में बुद्धि ठहरेगी। यह बुद्धि जब ठहर चुकेगी और संसार समुद्र की

कूलंकप लहरें भी जब इस बुद्धि रूपी तट को तोड़ फोड़ नहीं सकेंगी तब यह पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहाने लगेगा। पाँचों भूत या पाँचों भूतों से बना हुआ कोई भी पदार्थ जब दीखे तभी उसके सत्य तत्त्व पर दृष्टि पड़ने लगे और उसमें ही जमने भी लगे तो यही 'द्वैतावज्ञा' कहाती है। यही 'अद्वैत बुद्धि' कही जाती है और उसे ही 'ब्राह्मी स्थिति' भी कह देते हैं। मरते समय भी एक क्षण भर के लिये भी यदि किसी को ऐसी उदार स्थिति हाथ लग जाय तो उसकी मुक्ति अवश्यंभाविनी है। फिर जो बड़भागी बचपन से ही इस शुभ स्थिति में जमने लगा हो, उसके विषय में तो पूछते ही क्या हो ? क्योंकि मरते समय जो भ्रान्ति नष्ट हुई है वह भ्रान्ति फिर कभी भी लौट कर नहीं आयेगी। मृत्यु को तो इस लोक और परलोक की मध्य सीमा मानते हैं। उस सीमा पर जिसकी भ्रान्ति नष्ट हो जायगी दूसरे शब्दों में उसकी परलोक यात्रा की पूँजी ही जल भुन कर राख हो जायगी। जिस पुरुष को उपर्युक्त प्रकार की द्वैतावज्ञा स्थित हो गई हो, जिसे ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति हो चुकी हो, वह महामना खाट पर सड़ कर, भूमि पर लोट कर, पूर्ण स्वस्थ रह कर या मूर्च्छावस्था में प्राणों का त्याग भले ही कर दे, उसे फिर भ्रान्ति कभी भी नहीं होगी। मूर्च्छा आदि के कारण तत्व का विचार न कर सकने पर भी ज्ञानी का ज्ञान नष्ट नहीं हो जाता है। क्या भला कहीं पढ़ा लिखा आदमी नींद आ जाने से कुपढ़ा हो जाता है ? जिस महाविद्या को प्रमाणों ने बड़े परिश्रम से जगाया है, वह विद्या अब कभी भी नष्ट होने वाली नहीं है। क्योंकि वेदान्तों से प्रबल तो कोई प्रमाण ही नहीं है। वेदान्तों के बताये जिस अद्वैत का पूर्ण अनुमोदन साधक के अनुभव ने कर दिया है उस अद्वैत की

बाधा करने को दूसरा प्रमाण कहाँ से आयेगा ? अनुभव से-अपने तजुर्बे से-बड़ा तो कोई प्रमाण ही नहीं होता। इस प्रकार सत् जो अद्वैत है और अनृत जो द्वैत है, इन दोनों को हिलामिला कर जो एक मिश्रण बना लिया गया है, इस मिश्रण को जब सर्वथा अलगा दिया जाय, जब इन दोनों को अलग अलग समझ लिया जाय, तो निर्वाण पद किसी के भी रोके रुक नहीं सकेगा। सारांश यही हुआ कि पंचभूत विवेक करने पर जिस वेदान्त-सिद्ध अद्वैत का ज्ञान होगा, उसकी बाधा अन्तकाल में भी नहीं हो सकेगी और विदेहमुक्ति मिल कर ही रहेगी।

[३]

पंचकोशविवेक का संक्षेप

पंचकोशविवेक नाम के तीसरे प्रकरण में बताया गया है कि देह, देह से अन्दर प्राण, प्राण से अन्दर मन, मन से अन्दर कर्ता [विज्ञान], कर्ता से अन्दर भोक्ता [आनन्दमय] बस यह परम्परा ही तो आत्मा के छिपने की 'गुहा' कहाती है। इस गुहा में जो ब्रह्म तत्व छिप सा गया है, उसे तो हम तभी जान सकते हैं, जब कि पहले इन ऊपर के पांचों कोशों का विवेक कर लें। इस लिये आइये अब नारियल के छिलकों की तरह उन पांचों कोशों को ही छील कर फेंक दें और गुहाहित ब्रह्मतत्व के दर्शन करें—

यों तो जैसे ये अन्न, प्राण, मन, बुद्धि और आनन्द नाम के कोश, आत्मतत्व को ढके बैठे हैं, प्रकट नहीं होने दे रहे हैं, ठीक उसी तरह ये उसका दर्शन कराने में साधन भी तो हैं। ये बन्ध भी करते हैं और मोक्ष भी दिलाते हैं। नारियल का छिलका जैसे नारियल को ढके रहता है, इसी प्रकार नारियल को पाने की जगह भी तो वही है। जिन पांचकोशों ने आत्मतत्व पर परदा डाला है, उस तत्व के दर्शन भी तो उन्हीं के अन्दर होते हैं। यदि ये पांचकोश न हों, तो किसी को आत्मतत्व का ध्यान भी नहीं आ सकता। उस ब्रह्मतत्व के दर्शन की रीति यह है कि देह से लेकर आनन्द पर्यन्त जो भी पदार्थ दीख रहे हैं, वे सब इस प्रकरण में कही रीति से आत्मा नहीं है। किन्तु इन सब को देखने वाला, स्वयं कभी भी न दीखनेवाला, जो तत्व है,

वही तो आत्मा है। आत्मा के न दीखने का यह कारण कदापि नहीं है कि आत्मा नाम का कोई पदार्थ है ही नहीं, किन्तु उसके न दीखने का कारण यह है कि वह तो स्वयं ही दीखनारूप है। जैसे गुड़ को मीठा नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार आत्मा को भी देखा नहीं जा सकता। यों भले ही वह आत्मतत्व किसी के अनुभव में न आता हो, परन्तु उसकी ज्ञानरूपता में तो लेश-मात्र भी ठेस नहीं लग सकती है। जिस मूर्ख को तो सब के जानने वाले उस ज्ञान का ही अनुभव किसी भी तरह न होता हो, उस मिट्टी के ढेले को भला कौन समझा सकेगा? जो मन्द पुरुष ज्ञान को ही नहीं समझ रहा है, उसको ज्ञात [ज्ञान के विषयों] का अनुभव भी कैसे हो सकेगा? "मेरे मुँह में जीभ नहीं है" यह बात जितनी अयुक्त है, उतनी ही अयुक्त यह बात भी है कि मैं ज्ञान को नहीं जानता हूँ। विचार करो कि हमको कभी घड़े का ज्ञान, कभी वस्त्र का ज्ञान और कभी रूपादि विषयों का ज्ञान होता है, अपने योगयुक्त मन से ज्ञान के विषय इन घड़े आदि पदार्थों की उपेक्षा [अनादर] कर दो, इन घटादि सभी पदार्थों में, माला में सूत्र की तरह, जो ज्ञान या चैतन्य शान्त भाव से अनुगत होकर विराज रहा है, उस शान्त ज्ञान तक जब दृष्टि पहुँच जाय तब समझ लो कि यह ज्ञान ही ब्रह्म-तत्व है। यह तत्व स्वयंप्रकाश भी है। इस सब पसारे के दीखने से पहले यह दीखता है। जब यह आत्मा 'देखने की इच्छा' नाम की अनुमति दे देता है, तब यह पसारा पीछे से दीखने लगता है। बात तो यहां तक है कि यह पसारा उसके ही दीखने से दीखता है। यह आत्मा स्वयं किसी को न दीखता हो [जैसा कि सुषुप्ति में हो जाता है] तो यह पसारा दीख ही नहीं सकता।

इस पसारे का दीखना सत्रा सोलह आने इसके दीखने के अधीन है। यों इस सारे जगत् का साक्षी जो ज्ञानरूप आत्मा है वह शुद्ध अवस्था में तब ही दीख सकेगा जब कि इन पांचों कोशों का परित्याग पूर्णतया कर दिया जायगा। अर्थात् इनको आत्मा समझना छोड़ दिया जायगा। इन सब कोशों को चमकाने वाला जो ज्ञान नाम का प्रकाश है, वही तो हमारा अपना स्वरूप है।

अविचारपूर्ण दृष्टि के रहते रहते ही दीख पड़नेवाले देहादियों को जब अनात्मा समझ लिया जाता है, तब विचारक के सामने आत्मतत्व स्वयमेव आ खड़ा होता है। उस समय उसको चाहो तो 'कुछ नहीं' कह दो या 'आत्मा' कह दो या कुछ भी मत कहो। आत्मतत्व का वर्णन करने में अध्यात्मशास्त्र ने 'नेति नेति' की निराली भाषा का उपयोग इसी भाव से किया है। सम्प्रदायवाले इस प्रकरण में एक गाथा कहा करते हैं—किसी मेले में कोई स्त्री पुरुष बिछड़ गये थे। राज-पुरुषों ने सारे मेले को घेरकर एक द्वार में से निकाला और द्वार पर खड़ी की हुई स्त्री से बूझते गये कि क्या यह तुम्हारा पुरुष है? वह सब का निषेध करती गयी 'कि यह मेरा पुरुष नहीं है।' जब तो उसका पुरुष आया, तब वह कुछ भी न बोली किन्तु चुपचाप खड़ी रह गयी। कुछ न बोल कर ही उसने अपने पुरुष को राजपुरुषों को बता दिया। इसी प्रकार जितना कुछ निषेध किया जा सकता है, उस सब ही का निषेध कर देने पर, जो तत्व शेष रह जाता है, वही तो आत्मा है। यही 'नेति नेति' का सरल भाव भी है। यों यह तत्व सत्य पदार्थ है यह सिद्ध हो चुका। इसकी ज्ञानरूपता भी सिद्ध की जा चुकी। यही तत्व अनन्त भी है—औरों का तो कहना ही क्या है, सबसे तीव्र गति वाली कल्पना को भी यदि हजारों वर्ष

देश और काल के विस्तृत मैदान में दौड़ाते जांय, फिर जहां हम पहुँच सकेंगे, वहाँ भी और उससे आगे भी यह ज्ञान रहता है। यों इसमें देश और काल की कोई मर्यादा ही नहीं है। यह ज्ञान सर्वरूप भी है—पदार्थों को दिखाने वाला सूर्य का प्रकाश जैसे पदार्थों के ही आकार का हो जाता है, या जैसे पदार्थों के अन्दर रहनेवाले पांच भूत पदार्थों के ही आकार के हो जाते हैं, इसी प्रकार यह ज्ञान भी सब पदार्थों के रूप का हो जाता है। यह तो सब पदार्थों का आत्मा है क्योंकि यह उनके अन्दर बैठा बैठा सब को दिखाता रहता है। यों यह तत्व प्रत्येक पहलू से अनन्त है। यह एक ही तत्व कभी तो 'ईश्वर' हो जाता है और कभी 'जीव' बन जाता है। जगत् की निर्माणशक्ति जब हमारे ध्यान में आती है तब ईश्वर रूप में यही तत्व हमें याद आता है। जब पांचभौतिक शरीर की ओर हमारा ध्यान जाता है तब यही तत्व हमें जीव मालूम पड़ने लगता है। तात्पर्य यह है कि जो जो उपाधियां हमें दीखती हैं उन सभी के साथ यह तत्व अठखेलियां करता रहता है—यह उन सभी में रमा हुआ रहता है। जब हम न तो सृष्टि को देखें और न शरीरों का ही ध्यान करें, तब तो केवल अनन्त व्यापक चेतना का ही अखण्ड साम्राज्य हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। तब योगी के अवाक् रह जाने की ऊँची से ऊँची अवस्था आती है। ईश्वर और जीव दोनों ही तत्व अपनी अपनी उपाधि के कारण से ही हैं। ये दोनों उपाधियुक्त चेतना हैं। जो महापुरुष इन उपाधियुक्त चेतनाओं को छोड़कर निरुपाधि चेतना से आँख भिड़ा देगा, जिस साधक का यह त्राटक कभी भी खण्डित नहीं होगा, जो साधक बड़े बड़े साम्राज्यों को चलाता हुआ भी इस व्यापक चतना को नहीं भूलेगा, जिस महापुरुष के अन्तस्तल में यह बात

बैठ जायगी कि इस ईश्वरभाव और जीवभाव का जन्म तभी होता है जब हम शक्तियों और कोशों की ओर को ध्यान दे बैठते हैं, यदि हम इन दोनों की ओर को ध्यान बँटाना ही छोड़ दें तो फिर ब्रह्मभाव ही शेष रह जाता है। ऐसा ज्ञान पाते ही साधक लोग पूर्ण रूप से ब्रह्म हो जाते हैं। अपनी उपाधियों को तोड़ फोड़कर अपने व्यापक रूप को कमा लेते हैं। वेदान्तसम्प्रदाय में बताये हुए चारों साधनों से युक्त जो अधिकारी लोग उपर्युक्त प्रकार से पांचों कोशों का विवेक करके, उस गुहाहित ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं तो यह बात बेझिझक कही जा सकती है कि वे तो ब्रह्म तत्त्व ही होगये हैं। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' ऐसे ज्ञानी पुरुष का फिर मरना जीना छूट जाता है। क्योंकि ब्रह्म का तो जन्म ही नहीं होता है। उसने तो विवेक के द्वारा अपने अमर ब्रह्मभाव को जगा लिया है।

[४]

द्वैतविवेक का संक्षेप

द्वैतविवेक नाम के चौथे प्रकरण में बताया गया है कि—द्वैत दो तरह का होता है। एक ईश्वर का द्वैत, दूसरा जीव का द्वैत। इन्द्रियों से दीख पड़ने वाला संसार ईश्वर का बनाया हुआ द्वैत है। इस द्वैत के विषय में अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार जीवों के जो भिन्न भिन्न प्रकार के मनोविचार बनते हैं वही तो जीव का बनाया हुआ द्वैत कहाता है। ईश्वर जिन पदार्थों को बनाता है वह तो उनका स्वरूप ही बनाता है। ईश्वर के बना देने से ही वे हमारे (जीवों के) काम के नहीं हो जाते हैं। वे तो हमारे काम के तभी होते हैं जब हमें उनके विषय में कुछ ज्ञान हो जाय, जब हम उनका ध्यान करने लग पड़ें, जब हम उन्हें सुखदायी या दुःखदायी मान बैठें तथा उनको पाने या छोड़ने का कर्म (उद्योग) करने लगें। यही कारण है कि ईश्वर की सृष्टि के अनन्त पदार्थों में से केवल वे ही थोड़े से पदार्थ हमारे भोग में आते हैं जिनका हम ध्यान किया करते हैं जो हमारे मन में बस जाते हैं, या जिनके पाने या छोड़ने का उद्योग हम किया करते हैं। यों इस जगत् को ईश्वर बनाता है और अपने ज्ञान तथा कर्म के द्वारा जीव इसको भोगता है। जब ईश्वर मायावृत्ति नाम का संकल्प करता है तब इस जगत् की उत्पत्ति हो जाती है। अत्यन्त बहिर्मुख होने के कारण हम लोगों का संकल्पबल तो नष्ट प्राय हो गया है। कछवी अपने बच्चों को केवल संकल्प के बल से पालती है। जो काम दूसरे प्राणी अपने बच्चों को दूध

पिलाकर निकालते हैं वही काम कछवी अपने संकल्प से कर डालती है। संयम करते करते संयमी लोगों के संकल्प में फिर कर्म की शक्ति आ जाती है। संकल्प में से ही तो कर्म में बल आता है। तत्वज्ञानी के कर्म में और संकल्प में दोनों जगह बल रहता है। ईश्वर को कर्म करना ही नहीं पड़ता। उसको केवल संकल्प करना पड़ता है। बस कर्म अपने आप हो जाता है। यों वे संकल्प से सृष्टि बना लेते हैं। जब जीवात्मा इस ईश्वरोत्पादित जगत् के विषय में अपने मनोवृत्ति नाम के संकल्प दौड़ाता है, तब यह जगत् उसके भोग का साधन बनता है, नहीं तो नहीं बनता। ईश्वर तो मणि को एक ही तरह का बनाते हैं, परन्तु जिसको वह मिलती है, वह हर्ष करता है। जिसे नहीं मिलती, वह पछताता है। कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें न पाने का हर्ष होता है और न उन्हें न मिलने का पछतावा ही होता है। यों एक मणि में तीन आकार सिद्ध होते हैं—एक 'प्रिय' दूसरा 'अप्रिय' तीसरा 'उपेक्ष्य'। ये तीनों ही आकार जीवों की भिन्न-भिन्न बुद्धियों के अनुसार ही होते हैं। इन आकारों के बनाने में ईश्वर का हाथ सर्वथा नहीं होता। देखते हैं कि सम्बन्धियों के भेद से एक ही स्त्रीपिण्ड दादी, माता, पत्नी, पुत्री, पौत्री आदि अनेक रूपों में देखी जाती है। वह जो ईश्वरनिर्मित मांसमय स्त्रीपिण्ड है, वह तो अवश्य ही एक तरह का रहता है, परन्तु मनोमयी स्त्रियां एक में ही अनेक हो जाती हैं। क्योंकि भोक्ताओं के मन भिन्न-भिन्न होते हैं। भ्रम के समय में, मनोराज्य के समय में और स्मृति के समय म तो मनोमय पदार्थों से ही हमारा व्यवहार होता है। इन अवस्थाओं में ईश्वर का बनाया पदार्थ होता ही नहीं। जाग्रत् काल में भी मनोमय पदार्थों से ही

व्यवहार होते हैं। परन्तु जाग्रत् समय के मनोमय पदार्थों को अत्यन्त सावधानी से जान लेना चाहिये। जब हमारा मन किसी पदार्थ को देखता है, तब वह उसी पदार्थ के रूप का हो जाता है। आंख बन्द करके ध्यान करते ही वही रूप हमारे मन में दीखा करता है। यों जब हम जागरण के समय किसी पदार्थ को देखते हैं तब वहां दोहरे पदार्थ होते हैं—जैसे एक मिट्टी का घड़ा दूसरा मन का घड़ा। मिट्टी के घड़े को तो हम प्रमाणों से जानते हैं। परन्तु हमारा मनोमय घड़ा प्रमाणों से नहीं दीखता। वह तो साक्षी आत्मा से प्रकाशित हुआ करता है। हमको जो वस्तु बन्धन में डालती है वह यह 'मनोमय' ही तो है। यह हो तो सुख दुःख होते हैं, नहीं तो नहीं होते। बाह्य पदार्थ नहीं भी होते, तब भी सुपने आदि में मनोमय पदार्थों से जीव को सुख दुःख हो जाते हैं। सुपने की मनोमयी स्त्री के संग से वीर्यपात हो जाता है। समाधि, सुषुप्ति या मूर्छाकाल में बाह्यपदार्थ बने भी रहते हैं, परन्तु तब मनोमय पदार्थ न होने से जीवों को सुख दुःख नहीं होते। पुत्र दूरदेश में गया हो और वह जीता हो तब उस का पिता वंचक के कहने से उसे मरा समझ कर रो देता है। क्योंकि उसका मनोमय पदार्थ मर गया है। पुत्र मर भी गया हो परन्तु उसका समाचार न मिला हो तब नहीं रोता। क्योंकि उसका मनोमय पदार्थ तो जीवित ही है। यों यह स्पष्ट है कि मानस जगत् ही बन्धन करने वाला है। इस मानस द्वैत को नष्ट करने के दो उपाय हैं एक 'योग' दूसरा 'ज्ञान'। योग में मनोनिरोध करना पड़ता है, उससे मानस संसार बनना रुक तो जाता है, परन्तु वह बीजरूप में तो रहता ही है। जब भी मनोनिरोध करना छोड़ेंगे, तुरन्त मानस द्वैत आ खड़ा होगा और वह

बन्धन करेगा ही। मानसद्वैत को सदा के लिये नष्ट कर देनेवाला उपाय, ब्रह्मतत्त्व का—अपने व्यापक आत्मतत्व का—ज्ञान ही है। ईश्वर का द्वैत आंखों के सामने खड़ा भी रहे परन्तु उसको मिथ्या (बाधित होजाने वाला) समझ लेने से ही, पारमार्थिक अद्वैत का ज्ञान हो सकता है। जब पारमार्थिक अद्वैत का ज्ञान हो जाता है तब मानससंसार का बनना सदा के लिये रुक जाता है।

जब प्रलय हो जाती है—जब अद्वैत ज्ञान करानेवाले गुरु या शास्त्र नहीं रह जाते और जब कि अद्वैत ज्ञान का विरोध करने वाला द्वैत नहीं रहता है—तब तो अद्वितीय तत्व समझ में आ ही नहीं सकता। अद्वैत तत्व तो तभी समझ में आता है जबकि इसका विरोधी द्वैत सामने दिखाई देता हो। यदि द्वैत दिखाई न देता हो तो अद्वैत जैसे गहन तत्व को जानने का कोई साधन ही हमारे पास नहीं रह जाता। यों ईश्वर का निर्मित द्वैत अद्वैत-ज्ञान का बाधक ही नहीं है प्रत्युत साधक भी है। सत्य संकल्प उस ईश्वर के बनाये हुए उसको हटा देना हम अल्पशक्ति जीवों के बस का काम भी तो नहीं है। कोई कोई साधक यह मनाया करते हैं कि स्त्री बच्चे मर जांय तो मैं छूट जाऊँ। उनको यह समझना चाहिये कि ईश्वर के संकल्प से उत्पन्न हुए स्त्री बच्चे तभी मरेंगे जब ईश्वर का संकल्प पूरा हो जायगा। इन निष्फल संकल्पों से क्या होना है ? करने की बात तो केवल इतनी ही है कि तुम उनको अपना मानना छोड़ दो। हमारा इनसे जो मानस सम्बन्ध है उसी से तो हम बँध रहे हैं। उसे न हटाकर, ईश्वर की चीज़ को बिगाड़ने की इच्छा तो उपहासास्पद इच्छा ही है। हमको तो इस ईश्वर के द्वैत के रहते रहते ही अपना अद्वैत मार्ग साफ़ कर लेना है। इससे द्वेष करना ठीक नहीं है। जैसे मानस

द्वैत से राग करना बन्धनकारक है वैसे ही ईश्वर के द्वैत से द्वेष करना भी बन्धनकारक ही है। जीव के द्वैत के दो भेद हैं—एक शास्त्रीय दूसरा अशास्त्रीय। आत्मा और ब्रह्म का विचार शास्त्रीय मानस जगत् है। इस द्वैत को तत्वज्ञान हो चुकने के बाद छोड़ देना चाहिए। अशास्त्रीय द्वैत के दो भेद हैं—एक काम क्रोध आदि, दूसरा मनोराज्य। ये रहेंगे तो तत्वज्ञान होगा नहीं। किसी तरह तात्कालिक उपाय कर देने से यदि ज्ञान हो भी जायगा तो वह ठहरेगा नहीं। तत्वज्ञान के बाद जीवन्मुक्ति की अवस्था आनी ही चाहिये। उसमें गीता वाली दैवी संपत्ति आनी ही चाहिए। जो पुरुष काम क्रोधादि के झंझटों में उलझा पड़ा है, उसका ज्ञान 'ज्ञान' नहीं है। वह मुक्ति रूप फल को देनेवाला नहीं है। वह तो कोरा (बन्ध्य) ज्ञान है। ज्ञान हो जाय और काम क्रोध आदि न छोड़े जांय, व्यवहार में शुद्धि न आजाय, ज्ञानी का व्यवहार यह न कहने लग पड़े कि इसके व्यवहार में देहात्मवाद काम नहीं कर रहा है, तो वह ज्ञान ऐसा ही निरर्थक है जैसे कि औषध सेवन करके पथ्यसेवन न किया जाय। जिसके मन से विषयसुख की लालसा नहीं मिटी है उसको हज़ार ज्ञान होजाय तौ भी उसकी जन्मपरम्परा टूटनेवाली नहीं है। जो ज्ञानी होकर भी कामादि को नहीं छोड़ता है उसका बहुत बड़ा पतन होता है। कारण यह है कि अज्ञानी लोग जिस ईश्वर तत्व से डरकर या कर्मगति से भय मानकर पाप-कर्म से बचते हैं वह भय तो इसके मन से जाता रहता है। ऐसा ज्ञानी अवश्य ही पतित हो जाता है। ज्ञान होने से पहले मनोदोष अज्ञानी को सताते हैं, अब ऐसे कोरे ज्ञानी की लोक में निन्दा भी होने लगती है। यों इस शुष्क ज्ञान से तो वह अज्ञान

ही अच्छा था। तत्वज्ञान का इतना तो दृष्टफल होना ही चाहिये कि तत्वज्ञानी का व्यवहार उसका रहन सहन, उसकी बात-चीत, सब में अलौकिकपना हो और उसके व्यवहार से उसकी पूजा हो, लोग उसको श्रद्धा से देखें। कामादि के साथ ही साथ, सब दोषों के मूल मनोराज्य को भी, बन्द कर देना चाहिये। मनोराज्य को जीतने के लिये निर्विकल्प समाधि करनी चाहिये। सविकल्प समाधि करने से निर्विकल्प समाधि होने लगती है। जिसको तत्व का ज्ञान हो जाय, जो एकान्त वास करता हो अर्थात् हृदय में बहुतायत से रहने लग पड़ा हो, जिसके बुद्धि दोष नष्ट हो गये हों वह, लम्बे प्रणवों को बोलकर मनोराज्य को जीत सकता है।

जब मनोराज्य पर विजय मिल जाती है तब साधक के वृत्ति-शून्य मनकी हालत गूँगे पुरुष की-सी हो जाती है। गूँगा जैसे कुछ भी नहीं बोलता इसी प्रकार उसके गूँगे मन में वृत्तियों का उत्पन्न होना रुक जाता है। 'दृश्य नहीं है' इस ज्ञानरूपी झाड़ू को पकड़ कर, मनरूपी मन्दिर में से, दृश्यरूपी कूड़े को निकाल कर, फेंक दिया जाय तो निरतिशय मोक्ष सुख अन्दर से उमड़ ही पड़ता है। कामादि अवस्थाओं के नष्ट हो जाने पर, जब वासनाओं से शून्य गम्भीर मौनावस्था का प्रादुर्भाव हो जाता है, तब इस दशा से उत्तम दशा और कोई भी नहीं है। ऐसा परमपद जिन लोगों ने पा लिया हो, उनको भी कभी-कभी भोग-दायी कर्मों के प्रभाव से विक्षेप हो ही जाता है। परन्तु उनके अभ्यास की प्रबलता उस विक्षेप को ठहरने ही नहीं देती। उनकी बुद्धि फिर तुरन्त ही समाहित हो जाती है। हाँ जिन महापुरुषों को विक्षेप होना सर्वथा बन्द हो गया हो, उनको तो

ब्रह्मज्ञानी कहना भी ठीक नहीं है। अध्यात्मविद्या के पारंगत मुनि लोगों का कहना है कि वे तो साक्षात् ब्रह्मतत्व ही—सर्वव्यापक आत्मतत्व ही—हो चुके हैं। जीव के बनाये हुए द्वैत को जब कोई प्राणी सम्पूर्ण रूप से छोड़ चुकेगा, तभी उसे जीवन्मुक्ति की ऊँची से ऊँची हालत प्राप्त हो सकेगी, इसी विचार को लेकर हमने ईश्वर के बनाये हुए द्वैत से, जीव के बनाये हुए द्वैत को, मुमुक्षु लोगों के सुभीते के लिये, छांट कर रख दिया है।

महावाक्यविवेक का संक्षेप

'महाश्रोत्रिय' 'महाराजा' 'महायात्रा' 'महाप्रस्थान' 'महाज्ञानी' आदि जैसे शब्द हैं वैसा ही यह 'महावाक्य' भी है। इसका एक यह भी अर्थ हो सकता है कि—जिस से बड़ा, जिससे व्यापक अर्थ वाला कोई अन्य वाक्य न हो सकता हो। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि—जिसके पश्चात् दूसरा वाक्य बोलना ही पड़ता हो। या यों कहो कि बोलने की आवश्यकता ही न रह जाती हो। जो प्राणी दिन रात बहिर्मुख बने रहते हैं, जो प्राणी आठों पहर इन्द्रियद्वारों पर ही डटे रहते हैं, उनमें से कोई जब किसी नाटक के नटों, या पालतू तोते मैनाओं के समान इन महावाक्यों को बोल उठे तो उसकी बात हम नहीं कहते हैं। हम तो केवल उन महामना मुनियों की ओर को संकेत करना चाहते हैं, जिनके हृदयधाम में धधकती हुई ज्ञानाग्नि की ज्वाला में सृष्टि के पदार्थों की स्वाधीन सत्ता सरकण्डे की रूई के समान भड़भड़ा कर भस्म हो चुकी हो। वे जब अपने एकान्त हृदय-मन्दिर के मौनप्रदेश में बैठकर इन वाक्यों को बोल बैठते हैं और जब उनके हृदय-प्रदेश में सदा के लिये सन्नाटा छा जाता है—जिसके बाद एक भी अन्वर्थ वाक्य ऐसा सुनाई नहीं पड़ सकता जो उनके उस गंभीर सन्नाटे को कभी भी भंग कर सकता हो, तब इन वाक्यों को 'महावाक्य' कहना बड़े ही गौरव की बात प्रतीत होती है। यह प्रकरण आगमप्रधान है—इसमें कुतर्क और व्यर्थ विवाद को थोड़ा सा भी अवकाश नहीं है। इसमें

जिन महावाक्यों का उल्लेख है वे सभी प्राणियों के अन्दर गुप्तभाव से रहनेवाले 'पूर्ण अहं' का वर्णन करनेवाले हैं। क्षुद्र अहं ने जीवात्माओं को संकुचित कर रक्खा है। विचार की आँच से जब क्षुद्र अहं जल जाता है तब वही पूर्ण अहं प्रत्यक्ष दर्शन दे देता है। आंख का पलक खुलते ही जैसे अनन्त आकाश आंखों के सामने आ खड़ा होता है इसी प्रकार क्षुद्र अहं को हटाते ही अनन्त आत्मतत्व साधक को दीखने लग पड़ता है। उसी पुण्य-कीर्ति अवस्था की ओर संकेत करनेवाले ये महावाक्य हैं। जितने भी वेदादि सच्छास्त्र हैं वे इसी पूर्ण अहं की आवाजें हैं। मनन में गहरे उतरे हुए लोगों को ही ऐसी ईश्वरीय आवाजें सुनाई पड़ा करती हैं। इसी कारण वेदों को 'अपौरुषेय' कहा जाता है। वेदों को कोई पुरुष बनाता नहीं किन्तु ये तो शुद्ध मन से सुनने की बातें हैं। इसी लिये वेदों को ऋषियों के द्वारा प्रकट होना बताया जाता है। इस प्रकरण में जिन 'महावाक्यों' का वर्णन है उनकी मृतप्राय आवाजें जनसाधारण के हृदयों में भी सुनाई तो पड़ती हैं, परन्तु वे अपने क्षुद्र अहंकार के परवश होने के कारण इनको अनसुनी कर देते हैं। सभी प्राणी अपने जी में अपने आप को बड़े से बड़ा और अच्छे से अच्छा मानते हैं। सभी को अपना आपा सर्वगुणसम्पन्न और सब से अच्छा, प्रतीत होता है। सभी अवसर पाते ही अपनी बड़ाई बघारने से चूकते नहीं हैं। परन्तु ऐसी सर्वहृदयेश्वरी महत्ता का जो गुप्त कारण है उसका किसी को भी पता नहीं है। हम तो इसी गुप्त महत्ता को ही सोया पड़ा हुआ 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हैं। अन्दर जो निःशब्द भाषा में 'अहं ब्रह्मास्मि' की अखण्ड रटना चल रही है, उसी से यह प्राणी अपने को सर्वोत्तम समझ रहा है। हमारे रोम रोम में

'अहं ब्रह्मास्मि' यह महामन्त्र समाया हुआ है। मौत ने सारे संसार को अपने जबाड़े में दबा रक्खा है परन्तु उस मौत को भी निगल जानेवाला यह अन्दर का 'अहं ब्रह्मास्मि' कभी मरना जानता ही नहीं। इस अन्दर के 'अहं ब्रह्मास्मि' को इस मांस की चादर ने लपेट रक्खा है। अब तो हमें क्षुद्र देहाभिमान के रूप में इस 'अहं ब्रह्मास्मि' की निर्बल (मुरदा) आवाज कभी कभी सुनाई पड़ जाती है। अब इसमें ब्राह्मतेज नहीं रह गया है। अन्दर के इस 'अहं ब्रह्मास्मि' को—सोये पड़े हुए इस ओम् को—हम साधकों को धीरतापूर्वक जगाना पड़ेगा। जब यह पूरा पूरा जाग उठेगा और इस मांस की चादर को तोड़ फोड़ डालेगा, तब यह देहाभिमान को, किंवा क्षुद्र अहंकार को जलाकर राख कर देगा। देहाभिमान के जलने का बहाना पाकर यहीं 'अहं ब्रह्मास्मि' फिर ब्रह्माण्ड भर में फैल जायगा और इस अनन्त ब्रह्माण्ड पर फिर अपना एकछत्र आधिपत्य जमा लेगा। ऐसी दिव्य अवस्था जब आ जाती है तब ही 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों के बोलने का सच्चा अधिकार प्राप्त होता है। नहीं तो कोरे शाब्दिक [शास्त्रीय] ज्ञान से कुछ भी होने जाने वाला नहीं है। गुड़ कहने मात्र से किसी का मुँह मीठा नहीं हो जाता है—राम राम रटने से तोता मुनि नहीं हो जाता है। ऐसी दिव्य अवस्था जब आती है तब शान्ति का अनन्त समुद्र उमड़ पड़ता है। तब शोक भय दीनता आदि ठहर नहीं पाते हैं। जिन लोगों के पवित्र मानस में इस तरह के अपौरुषेय महावाक्य सुनाई पड़ने लगते हैं, जिनके हृदय में पूर्णता की गुंजार रहने लग जाती है, वे ही मुनि हैं, वे ही जीवन्मुक्त हैं, उनको ही विदेह मुक्ति मिल सकती है। जिसकी वाणी के पीछे अनुभव का बल नहीं

होता है ऐसी निस्तेज वाणी से बोले हुए 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्य उसी तरह बन्धनकारक होते हैं, जिस प्रकार अन्य अपशब्द बन्धनकारक होते हैं। क्योंकि अनुभव रहित पुरुष जब इन महावाक्यों को कहते हैं तब वे आत्मघात कर बैठते हैं क्योंकि उनमें दम्भ आदि दोष बहुतायत से उत्पन्न हो जाते हैं।

मुख्य महावाक्य चार हैं। एक 'प्रज्ञानं ब्रह्म' दूसरा 'अहं ब्रह्मास्मि' तीसरा 'तत्त्वमसि' चौथा 'अयमात्मा ब्रह्म' ब्रह्म और आत्मा की एकता रूप जो मोक्ष का साधन है—उसका ज्ञान इन (या इन जैसे) वाक्यों से ही हो पाता है। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, यह ज्ञान तो युक्ति से भी हो जाता है। परन्तु 'यह आत्मा और वह ब्रह्म तत्व दोनों एक ही तत्व हैं, इस बात को जानने का उपाय शब्द प्रमाण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

प्रज्ञानँ ब्रह्म

चक्षु और श्रोत्र के द्वारा जो अन्तःकरण की वृत्ति बाहर निकलती है, उस वृत्ति से उपहित जो चैतन्य किंवा ज्ञान है, उसी से तो यह संसार रूपादि पदार्थों को देखा करता है और शब्दों को सुना करता है। नासिका के द्वारा जो अन्तःकरण की वृत्ति बाहर निकलती है अन्तःकरण की उस वृत्ति से उपहित जो चैतन्य किंवा प्रज्ञान है, उसी प्रज्ञान से तो यह संसार भले बुरे गन्धों को सूँघा करता है। वागिन्द्रिय से ढके हुए उसी चैतन्य किंवा प्रज्ञान से ये सब शब्द बोले जाते हैं। रसना के द्वारा जो अन्तःकरण की वृत्ति बाहर निकलती है, उसको जिस चैतन्य ने अपनी उपाधि बना लिया है, उसी से तो ये स्वादु या अस्वादु रस पहचाने जाते हैं। इतना ही नहीं और भी

इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की वृत्तियों से जिस चैतन्य किंवा जिस प्रज्ञान की सूचना जब-तब मननशील पुरुष को मिला करती है उसी को हम 'प्रज्ञान' कह रहे हैं। ब्रह्मा इन्द्र देवता मनुष्य तथा पशु पक्षियों तक में यही ऊपर कहा हुआ प्रज्ञान व्याप्त हो रहा है। वेदादि सब इसी प्रज्ञान सूर्य की बिखरी हुई किरणें हैं। इसी के सहारे से जगत् के जन्म स्थिति और प्रलय हो रहे हैं—इस कारण कहना पड़ता है कि सर्वान्तर्यामी यह 'प्रज्ञान' ही ब्रह्मतत्व है। क्योंकि सर्वत्र व्याप्त यह 'प्रज्ञान' ही ब्रह्म है, इसी से मैं मुमुक्षु अब यह बात बेधड़क होकर कह सकता हूँ कि मुझ में जो 'प्रज्ञान' है वह भी ब्रह्मतत्व ही है। आज से मैं इस महामहिम 'प्रज्ञान' पर झूठा अहंकार (क्षुद्र अहंकार) करना छोड़ देता हूँ। इतना जान चुकने पर भी यदि मैं इस सर्वत्र व्याप्त 'प्रज्ञान' पर क्षुद्र अहंकार करूँगा तो मैं ब्रह्मद्रोही हो जाऊँगा। व्यापक ब्रह्म को क्षुद्र अहम् में परिच्छिन्न करने का घोर पातक मुझे लगेगा।

अहं ब्रह्मास्मि

यों सिद्धान्तरूप से तो सभी देहों में वह परात्मतत्व परिपूर्ण हो रहा है और सभी की बुद्धियों का साक्षी भी है। सभी प्राणी अपने को सबसे बड़ा और सब से अधिक गुणी मान कर 'अहं ब्रह्मास्मि' की रटन अज्ञानपूर्वक करते ही रहते हैं। परन्तु इतने मात्र से साधक का कुछ भी उपकार नहीं हो पाता। जब तो किसी साधक को उसके साथ ही यह स्फूर्ति [प्रतीति] भी हो जाय कि वह सर्वत्र परिपूर्ण परात्मतत्व ही मेरी बुद्धि का साक्षी है, तो वैसे स्फूर्ति-युक्त आत्मा के विषय में ही हम 'अहम्' [मैं] शब्द कह रहे हैं। जब कोई साधक अपने ऊपर पड़ी हुई अविद्या की चादर को बार बार उतार कर फेंकने लगता है, जब कोई साधक मांस के झोंपड़े

में से निकल कर बार बार बाहर बैठने लगता है, तब उस साधक को ही हम अहम् ['मैं'] कहना चाहते हैं। देश काल या वस्तु के परिच्छेद में न आने वाली स्वभाव से ही परिपूर्ण जो वस्तु है वह 'ब्रह्म' कही जाती है। इस 'मैं' को और उस 'ब्रह्म' को परस्पर एक बता देना 'अस्मि' इस तीसरे पद का काम है। जिसका भाव यही होता है कि मैं (साधक) ब्रह्मतत्व ही हूँ अथवा मैं साधक ही तो ब्रह्म हूँ। अविद्या के प्रताप से जो मैं अपने आप को संसारी आदि मान बैठा था वह कुछ भी मैं नहीं हूँ। देहेन्द्रियादि की क्षुद्र और संकीर्ण दृष्टि में उलझा रह जाने वाला, देहेन्द्रियादि के साथ जल मरने वाला क्षुद्र प्राणी मैं कदापि नहीं हूँ। अथवा अविद्या के प्रताप से जो मैं ब्रह्मतत्व को अपने से पृथक्—सातवें आसमान पर रहने वाला—तत्व मान बैठा था वह ब्रह्मतत्व मुझ से पृथक् पदार्थ नहीं है।

तत्त्वमसि

जो अभी तक वृथा ही [नामालूम क्यों] शरीरों के वेष्टनों से लिपटा पड़ा था, जो शरीरों के साथ वृथा ही बार बार मर और जी रहा था, श्रवणादि का अनुष्ठान करके महावाक्य के समझने की योग्यता अब जिसमें आ गयी है, जो तीनों देहों से अलग रहने लगा है, जो तीनों देहों के साक्षी की हैसियत में आ गया है, उसी को हम लक्षणावृत्ति से 'त्वं' अर्थात् 'तू' कह रहे हैं। सृष्टि बनने से पहले सम्पूर्ण भेदों से रहित जो एक नामरूप रहित वस्तु थी, सृष्टि बन जाने के बाद अब भी जो वस्तु वैसी की वैसी ही है, जिस सद्वस्तु में अब भी कोई विकार नहीं आया है, उसी निर्विकार सद्वस्तु को हम लक्षणावृत्ति से 'तत्' अर्थात् 'वह' कह रहे हैं। इन दोनों शब्दों के लक्ष्यार्थों की जो छिपी हुई एकता है

उसी गुप्त एकता का ग्रहण असि [है] यह पद करा रहा है। परन्तु कितना ही प्रयत्न करो इस लक्ष्यार्थ तक तो केवल अधिकारी लोगों की ही उदार दृष्टि पहुँचेगी। दूसरे अनधिकारी लोग तो इस महावार्ता को हँसी में ही टाल देंगे और परम पद के साथ खिल-वाड़ कर बैठेंगे। मुमुक्षु लोगों को चाहिये कि 'तत्' 'त्वं' पदों की जो एकता प्रमाणपुष्ट हो चुकी है, उसका दिव्यानुभव वे भी ले लें, और वैसा अनुभव करके अनादिकाल की इस वृथा खटपट को भूल जांय। वे अनुभव करें कि क्या हम अनादि काल से इसी भवजाल में उलझे रहने को यहां उतरे हैं ? क्या इस संसार की वेमतलब उखाड़ पछाड़ ही हमारे इस जीवन का चरमलक्ष्य है ? या हमारा अपना कोई स्थायी रूप भी है ? जिसके कि आधार से हमको शान्ति के सुखद दर्शन मिल सकते हैं। इसी गम्भीर प्रश्न का उत्तर तत्त्वमसि [तुम तो वह हो, तुम्हें तो इस खटपट की कुछ भी आवश्यकता नहीं है] यह महावाक्य दे रहा है।

अयमात्मा ब्रह्म

जो तत्व स्वयंप्रकाश होने के कारण ही यद्यपि सबको प्रत्यक्ष हो रहा है परन्तु हुआ करो, फिर भी मायामोहित प्राणी ने इस स्वयंप्रकाशतत्व की भी ऐसी अपेक्षा की है जैसी कदाचित् शत्रुओं की भी कोई न करता हो। कोटिजन्मों के पुण्यों के परिपाक से जब किसी साधक की सूक्ष्म दृष्टि उस तत्व तक जा पहुँचे तब सूक्ष्म दृष्टि से पकड़ लिये हुए उसी तत्व को हम अयम् [यह] कह रहे हैं---अर्थात् यह तत्व कभी किसी से छिपता नहीं है और यह कभी किसी का दृश्य नहीं होता है। अहंकार,प्राण,मन इन्द्रिय तथा देह का जो समूह है, उस सभी का अधिष्ठान, सभी क

साक्षी, सभी से प्रत्यक्, सभी से आन्तर, जो कोई तत्व है उसी को हम 'आत्मा' कहते हैं। यह जो आकाशादि संसार हमें दीख रहा है यह सब क्षणभंगुर है। यह क्षणभंगुर संसार अपने स्वभाव के अनुसार जब शेष नहीं रह जायगा, तब जो तत्व शेष बचेगा उस तत्व को ही हम 'ब्रह्म' कहते हैं। वह ब्रह्मतत्व साधक की समझ में आया हुआ, यह ऊपर कहा हुआ, स्वयंप्रकाश आत्मा ही तो है। इस आत्मा से भिन्न कोई ब्रह्मनाम का पदार्थ होता होगा यह विचार प्रमाणानुमोदित नहीं है। इस आत्मा से भिन्न किसी को ब्रह्म समझना भारी से भारी भूल है।

[६]

चित्रदीप का संक्षेप

तसवीर वाले कपड़े की जैसे चार अवस्थायें हैं—धुला हुआ, मांडी लगाया हुआ, चिह्न किया हुआ और रंगभरा हुआ, इसी प्रकार परमात्मा में भी चार अवस्थायें हैं (१) चेतन (२) अन्तर्यामी (३) सूत्रात्मा (४) तथा विराट्। स्वयं तो वह चेतन है, माया का ध्यान करें तो वह 'अन्तर्यामी' है, सूक्ष्म सृष्टि को देखें तो वह 'सूत्रात्मा' कहाता है, स्थूल सृष्टि पर दृष्टि डालें तो उसे विराट् कहना होगा। जो देव मनुष्य पशु आदि के शरीर चैतन्य में अध्यस्त हैं, उनमें जीव नाम के जो चिदाभास पड़े हैं ये ही तो संसार में भ्रमण कर रहे हैं। चेतनतत्व व्यापक है, पर है, अखण्ड है, वह तो संसार भ्रमण कर ही नहीं सकता। जीव के संसार को ही जो कि चेतन का संसार समझते हैं वे सब भूलते हैं। चिदाभास के विषय में ज्ञातव्य बात यह है कि—देहों में ही चिदाभास पड़ता है, मिट्टी पत्थर आदि में चिदाभास नहीं पड़ता। जीवभाव अविद्या के कारण उत्पन्न होता है। दीखनेवाला संसार 'परमार्थ है, सब अपने आपे में लगे हैं, ऐसा समझना ही 'अविद्या' है—यही बेसमझी है। यह संसार जीव का है आत्मतत्व का संसार हो ही नहीं रहा, ऐसा ज्ञान 'विद्या' कहाती है। यह विद्या विचार करते रहने से हाथ आजाती है। उसको पाने के लिए जगत्, जीव और परात्मा का विचार सदा ही करना चाहिये। जीवभाव और जगत् भाव जब हट जायगा, तब आत्मा ही आत्मा

शेष रह जायगा—तब कैवल्य आ धमकेगा। आत्मतत्व केवल रूप में ज्योंही आ विराजेगा त्यों ही विचार स्वयं छूट जायगा। आत्मतत्व को केवल रूप में लाने के लिये विचार की सहायता की ज़रूरत पड़ती है, उसके लिये आत्मतत्व पर थोड़ा सा विचार करलें। 'कूटस्थ' और 'जीव' तथा 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' यों चार तरह का चेतन, चेतनतत्व को समझने के लिये कल्पित कर लिया है। दोनों देहों के अन्दर जो चेतना रहती है, उसमें तो कभी भी कोई विकार नहीं आता। उतनी चेतना 'कूटस्थ' चेतना कहाती है। उस कूटस्थ चेतना में पहले बुद्धि की कल्पना हुई, फिर उसमें चेतना का प्रतिबिम्ब पड़ा; फिर उसमें प्राणशक्ति उत्पन्न हुई, बस यही जीव है। यही संसार में फंसने वाली चीज़ है। इसने अन्दर के कूटस्थ चेतन को पूरा पूरा ढक डाला है। अब तो यह इस तत्व को पृथक् रूप में कभी भी नहीं जानता। इसका यह न जानना, अनादि काल से है। यही 'मूलाज्ञान' कहाता है। यह अज्ञान दो रूप में काम करता है—एक तो यह स्वरूप को ढकता है, दूसरे यह स्वरूप को किसी विकृतरूप में (शरीर आदि के रूप में) दिखाता है। यही 'आवरण' और 'विक्षेप है'। आवरण से अपने रूप की प्रतीति रुक जाती है—अपना आपा दूसरे पदार्थों में रिलमिल जाता है। ये दोनों ही बातें तत्वज्ञान होते ही नष्ट हो जाती हैं। परन्तु विक्षेप के नष्ट होने में, तत्वज्ञान के बाद भी कुछ समय लगता है। क्योंकि विक्षेप की उत्पत्ति कर्मों से और अज्ञान से, दो से मिल कर होती है। कर्मों का प्रभाव जितने दिनों तक रहना चाहिये, उतने दिन रहकर ही विक्षेप नष्ट होता है। यही कारण है कि ज्ञान हो जाने पर भी ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होता। आत्मा के

विषय में लोगों को बहुत से भ्रम हैं कोई इसको कुछ मानता है और कोई कुछ। इसके परिमाण के और स्वरूप के विषय में भी बहुत से विवाद हैं। सारे विचारों में जो सार है वह तो यही है कि मायी महेश्वर है और माया उसका एक औज़ार है। उस माया का जो अधिपति है उसके [कल्पित] अवयवों ने इस सब जगत् को व्याप्त कर रक्खा है। उसकी इस माया पर यदि कुछ विचार न करें तो यह सच्ची मालूम होती है, विचार करें तो वह अनिर्वचनीय सिद्ध होती है, श्रुति का कहना मानें तो यह तुच्छ है। यह माया शक्ति चेतन के बिना प्रतीत नहीं होती, इससे यह स्वतन्त्र नहीं है, तथा असंग को ससंग बना देने के कारण यह स्वतन्त्र भी है। जब तक माया को समझ लिया नहीं जाता, तब तक आश्चर्य माल्हम होता है। जब यह समझ में आ जाती है तब माया समझ लेने से ही आश्चर्य नहीं रहता। निद्रानाम की जो जीव की माया है, उसमें जैसे कोई क़ानून लागू नहीं हो सकता—वह जैसी दीखे वैसी ही ठीक है। इसी प्रकार यह माया जैसी उल्टी-सीधी दीखे वैसी ही ठीक है। इसको तर्क की कसौटी पर कसने से इसके स्वरूप को समझने में चूक हो जायगी। श्रद्धा के मार्ग से चलते-चलते जो बात ज्ञान के यौवन में दीखने वाली थी उन्मार्ग में पड़ जाने से उससे वंचित रह जाना पड़ेगा। सम्पूर्ण आक्षेप जगत् को सत्य मानने वालों पर ही लागू हो सकते हैं। नींद की तरह माया पर कोई आक्षेप चल नहीं सकता। माया पर आक्षेप न करके उसको तो हटाने के उपाय सोचने में ही आत्मकल्याण है। जिसका निरूपण न हो और दीखे भी 'लौकिक माया' का यह लक्षण इस 'ऐश्वरी माया' में भी है। जिस कारण में अचिन्त्यरचना की शक्ति है, उस माया

नाम के बीज का अनुभव सुषुप्ति में सभी को होता है। बीज में पेड़ की तरह सारा जगत् उस सुषुप्ति में लीन रहता है। उस माया में सारे जगत् की वासनायें रहती हैं। उन वासनाओं में जो चैतन्य है वह स्पष्ट नहीं होता। इसी से अपनी वासनाओं का पता किसी को नहीं होता कि वे कैसी कैसी हैं। चेतन के आभास से युक्त वह माया (अज्ञान) जब बुद्धिरूप में प्रकट होती है तब उसमें का वह चिदाभास स्पष्ट मालूम होने लगता है। जब वासनाओं की बुद्धिवृत्तियें बन जाती हैं तब मालूम होता है कि ऐसी वासना भी इसमें थी। माया के अधीन जो चिदा-भास है वही तो वेदों का 'महेश्वर' है, वही 'अन्तर्यामी' है, वही 'सर्वज्ञ' है, वही 'जगत् का कारण' भी कहाता है। यह जिस मानस या बाह्य जगत् को बना लेता है, उसे बदल देने का सामर्थ्य किसी में नहीं है, यही तो इस की सर्वेश्वरता है। इसी कारण से जिस पर जो धुन सवार हो जाती है वह किसी के समझाने से हटती नहीं है। इस सुषुप्ति के अज्ञान में ही सम्पूर्ण प्राणियों की बुद्धियों की वे सब वासनायें रहती हैं जिन्होंने इस सब जगत् को घेर रक्खा है। सारा जगत् इन्हीं सूक्ष्म वासनाओं के अधीन होकर अपने अपने कार्यों में संलग्न हो रहा है। इसी से उसे 'सर्वज्ञ' कहा है। इसकी सर्वज्ञता का ज्ञान हमें क्यों नहीं होता,इसका कारण तो यह है कि वासनाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें किसी को भी नहीं होता है। जो जो विषय सामने आते जाते हैं उन-उन विषयों की वासनायें प्रकट होती जाती हैं। यों एक काल में न सही किन्तु कालान्तर में सर्वविषयानुभावी होने से उसकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है। यों एक समय में उसकी सर्वज्ञता की प्रतीति न होने से उसके सर्वज्ञपन का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसको

तो अनुमान से जानना पड़ता है। विज्ञानमय आदि कोशों में तथा अन्यत्र भी अन्दर रहकर यह तत्व उन उन का नियमन करता रहता है इसी से उसे 'अन्तर्यामी' कहा जाता है। धागा जैसे उपादान रूप से पट में रहता है, इसी तरह सब का उपादान होने से यह तत्व सर्वत्र ही रहता है। धागा जब हिले तब पट अवश्य हिलता है, इसी प्रकार यह अन्तर्यामी तत्व जिस पदार्थ की वासना से प्रभावित हो जाता है, वह वह कार्य अवश्य ही होकर रहता है। इस अन्तर्यामी में यदि घट की वासना जाग उठे तो घट अवश्य बनता है। इसी भाव से गीता में हृदय में बैठ कर सब यन्त्रारूढ भूतों को घुमाने की बात कही है। वही ईश्वर तत्व पुरुषार्थ का रूप धरकर भी आता है, इसका कारण पुरुषार्थ भी व्यर्थ नहीं होता है। अन्तर्यामी की यह प्रेरणा ध्यान में भले प्रकार आ जाय तो आत्मतत्व का असंगपना भी समझ में आ ही जायगा। इसकी असंगता के ज्ञान से मुक्ति के मिलने की बात जहां-तहां शास्त्रों में कही ही है। यही ईश्वर प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा करके कभी तो जगत् को उत्पन्न कर देता है और कभी उसे अपने अन्दर छिपा लेता है। जगत् के पदार्थों के सृष्टि और प्रलय तो ठीक ऐसे हैं जैसे हमारे दिन रात, हमारे जागरण और स्वप्न या हमारे उन्मेष और निमेष या हमारे मौन और मनोराज्य हों। यह ईश्वर और वह ब्रह्मतत्व एक नहीं है। परन्तु सर्वसाधारण को इस भेद का पता नहीं है। वे इन दोनों को एक ही समझते हैं। शास्त्रों का तात्पर्य तो यही है कि ब्रह्मतत्व असंग है। जगत् का सर्जन करनेवाला महेश्वर तो मायावी है।

अब दूसरा जो 'सूत्रात्मा' है उसके विषय में भी सुनिये—

वह सब सूक्ष्म देहों में अहंभाव रखता है। 'इच्छा' 'ज्ञान' तथा 'क्रिया' नाम की शक्तियें इसमें रहती हैं। मन्द अंधेरे में जगत् जैसे अस्पष्ट दीखता है वैसा ही अस्पष्ट संसार इस 'सूत्रात्मा' में दीखता है। अंकुर फूटने वाले पौदे की जो अवस्था होती है वही अवस्था इस 'सूत्रात्मा' (हिरण्यगर्भ) की है।

'विराट्' नाम की जो तीसरी अवस्था है वह तो धूप में चमकते हुए संसार की-सी है। संसार के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे जो भी जड या चेतन पदार्थ हैं वे सब के सब छोटे या बड़े ईश्वर तत्व ही तो हैं। जभी तो लोक में जब कोई किसी की विपत्ति को टाल देता है तब कहते हैं कि तुम तो मेरे ईश्वर होकर आये हो। अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। यह सारा संसार इन छोटे बड़े ईश्वरों की पूजा ही तो कर रहा है तथा इन ईश्वरों में जितनी शक्ति है, यह उनसे उतना ही छोटा या बड़ा फल भी पा रहा है। यह सब कुछ है परन्तु ईश्वरों की पूजा से मुक्ति नाम का महाफल तो कभी भी मिलने वाला नहीं है। मुक्ति तो ब्रह्मतत्व को जान लेने से ही मिलेगी। जैसे अपने जागे बिना अपना स्वप्न नहीं टूटता इसी प्रकार आत्मज्ञान के बिना यह भवबन्धन कटेगा नहीं। अद्वितीय ब्रह्मतत्व में यह सब जगत् एक महास्वप्न है। इस सुपने में कोई 'ईश्वर' है कोई 'जीव' है कोई 'चेतन' है और कोई 'जड' है। 'आनन्दमय' ईश्वर है तथा 'विज्ञानमय' जीव है। ईश्वरतत्व अस्पष्ट होता है जीवतत्व स्पष्ट होता है। ये दोनों ही माया के बनाये हुए हैं इनसे अगले संसार को इन दोनों ने ही बनाया है। माया के खिलौने जो 'जीव' और 'ईश्वर' हैं उनके विषय में तो विवाद बहुत होते रहते हैं, परन्तु असंग रहने वाला जो अद्वितीय ब्रह्म

तत्व है उसको लोग जानते ही नहीं हैं। इस अद्वितीय ब्रह्मतत्व को बिना जाने मुक्ति या लौकिक सुख कुछ भी पूरा पूरा प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये मुमुक्षु सदा ही ब्रह्मतत्व का विचार किया करें। यह ब्रह्मतत्व जैसा सृष्टि से पहले था, जैसा इस सृष्टि के नष्ट हो जाने पर रहेगा, वैसा ही अब भी है और मुक्ति में भी यह ऐसा ही रहेगा। यह जितना भी कुछ निरोध, उत्पत्ति, बद्धता साधकभाव आदि बखेड़ा हो रहा है यह सब इस ब्रह्म-समुद्र की केवल ऊपर की सतह पर ही हो रहा है। इसके एकान्त अन्तरतम तक इस किसी भी खटपट की कोई सूचना नहीं पहुँच पाती है। यह तत्व तो शिवलिंग की भाँति शान्त भाव से कभी भी न टूटने वाली मौनमुद्रा में बैठा हुआ है। परन्तु माया ने लोगों को वृथा ही भरमा रक्खा है। वे समझते हैं कि अद्वैत नाम की वस्तु न तो है ही और न वह प्रतीत ही होती है। ज्ञानी का निश्चय इसके विपरीत होता है। एक तो अपने निश्चय से बद्ध है दूसरा अपने ही निश्चय से मुक्त हो जाता है। बद्ध प्राणी रेशम के कीड़े की तरह अपने आपही बंधा पड़ा है। गधे और खच्चर वालों के पास जब उनको बांधने की बेड़ नहीं होती, तब वे उनके पैरों को बांध देने का नाटक करके उनके पैरों को चारों तरफ़ से स्पर्श कर देते हैं। हैं। गधे और खच्चर समझते हैं कि हम बांध दिये गये हैं। वे रात भर अपने उस संकल्प से बंधे खड़े रहते हैं। इसी तरह यह प्राणी अपने ही संकल्पों से अनादि काल से वृथा ही बंधा पड़ा है। जैसे लकड़ी में छेद कर देने वाले भौंरे से कमल का कोमल फूल तक नहीं कटता, इसी प्रकार प्राणी का यह अपने ही संकल्प का बन्धन बड़ा ही दुर्भेद्य हो गया है। यह अब

इससे टूटता नहीं है। इस संकल्प को धारण किये हुए इसे अनन्त सृष्टियाँ बीत चुकी हैं। इसकी बद्धपन की कल्पना दृढ-मूल हो गयी है। यह समझने लगा है कि मैं तो बद्धप्राणी हूँ। मुझे जन्म-मरण स्वभाव से मिलना ही है, कर्मों का फल मुझे भोगना ही है, मेरा गर्भवास टलना नहीं है, जन्ममरण के चक्र से मेरा छुटकारा कभी भी नहीं होना है, बस इसी तरह के विचार ही तो बन्धन कहाते हैं। बद्धता की प्रतीति के सिवाय और तो कुछ बन्धन है ही नहीं। रेशम का कीड़ा जैसे अपने आपको बांधकर मौत को नौता दे लेता है—अपने हाथ से अपनी क़बर तय्यार कर लेता है, इसी प्रकार अपने को बद्ध मानकर—स्वयं स्वीकृतापराधी (इक़रारी मुजरिम) होकर अपने आप अपनी मरज़ी से बद्ध हुआ फिरता है और जन्म-जरा-मरण आदि की चौपाल बन रहा है। अद्वैत तत्व का प्रत्यक्ष जब तक नहीं होता, तब तक बद्धपन नष्ट नहीं होता। अद्वैत के प्रत्यक्षपन की बात समझ न पड़ती हो तो यों समझो कि ज्ञानरूप से वह अद्वैत तत्व सभी को प्रत्यक्ष है। द्युलोक, पृथ्वीलोक तथा पाताल लोक सभी को इस ज्ञान ने अपने पेट में रख छोड़ा है। कोई भी देश और काल ऐसा नहीं है जो ज्ञानसमुद्र में डूबा न पड़ा हो। यों स्थालीपुलाक न्याय से थोड़े अद्वैत को समझ कर परिपूर्ण अद्वैत को समझ लेना चाहिये। कार्य और कारण के एक होने की युक्ति से तथा तज्जलान् (उसी से उत्पन्न उसी में जीवन तथा उसी में प्रलय) इस न्याय से अद्वैत तत्व का विचार करते रहना चाहिए और मायामय द्वैत जब जब आये तब तब विचार से उसे हटाते रहना चाहिये। जैसे फल पक कर डण्ठल को छोड़ देता है इसी प्रकार साक्षात्कार में जब पूर्णता आती है तब यह विचार

स्वयमेव छूट जाता है। इस तत्व का ज्ञान होने पर भी यदि भूख प्यास से इस तत्व को चोट लगती हो, यह तत्व, भाग जाने को या ओझल हो जाने को तय्यार होता हो, तो भूख प्यास जिस अहंकार को लगी है उसी में रहने दो। दूसरे के धर्मों को अपने में मत लादो। ये भूख प्यास तादात्म्य कर लेने से ही आत्मा को लगती है। उस अध्यास को हटाकर विवेक की आवृत्तियें सदा करनी चाहियें। क्योंकि अध्यास रूपी शत्रु के हमलों को विवेक की ढाल से ही रोका जा सकता है। चिदात्मा को अलग रक्खा जाय और अहंकार को पृथक् जाना जाय तो अब आप आज़ाद होकर करोड़ों पदार्थों की इच्छा कीजिये, ग्रन्थि भेद हो चुकने से अब आपको बाधा नहीं होगी। ग्रन्थि भेद हो चुकने पर भी प्रारब्ध के दोष से इच्छायें हो ही सकती हैं। इच्छाओं से घबराने की ज़रूरत नहीं है। देह में व्याधि हों, वृक्ष आदि पैदा हो या सूखे, अहंकार में इच्छा हो तो इससे चेतन आत्मा का क्या बिगाड़ होता है? आत्म तत्व का बिगाड़ वैसे तो ग्रन्थिभेद से पहले कुछ भी नहीं होता था यह बात अगर समझ में आती है तो इसी को 'ग्रन्थि-भेद' होना कहते हैं। परन्तु अज्ञानी पुरुष इस बात को समझते नहीं हैं, यही तो एक 'ग्रन्थि' है। अज्ञानी और ज्ञानी में इस 'ग्रन्थि' के होने और न होने का ही भेद है। वैसे देखने में—व्यवहार में—तो दोनों एक ही से होते हैं। ग्रन्थि के टूटने की पहचान गीता में यों कही है कि आये हुए दुःखों से द्वेष नहीं करता तथा जाने वाले सुखों से 'और ठहरो' नहीं कहता। किन्तु उदासीन की तरह से काम करता है। अर्थात् अंदर से त्याग और बाहर से संग रख कर काम में लगा रहता है। जो लोग काम करना छोड़ देने को ही

ज्ञान का फल मानते हैं वे चूक करते हैं। उनकी समझ में आया हुआ ज्ञान तो शरीर आदि को निकम्मा कर देने वाला एक प्रकार का रोग ही है। छोड़ने की चीज़ तो संग है। व्यवहार छोड़ने की चीज़ ही नहीं है। जिसे सुख की इच्छा हो वह संग का परित्याग करे। व्यवहार से किसी का भी कुछ नहीं बिगड़ता। किन्तु संग से बिगाड़ होता है। लोक में भी किसी से मनुष्य-हत्या का व्यवहार हो जाय और उसमें उसकी सक्ति न हो तो वह उस पाप का अपराधी नहीं होता। व्यवहार के बन्द होने का कारण ज्ञान नहीं है। व्यवहार के चलने और बन्द होने की बात को समझने के लिये 'वैराग्य' 'ज्ञान' तथा 'उपरम' को भले प्रकार समझ लेना चाहिये। भोगों में दोषदर्शन से वैराग्य उत्पन्न होता है, भोगों को त्याग देने की इच्छा, वैराग्य का स्वरूप है, भोगों में दीनभाव न रहना वैराग्य का कार्य है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, सत्य और असत्य की पहचान हो जाना तत्वज्ञान का स्वरूप है, ग्रन्थि का फिर न लगना तत्वज्ञान का कार्य है। यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) नियम (शौच,सन्तोष,तप,स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति) आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि करते रहने से उपरम पैदा होता है, बुद्धि का रुक कर खड़ा हो जाना उपरम का स्वरूप है, व्यवहार का घट जाना या बन्द हो जाना यह उपरम का कार्य है, तत्वज्ञान होते ही जो लोग जल्दबाज़ी में आकर बाह्य व्यवहार को बन्द कर देने पर तुल जाते हैं, उनके मनो-व्यापार तो चलते ही हैं। यों ज़बर-दस्ती व्यवहार को त्यागनेवाले की अन्दर अन्दर अवनति होती ही जाती है। उसकी अतृप्त वासनायें कभी भी जाग कर उपद्रव

खड़ा कर देती हैं। होना यह चाहिये कि तत्वज्ञान होने पर जब हमारा मानस-संसार (या जीव का द्वैत) मर जाय या मार दिया जाय तब हम ईश्वर के संसार को (ईश्वर के द्वैत को) ध्यान में रखकर व्यवहार करने लगें। अर्थात् अब तक जो कर्म हमारे संसार में आसक्ति-पूर्वक हो रहे थे, वे अब ईश्वर के संसार में अनासक्तिपूर्वक होने लगें। यमादि का अभ्यास करने से हमारा मानस जगत् छिपने लगेगा तथा ईश्वर का संसार हमारी आंखों के सामने आ जायगा। यों दैवी सम्पत्ति का विकास होगा और वह भी धीरे-धीरे हमको पूर्ण-तत्व में जाकर जब छोड़ देगा, तब अपने आप स्वाभाविक रीति से व्यवहार क्षीण होगा। उपरति के अभ्यास से ही सच्चा व्यवहार क्षय होगा। यदि व्यवहार क्षय करने में आसक्ति होगी तो वह भी तो व्यवहार की तरह ही बन्धक होगी। व्यवहार का क्षय तो उपरम से होता है ज्ञान से व्यवहार का क्षय कदापि नहीं होता। वैराग्य और उपरम पूर्ण हों बोध रुका हो तो मोक्ष मिलने वाला नहीं है। बोध में पूर्णता हो फिर चाहे वैराग्य और उपरम पूर्ण न भी हो (अधूरे हों) तो भी मोक्ष अवश्य मिलेगा, परन्तु जीवन्मुक्ति का देवदुर्लभ आनन्द नसीब नहीं होगा। ब्रह्म-लोक तक को तृण-तुल्य समझना वैराग्य की अन्तिम सीमा है। देहात्मा की तरह पर तत्व को आत्मा समझ लिया जाय यह बोध की अन्तिम दशा है। सुप्ति की तरह संसार को जागरण में भी भूल जाना उपरम की सीमा है। हमारे आत्म-चैतन्य में जो यह जगत् रूपी चित्र माया ने बना दिया है ज्ञान की महिमा से इसकी ओर न देखकर जब हम अपने आत्म-चैतन्य को शेष रख लेंगे तब जगच्चित्र को देखकर भी मोह नहीं होगा।

[७]

तृप्तिदीप का संक्षेप

पुरुष यदि अपने आपे को पहचान जाय कि यह तत्व मैं हूँ (मेरा स्वरूप यह है) तो फिर न तो इच्छा करने की कोई वस्तु ही रह जाती है और न कोई इच्छा करने वाला तत्व ही शेष रहता है। यों आत्मज्ञानी को शरीर के सुखदुःखों के साथ साथ सुखी या दुःखी होना नहीं पड़ता। इसी बात का विस्तार पूर्वक वर्णन इस 'तृप्तिदीप' नामक प्रकरण में जीवन्मुक्त महाशयों में रहने वाली तृप्ति को बताने के लिये किया है।

इसे समझने के लिये जीव को दो भागों पर विचार कीजिये—एक इसका भ्रम भाग है दूसरा इसका अधिष्ठान भाग है। जब भ्रम भाग की प्रधानता होती है और अधिष्ठान भाग दबा सा रहता है तब तो यह 'जीव' अपने को 'संसारी' माना करता है। जब तो भ्रम भाग को मिथ्या समझ कर उसका अनादर कर दिया जाता है—जब भ्रम को भुला दिया जाता है और अधिष्ठान भाग ही प्रधान बन जाता है तब यही जीव 'मैं तो चिदात्मा हूँ मैं तो असंग हूँ' ऐसा जानने लग पड़ता है। कल्पित सर्प का वहां से नष्ट हो जाना जैसे सत्य नहीं होता है,इसी प्रकार जीवों को होने वाला 'मैं असंग हूँ' इत्यादि ज्ञान भी सत्य तो नहीं होता है परन्तु जैसे कांटों से कांटों को निकाल देते हैं इसी प्रकार इन असत्य ज्ञानों से भी असत्य संसार का नाश तो हो ही जाता है।

जब हम किसी बड़े भारी जनसमुदाय में घुसते हैं तब अपने खो जाने के डर से अपने शरीर पर कोई भी चिह्न नहीं कर देते हैं। क्योंकि हमको इन शरीरों के आत्मा होने का सन्देह भी नहीं होता है, और हमें इस विषय में विपर्यय भी कुछ नहीं होता है। इतना ही पक्का ज्ञान जब किसी को आत्मतत्व के विषय में हो जाय—व्यापक जगदात्मा को ही जब कोई अपना आपा समझने लग पड़े, जब कोई देहात्मज्ञान की पूरी पूरी बाधा कर सके—तब ऐसे पुरुष की मुक्ति उसके न चाहने पर भी होती ही है।

यों तो यह आत्मतत्व सब को सदा प्रत्यक्ष ही रहता है, परन्तु नित्य प्रत्यक्ष रहनेवाले भी इस आत्मतत्व में 'परोक्षता' और 'अपरोक्षता' तथा 'ज्ञान' और 'अज्ञान' दोनों ही बातें दसवें की तरह रहती हैं—कोई दस मनुष्य नदी को पार करके अपने को गिनने लगे। गिनने वाला अपने को छोड़कर शेष नौ को गिन लेता था, और रोता था कि हाय! दसवां तो नदी में डूब गया। इस उदाहरण में दसवें को अपना 'ज्ञान' भी है और 'अज्ञान' भी है। दसवें का उसे 'प्रत्यक्ष' भी है और 'अप्रत्यक्ष' भी है। अब कोई भलामानस उन सब को गिनकर उसको ही दसवां बता देता है, तब उसे उसका पूर्ण प्रत्यक्ष होजाता है। फिर दसवें का अप्रत्यक्ष या अज्ञान कभी नहीं होता। इसी प्रकार आत्मतत्व की बात भी है। यह आत्मतत्व संसार की सब वस्तुओं को तो जानता है, परन्तु संसार के पदार्थों में आसक्त होकर, संसार के सब पदार्थों को जाननेवाला जो उसका अपना आपा है, उसके विषय में उसे कुछ भी ज्ञात नहीं है। अनुभवी लोगों के मुख से जब यह मार्मिक आत्मकथा सुनता है और उसपर बार बार विचार करता है, तब उसे आत्मा का—सर्वव्यापक चेतना

का—जो असली कूटस्थ रूप है, उसका प्रत्यक्ष होजाता है। अनुभवी लोगों के समझाने से आत्मा के न होने के भ्रान्त विचार तो सदा के लिए नष्ट होजाते हैं, परन्तु आत्मा के प्रतीत न होने के जो भ्रान्त विचार हैं वे तो तब नष्ट होते हैं जब समाधिभावना (तीव्र लगन) से आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह पिछली अवस्था जब आती है तब ही जीवभाव नष्ट होता है और सब शोक छिप जाते हैं। अपने नित्यमुक्तपने की नष्ट स्मृति दुबारा जाग उठती है। इसी अवस्था को ध्यान में रखकर कहा हैं कि "आत्मा को यदि जाना जाय कि यह तत्व मैं हूँ"। यों तो आत्मा स्वयंप्रकाश तत्व है ही, परन्तु इतने से साधक का कुछ भी उपकार नहीं होता। जब साधक की बुद्धि आत्मा के इस स्वयंप्रकाशपने को अनुभव (महसूस) भी करले तब उस अवस्था की ओर को इस श्लोक में संकेत (इशारा) किया है कि 'यह मैं हूँ।' 'तू ही तो दसवाँ है' इस वाक्य पर जब विचार किया जाता है, तब खोया हुआ दसवां उसके सामने आ खड़ा होता है। इसी प्रकार 'आत्मा ब्रह्म है' इस वाक्य पर जब विचार किया जाता है तब आत्मा और ब्रह्म के एक होने की बात आंखों के सामने आखड़ी होती है। दसवां कौन सा है ? इस प्रश्न के उत्तर में जब दसवां तू ही है, यह कहा जाता है और जब शेष नौ के साथ मिलाकर अपने आपको गिना जाता है, तब अपने आपके दसवेंपन की स्मृति जाग उठती है। अब आप उसे हजार वार नदी में को निकाल लीजिये और गिनवाइये अब वह दसवें को कभी भी नहीं भूलेगा। क्योंकि उसे दसवें का अनुभवपूर्ण ज्ञान हो चुका है। इसी प्रकार विचार के द्वारा जब आत्मा के व्यापक होने का ज्ञान अनुभव का रूप धारण कर लेता है—या यों कहिये कि जब इस ज्ञान का

विज्ञान बनजाता है, तब शरीरों के किसी भी व्यवहार में लगे रहने पर भी अपनी व्यापकता भूल जाने वाली बात नहीं रहती। वह अवस्था अभ्यास से पकते-पकते जब पूर्ण यौवन पर आती है तब ब्रह्माभ्यासी पुरुष अपने को सर्वत्र परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दरूप में पाकर स्वभावतृप्त रहने लग पड़ता है।

हमारा जो जीव है वह क्योंकि अन्तःकरण से युक्त है इस कारण से हमें केवल उतने ही भाग के प्रत्यक्ष होने की बात तो समझ में आती है,परन्तु अन्तःकरण से रहित जो सर्वत्र व्यापक महा-चेतना है,उसका हमें कभी प्रत्यक्ष हो सकेगा, यह बात जिनकी समझ में न आती हो वे इस पर यों विचार करें—दो गुरु शिष्यों में से गुरु के कान में कुण्डल पहने हुए हों तथा शिष्य के कान में कुण्डल न हों। अब हमें उन दोनों का पृथक् पृथक् परिचय देने में एक का चिह्न तो कुण्डल का होना बताना पड़ेगा तथा दूसरे शिष्य का चिह्न कुण्डल न होना ही बताना पड़ेगा कि जिसके कान में कुण्डल नहीं है वही शिष्य है। यों जैसे किसी वस्तु का 'होना' लक्षण हो सकता है वैसे ही किसी वस्तु का 'न होना' भी लक्षण हो सकता है। इसी प्रकार 'अन्तःकरण का होना' जीव-भाव की पहचान है तथा 'अन्तःकरण का न होना' या न रहना ब्रह्मभाव की पहचान मानी जाती है। यही कारण है कि कभी तो वेदान्त सच्चिदानन्द आदि धर्मों से उसका प्रतिपादन करते हैं और कभी नेतिनेति की निषेध प्रक्रिया से उसका वर्णन करने लग पड़ते हैं। जब हम अपने चिदात्मा पर से अपने अन्तःकरण का बन्धन (किंवा पाबन्दी) उठा सकेंगे,तब यही हमारी अब की क्षुद्र चेतना, व्यापक चेतना के रूप में, किंवा ब्रह्म के रूप में, प्रकट होकर रहेगी। इस स्वयंप्रकाश चेतन के दर्शन के लिए, हमको केवल

इतना ही करना पड़ेगा, कि हम अपनी बुद्धिवृत्ति को, उसके आकार का बना डालें। ऐसा करने पर व्यापक चेतन को आवृत कर रखने वाला अज्ञान, नष्ट हो जायगा और स्वयं प्रकाश तत्व अपने आप ही दीखने लग पड़ेगा। परन्तु अनादि काल से हमारे मन में बैठे हुए ये विचार ही कि "हम व्यापक कैसे हो सकते हैं? हम तो कुछ करने और कुछ भोगने वाले तथा परिमित क्षेत्र में बद्ध रहने वाले प्राणी हैं" हमारे इस व्यापक रूप के दर्शन को दृढ नहीं होने देते हैं। हमें अपने इस व्यापक रूप में या तो संदेह बना रह जाता है या अपना यह व्यापक रूप भूल कर फिर फिर वही संकीर्णता की भावना जाग उठती है। परन्तु जब हम सर्वात्मना तत्पर होंगे, तब तो व्यापक रूप के दर्शन में सफल न होने का कोई कारण ही नहीं रह जायगा। इस प्रकार के आत्म-दर्शन में विघ्न डालने वाली असंभावना और विपरीत भावना को हटाने का एक मात्र यही उपाय है कि आत्मतत्व में बुद्धि की एकाग्रता के प्रयत्न को निरन्तर चालू रखा जाय। नहीं तो अनादि काल की वासनाएँ इस विचार रूपी नन्हें बालक को पनपने ही नहीं देंगी। एक बात विशेष ध्यान रखने की है कि इस तत्व को यदि हम कुछ काल के लिए भूल भी जायंगे तो भी कोई अनर्थ नहीं हो जायगा। अनर्थ तो तब होता है जब हम इस तत्व को पहले की तरह फिर संकीर्ण समझने लग पड़ते हैं। तत्परता से जब कि यह तत्व बार बार स्मृति में लाया ही जा रहा है तब इस प्रकार की विपरीत वृत्ति के जाग उठने का कोई अवसर ही नहीं रह जाता है। जब आन्तरदर्शन पर विश्वास बढ़ता है और बाह्यदर्शन पर से विश्वास उठ चुकता है तब जितने दिनों तक के लिए यह शरीर रचा गया है, उतने दिनों तक बाह्य प्रवृत्ति

रहती तो है, परन्तु दृष्टिकोण वदल जाने से अव क्लेशरहित जीवन-यात्रा होने लग पड़ती है। अव उसे शरीर के सुख दुःखों के अनुसार सुखी दुःखी नहीं होना पड़ता है। जगत् की असारता को समझ चुकने पर इच्छा करने वाले की और अभिलाषा करने योग्य पदार्थ की विचारहीन भावना पर कुठाराघात हो जाता है। फिर तो तैलरहित दीपक जैसे बुझ जाता है उसी तरह संसारताप स्वयं शान्त हो जाता है। अव तो तमाशे में देखते हुए काल्पनिक पदार्थों की तरह इस संसार के प्रिय से प्रिय समझे जाने वाले पदार्थों को भी खुशी खुशी छोड़ा जा सकता है। इस प्रकार का तत्व दर्शन हो चुकने पर भी जव तक इस शरीर के जीवन का काल रहता है तव तक इच्छा अनिच्छा और परेच्छा प्रारब्धों से प्रभावित होकर लौकिक भोगों में प्रवृत्त होते ही रहते हैं। इस प्रकार की प्रारब्धप्रवृत्ति की रोक थाम करना अत्यन्त असंभव है। युधिष्ठिर और राम जैसे तत्वदर्शी लोग भी इस प्रकार के व्यवहार को रोक नहीं सके हैं। आत्मदर्शी की तथा दूसरों की इच्छाओं में यही भेद होता है कि आत्मदर्शी की इच्छा से आगे को व्यसन की उत्पत्ति नहीं हो पाती। उसे भोगों का भोग तो प्राप्त हो जाता है परन्तु वह भोगों का व्यसनी (दास) नहीं वन जाता। जव कि हम संसारी लोग भोग भी भोगते हैं और आगे को उनके दास भी वन जाते हैं। भोग देकर चरितार्थ हुआ प्रारब्ध कर्म ज्ञानी और अज्ञानी दोनों का ही मर जाता है परन्तु अज्ञानी लोगों की इस भ्रान्त धारणा से कि ये भोग तो सच्चे हैं आगे को भी भोगों का व्यसन लग जाता है। वह ज्ञानी को नहीं लगता। जव कि यह सारा ही जगत् उसका आत्मा वन चुकता है तव व्यसन से प्रभावित होने का कोई अवसर ही नहीं रह जाता। तत्वज्ञान

का जो प्रभाव है वह तो व्यवहार में ही देखा जा सकता है। व्यवहार रुक जाने पर तत्वज्ञान का प्रभाव देखने को मिल ही नहीं सकता। यही कारण है कि निर्विकल्प समाधि को तत्वज्ञान की अवस्था माना ही नहीं जाता। निर्विकल्प समाधि तो उपरति की ही एक अवस्था है। वह ज्ञान की कोई सी भी अवस्था नहीं है। हां, यह बात तो है कि जगत् की मायामयता का सम्पूर्ण दर्शन तभी हो सकता है जब कि चित्त का निरोध हो चुका हो। मनुष्य-जीवन की गम्भीर समस्याओं को समझने का अवसर चित्त के रुकने पर ही आता है। इस भाव को लेकर चित्त के रोकने का अभ्यास किया जा सकता है। परन्तु चित्तनिरोध ही हमारा एकमात्र लक्ष्य नहीं है। आत्मरूप का अनुभवयुक्त ज्ञान हो जाना ही राजयोग का मुख्य ध्येय है। आत्मा के स्वरूप का इस प्रकार का दर्शन मिल जाने पर ही शरीरों के साथ सुखी दुखी न हो सकने की शान्तिवर्धक अवस्था आती है। हमारे ये तीनों शरीर स्वभाव से ही दुःखों के निवासभवन हैं। शरीर में वात,पित्त, कफ की न्यूनाधिकता से करोड़ों बीमारी खड़ी होती रहती हैं। मन में काम क्रोध आदि की अशान्तिकारक भावनाएँ आती ही रहती हैं। यों इन शरीरों में स्वभाव से ही दोष भरे पड़े हैं। इन दोषों से इनका वियोग कर सकना ऐसा ही असंभव है जैसे घड़े को मिट्टी से अलग करना। परन्तु अविद्या से प्रभावित होकर जब इन दुःखपूर्ण शरीरों की और आत्मा की परस्पर एकता मान ली जाती है तब परस्पर में धर्मों का लेन देन हो जाता है। आत्मा की सत्यता इन शरीरों में मान कर इस सम्पूर्ण मिश्रण को अपना स्वरूप समझने की भूल की जाती है। शरीर दुःखी हो तो कुटुम्ब के किसी भी व्यक्ति के दुःखी होने से अपने को ही दुःखी

मानते हुए कुटुम्बनेता की तरह अपने आपको ही दुःखी माना जाने लगता है। यह भूल साक्षितत्व का ध्यान न आने तक ही चलती है। सर्पबुद्धि से भयभीत पुरुष पीछे से रज्जु रूप को पहचान कर जैसे अपनी पहली समझ पर हँसता है, उसी तरह ज्ञानी को भी अपनी पहली भ्रान्ति पर उपहासपूर्ण उपेक्षा का भाव आता है। जड और चेतन के मिश्रण रूपी इसी अपराध को क्षमा कराने के लिये ही मानो साधक, ज्ञान की अनन्त आवृत्तियाँ किया करता है और जब तक स्पष्ट रूप से व्यापक चेतन अलग और ये शरीर अलग दिखायी देने नहीं लगते, तब तक ज्ञान की आवृत्ति करता ही जाता है। इस अपने पूर्वापराध को क्षमा कराने की इसके सिवाय दूसरी कोई विधि ही नहीं है। जब तक यह प्रारब्ध देह है तब तक जीवभाव की गन्ध कभी कभी तो ज्ञानी के व्यवहार में आया ही करेगी। परन्तु इतनी सी घटना से तत्वज्ञान को विनष्ट हुआ नहीं समझा जायगा। क्योंकि जीवन्मुक्ति नाम का कोई व्रत नहीं है जो साधकों पर लागू कर दिया गया हो। यह तो जिस क्रम से चलता है—जैसे धीरे धीरे उन्नति करता है—इसे तो वैसा का वैसा ही चलने देना पड़ेगा। दसवें के हमारे उपर्युक्त दृष्टान्त में भी यही बात है कि दसवें की अप्राप्ति के लिये रोना तो उसका ज्ञान होते ही नष्ट हो जाता है। परन्तु दसवें के शोक में सिर पीटते पीटते जो घाव पड़ गया है, वह तो महीने दो महीने में जाकर अच्छा हो पाता है। हां, यह बात तो है कि दसवें के न मरने के महालाभ से उसे जो हर्ष होता है वह सिर के घाव की पीड़ा को उपेक्षित करा देता है। इसी प्रकार जड़ चेतन के ग्रन्थिमोक्ष से प्रारब्ध दुःख तो ढक ही जाते हैं—वे

नगण्य होजाते हैं—वे फिर सुलझाने योग्य समस्या नहीं रह जाते। शरीर आदि की रचना यदि केवल अज्ञान से हुई होती तो हां संसारविषयक भ्रमपूर्ण धारणा के हटते ही शरीर का भी पात होजाता। परन्तु इनकी रचना तो अज्ञान और कर्म दोनों से मिलकर हुई है। संसारविषयक अज्ञान के नष्ट हो चुकने पर भी कर्मों का परिचालित वेग जब तक पूरा पूरा शान्त नहीं हो लेगा, तब यह ज्ञानिशरीर जीवित रहेगा ही और संसार तथा मोक्ष का मिश्रित अनुभव लेता ही रहेगा। इसके पश्चात् ज्ञानी की तृप्ति में एक अभूतपूर्व परिवर्तन की अवस्था आयेगी। अब ज्ञानी को कुछ भी कर्त्तव्य शेष दीख नहीं पड़ेगा। अब वह दूसरे कर्तव्याक्रान्त लोगों को पहाड़ पर चढ़ हुए पुरुष की तरह उपेक्षाभाव से देखेगा। अब वह अपने मन से ऐसे प्रश्नों की झड़ी लगा देगा कि जिन का उसके मन पर जीवन्मुक्त होजाने के सिवाय कुछ भी सन्तोष जनक उत्तर नहीं होगा। मन के इस निरुत्तरपने का परिणाम यह होगा उसे अपना संसरण का विभाग, अपने लाभालाभ के विचार से तो एकदम बन्द कर देना ही होगा। हां, जिस शास्त्रीय मार्ग पर चलकर उसने मुक्ति का महालाभ उठाया है, वह मार्ग दूसरों के लिये भी अक्षुण्ण बना रहे इस लोक संग्रह के विचार से अपने जीवनरथ को शास्त्रीयपद्धति पर ही दौड़ाता चला जायगा। परन्तु एक बात भले प्रकार समझ रखने की है कि ज्ञानी को शास्त्रीयमार्ग पर कर्म करने की अपनी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। उसके ज्ञान की स्थिरता में कर्म का उपयोग लेशमात्र भी नहीं है। उस के ज्ञान की जो निरन्तर धार बहेगी वह कर्म करने से नहीं बहेगी। वह तो एकमात्र ज्ञान के अबाधित होने से ही बहती रह सकेगी।

इसके अतिरिक्त कोई सा भी साधन ज्ञान को निरन्तर स्थिर नहीं रख सकेगा। इस बाधित संसार का यह विस्तृत पसारा उसके ज्ञान को मार गिरायेगा ऐसी तो शंका ही निर्मूल है। ये सब पदार्थ जब अपने पूर्ण यौवन में थे तब उन सब को मार कर आत्मलाभ करने वाला ज्ञान, क्या भला अब इन मृतों से मार खा सकेगा? जिस ज्ञान ने बचपन में सारे पसारे को सकोड़ दिया था अब अपने यौवन में उनसे कैसे हार मान लेगा? ज्ञान हो चुकने के पश्चात् भी दीखते रहने वाले इस संसार रूपी मुरदे से तो ज्ञानराजा की कीर्ति ही बढ़ेगी। इस प्रकार का ज्ञान जिस ज्ञानी को कभी भी छोड़ कर नहीं जाता, उस ज्ञानी के देहादि कुछ करें या न करें इन घटनाओं से वह प्रभावित नहीं होता। प्रवृत्ति की ओर जिसको आग्रह है वह तो ज्ञानी की पंक्ति में बैठने का अधिकारी नहीं है। क्योंकि सांसारिक या पारमार्थिक सुख पाने के लिए यत्न करने का भाव यही है कि अभी तक वह सुख के स्वरूप को पा नहीं सका है। ऐसे अवसर पर ज्ञानी का एक ही कर्त्तव्य है कि ऐसे लोगों में रह कर इन्हें कर्त्तव्य का पाठ स्वयं व्यवहार करके सिखाया करे। तथा जिज्ञासुओं को कर्मों के दूषण दिखा दिखा कर कर्म करने से छुड़ा छुड़ा कर उन्हें ज्ञानमार्ग पर डालता जाय। अपने मानापमान की कुछ भी परवा न करके उन्हें अपने-अपने अधिकार के अनुरूप मार्गों पर डालता जाय। यह अमानवी अवस्था जब प्राप्त हो चुकेगी तब की देव दुर्लभ कृतकृत्यता का वर्णन करने के लिए मानवी भाषा को दिवालिया हो जाना पड़ेगा। आइये उस स्थिति का अनुभव लेने के लिए हम आज से ही उद्योग प्रारम्भ कर दें।

[८]

कूटस्थदीप का संक्षेप

किसी भित्ति पर सूरज का प्रकाश पड़ रहा हो। उसी भित्ति पर यदि दर्पण के सूरज का दुहरा प्रकाश पड़ जाय और वह भित्ति दो प्रकाशों से जगमगा उठे, इसी प्रकार निर्विकार चैतन्य ने इस देह को भी साधारणतया [अन्य सृष्टि की तरह] प्रकाशित तो कर ही रक्खा है परन्तु इस देह को ही इस बुद्धिस्थ चिदाभास ने दुबारा विशेष रूप से प्रकाशित कर डाला है। यों, देहों को प्रकाशित करने वाली दो चेतना हैं। इसे समझने के लिए कल्पना करो कि एक भित्ति पर बहुत से दर्पणों की दीप्तियाँ पड़ रही हैं, उन बहुत सी दीप्तियों के बीच बीच में जहाँ दर्पण की दीप्ति नहीं पड़ रही हैं वहाँ सूर्य की सामान्य दीप्ति तो दीखती ही है। इतना ही नहीं जब एक भी दर्पणदीप्ति शेष नहीं रह जाती तब भी वह सामान्य सूर्यदीप्ति दीखा ही करती है। इसी प्रकार चिदाभास से युक्त जो बहुत सी बुद्धियाँ हैं उनके बीच बीच में [जहाँ एक बुद्धि नष्ट होती है और दूसरी उत्पन्न होने की तैयारी में लगी रहती है तब बीच में] यह कूटस्थ तत्व रहता है। विवेकी लोग इसी कूटस्थ को पहचानें। सुषुप्ति के समय जब कोई भी बुद्धिवृत्ति नहीं रह जाती, तब इन बुद्धियों के अभाव को जो कोई तत्व प्रकाशित किया करता है वह यह कूटस्थ चैतन्य ही तो है।

जो बुद्धि घटाकार हो गई है, उसमें जो चिति है, वह तो केवल घट को ही प्रकाशित कर सकती है। परन्तु घट में जो ज्ञातता नाम का धर्म आ जाता है (जिसके आने पर हम कहने लगते हैं कि हमने घट को जान लिया) वह तो ब्रह्म चैतन्य से ही प्रकाशित हुआ करता है। भेद केवल इतना ही होता है कि—बुद्धि के उत्पन्न होने से पहले पहले वह ब्रह्म इस घट को अज्ञात रूप से प्रकाशित कर रहा था। अब बुद्धि के उत्पन्न हो जाने के बाद तो वही ब्रह्म इसको ज्ञात रूप से प्रकाशित करने लगता है। समझते हो ज्ञान क्या है? भाले की नोक पर जैसे लोहा लगा रहता है इसी प्रकार बुद्धिवृत्ति के अग्र भाग में जब चिदाभास लग जाता है तब उसे ही 'ज्ञान' कहते हैं। अज्ञान का विवरण हम क्या करें। वह तो जाड्य ही है। अर्थात् स्वयं स्फूर्ति का न होना ही 'अज्ञान' कहाता है। अब जो कोई घड़ा ज्ञान से व्याप्त हो जाता है तो उसे 'ज्ञात घट' कहते हैं, तथा जो घड़ा अज्ञान से व्याप्त रह जाता है उसे 'अज्ञात घट' कहा जाता है। जैसे 'अज्ञात घट' ब्रह्म से भास्य रहता है ठीक इसी तरह 'ज्ञात घट' भी ब्रह्म से ही भास्य होता है। चिदाभास का उपयोग तो केवल इतना ही है कि—वह ज्ञातता नाम के धर्म को उसमें उत्पन्न कर दिया करे। इस धर्म को उत्पन्न करने के पश्चात् वह चिदाभास क्षीण हो जाता है। जिस बुद्धि में चैतन्य का आभास न पड़ा हो, उस बुद्धि में तो ज्ञातता को उत्पन्न करने का सामर्थ्य ही नहीं होता। घट में जब चिदाभास नाम के फल का उदय हो जाता है तब बस यही 'ज्ञातता' कहाती है। वह ब्रह्म चैतन्य तो (१) बुद्धिवृत्ति (२) चिदाभास तथा (३) घटादि विषय इन तीनों को ही प्रकाशित किया करता है। परन्तु अकेले

घट को प्रकाशित करने वाला तो अकेला चिदाभास ही है। जब घट में ज्ञातता नाम का धर्म आ जाता है तब उसमें दुहरा चैतन्य हो जाता है। जब हम कहते हैं कि 'यह घट है' तब यह कथन चिदाभास की कृपा का फल है। जब हम कहते हैं कि 'घट को जान लिया' तब यह कथन ब्रह्म के अनुग्रह से हुआ करता है। यों व्यवहार के भेद से भी चिदाभास का और ब्रह्मतत्व का भेद जान लेना चाहिए। देह से बाहर चिदाभास और ब्रह्म का विवेक यहाँ तक हमने किया है। आइये अब यह भी देख लें कि—देह के अन्दर के मामलों में ये दोनों कैसे रहते हैं ? तपा हुआ लोहा जैसे केवल अपने आपको ही प्रकाशित किया करता है, इसी प्रकार चिदाभास से युक्त जो अहंवृत्ति और कामक्रोधादि वृत्तियाँ हैं—जिनमें तपे हुए लोहे में अग्नि के समान ही चिदाभास व्याप्त हुआ रहता है—वे वृत्तियाँ केवल अपनी ही भासक होती हैं। इतना सामर्थ्य उनमें नहीं होता कि वे दूसरे की भासक हो सकें। इन वृत्तियों का यह स्वभाव है कि ये क्रम क्रम से रुक रुक कर पैदा होती हैं, और सुप्ति मूर्छा या समाधि के समय तो सब की सब विलीन हो जाती है—तब इनमें से एक भी शेष नहीं रह जाती। अब यदि अन्दर के कूटस्थ तत्व को समझना हो तो यों समझना चाहिए कि—जो निर्विकार रहने वाली वस्तु, इन सब वृत्तियों की सन्धियों को, और इन सब वृत्तियों के अभावों को, प्रकाशित किया करती है अथवा जाना करती है, वही निर्विकार वस्तु 'कूटस्थ' कहलाती है। जैसे बाह्य घट में दुगना चैतन्य हो जाता है, इसी प्रकार अन्दर की वृत्तियों में भी दुगना चैतन्य इकट्ठा हो जाता है। यही कारण है कि—सन्धियों की अपेक्षा वृत्तियों में चैतन्य की अधिक विशदता पायी जाती है। वृत्तियों

के स्वयं प्रकाश होने के कारण इनमें ज्ञान की व्याप्ति नहीं होती और उनमें ज्ञातता भी उत्पन्न नहीं होती। ये वृत्तियाँ जब उत्पन्न हो जाती हैं तब ये उत्पन्न होते ही स्वविषयक अज्ञान को भगा देती है। यों अज्ञान की व्याप्ति भी इन वृत्तियों में नहीं रहती और अज्ञातता भी नहीं होती।

जिस दुगने चैतन्य का वर्णन ऊपर किया है, उसमें से जितने चेतन भाग के जन्म और नाश होते हुए प्रतीत होते हों, उसे तो अकूटस्थ मान लो तथा जो अविकारी भाग प्रतीत होता हो उसे 'कूटस्थ' जान लो। देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदि से युक्त जो जीवाभास रूपी भ्रम हो गया है, इस भ्रम का अधिष्ठान जितना कुछ चेतन है, उसी चेतन को हम 'कूटस्थ' कह रहे हैं। तथा जिसको वेदान्तों ने सम्पूर्ण जगद्भ्रम का मूलाधिष्ठान बताया है उसे हम 'ब्रह्म' कहना चाहते हैं। जब एक ही चैतन्य में इस सम्पूर्ण जगत् का आरोप कर लिया गया है तब इस जीवाभास के विषय में जो कि उसी का एक भाग है शंका करनी व्यर्थ है। जगत् और जगत् का एकदेश यह चिदाभास ये दोनों आरोपणीय पदार्थ हैं। यदि कोई किसी महायुक्ति से इन दोनों आरोपणीय पदार्थों के भेद की विवक्षा करना छोड़ बैठे, तो फिर चिति एक की एक ही रह जाती है—फिर 'तत्' 'त्वं' पदार्थों में भेद नहीं रह जाता। अर्थात् चिति में जो भेद है वह तो औपाधिक किंवा भ्रान्तिजन्य है। सच्ची तो एकता ही है। भ्रम का कारण तो यह होता है कि—इस आभास ने बुद्धि के कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों को तथा आत्मा के स्फूर्ति नाम के धर्म को अपने में धारण कर लिया है। भ्रमस्थल की चांदी में जैसे अधिष्ठान और आरोप्य दोनों के ही धर्म दीखते हैं और वह कल्पित मानी जाती

है, इसी प्रकार दोनों के धर्म दीखने से यह आभास भी कल्पित वस्तु ही है।

बुद्धि क्या है ? आभास कौन है ? इन सब में आत्मा नाम का पदार्थ कहाँ छिपा बैठा है ? यह जगत् का बवण्डर कैसे बन कर खड़ा हो गया है ? इन प्रश्नों को जब कोई सन्तोषजनक रीति से नहीं सुलझा लेता तब उसे मोह में फँसना पड़ जाता है। इन प्रश्नों का हल न करना ही 'संसार' कहाता है। यही मोह मुमुक्षु लोगों को हटाना है। यही सब अनर्थों का मूल निकास है। जिसने तो बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेक कर लिया हो, वही ज्ञानी है, वही सब अनर्थों से मुक्त हो गया है। यह बात वेदान्तों ने डंके की चोट कही है।

जिस संसार और जिस मोक्ष का वर्णन ऊपर किया है, उनको यदि कोई सच्चे मानों में समझ जाय, यदि किसी को यह मालूम हो जाय कि ये बन्ध और मोक्ष तो केवल अविवेक की खसकीली बुनियाद पर चिन कर खड़े कर दिए गये हैं तब फिर बन्ध किस का ? और मोक्ष किस का ? इत्यादि कुशंकाओं का समाधान साधक के हृदय में स्वयमेव हो जाता है—वह जान जाता है इन प्रश्नों को जिसने हल नहीं किया वह बद्ध है। जिसने इन प्रश्नों का हल कर दिया वह मुक्त ही है।

इस कूटस्थ तत्व को संक्षेप में यों समझना चाहिए कि जब वृत्तियाँ उदय हो जाती हैं, तब यह तत्व वृत्तियों का साक्षी होकर, जब तक वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं तब तक यह तत्व वृत्ति के प्रागभाव का साक्षी बन कर, आत्मजिज्ञासा जब किसी को हो जाय तब यह तत्व उसी का साक्षी रह कर, उससे पहले 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसे अज्ञान के साक्षी के रूप में, यह तत्व रहा

करता है। वह साक्षी कूटस्थ तत्व इस असत्य जगत् का आलम्बन है, इससे इसे 'सत्य' कहते हैं। सम्पूर्ण जड पदार्थों का प्रकाशक होने से इस तत्व को 'चिद्रूप' मानते हैं। सदा ही प्रेम का स्थान होने से इस साक्षीतत्व को 'आनन्दरूप' समझते हैं। यह कूटस्थ तत्व सभी अर्थों का साधक है, और सभी से सम्बद्ध है, इससे उसे 'सम्पूर्ण' भी कह देते हैं। यह कूटस्थ तत्व 'जीव' और 'ईश्वर' आदि की कल्पना से बहुत ऊपर रहता है। यह तो एक स्वयंप्रकाश केवल तथा कल्याणस्वरूप तत्व है।

यद्यपि माया ने आभास के द्वारा 'जीव'और 'ईश्वर' की रचना कर डाली है, फिर भी ये दोनों काच के घड़े के समान स्वच्छ ही हैं। काच का घड़ा जैसे मिट्टी के घड़ों से स्वच्छ होता है, इसी प्रकार ये जीवेश्वर भी देहादि की अपेक्षा स्वच्छ होते हैं। देह और मन दोनों ही अन्न से बनते हैं, फिर भी मन, देह से स्वच्छ होता है। इसी प्रकार मायिक होने पर भी अन्य मायिक पदार्थों से ये दोनों स्वच्छ होते हैं। ये दोनों ही चिद्रूप हैं, यह तो इसी से सिद्ध हो जाता है कि—वे सब के अनुभव में चिद्रूप में ही आते हैं। उस माया शक्ति ने ही उन दोनों को चिद्रूप से प्रकाशित कर डाला है। हम तो देखते हैं कि—हमारी नींद भी—जिसे 'हमारी माया' कह सकते हैं—सुपने के चेतन जीव और सुपने के ईश्वर आदि को उत्पन्न कर ही डालती है। फिर महामाया चेतन जीवेश्वरों को उत्पन्न कर डाले इसमें आश्चर्यचकित क्यों होते हो? परन्तु मायिकपने के वहम में इतने अधिक भी न फँस जाओ कि कहीं कूटस्थ को भी मायिक ही कह बैठो। क्योंकि कूटस्थ के मायिक होने का तो कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। सम्पूर्ण वेदान्त एकस्वर होकर इसी कूटस्थ के वस्तुत्व का डंका

बजा रहे हैं। वे इस कूटस्थ के विरोधी किसी भी वस्तु को सहन नहीं करते हैं। हम औपनिषद लोग तो वेदान्तों के रहस्य को खोलने का उद्योग भर करते हैं। तर्क के आधार से कुछ कहने का तो हमारा संकल्प ही नहीं है। यदि हम तर्क के सहारे से कुछ कहते तो तार्किक लोगों को हम पर आक्षेप करने का अवकाश भी मिल जाता। मुमुक्षु को चाहिए कि इस दुरवगाह्य आत्मतत्व को जानने के लिए केवल श्रुति का ही सहारा पकड़ लें। श्रुति का अभिप्राय तो स्पष्ट ही यह है कि—इन जीव और ईश्वर को माया ही उत्पन्न कर देती है। ईक्षण से लेकर प्रवेश पर्यन्त जितनी भी सृष्टि है, सो सभी ईश्वर की बनाई हुई है तथा जाग्रत् से लेकर मोक्ष पर्यन्त का सभी जगत्, जीव का बनाया हुआ है। अब कूटस्थ के विषय में भी सुन लीजिये—वह तो सदा ही कूटस्थ रहता है। जन्म, जरा, रोग, अनेक प्रकार की मानसी व्यथायें और मृत्यु अनादि काल से क्रमानुसार बराबर होते चले आ रहे हैं। इन सब के होने पर भी इस तत्व में आज तक कुछ भी अतिशय नहीं हो पाया है। इसीलिए मन में यह निश्चय कर लीजिए कि—मरण और जन्म कुछ भी नहीं है। बद्ध और साधक कोई भी नहीं है। मुमुक्षु और मुक्त किसी को भी नहीं कहना चाहिए। वह कूस्टथ तत्त्व मट्टी के पुतलों में वृथा ही लुक छिप कर जन्म-मरण का भ्रमपूर्ण अभिनय कर रहा है। मन और वाणी के अगम्य इस तत्व को, जब वह श्रुति किसी साधक को बता देना चाहती है, तब साधक की योग्यता के अनुसार या तो 'जीव' या 'ईश्वर' या फिर 'जगत्' का सहारा लेकर इस अवाङ्मनोगोचर तत्व का बोध ज्यों त्यों करके उसे करा देती है। इसी उद्देश्य को लेकर 'जीव' 'ईश्वर' और 'जगत्' के स्वरूप

का प्रतिपादन जहाँ तहाँ किया गया है। उसका परम तात्पर्य तो जिस किसी भी प्रकार उस अगम्य तत्त्व का बोध करा देना ही है। बोध कराने की प्रक्रियायें भले ही अलग अलग हों परन्तु तत्त्व तो एक ही होता है। क्योंकि जिन पुरुषों को बोध कराना है उन सब के चित्त एक समान नहीं होते—उनके चित्तों में बड़ी विषमतायें पायी जाती हैं। उनके चित्तों की विषमता के कारण बोध कराने की रीति भी भिन्न भिन्न हो जाती है। यह तो मानी हुई बात है कि—श्रुति का तात्पर्य तो एक ही हो सकता है। फिर भी जो लोग उनका विरुद्ध अर्थ करके आपस में झगड़ते हैं, उसका कारण यह है कि ये लोग श्रुति के पूर्वापर का विचार न करके, उसके तात्पर्य को न समझ कर, भ्रम में पड़ जाते हैं। विवेकी लोग तो श्रुति के सम्पूर्ण तात्पर्य को समझ कर आनन्दसमुद्र में विहार करने लगते हैं। विवेकी लोगों का तो यह निश्चय होता है कि—यह मायारूपी मेघ जगत् रूपी जल को जब कभी इसके जी में आये, बरसाता फिरो। इसके बरसाने और उसके बरसने से, चिदाकाश की कुछ भी हानि या लाभ नहीं होता।

यदि कोई इस प्रकरण में कही हुई प्रक्रिया का सदा ही विचार रक्खे तो वह अवश्य ही कूटस्थता का महालाभ करके छोड़े।

[६]

ध्यानदीप का संक्षेप

यदि किसी प्रतिबन्ध के कारण किसी को ब्रह्मज्ञान न हो सकता हो और वह इस मार्ग पर श्रद्धा रखता हो तो वह ब्रह्म-तत्व की उपासना ही किया करे। उससे भी उसे मुक्ति मिल ही जायगी। एक पुरुष मणि की प्रभा को मणि समझ कर उसे उठाने दौड़ता है, दूसरा पुरुष दीपक की प्रभा को मणि समझ कर उसे उठाने चलता है, इन दोनों को ही यद्यपि मिथ्या ज्ञान तो समान ही हो रहा है, तौ भी प्रयोजनसिद्धि में विशेषता पायी ही जाती है—पहले को तो मणि मिल जाती है, दूसरा उससे वंचित ही रह जाता है। दीपक की प्रभा को मणि समझना 'विसंवादि भ्रम' (विफलभ्रम) कहाता है, मणि की प्रभा को मणि समझना 'संवादि भ्रम' (सफलभ्रम) माना जाता है। भाप को धुँआ समझा और उससे अग्नि का अनुमान किया और वहाँ जाकर अग्नि को पा भी लिया, यह भी संवादिभ्रम ही है। प्रत्यक्ष अनुमान तथा शास्त्र में ऐसे अनन्त संवादिभ्रम पाये जा सकते हैं। इसी भ्रम के कारण से मिट्टी लकड़ी और पत्थर तक देवता हो जाते हैं। किसी वस्तु को उलटा समझ कर भी जब अभिलषित फल अचानक मिल जाय तभी वह 'संवादिभ्रम' कहा जाता है। जैसे संवादिभ्रम भ्रम होने पर भी ठीक फल दे देता है इसी प्रकार ब्रह्मतत्व की उपासना भ्रम होने पर भी मुक्ति रूपी फल को दे ही देती है।

वेदान्तों के द्वारा अखण्ड एक रसात्मक तत्व को परोक्ष रूप से जान कर उपासक लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्मतत्व ही हूँ' इस प्रकार उपासना करने लगते हैं। यहाँ पर परोक्ष ज्ञान का अभिप्राय यही है कि—अभी उसे प्रत्यग्व्यक्ति दीखने नहीं लगी है, केवल शास्त्र के कहने से 'ब्रह्म है' ऐसा एक सामान्य ज्ञान उसे हो गया है। केवल परोक्षता रूपी इस कमी से ही उसे 'अतत्वज्ञान' कह देना ठीक नहीं है। क्योंकि उसका ऐसा स्वरूप भी तो अध्यात्मशास्त्र ने ही बताया है। इस कारण जब शास्त्रीय रीति से उस सच्चिदानन्द तत्व का निश्चय होता है तब परोक्ष होने पर भी वह ज्ञान तत्वज्ञान ही रहता है, भ्रम नहीं हो जाता। शास्त्रों ने तो यद्यपि महावाक्यों के द्वारा ब्रह्म को प्रत्यक् ही बताया है और वह है भी ऐसा ही, परन्तु जो लोग विचार नहीं करते, उनकी समझ में यह बात आनी बड़ी ही कठिन है कि वह ब्रह्मतत्व हमारा आपा ही है। देहादि को आत्मा मानने का भ्रम जब तक जाग रहा है, तब तक कोई भी पुरुष, मन्दबुद्धि होने के कारण, ब्रह्मतत्व को आत्मा जान ही नहीं सकता। जो श्रद्धालु है, जो शास्त्रदर्शी है, उसको ब्रह्म का 'परोक्ष ज्ञान' हो जाना तो बहुत ही सुकर है। अद्वैत के इस ऐसे परोक्ष ज्ञान को द्वैत का प्रत्यक्ष ज्ञान नष्ट नहीं कर सकता है। लोक में देखा जाता है कि—प्रत्यक्ष शिलाबुद्धि परोक्ष ईश्वरभाव को हटाती ही नहीं है। बताओ ? कि—प्रतिमा आदि के विष्णु होने में किस श्रद्धालु को संदेह होता है। अश्रद्धालु लोग इस बात पर भले ही विश्वास न करें, उनका उदाहरण देना यहाँ ठीक नहीं है। क्योंकि वैदिक बातों में केवल श्रद्धालु लोगों को ही अधिकार है। परोक्ष ज्ञान तो एक बार के आप्तोपदेश से ही उत्पन्न हो जाता है। आप्त

के मुख से सुन कर जैसे कर्मानुष्ठान किया जा सकता है उस तरह आप्त की बात सुनते ही किसी को ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता है उसके लिए तो उसे फिर फिर विचार करना पड़ता है। परोक्ष ज्ञान को रोकने वाली तो अश्रद्धा है, और कुछ नहीं। तथा अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिबन्ध केवल अविचार ही किया करता है। विचार करने पर भी यदि किसी को ब्रह्मात्मता का परिज्ञान न हो सके, तो उसे बार बार विचार करते ही जाना चाहिये। उसे समझ लेना चाहिये कि अभी विचार में कोई कमी रह गयी होगी। क्योंकि अपरोक्षज्ञान के होते ही विचार अपने आप रुक जायगा। विचार की समाप्ति ही अपरोक्षज्ञान का अचूक चिह्न माना गया है। यदि मरण पर्यन्त विचार कर डालने पर भी किसी को आत्म-लाभ न हो तो उसे उसके प्रतिबन्धों का क्षय हो जाने पर जन्मान्तर में आत्मलाभ हो ही जायगा। व्यासमुनि ने भी कहा है कि— इस जन्म या परजन्म में भी विद्या हो जाती है। कठ श्रुति में भी कहा है कि बहुत से लोगों को तो सुनकर भी इस आत्म तत्व का ज्ञान (इस जन्म में) नहीं हो पाता। वामदेव को तो गर्भ में आत्मतत्व का ज्ञान हुआ था। लोक में भी देखते हैं कि—बहुत बार याद करने पर भी जो बात याद नहीं होती वही बात अगले दिन बिना याद किये याद आ जाती है। खेती और गर्भ जैसे उसी दिन तैयार नहीं हो जाते इसी प्रकार आत्मविचार उसी दिन अन्तिम श्रेणी पर नहीं पहुँच जाता। किन्तु धीरे धीरे पका करता है। बार बार विचार करने पर भी जब तत्व ज्ञान न हो तो समझ लेना चाहिये कि भूत, भावी या वर्तमान कोई सा प्रतिबन्ध होगा, जो कि ज्ञान को होने नहीं देता। इन तीनों में से कोई सा प्रति-बन्ध हो तो वेदपारंगत लोग भी मुक्त नहीं होते हैं। इसी अभि-

प्राय से श्रुति ने हिरण्यनिधि का दृष्टान्त दिया है। भूगर्भ विद्या को न जानने वाले लोग हिरण्यनिधि के ऊपर घूमते रहने पर भी उसे पा नहीं सकते। इसी प्रकार ये सारी प्रजायें प्रतिदिन ब्रह्म के पास जाती हैं, परन्तु [विषयवासना रूपी] अनृत से ढकी रहने के कारण, उसको पहचान नहीं सकतीं। किसी यति के लिये तो बीता हुआ महिषी का स्नेह ही ज्ञान में प्रतिबन्ध हो रहा था और उसे तत्वज्ञान नहीं हो पाया था। उसके महिषी के स्नेह का अनुसरण करके ही जब उसे तत्व का उपदेश किया गया तब प्रतिबन्ध का क्षय हो जाने पर उसे यथार्थ ज्ञान हुआ।

वर्तमान प्रतिबन्ध चार प्रकार का होता है एक विषयासक्ति दूसरा बुद्धि की मन्दता तीसरा कुतर्क चौथा अपने विपरीत-ज्ञान पर अड़ कर बैठ जाना कि 'यही ठीक है।' शमदमादि श्रवणमननादि उपायों से [जो भी जिस जिस प्रतिबन्ध को हटाने में उपयुक्त है] उस उस प्रतिबन्ध के हट जाने पर अपना ब्रह्म-भाव हाथ आ जाता है। जन्मान्तर दिलाने वाला जो आगामी प्रतिबन्ध होता है, जिसको प्रारब्धशेष भी कहते हैं, यह तो भोग के बिना क्षीण नहीं हो पाता। यही कारण है कि उस आगामी प्रतिबन्ध की निवृत्ति का समय नियत नहीं किया जा सकता कि—इतने दिनों में आगामिप्रतिबन्ध नष्ट हो जायगा। वह प्रतिबन्ध वामदेव का तो एक जन्म में ही क्षीण हो गया था। भरत को तो इसमें तीन जन्म धारण करने पड़े थे। गीता में तो यहां तक कहा है कि जो योगभ्रष्ट हो जाते हैं—[जो तत्व साक्षात्कार पर्यन्त विचार नहीं कर पाते। जिन का विचार बीच में ही छूट जाता है] उनके प्रतिबन्ध का क्षय होने में कभी कभी बहुत जन्म लग जाते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि इस रुकावट के

कारण उनका विचार निरर्थक नहीं हो जाता है । ज्यों ही उनका प्रतिबन्ध हटता है त्यों ही उन्हें आत्मज्ञान हो जाता है । गीता में यह भी कहा है कि—योगभ्रष्ट लोगों को आत्मविचार के प्रभाव से पुण्यकारी लोगों को मिलने वाले स्वर्गादि लोक मिलते हैं । फिर भी यदि कोई अभिलाषा रह गयी हो तो वे पवित्र श्रीमानों के कुल में जन्म लेते हैं [और वहां अपनी अभिलाषा को पूरा कर लेते हैं ।] यदि वे आत्म तत्व के विचार के प्रभाव से निःस्पृह हो गये हों तो लौटकर योगियों के कुल में ही जन्म लेते हैं । किन्तु ऐसा जन्म बड़ा ही दुर्लभ होता है । यह थोड़े पुण्यों से किसी को नहीं मिलता । क्योंकि ऐसा योगभ्रष्ट इस कुल में आते ही उसी पहले वाले बुद्धिसंयोग को पा जाता है । वैसा 'बुद्धियोग' उसे योगी मां-बापों से दायभाग के रूप में मिल जाता है । फिर तो वह पहले से भी दूने उत्साह से प्रयत्न करने लग पड़ता है । उसका पूर्वाभ्यास उसे बलात् अपनी ओर खेंच ले जाता है । यों सिद्ध होने में अनेक जन्म लग जाते हैं । यदि तो किसी को ब्रह्मलोक को पाने की इच्छा हो और वह उसे वहीं दाबकर—तत्वज्ञान से उसको न उखाड़ कर—आत्मविचार करने लगे तो वह भी साक्षात्कार नहीं कर पाता । वह फिर कल्पान्त के समय इस जगत् के समष्टि अभिमानी के साथ मुक्त होता है,ऐसा शास्त्र का अभिप्राय है। कई तो ऐसे होते हैं कि उनके सांसारिक धन्धे उन्हें अपने आपे के विचार का अवसर ही नहीं आने देते। इस शरीर की दासता और मन की चाकरी में यदि उनके आठों पहर बीत जायँ तो वे घबराते नहीं। परन्तु जिसकी कृपा से यह मट्टी का पुतला चलता फिरता है, उस अन्दर छिपे हुए प्राणाधीश की मीमांसा के लिये उन्हें एक क्षण का भी अवकाश नहीं मिलता । इतनी ही क्यों !

जो लोग इस आत्मतत्त्व का विचार करते हैं उन्हें वे निकम्मा और मूढ़ समझते हैं। वे उनके सहवास को भी यथाशक्ति टाला करते हैं। ऐसे लोगों को ध्यान में रखकर ही तो कठ में कहा है कि बहुत से पापियों को तो वह परात्मतत्व सुनने को भी नसीब नहीं होता।

जिस श्रद्धालु की बुद्धि अतिमन्द हो, जिसे अध्यात्मदर्शी गुरु हाथ न लगे, या अनुकूल देश कालादि न मिल सके, वह इतना ही करे कि दिन रात ब्रह्मोपासना (प्रणवाभ्यास) ही करता रहे। निर्गुण ब्रह्म की उपासना की रीति यह है कि उसके ज्ञान को बार बार दोहराता रहे। शैब्य प्रश्न के उत्तर में तापनीय उपनिषत् में निर्गुणोपासना का कथन किया है। प्रश्न उपनिषत् में त्रिमात्र ओंकार की उपासना का वर्णन आया है। कठ और माण्डूक्य में भी इसी निर्गुणोपासना का समुल्लेख पाया जाता है। निर्गुण उपासना को कैसे करें? यह यदि जानना हो तो आद्य शंकराचार्यजी के पंचीकरण नाम के पुस्तक को देखना चाहिये। एक बात इसमें ध्यान रखने योग्य है कि सारी शाखाओं में निर्गुण ब्रह्म के जितने गुण आये हैं, उन सब का उपसंहार इस उपासना में कर लेना चाहिये। उसमें 'आनन्द' 'सत्' 'चित्' 'पूर्ण' आदि जितने विधेय गुण हैं या अस्थूल अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ आदि जितने भी निषेध्य गुण हैं उन सभी का उपसंहार इसमें साधक को कर लेना चाहिये। ऐसा न हो कि किसी एक प्रकरण में जिन गुणों का वर्णन आया है केवल उन्हीं गुणों के आधार पर इस उपासना को करने लगें। उपासना करते हुए यह कभी न भूलें कि आनन्द आदि विधेय और अस्थूलादि निषेध्य गुणों से एकमात्र अखण्ड आत्मतत्व ही लक्षित होता है। इन सबसे जो तत्व लक्षित होता है 'वही तत्व

मैं हूँ' ऐसा ध्यान साधक को यथाशक्ति आठों पहर रहना चाहिये। अब बोध और उपासना का भेद भी सुन लीजिये—बोध तो वस्तु के अधीन होता है। इसके विपरीत उपासना उपासक के हाथ की बात होती है। बोध की उत्पत्ति विचार से होती है—साधक न भी चाहे तो भी वस्तु के सामने आने पर बोध होता ही है। उसे वह रोक नहीं सकता। वह बोध रूपी दिवाकर जब उदय होता है तब इस सब संसार की सत्यता को भस्मसात् करके छोड़ता है। जब इतना हो चुकता है तब साधक कृतकृत्य हो जाता है। उसके बाद उसे नित्य तृप्ति रहने लगती है। अब वह जीवन्मुक्त हो जाता है। अब तो वह प्रारब्धक्षय की बाट जोहने लगता है कि 'यह कब समाप्त होगा'।

ऐसा परमपद यदि किसी को पाना हो तो वह गुरु के उपदेश पर विश्वास करे। उस पर किसी प्रकार का भी संशय न करे और अपने उपास्य का निरन्तर ऐसा विचार करे कि—इस चिन्तन के बीच में, अन्य किसी भी विषय का विचार तक न आने दे। चिन्ता करते करते अन्त में ऐसी अवस्था आ जायगी कि साधक को स्वयं ही यह भान होने लगेगा कि ओहो! यह चिन्त्यस्वरूप तो मैं ही हूँ। यहां पहुंचते ही साधक का चिन्तन भी छूट जायगा। फिर यह प्रयत्न करना चाहिये कि किसी तरह मरणपर्यन्त यही धारणा बराबर बनी रहे। क्योंकि उपासना पुरुष के अधीन होती है। कोई चाहे उसे करे, चाहे न करे, या जैसे जी में आये कुछ का कुछ किया करे। इस कारण उपासकों से यह बात विशेषरूप से कह देना चाहते हैं कि वे इस उपासना को सदा ही किया करें। सुपने में भी वेदपाठ करने वाले वेदपाठी का या सुपने में जप करने वाले जपिता का जो हाल हो जाता

है वही हाल उपासक का हो जाना चाहिये। उपासना की ऐसी प्रगाढता तो तभी होगी जब कि विरोधी विचारों को छोड़ कर निरन्तर भावना की जायगी और वासना का आवेश बढ़ने लगेगा। ऐसी उपासना सर्वपरित्यागी संन्यासमार्गी लोग ही कर सकते हों, यह धारणा ठीक नहीं है। क्योंकि इस उपासना में आस्था की अधिकता जब हो जायगी तब विषयव्यसनी की तरह, अपने प्रारब्ध भोगों को भोगते हुए भी, अपना लोकव्यवहार करते हुए भी, यह उपासना बराबर चल ही सकेगी। देखते हैं कि जिस नारी को परपुरुषसंग का व्यसन पड़ जाता है, वह घर के कामों में उलझी रहने पर भी, अन्दर मन में तो उसी परसंग रसायन को चखती रहती है। ऐसा करते हुए भी उसके घर के काम काज बराबर चलते ही हैं। हां, इतना तो अवश्य हो जाता है कि उसके घर के काम ऊपर के मन से होने लगते हैं। इसी प्रकार उपासना में निष्ठावाले पुरुष, ऊपर के मन से तो संसार के काम काज निभाते रहें। हम उनके ऊपर के मन को छीनना नहीं चाहते। हमें तो वे अन्दर का मन ही दे दें। अन्दर के मन से तो वे आठों पहर अखण्डोपासना-रूपी दीपक को जगाते रहें। जिस तत्वज्ञानी ने यह समझ लिया है कि—यह प्रपंच तो मायामय है, आत्मा तो केवल चैतन्य रूप है, फिर बताओ, उसे व्यवहार में क्या उलझन होगी ? व्यवहार को यह जरूरत तो है ही नहीं कि—यह प्रपंच सचा ही हो और न व्यवहार को यही दरकार है कि आत्मा जड ही हो,तब ही उसका काम चले, किन्तु इस विचारे [व्यवहार] को तो केवल साधनों की ही जरूरत होती है। देखो व्यवहार के साधन जो मन, वाणी, शरीर अथवा ये बाह्य पदार्थ हैं, इनको तत्वज्ञानी तोड़ फोड़ कर तो फैंक ही नहीं

देता है। फिर बताओ कि इसका व्यवहार कैसे रुकेगा ? यह मत कह बैठना कि तत्वज्ञानी भी चित्त का उपमर्दन तो करता ही है। अरे भाई ! यह बात तो तुम 'ध्याता' की कह रहे हो। तत्वज्ञानी पुरुष कभी भी चित्त का उपमर्दन नहीं कर सकता। भला क्या कहीं घटतत्व को जानने वाला पुरुष भी बुद्धि का मर्दन किंवा उसे एकाग्र करता देखा जाता है ? यदि केवल एकवार ज्ञान हो जाने पर फिर घट जैसा जड़ पदार्थ भी सदा ही भासने लगता है तो फिर स्वयंप्रकाश यह आत्मा एक वार ज्ञान हो जाने पर सदा ही क्यों न भासने लगेगा ? घटादि का निश्चय जब एक बार हो जाता है तब उसके बाद घटज्ञान नष्ट तो हो जाता है परन्तु फिर जब कभी घट की जरूरत होती है, तभी उस घट को ले जा सकते हैं। उस घट में चित्त को स्थिर किये रखने की जरूरत ही नहीं होती। ठीक यही बात आत्मा के विषय में भी समझ रखनी चाहिये—उसमें भी चित्त को स्थिर किये रखना आवश्यक नहीं है। जब किसी को एक वार आत्मा के स्वरूप का निश्चय हो जाता है तब फिर जब कभी उसे अपेक्षा होती है, तभी वह ज्ञानी उसके विषय में कथन, मनन या ध्यान आदि कर ही सकता है। यदि कोई ज्ञानी भी उपासक की तरह लौकिक व्यवहार को भूल जाता है तो इस भूल को ज्ञान से हुआ मत समझो। यह विस्मरण तो उसे ध्यान से हुआ है। परन्तु यह ध्यान तो उस ज्ञानी ने अपनी इच्छा से ही पसन्द कर लिया है। शास्त्र उससे ध्यान करने को नहीं कहता। मुक्ति तो उसे केवल ज्ञान से ही मिल चुकी है। यह बात वेदान्तों में अनेक जगह कही गयी है। यदि तत्वज्ञानी लोग ध्यान न करें तो वे भले ही बाह्य व्यापारों में लगे रहें। उनकी प्रवृत्ति में किसी तरह की कोई भी रुकावट नहीं

है। तत्वज्ञानी की बाह्य प्रवृत्ति मान कर अतिप्रसक्ति से डरना ठीक नहीं है। क्योंकि तत्वज्ञानी के प्रति तो 'प्रसंग' किंवा 'विधि शास्त्र' ही नहीं होता। जिस अविचारी को देह के वर्ण, आश्रम, आयु और अवस्थाओं में अभिमान बना हुआ है, ये सब विधि और निषेध शास्त्र केवल उसी के लिये बने हैं। ज्ञानी का निश्चय तो इसके विपरीत होता है। उसे तो यह मालूम हो जाता है कि—जैसे माया ने देह बनाया है, इसी तरह वर्णाश्रमादि भी उसी ने घड़ दिये हैं। बोधरूप आत्मा के तो कोई वर्ण या आश्रम आदि नहीं होते। जिसने अपने जी में से सम्पूर्ण आसक्तियों को निकाल कर फेंक दिया हो, जिसका आशय निर्मल हो चुका हो, वह तो मुक्त ही है। ऐसा महापुरुष समाधि करे या न करे, काम करे या बैठा रहे, यह सब उसकी (प्रारब्धानुकूल) इच्छा पर ही निर्भर होता है। इस बारे में शास्त्र की यह हिम्मत नहीं है कि उससे कुछ करने को कह सके। जो पुरुष कामवासनाओं के बन्धन से छूट चुका हो, कर्म को छोड़ बैठने या करते जाने से, फिर उसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता। समाधि और जप से भी उसका कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। "आत्मा असंग है उससे भिन्न सभी कुछ इन्द्रजाल के समान मायिक है" ऐसा स्थिरनिर्णय जिन्होंने कर लिया हो, उनके मन में वासना कैसे ठहरेगी? जब कि तत्वज्ञानी में वासना ही नहीं रहती तब वह उसे हटाने के लिए ध्यान भी क्यों करेगा? या जब ज्ञानी को प्रसंग ही नहीं रह गया है तो अतिप्रसंग कहां से आयेगा? जिस बालक के लिये विधि नहीं होती, उसको अति प्रसंग भी नहीं देखते हैं। जैसा विधि का अभाव बालक को है वैसा ही तत्वज्ञानी को भी है। कुछ न जानने के कारण बालक के लिये विधि नहीं

होती, सब कुछ जानने के कारण ज्ञानी के लिये भी विधि नहीं रहती। सम्पूर्ण विधियों का बोझ तो अल्पज्ञ के कन्धों पर ही लदा रहता है। एक प्रासंगिक बात यह भी जानने योग्य है कि किसी किसी ज्ञानी में शाप और वरदान का सामर्थ्य भी पाया जाता है। सो यह सामर्थ्य किसी दूसरे तप से उनमें आता है। ज्ञान को उत्पन्न करने वाले तप से यह सामर्थ्य उत्पन्न होता ही नहीं। ऐसी अवस्था में जिन ज्ञानियों में शाप या वरदान का सामर्थ्य नहीं है, उनके ज्ञानी होने की शंका नहीं करनी चाहियें। प्रकृत बात तो यही कह रहे थे कि लौकिक व्यवहार जिन साधनों से चला करता है, तत्वज्ञान के हो जाने पर उन साधनों का उपमर्द (नाश) नहीं हो जाता, इस कारण ज्ञानी लोग राज्यादि जैसे बड़े से बड़े आरम्भ भी भले प्रकार निभा ही सकते हैं। उनको मिथ्या समझने से यदि किसी की इच्छा ही उधर को न चलती हो तो वह भले ही ध्यान करने लगे और व्यवहार को बन्द कर दे। यह सब ज्ञानी के प्रारब्ध पर ही निर्भर होता है। इसके विपरीत उपासक को तो चाहिए कि वह तो सदा ध्यान ही करता रहे। इसे तो यह कभी भी न भूलना चाहिए कि उस (उपासक) की ब्रह्मता तो केवल ध्यान के प्रताप से ही होती है। जो चीज़ ध्यान से बनी है वह तो ध्यान के हटते ही नष्ट हो जायगी। परन्तु सच्ची ब्रह्मता तो जब उसका ध्यान नहीं भी रहता तब भी बनी ही रहती है। इसलिए ज्ञान तो उसका बोधक ही हो सकता है, जनक नहीं हो सकता। ज्ञापक के न रहने से सत्य वस्तु छिप नहीं जाती। वैसे तो उपासक भी ब्रह्म ही है, परन्तु अभी तक उस को इस बात का निश्चय नहीं हो पाया है, इस कारण उस की ब्रह्मता उस के उपयोग में नहीं आती। जैसे भूखों मरने से भीख

मांगना भला होता है, इसी प्रकार और सब कामों से उपासना का दर्जा ऊँचा है। पामार लोगों के व्यवहार से तो यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान बेहतर हैं, उन यज्ञादियों से सगुणोपासना श्रेष्ठ है, सगुणोपासना से भी निर्गुणोपासना ऊँची मानी गयी है। इस ऊँचनीच भाव का निर्णायक आधार पूछो तो यह है कि ज्यों ज्यों विज्ञान की समीपता आती जाती है, त्यों त्यों श्रेष्ठता भी बढ़ने लगती है। निर्गुणोपासना के सर्वश्रेष्ठ होने का कारण तो यही है कि यह उपासना पीछे जाकर धीरे धीरे ब्रह्मज्ञान के रूप में बदल जाती है। फल मिलने के समय जैसे सफल भ्रम प्रमाज्ञान होजाता है इसी प्रकार मुक्ति का समय आने पर यह 'निर्गुणोपासना' ही 'ब्रह्मविद्या' बन जाती है। निर्गुणोपासना में यही विशेषता है कि वह ज्ञान के सब से अधिक समीप होती है। वह निर्गुणोपासना जब पकने लगती है तब पहिले तो इसी की 'सविकल्प समाधि' हो जाती है। फिर पीछे से उस सविकल्प समाधि की ही 'निर्विक-ल्पसमाधि' बन जाती है। यह निरोध नामक समाधि निर्गुणोपासक को अनायास ही प्राप्त हो जाती है। जब किसी को निरोध का महालाभ हो जाता है, तब उस पुरुष के अन्दर असंग वस्तु शेष रह जाती है। उस असंग वस्तु की भावना यदि कोई बार बार करे तो 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के याद आते ही बिजली की चमक की तरह तत्वज्ञान का उदय हो जाता है। उस समय की ज्ञानोन्मुख अवस्था की सराहना किन शब्दों में करें—उस समय ही निर्विकारता, असंगता, नित्यता, स्वप्रकाशता, एकता और पूर्णता आदि का सच्चा भाव अभ्यासी की बुद्धि में ठीक तौर पर जंचने लगता है। इन का यथार्थ मर्म तभी अभ्यासी की समझ में आता है। अपरोक्षज्ञान को उत्पन्न करने वाली इस निर्गुणोपासना को

छोड़ कर जो लोग तीर्थों में टकराते हैं, और जपादि में व्यस्त पड़े रहते हैं, वे तो ऐसे हैं जैसे हाथ पर रक्खे गुड़ को फेंक कर कोई हाथ को ही चाटने लगता हो। विचारक के सामने तो उपासक का दर्जा भी बहुत नीचा होता है, यह बात कभी न भूलनी चाहिए। यही कारण है कि—विचार न कर सकने की अवस्था में ही 'योग' किंवा 'उपासना' का विधान किया गया है। जिन पुरुषों के चित्त अत्यन्त व्याकुल हुए रहते हैं, उन को विचार से तत्वज्ञान हो ही नहीं सकता, उन के लिए तो 'योग' ही मुख्य उपाय है। क्योंकि योग करने से उनका धीदर्प नष्ट हो जाता है। जिन महापुरुषों की बुद्धि कभी व्याकुल नहीं होती, जिन का आत्मा केवल मोह के आवरण में छिपा रहता है, उनके लिए तो 'सांख्य' नाम का विचार ही मुख्य उपाय है। क्योंकि उन्हें उसीसे झटपट सिद्धि मिल जाती है। गीता में कहा है कि—'सांख्यमार्गी' जिस परमपद को पाते हैं 'योगमार्गी भी वहां पहुंच जाते हैं। जिस ज्ञानी को यह मालूम है कि परिणाम में जाकर 'सांख्य' और 'योग' एक ही हैं, जिसे इनमें भेद नहीं दीखता, उसी को शास्त्र का मर्मज्ञ समझ लो।

जिसकी तो उपासना भी इस जन्म में अधकचरी रह गयी हो, वह या तो मरते समय या फिर ब्रह्मलोक में जाकर तत्व का ज्ञाता होता है और मुक्त हो जाता है।

मरते समय इस जन्म के विचारों का निचोड़ (सार) प्रकट होने लगता है अर्थात् मरते समय इस जन्म के जो सब से पिछले विचार होते हैं, उनसे यह पता चल ही जाता है कि—अगला जन्म कैसा और काहे का होगा ? बच्चों को पिछले जन्म के और वृद्ध को अगले जन्म के सुपने आने लगते हैं। जीवन के पिछले ज्ञान

से आगामी जन्म की सूचना जैसे साधारण प्राणी को भी मिल जाती है या जैसे मरण के समय सगुणोपासकों को उनके सगुण ब्रह्म दर्शन दे देते हैं, इसी तरह पूर्वाभ्यास के प्रताप से मरते समय निर्गुणोपासकों को भी निर्गुणब्रह्म का ज्ञान हो ही जायगा, इसमें वृथा सन्देह क्यों किये जा रहे हो। यदि कहो कि निर्गुणोपासक को मरण काल में निर्गुणब्रह्म की ही प्राप्ति हो सकती है, उसे मुक्ति भी मिल जायगी यह हम क्यों कर मान लें? उसका उत्तर यह है कि तुम उस दर्शन का नित्य निर्गुण नाम भले ही गाते रहो असल में तो वह मोक्ष ही है। जैसे संवादिभ्रम कहने को तो भ्रम है, असल में तो उसे तत्वज्ञान ही कह देना चाहिए। ऐसे ही निर्गुणब्रह्म की 'प्राप्ति' और 'मुक्ति' ये दो नाम एक ही वस्तु के हैं। निर्गुणोपासना का समर्थ्य ही कुछ ऐसा है कि—उससे मूलाज्ञान को मार भगाने वाली बुद्धि का जन्म हो ही जाता है। तापनीय-उपनिषत् में भी मोक्ष को इसी निर्गुणोपासना का फल बताया है। उपासना करते करते अन्त में तो ज्ञान की उत्पत्ति हो ही जाती है और यों 'नान्यः पन्था विद्यते' ज्ञान के सिवाय दूसरा रास्ता ही नहीं है इससे भी विरोध नहीं रह जाता। निष्काम उपासना करने से मुक्ति मिलती है, तथा सकाम उपासना करने से ब्रह्मलोक मिलता है। उस ब्रह्मलोक में जाकर भी इस उपासना के सामर्थ्य से तत्व का दर्शन हो जाता है। फिर वह उपासक इस कल्प में लौट कर नहीं आता और कल्प का अन्त होते समय कल्पेश्वर के साथ मुक्त हो जाता है। श्रुतियों में अधिकता से प्रणव की निर्गुणोपासनायें ही आयी हैं। सगुणोपासना तो कहीं कहीं दी है। पिप्पलादमुनि ने ओंकार को 'पर' और 'अपर' ब्रह्मरूप कहा है। यम ने भी नचिकेता से कहा है कि जो

इस ओंकाररूपी आलम्बन को जान ले तो वह जो चाहे वहीं उसे मिलें। प्रकरण में तो हमें केवल इतना ही कहना है कि—जो निर्गुणब्रह्म की उपासना भले प्रकार कर लेता है वह इस लोक में या मरते समय या फिर ब्रह्मलोक में जाकर, ब्रह्म का साक्षात्कार करके ही छोड़ता है। आत्मगीता में भी कहा है कि—जो विचार न कर सकते हों, उन्हें तो निर्गुण ब्रह्म की उपासना निरन्तर ही करनी चाहिये। आत्मगीता में यह भी कहा है कि—जिसमें आत्मसाक्षात्कार करने की शक्ति न हो, वह निःशंक होकर मेरी उपासना ही किया करे। समय आने पर मैं उसके अनुभव में आऊंगा और निश्चय ही फलित होकर रहूंगा। अगाध खज़ाना पाना हो तो जैसे खोदना ही होगा, ऐसे ही मुझे पाना हो तो आत्म-चिन्ता करनी ही होगी। पुरुष को चाहिये कि—बुद्धि रूपी कुदाल से देह-रूपी रोड़े को दूर हटा दे। मनरूपी भूमि को बार बार खोदे और अन्त में मुझ गुप्त निधि को प्राप्त करके ही छोड़े। यदि किसी को अनुभूति न भी हो तो भी उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म तत्व हूं' यह उपासना अवश्य करनी चाहिये। ध्यान का तो इतना महाप्रताप है कि उससे असत् भी मिल जाता है। नित्य प्राप्त जो सर्वात्मक ब्रह्म है वह ध्यान से मिलेगा या नहीं? ऐसी तो शंका ही कभी न करो। ध्यान करके देखो तो पता चले कि—ध्यान करने से दिन पर दिन अनात्मबुद्धि ढीली पड़ती जाती है। ध्यान के इस महाफल को देखकर भी यदि कोई ध्यान नहीं करता है तो वह बड़ा ही अभागा है। सम्पूर्ण प्रकरण का सार तो यही है कि—यदि कोई ध्यान से देहाभिमान को खोदे और अपने अद्वितीय आत्मा के दर्शन करले, तो यह अनादिकाल से मरने वाला प्राणी ही अमर हो जाय और इसी जन्म में सच्चिदानन्द ब्रह्म के दर्शन करके छोड़े।

जो पुरुष इस 'ध्यानदीप' का विचार करेंगे उनके सब ही संशय भाग जायेंगे। विश्वास है कि—वे फिर सदा ही ब्रह्म ध्यान में निमग्न रहने लगेंगे।

[१०]

नाटकदीप का संक्षेप

वह परमात्मतत्व पहले भी अद्वयानन्द पूर्ण था और अब भी है। वह कुतूहल में आकर अपनी माया के प्रताप से पहले तो जगत् बना और फिर जीवरूप से उसी में प्रवेश कर गया। उत्तम देहों में प्रवेश करके तो वह देवता हुआ। अधम देहों में प्रवेश करने से उसमें मर्त्यपन आ गया। जब उसने अनेक जन्मों तक अपने कर्म ब्रह्मार्पण करने शुरु किये तब उसमें फिर आत्मस्वरूप का विचार करने की शक्ति जाग उठी। विचार की आंच के सामने जब माया न ठहर सकी तब वह फिर स्वयम् अकेला का अकेला ही रह गया। ये जगत् और जीव सब के सब पलायन कर गये। उस अद्वितीय तत्व के सच्चे बन्ध और मोक्ष का निरूपण करने का सामर्थ्य तो किसी में है ही नहीं। जब उस तत्व को दुःखी होने का धोखा लग जाता है तब बस यही उस का 'सद्वयपना' और यही उस का 'बन्ध' कहाता है। यह दुःखीपना जब हटता है और जब स्वरूप में स्थिति मिल जाती है तब इसी को 'मोक्ष' कहने लगते हैं। जानते हो यह बन्ध कहां से आया है? सुनो, यह बन्ध अविचार से आया है और विचार करने से यह बन्ध खुल जायगा। इस कारण जब तक तत्व का साक्षात्कार न हो जाय तब तक जीव और परात्मा का विचार सदा ही करते रहना चाहिये। विचार

करने की रीति भी सुन लीजिये—देहादियों में 'मैंपन' का अभिमान करने वाला अहंकार 'कर्ता' (जीव) कहाता है। उसके अभिमान करने के साधन को मन कहते हैं। वह क्रम से कभी अन्दर और कभी बाहर क्रियायें किया करता है। वह मन जब अन्तर्मुख होकर 'म' ऐसी वृत्ति करता है तब वह वृत्ति 'कर्ता' (जीव) की ओर इशारा करती है। जब तो उसी मन में बहिर्मुख वृत्ति होती है तब वह बाह्य पदार्थों की ओर 'यह' ऐसा संकेत किया करती है। अब उस इदम् (यह) में जो रूपादि विशेष विशेष धर्म होते हैं, उनका ज्ञान पांचों इन्द्रियों से होता है। इतनी बातें समझ लेने के बाद अब जरा 'साक्षी' तत्व को भी समझ लीजिये—जो तो केवल चिद्रूप रह कर ही उस 'कर्ता' को भी, उपर्युक्त 'क्रियाओं' को भी,तथा एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण गन्ध आदि 'विषयों' को भी, एक ही प्रयत्न से प्रकाशित किया करता है, उसी चिद्रूप तत्व को वेदान्तों में 'साक्षी' कहा है। लोक में भी देख लो—नृत्यशाला में जलता हुआ दीपक, नाट्यगृह के 'प्रभु' को, नाट्य देखने वाले 'सभ्यों' को तथा 'नर्तकी' को एक ही रूप से प्रकाशित किया करता है। प्रकाश करते हुए किसी की खास रियायत नहीं करता है और जब ये सब लोग नृत्यशाला को छोड़ कर चले जाते हैं तब भी वह विचारा अकेला ज्यों का त्यों जला ही करता है। ठीक इसी दृष्टान्त की तरह यह साक्षी तत्त्व 'अहंकार' को 'बुद्धि' को तथा 'विषयों' को प्रकाशित किया करता है। परन्तु जब सुषुप्ति आदि के समय अहंकार आदियों में से कोई भी शेष नहीं रह जाता है तब भी तो यह 'साक्षी' पहले की तरह ही जगमगाता रहता है। वह कूटस्थ तत्व तो सदा भासता ही रहता है। मानो कोई अखण्ड दीपक ही जल रहा हो। यह

बिचारी ग़रीब बुद्धि उसी सदाविभात साक्षी की चमक से उधारी चमक लेकर अनेक रूप से नाचा करती है। यह बुद्धि जिस नाटक को खेल रही है, उसके पात्र आदि को भी जान लो। 'अहंकार' ही इस नाटक का 'प्रभु' है। क्योंकि नाटक के मालिक की तरह विषयभोग की सफलता और विफलता से हर्ष और विषाद इसी को तो होते हैं। 'विषय' ही इस नाटक के 'सभ्य' माने गये हैं। नाटक के दर्शकों को जैसे सुखदुःखमयी घटना देखने पर भी सुख दुःख नहीं होते, इसी प्रकार इन विषयों को भी सुख दुःख कुछ नहीं होते। 'बुद्धि' ही इस नाटक की 'नर्तकी' है। क्योंकि नर्तकी की तरह नाना तरह के विकार इसी में तो होते हैं। ताल आदि को धारण करने वाली 'इन्द्रियां' हैं। क्योंकि ये इन्द्रियां बुद्धि के विकारों के अनुकूल व्यापार किया करती हैं। यह 'साक्षी' ही, इन सब का 'प्रकाशक दीपक' माना गया है। क्योंकि इसी से इन सब का प्रकाश होता है। दीपक जैसे एक ही जगह रक्खा हुआ अपने चारों ओर प्रकाश पहुंचा देता है इसी प्रकार यह साक्षी भी अपने स्वरूप में स्थित रहकर ही बाहर और अन्दर प्रकाशित कर देता है। अन्दर और बाहर का यह विभाग भी देह की दृष्टि से ही है। साक्षी की दृष्टि में तो ऐसा कोई भी विभाग नहीं है। वैसे तो बुद्धि अन्दर बैठी रहती है, परन्तु वह इन्द्रियों की टोली के साथ बाहर निकल पड़ती हैं। अब समझ गये होंगे कि चंचलता इस बुद्धि की ही है। परन्तु फिर भी इस चंचलता का आरोप साक्षी तत्व में व्यर्थ ही कर लिया जाता है। झरोखे में से जो प्रकाश घर में आ रहा है, उसमें यदि हाथ को नचावें तो जैसे वह धूप ही नाचती सी दीखती है, इसी प्रकार साक्षी तो अपनी जगह पर ही डटा बैठा

है वह अन्दर बाहर आता जाता नहीं है, परन्तु बुद्धि की चंचलता के कारण आता जाता सा माद्धम होने लगा है । यह साक्षी अन्दर या बाहर का कभी नहीं होता ।- ये तो दोनों बुद्धि के ही देश हैं । कल्पना करो कि तुम्हारी बुद्धि और इन्द्रियां मर चुकी हैं— उनकी प्रतीति बन्द हो गयी है—अब बताओ कि वह प्रकाश कहां जगमगा रहा है ? बुद्धि आदि की प्रतीति के बन्द हो जाने पर भी यह प्रकाश जहां जगमगा रहा है, वही साक्षी का अपना स्थान है । यदि कहो कि ऐसी अवस्था आने पर तो कोई भी देश भासता नहीं है तो हम कहेंगे कि तुम उस साक्षी को बेदेश का ही तत्व समझ लो । शास्त्र में कहीं कहीं जो उस साक्षी को 'सर्वगत' या 'सर्वसाक्षी' कह दिया है वह भी सब देश की कल्पना के आधार पर ही कहा है । स्वाभाव से तो वह अद्वितीय और असंग ही है । यह शैतान बुद्धि अन्दर या बाहर के जिस किसी देशादि को घड़ कर खड़ा कर देती है उस देश का यह तत्व उसका साक्षी कहाने लगता है । यह शैतान बुद्धि जिन रूपादि की कल्पना कर लेती है, उन उन को प्रकाशित करते ही यह उनका साक्षी हो जाता है । परन्तु इस साक्षी का अपना निराला स्वभाव पूछो तो यह स्वयं तो वाणी और बुद्धि का गोचर ही नहीं हो पाता है । स्वतंत्र रूप से विचार करने बैठें तो उसे साक्षी भी क्यों कर कह दें ? ऐसे साक्षी के विषय में एक बड़ी उलझन यह है कि—फिर ऐसे अगोचर तत्व को हम मुमुक्षु लोग कैसे समझें ? इसका समाधान यह है कि आप लोग ग्रहण करना ही छोड़ दो । सारा झगड़ा तो ग्रहण करने का ही है । यह जब तक ग्रहण करते रहोगे तब तक आत्मतत्व दीखने वाला नहीं है । ग्रहण करना छोड़ते ही उस तत्व के दर्शन मिल जाते हैं । किसी को ग्रहण न

करना ही, उस तत्व को ग्रहण करना कहाता है। जब यह सर्वग्रह—जिसे तुम अनादि काल से करते आ रहे हो—रुक जायगा उस समय जो अनुपम सत्य तत्व शेष रह जायगा, वही तो यह है। उस तत्व को जानने के लिये आपको किसी भी प्रमाण से सहायता लेनी नहीं पड़ेगी। क्योंकि वह तत्व तो स्वयं प्रकाश है। वैसी स्वयंप्रकाश वस्तु को समझना हो तो किसी अनुभवी के मुख से श्रुति का पठन करो। अनुवादों के पढ़ने से वह बात मिलने वाली नहीं है। जो जिस मार्ग की यात्रा कर लेता है उसके मर्म का वही सच्चा जानकार होता है वही दूसरे को भी सच्चा मार्ग दिखा सकता है। मुरदा पुस्तकों को पढ़ लेने से बात का मर्म हाथ नहीं लगता। इस कारण अनुभवी गुरु की आवश्यकता होती ही है।

यदि तो मन्दाधिकारी लोग उपर्युक्त सर्वग्रह का त्याग न कर सकें तो वे बुद्धि की शरण में पहुँच जांय। बुड्ढे लोग जैसे लकड़ी के सहारे से चलते हैं इसी प्रकार वे लोग बुद्धि के सहारे से इसी साक्षी तत्व को पहचानें, कि यह बुद्धि जिस किसी बाह्य या आन्तर पदार्थ की कल्पना करती है उस उस पदार्थ का साक्षी होकर यह परात्मा बुद्धि के अधीन होता है। यों बुद्धि का हाथ पकड़ कर इस गहन तत्व को वे लोग भी टटोल लें।

[११]

ब्रह्मानन्दान्तर्गत योगानन्द का संक्षेप

इस प्रकरण में उस ब्रह्मानन्द का वर्णन किया गया है जिसे पहचानते ही इस लोक और परलोक के त्रिविध ताप कूच कर जाते हैं और पहचानने वाला सुखरूप ब्रह्मतत्व ही हो जाता है। इस ब्रह्मज्ञान की श्रुतियों ने बड़ी प्रशंसा की है। वे कहती हैं कि—"ब्रह्मदर्शी पुरुष पर को पा लेता है। आत्मज्ञानी शोक मोह की हालत से ऊपर उठ जाता है। रस अथवा सार तो ब्रह्म ही है। इस रस को पाकर ही आनन्दी हो सकता है और तरह से नहीं। जब अपने रूप में प्रतिष्ठा (ठहरना) मिल जाती है तभी पुरुष अभय हो सकता है। जब तो अपने में भेद देखने लगता है तब उसे डरना ही पड़ता है। यह समझ लेने वाला पुरुष कि 'आनंद तो जहां भी है वहां ब्रह्मतत्व का ही है,' किसी भी बात और किसी भी घटना से नहीं डरता। कर्मरूपी अग्नि की चिन्ता बस एक इस ज्ञानी को ही छोड़ती है। शेष तो सब प्राणी इस कर्तव्याग्नि की ज्वालाओं से झुलसे पड़े हैं और इसी के झूठे इलाज करने में व्यग्र हो रहे हैं। ऐसा जान चुकने वाला पुरुष पाप पुण्यों को छोड़कर सदा आत्मा को याद रखने लगता है और किये हुए कर्मों को भी तो आत्मरूप ही जान लेता है। उस परावर को देख चुकने पर इसकी 'हृदयग्रन्थि' खुल जाती हैं। इसके सब सन्देह मिट जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। उसी को जान चुकने वाला पुरुष जन्म मरणरूपी चक्कर से छूट सकता है। इस चक्र

से छुटकारे का दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है। देव को जानकर ही फांसा खुल जाता है। क्लेशों के नष्ट हो जाने पर फिर जन्म लेना नहीं पड़ता। जो धीर पुरुष देव को जान लेता है वह इसी जन्म और इसी लोक में हर्ष शोक से छूट जाता है। किये या बेकिये पुण्य पाप फिर इसे कभी भी दुःखी नहीं करते।" उपर्युक्त श्रुत्यर्थों में ब्रह्मज्ञान से अनर्थ की हानि और आनन्द की प्राप्ति दोनों ही बातों की घोषणा की गयी है।

आनन्द के मुख्य तीन भेद हैं एक 'ब्रह्मानन्द' दूसरा 'विद्यानन्द' तीसरा 'विषयानन्द'। सबसे पहले ब्रह्मानन्द का विवेचन करेंगे—

भृगु के पिता वरुण ने उसको ब्रह्म का लक्षण बताया कि 'जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके सहारे से जीते हैं तथा मरते समय जिसमें लीन हो जाते हैं वह, ब्रह्म है।' इस लक्षण को जब उसने अन्न, प्राण, मन और बुद्धि में घटाकर देखा तब उसे यह निश्चय हो गया कि ये ब्रह्मतत्व नहीं है। अन्त में जाकर इसी लक्षण के सहारे से उसे आनन्द के ही ब्रह्म होने का निश्चय हुआ। क्योंकि आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न होते हैं उसी से जीते हैं और उसी में ही लीन हो जाते हैं। इस कारण आनन्द ही ब्रह्मतत्व है। इसमें फिर उसे संशय नहीं रहा।

भूतों के उत्पन्न होने से पहले [त्रिविध द्वैत के न होने से] भूमा परमात्मा ही था। क्योंकि प्रलय काल में ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिविध द्वैत होता ही नहीं। उस परमात्मा में से जब विज्ञानमय उत्पन्न हुआ तब वह 'ज्ञाता' हो गया। जब मनोमय उत्पन्न हुआ तब 'ज्ञान' होने लगा। जब शब्दादि विषय उत्पन्न हुए तब वे 'ज्ञेय' हो गये। ये तीनों ही उत्पत्ति से पहले नहीं थे। आप उस अवस्था

का ध्यान कीजिये—जबकि ये उपर्युक्त तीनों ही नहीं थे, यदि आप उस अवस्था में जाने का साहस कर सकते हों तो सुनिये— उस अवस्था में एक द्वैतरहित पूर्ण पदार्थ अनुभव में आता ही है। द्वैतरहित पूर्ण पद को देखना हो तो यहां लोक में वर्तमान काल में भी देख लो कि समाधि के समय निर्द्वैत पूर्ण आत्मा का अनुभव विद्वान् को होता ही है। सुषुप्ति और मूर्छा में उस निर्द्वैत पूर्ण तत्व का अनुभव सर्वसाधरण को भी हुआ ही करता है। सुषुप्ति आदि के समय इस पूर्ण पद के टुकड़े कर डालने वाली वस्तु नहीं रह जाती और यों उस समय आत्मा में आत्मा की पूर्णता आ ही जाती है। इसी प्रकार सृष्टि बनने से पहले भी,भेदक उपाधि के न रहने के कारण,वह परात्मा उस समय पूर्ण का पूर्ण ही रहता है।

पुराण सहित पांचों वेदों और सकल शास्त्रों को जानकर भी केवल अनात्मज्ञ होने के कारण नारद बड़ा ही शोकी हो गया था। उसने गुरु के सामने जाकर अपने हृदय की दुर्बलता को यों दिखाया था कि भगवन्! विद्या पढ़ने से पहले तो मुझे सर्व-साधारण की तरह, तीन तरह के ताप ही तपाया करते थे, अब तो मेरे ऊपर यह बोझ और पड़ गया है कि कहीं यह विद्या भूल न जाय, दूसरे विद्वान् से पराजय का खटका भी लगा रहता है। अपने से थोड़े पढ़े लिखे को देखकर गर्व भी होने लगा है, इस कारण बार बार इसका अभ्यास करना पड़ता है। यों विद्वान् होने से तो मेरा बोझ और भी बढ़ गया है। होना जो चाहिये था उस से सर्वथा विपरीत हो गया है। विद्वान् होने से तो मुझे शान्ति की आशा लगी हुई थी। आज वह पूरी नहीं हो रही है सो कृपा करके आप मुझे वहां पहुँचा दीजिये जहां जाकर शोक नहीं रहता। इसके उत्तर में सनत्कुमार ऋषि ने उत्तर दिया कि—सुख

ही ऐसा तत्व है जिसे जानकर शोक का पार पाया जा सकता है, सो आप सुख को ही जान लें। सुख के विषय में भी यह बात विशेष रूप से जाननी पड़ेगी कि—यह जो वैषयिक सुख है इसे तो हम सुख ही नहीं मानते हैं। क्योंकि इस पर तो हजारों शोक-रूपी श्वापदों की वक्र दृष्टि पड़ी ही हुई है। वे तो सदा ही इस वैषयिक सुख को नोचते रहते हैं। इसे तो सुख न कहकर दुःख ही कहें तो भला है। यह तो ठीक है कि अद्वैत में भी सुख नहीं है परन्तु आपको यह मालूम हो जाना चाहिये कि सुख तो स्वयं अद्वैत ही है। स्वयंप्रकाश होने के कारण उसके लिये प्रमाण की दरकार भी नहीं है। सुषुप्ति के समय इन्द्रियां नहीं होती हैं, जिनसे उसे जान सकें, फिर भी सुषुप्ति को सब मानते ही हैं। जानते हो ऐसी विचित्र बात क्यों है? बिना प्रमाण की वस्तु को क्यों माना जाता है? सुनो इसका कारण सुषुप्ति की स्वयंप्रकाशता ही तो है। उस सुषुप्ति के समय कुछ भी दुःख नहीं होता। उस समय केवल सुख नाम की वस्तु ही शेष रह जाती है। उस समय कोई भी विरोधी दुःख नहीं रहता, इस कारण उस समय सुख मानने में कोई विघ्न नहीं है। जागते समय के अनेक व्यापारों से थक-कर जब दुःखदायी प्रसंग टल जाता है तब वह प्राणी स्वस्थचित्त होता है। उस समय ही उसे मृदुशय्या आदि से मिलने वाले सुख का अनुभव होता है। विषयोपार्जन करता करता तंग हो कर जब उस दुःख को हटाने के लिये कोमल शय्या पर लेट जाता है तब उसकी बुद्धि अन्तर्मुख हो जाती है। अन्तर्मुख हुई उस बुद्धिवृत्ति में सामने रक्खे हुए दर्पण की तरह स्वरूपभूत जो आत्मानन्द है, वह प्रतिबिम्बित हो जाता है। बस इसी को तो 'विषयानन्द' कहते हैं। यह विषयानन्द त्रिपुटी के ही अधीन

(मातहत) होता है, इस कारण इससे भी जीव को यत्किंचित् श्रम तो होता ही है। इस श्रम को हटाने के लिये यह जीव प्रतिदिन सोना चाहा करता है या यों कहो कि परमात्मा की ओर दौड़ लगाया करता है। वहां पहुँच कर जो अद्भुत प्रसंग होता है उसे तो याद करते ही साधकों को बड़ी प्रसन्नता होती है। क्योंकि उस समय सोने वाला प्राणी स्वयं ही वहां का ब्रह्मानन्द हो गया होता है। जैसे धागे में बंधा हुआ पक्षी चारों तरफ उड़ उड़ कर थक कर अपने बन्धनस्थान पर लौटा हो, इसी प्रकार यह जीव धर्माधर्म के फलों को भोगने के लिये सुपने या जागरण में टक्करें मार मार कर भोगदायी कर्मों के क्षीण होते ही, लीन हो जाता है। जैसे कोई श्येन [पक्षी] उड़ते उड़ते थककर अपने घोंसले पर को टूट पड़ा हो उसी प्रकार ब्रह्मानन्द का लम्पट यह जीव सुषुप्ति की ओर को दौड़ा करता है। मनुष्यों में भी जैसे नन्हा बच्चा जब दूध पीकर खाट पर लेटा होता है उस समय वह आनन्द की मूर्ति दिखाई देता है। क्योंकि उसे उस समय रागद्वेष नहीं होता। जो चक्रवर्ती राजा सब भोगों से तृप्त होकर बैठा है, जिसे मनुष्यों को मिलने वाला बड़े से बड़ा सुख प्राप्त रहता है, वह भी आनन्दमूर्ति हुआ रहता है। जो ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण है वह जब कृतकृत्य होकर बैठता है—विद्यानन्द की अन्तिम गति जब उसे मिल जाती है तब वह भी सुखमूर्ति बन जाता है। मुग्ध, बुद्ध और अतिबुद्ध ये ही तो तीन लोक में सुखी माने जाते हैं। जिनको लेशमात्र भी विवेक नहीं है, उनमें बालक सबसे सुखी माना जाता है। जिन्हें कुछ विवेक है उनमें, सार्वभौम राजा सब से सुखी गिना जाता है। जो अतिविवेकी हैं उनमें आत्मदर्शी को सर्वाधिक सुखी समझते हैं। इन तीनों को छोड़कर और तो

सभी प्राणी दिन रात दुःखी बने रहते हैं—वे सुखी कभी नहीं होते। इस कारण इन तीन का ही दृष्टान्त हमने दिया है। अब प्रकृत बात तो यही हुई कि—यह सोता हुआ प्राणी भी इन ही तीनों की तरह ब्रह्मानन्द में तत्पर रहता है उसे स्त्री से आलिंगित कामी की तरह अन्दर बाहर का कुछ भी ज्ञान नहीं रह जाता। उस अवस्था के विषय में श्रुति ने कहा है कि—उस समय पिता पिता नहीं रहता। अर्थात् जीव का जीवभाव ही उतने समय के लिये खोया जाता है। उस समय तो जीव ब्रह्मतत्व ही हो गया होता है। क्योंकि संसारिपन का तो कोई चिह्न ही उस समय नहीं रह जाता। जानते हो सुख दुःख देने वाली वस्तु क्या है? सुनो! पितापन आदि का अभिमान ही सुख दुःख का कारण हुआ करता है। सुषुप्ति जब आती है तब यही अभिमान नहीं रह जाता और यह प्राणी उस समय सब शोकसरिताओं के पार पहुँच गया होता है। जब कोई पुरुष सोकर उठता है तब कहता है कि मैं सुखपूर्वक सोया और मैंने कुछ भी नहीं जाना। अर्थात् वह उस समय सुख और अज्ञान दोनों को जान रहा था। चित्स्वरूप होने के कारण सोते समय सुख तो स्वयं ही प्रतीत हो जाता है। उसी स्वयंप्रकाश सुख पर जो अज्ञान का पर्दा पड़ा है, उस की प्रतीति भी उस सुख के सहारे से ही हो जाती है। वाजसनेयी शाखा वालों ने सुख विज्ञान और आनन्द इन तीनों को एक ही बात कहा है। उससे यह समझने में और भी सुभीता हो जाता है कि स्वयंप्रकाश जो भी कोई सुख है वह ब्रह्मतत्व ही है। सुषुप्ति के समय सुख के ऊपर जो अज्ञान का ढकना पड़ा था उसी अज्ञान में बुद्धि और मन लीन हो जाया करते हैं। विज्ञानमय और मनोमय का विलीन हो जाना ही 'निद्रा' कहाती है। इसी को कोई-कोई

'अज्ञान' भी कह देते हैं। पिघला हुआ घी जैसे ठण्डक लगने से गाढ़ा हो जाता है, इसी प्रकार भोगदायी कर्मों के सम्पर्क से यही अज्ञान गाढ़ा हो कर 'विज्ञानमय' हो जाता है। विलीन अवस्था के उसी अज्ञान को 'आनन्दमय' कह देते हैं। सुषुप्ति से पहले क्षण में जो अन्तर्मुख बुद्धिवृत्ति होती है, उस बुद्धिवृत्ति में जब सुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसके बाद उस प्रतिबिम्ब को अपने मुँह में पकड़े ही पकड़े वह वृत्ति निद्रा रूप से लीन हो जाती है तब यही 'आनन्दमय' कहाने लगती है। वह जो अन्तर्मुख आनन्दमय है वह, चिदाभास से मिली हुई तथा अज्ञान से पैदा हुई अति सूक्ष्म वृत्तियों के द्वारा ब्रह्मसुख को भोगा करता है। जागरण में जब हम सुख भोगते हैं तब तो हमें यह याद भी रहता है कि हम सुख भोग रहे हैं परन्तु उस [निद्रा के] समय ऐसा विचार न होने का कारण भी सुनलो—वे अज्ञानवृत्तियाँ बहुत ही सूक्ष्म होती हैं, वे बुद्धिवृत्तियों की तरह स्पष्ट नहीं होतीं इसी से सुषुप्ति में सुखभोग का स्पष्ट परिज्ञान नहीं होता। वेदान्त का गम्भीर मनन करने वालों ने यह बात बतलायी है। माण्डूक्य और तापनीय आदि उपनिषदों में तो बड़ी ही स्पष्ट भाषा में 'आनन्दमय' को भोगने वाला और 'ब्रह्मानन्द' को भोग्य कहा है। जो आत्मा जागते समय मन, बुद्धि आदि अनेक रूप हो रहा था वही अब सुषुप्ति के समय चावलों की पिट्ठी की तरह फिर एकता को प्राप्त हो गया होता है। पहले जो बहुत सी बुद्धिवृत्तियां थी अब सुषुप्ति के समय उनका एक घनपिण्ड हो गया है—मानों पानी का जम कर बरफ़ बन गया हो। जिस प्रज्ञानघनता का वर्णन हमने ऊपर किया है, इसी को बहुत से लोग दुःखाभाव कह बैठते हैं। क्योंकि उस समय सम्पूर्ण दुःखवृत्तियों का विलोप हो जाता है।

उनकी यह एकदेशीय दृष्टि ही उनके भ्रम का कारण बन जाती है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि अज्ञान में त्रिम्बित चैतन्य से ही आनन्द का भोग तब हुआ करता है। अज्ञान के पर्दे के कारण भोग्य के स्वरूप का पता हमें चलता ही नहीं। यदि उस का पता चल जाता तो प्राणी को विषयों में भटकना ही न पड़ता। इसी कारण भोग में आते हुए भी उस ब्रह्मसुख की अवहेलना करके कर्मों के प्रताप से इस जीव को फिर फिर बाहर निकलना ही पड़ता है किंवा यों कहो कि—जागना पड़ ही जाता है। जब यह जीव सो कर उठता है तब कुछ काल तक उस भोगे हुए ब्रह्मानन्द की वासना तो बनी ही रहती है। जभी तो वह बिना किसी सुखदायी विषय के ही सुखी हो कर चुप चाप बैठा रहता है। जिन कर्मों ने सुषुप्ति में से इसे जगा लिया था वे ही कर्म फिर इस से संसार के नाना दुःखों की भावना कराने लगते हैं। फिर यह अभागा प्राणी धीरे धीरे हाय! हाय! उस जगज्जी-वन ब्रह्मानन्द को सर्वथा भूल ही जाता है। निद्रा के पीछे और निद्रा के पहले सभी मनुष्यों को इस ब्रह्मानन्द में बड़ा स्नेह होता है। हां इतना तो अवश्य है वे इस आनन्द का यह नाम नहीं जानते हैं। इतना समझ चुकने पर हम समझते हैं कि कोई भी समझदार इस आनन्द के विषय में विवाद तो नहीं करेगा। जो ब्रह्मानन्द बड़े परिश्रम से मिला करता है, वही ब्रह्मानन्द आल-सियों और सर्वसाधारण को मिला ही हुआ है, फिर आप गुरु और शास्त्र की पख क्यों लगाते हो? ऐसा यदि कोई पूछे तो हम कहेंगे कि हां यदि सचमुच ही वे लोग यह पहचान जांय कि यह ब्रह्मानन्द ही है तो वे अवश्य ही कृतार्थ हो जांय। परन्तु गुरु और शास्त्र के बिना तो यह गम्भीर तत्व किसी की समझ में

आता ही नहीं। जब तक कोई इस ब्रह्ममार्ग का भेदिया साथ न हो तब तक ब्रह्मदुर्ग पर अधिकार पाना सरल काम नहीं है।

प्रकृत बात तो यही हुई कि जहां जहां विषय न हों और सुख होता हो वहां वहां इस ब्रह्मानन्द की 'वासना' को समझ लो। विषयों के मिलने पर भी, जब कि उनकी इच्छा नहीं रह जाती और मनोवृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है, तब उसमें आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। बस इसी को 'विषयानन्द' जान लो। 'ब्रह्मानन्द' 'वासनानन्द' और 'प्रतिबिम्ब' [विषयानन्द] इन तीन के सिवाय तो इस जगत् में चौथा आनन्द है ही नहीं। इन तीनों आनन्दों में भी यह बात ध्यान रखने योग्य है कि यह स्वयंप्रकाश 'ब्रह्मानन्द' ही 'वासनानन्द' और 'विषयानन्दों' को यदा तदा उत्पन्न कर देता है।

यहां तक श्रुति, युक्ति और अनुभव के सहारे से यह सिद्ध किया गया है कि सुषुप्ति काल में यह स्वयंप्रकाश और चेतन ब्रह्मानन्द रहता है। अब जागरण काल में उस ब्रह्मानन्द को कैसे जानें? सो भी सुन लीजिए—सुषुप्ति के समय जिस 'आनन्दमय' को हमने ऊपर बताया है, वही जब 'विज्ञानमय' हो जाता है तब स्थानभेद के कारण कभी जागरण और कभी स्वप्न में पहुँच जाता है। नेत्र में 'जागरण' होता है, कण्ठ में 'स्वप्न' होता है और हृदय कमल में 'सुषुप्ति' होती है। यह चेतन जब जागता है तब पैरों से मस्तकपर्यन्त देह को व्याप्त कर लेता है। तपे हुए लोहपिण्ड के साथ जैसे अग्नि हिल मिल कर एक होजाती है, इसी प्रकार इस देह के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ यह चेतन, निश्चित रूप से यह मान बैठता है कि 'मैं तो मनुष्य हूँ'। यह मनुष्य क्रम से 'उदासीन' 'सुखी' और 'दुःखी' इन तीन अव-

स्थाओं में रहने लगता है। इन तीनों अवस्थाओं में से सुख दुःख की दो अवस्थायें कर्म से उत्पन्न हुआ करती हैं। परन्तु उदासीनता तो किसी भी कर्म से उत्पन्न नहीं होती [वह तो स्वाभाविक ही होती है]। बाह्य पदार्थों के भोग से या फिर मनोराज्य से भिन्न भिन्न प्रकार के सुख दुःख होते हैं। परन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है कि उस समय न तो सुख ही होता है और न दुःख ही। उस समय निजानन्द की धुंधली प्रतीति सब ही को होती है। उस समय प्रायः सभी यह कहा करते हैं कि आज मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है। आज तो मैं सुखपूर्वक बैठा हूँ। 'मैं सुखपूर्वक हूँ' इस प्रकार सूक्ष्म अहंकार से ढका रहने के कारण ही इस आनन्द को हम मुख्यानन्द नहीं कह सकते। इसे तो मुख्य आनन्द की वासना समझना चाहिए, जो कि अहंकार के छनने में को छन कर हमें अस्पष्ट दीख रही है—जो अपनी ओर को हमारा विशेष ध्यान नहीं खींच सकी है। जिस घड़े के अन्दर जल भर रहा हो उस के बाहर ज़ो शीतलता आजाती है वह शीतलता जल नहीं होती, किन्तु वह तो जल का गुण होता है। उस शीतलता को देखकर जल का तो अनुमान ही हो जाता है। इसी प्रकार यह उदासीनता का सुख ही 'ब्रह्मानन्द' नहीं है। यह तो 'ब्रह्मानन्द' की वासना है। इस वासना से तो 'ब्रह्मानन्द' का अनुमान होता है। निरोध समाधिका अभ्यास करने से जितना इस अहंकार का विस्मरण होता जायगा, योगी की दृष्टि उतनी ही सूक्ष्म होने लगेगी और उसी परिमाण से योगी को निजानन्द का अनुभव भी होने लग पड़ेगा। जब अहंकार का विस्मरण पूर्ण रूप से हो जाता है, तब यह परमसूक्ष्म होकर रहता है—लीन नहीं होता—इस कारण इस अवस्था को निद्रा नहीं कह सकते। यही कारण

है कि साधक का देह गिर नहीं जाता। गीता के छठे अध्याय में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है कि—जिस समय द्वैत का भान बन्द हो जाय और नींद भी न आये, उस समय जो सुख किसी को प्रतीत होता हो बस वही ब्रह्मानन्द कहाता है। साधक को चाहिए कि धीर बुद्धि के सहारे से धीरे धीरे मन की उपरति की साधना किया करे और जब मन को आत्मसंस्थ कर चुके—जब मन को यह निश्चय कराया जा चुके कि यह सब कुछ आत्मा ही है, उससे भिन्न यह कुछ भी नहीं है—ऐसी अवस्था जब आजाय फिर सब कुछ सोचना बन्द कर दे। यही योग की अन्तिम स्थिति है। ऐसी उच्च स्थिति पाने की विधि यह है कि—जो मन स्वभाव-दोष से चंचल है अस्थिर है, जो किसी एक विषय के साथ बंध कर कभी नहीं ठहरता, ऐसा मन जिस कारण से बाहर निकला हो, उसकी ओर से उसे रोक कर, उस के दोष उसे दिखा कर, उसे वैराग्य का उपदेश दे दे कर, वहां से हटा ले और आत्मा के बस में करता जाय। इस प्रकार योगाभ्यासी पुरुष का मन अभ्यास के प्रताप से आत्मा में ही शान्त हो जाता है। जब इस योगी का मन शान्त हो जाता है, जब इसका रजोगुण नष्ट हो जाता है, जब वह निष्पाप हो जाता है, तब उसे ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाती है, तभी उसे उत्तम सुख मिलता है।

जिस समय चित्त योगसेवा करते करते रुक कर आराम पा लेता है, जब अपने आप से अपने आप को देख कर मग्न होने लगता है, जिस समय आत्मा में स्थित हुआ योगी अनन्त तथा बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय और अपूर्व सुख का अनुभव किया करता है, जब वह योगी आत्मतत्व को कभी नहीं भूलता, जिस आत्मा को पाकर दूसरे लाभ तुच्छ दीखने लगते हैं, जहां पहुँच कर योगी दुःखों के पर्वत

गिर पड़ने पर भी प्रह्लाद की तरह विचलित नहीं होता है, बस दुःखों के संयोग को छुड़ा देने वाली इस पुण्य अवस्था को ही 'योग' कहते हैं। ऐसे योग को निर्वेदरहित मन से बड़ी लगन से करना चाहिए। जब कोई योगी इस रीति से सदा आत्मा को योग में लगाए रहेगा, तब उसके योगविघ्न भाग जायंगे। फिर तो बिना ही परिश्रम के उसे ब्रह्मसुख मिल जायगा। समुद्रजल को अपनी चोंच से सींच कर समुद्र सुखाने के लिए जितना धीरज टिट्टिभी ने धारण किया था, उतना धीरज कोई योग के लिए धारण करे तो उसके मन का निग्रह हो सकता है।

मैत्रायणी शाखा में योग की विधियां लिखी हैं कि जैसे बेईंधन की आग अपने कारण में शान्त हो जाती है, इसी प्रकार जब वृत्तियें नहीं रह जातीं तब यह चित्त अपने कारण में शान्त हो जाता है। जो मन अपने कारण में शान्त हो चुका है, जो मन अब इन्द्रियार्थों की ओर को देखता भी नहीं है, ऐसे मन की दृष्टि में कर्मवश से मिलने वाले सुखादि पदार्थ मिथ्या समझ लिए जाते हैं। यह एक अनादिसिद्ध रहस्य है कि चित्त ही संसार है इस कारण उस चित्त को शोध कर रखना चाहिए। जिसका चित्त जिसमें पड़ा रहता है वह प्राणी तन्मय हुआ रहता है। चित्त में जब प्रसाद आजाता है तब शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। प्रसन्नचित्त वाला पुरुष जब आत्मा में स्थित होता है तब उसे अक्षय्य सुख मिल जाता है। इस मायामोहित प्राणी का चित्त जैसे विषयों में आसक्त हो रहा है वैसे यदि ब्रह्मतत्त्व की ओर को झुक जाय तो फिर कौन है जो बन्धन से छुटकारा न पा जाय?

मन दो प्रकार का होता है एक शुद्ध दूसरा अशुद्ध। कामना के मेल से मन में अशुद्धता आ जाती है। जब वही मन कामना

से हीन हो जाता है तब उसे 'शुद्ध मन' कहते हैं। मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण यह मन ही है। विषयों में आसक्त मन मनुष्य को बँधवा देता है। निर्विषय बने हुए मन से मनुष्य को मुक्ति मिल जाती है। जिस चित्त को आत्मा में लगा दिया जाता है, जिस चित्त के रजस्तमोमल समाधिरूपी जल से धो दिये जाते हैं, उस चित्त को समाधि में जो आनन्द आता है, उसका वर्णन वाणी से किया ही नहीं जा सकता। क्योंकि वह तो एक अलौकिक ही सुख है। वाणी आदि लौकिक साधन उसे कैसे दिखा सकेंगे? उसे तो मौन की अमानवी भाषा में ही समझना होगा। वह स्वरूपभूत सुख तो अन्तःकरण से ही ग्रहण किया जा सकता है। यद्यपि हरएक साधक मन को चिरकाल तक आत्मा में स्थिर नहीं कर सकता, फिर भी यदि किसी को क्षणभर की समाधि भी होने लगे तो उसे अगाध ब्रह्मानन्द समुद्र का निश्चय तो हो ही जाता है। जो श्रद्धालु हैं, जिन्हें इसकी चाट लग जाती है, उन्हें तो इसका निश्चय होकर ही रहता है। एक बार जब उन्हें निश्चय हो जाता है तब फिर वे सदा ही उस पर विश्वास किये रहते हैं। जिनको एक बार भी इस तत्व का निश्चय हो जाता है वे लोग उदासीनता के समय आने वाली आनन्द की वासना को 'दूर हट' कह देते हैं और तब भी इस मुख्य ब्रह्मानन्द की भावना को बड़ी तत्परता से किया करते हैं। परपुरुष के व्यसन वाली नारी की तरह बाह्य व्यापार करता हुआ भी धीर पुरुष, जब एक बार भी इस तत्व में विश्राम पा लेता है, तब सदा इसी आनन्द को चखता रहता है। 'धीर' हम उसी को कहते हैं कि जब इन्द्रियां विषयों की ओर को जाने को जोर जबरदस्ती करने लगें तब भी जो आत्मानन्द के आस्वाद की इच्छा

से उन सब को डाट बता कर उसी की चिन्ता में लगा रहे। बोझा उठाने वाला पुरुष जब सिर के बोझ को उतार कर फेंक देता है, उस समय उसे जैसा विश्राम मिलता है, संसार की खट-पट के छूट जाने से जब वैसी बुद्धि किसी की हो जाय, तब उसे ही हम 'विश्राम पाना' कहते हैं। इस तत्व में विश्राम पा लेने वाले पुरुष की ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह उदासीनकाल में जैसे आनन्दतत्पर रहता है, ठीक उसी तरह सुख दुःख के कारणों या सुख दुःखों के प्राप्त होने पर भी उसी लगन से आत्मानन्द का स्वाद लेता रहता है। वह शरीर को सुख दुःख भोगने देता है और मन से ब्रह्मानन्द को चखता रहता है। संसार के जो कोई विषय ब्रह्मानन्द का अनुसन्धान नहीं करने देते, उनकी ओर से तो वह इतना लापरवाह हो जाता है जैसे कोई सती होने वाली स्त्री शृङ्गार की ओर से लापरवाह हो गई हो। धीर पुरुष की बुद्धि तो कव्वे की आंख की तरह कभी आत्मानन्द को भोगती और कभी आत्मानन्द का विरोध न करने वाले संसारी सुखों का अनुभव किया करती है। कव्वे की एक ही पुतली होती है, वही कभी दाहिनी आंख में और कभी बांयी आंख में आया जाया करती है, इसी प्रकार तत्वज्ञानी की मति दोनों आनन्दों में चक्कर लगाती रहती है। 'विषयानन्द' और 'ब्रह्मानन्द' दोनों आनन्दों को भोगने वाला तत्वज्ञानी तो दुभाषिये की तरह का होता है। दुभाषिया जैसे दोनों की बात समझ लेता है ऐसे ही तत्वज्ञानी 'लौकिक' और 'वैदिक' दोनों आनन्दों को लूटा करता है। जो पुरुष आधा गंगाजल में डूब रहा हो और आधा धूप में खड़ा हो वह जैसे सर्दी गर्मी दोनों को एक साथ अनुभव किया करता है इसी प्रकार दुखों से उसे उद्वेग नहीं होता क्योंकि उसी

समय उसे वह महानन्द भी तो मिल ही रहा है। वह तो अब दो दृष्टि वाला हो गया है। विपत्ति के पहाड़ टूटने पर भी वह वैदिक ब्रह्मानन्द को याद करके उद्विग्न नहीं हो पाता है।

इस प्रकार जागरण काल में चाहे तो दुःखानुभव हो रहा हो चाहे सुखानुभव होता हो, और चाहे वह उदासीन होकर चुप-चाप बैठा हो, तत्वज्ञानी को सदा ही ब्रह्मानन्द दीखा करता है। इतना ही नहीं, इस जागरण की वासना से जो सुपने बनते हैं उनमें भी उसको ब्रह्मसुख भासने लग पड़ता है। सुपने आनन्द-वासना से भी आते हैं और अविद्यावासना से भी आते हैं। जब इस ज्ञानी को अविद्यावासना के स्वप्न आयेंगे तब इसे भी अज्ञा-नियों की तरह सुख दुःख देखना पड़ेगा ही।

सुषुप्ति अवस्था में, उदासीन काल में, समाधि भावना के समय तथा सुख दुःख भोगते हुए भी स्वयंप्रकाश ब्रह्मानन्द को प्रकाशित करने वाला योगी का प्रत्यक्ष कैसा होता है वह इस प्रकरण में बताया गया।

[१२]

ब्रह्मानन्दान्तर्गत आत्मानन्द का संक्षेप

योगी लोग तो योग के द्वारा निजानन्द को पा ही लेंगे, पर जिनकी योग में गति नहीं है वे इस आत्मानन्द को कैसे जानें ? इसी प्रश्न का उत्तर यह है कि हम चाहे जितनी उदारता दिखायें सर्वसाधारण तो इस गहन बात को समझ ही नहीं सकेंगे। इस मार्ग द्वारा उनका तिल भर भी उपकार नहीं हो सकेगा। वे जिस प्रवृत्ति मार्ग में लगे हैं उनके लिए वही ठीक है। प्रवृत्ति मार्ग की दुःखपरम्परा से ही तो आत्मजिज्ञासा जागा करती है। संसारनदी के प्रवाह को रोक कर खड़ी हो जाने वाली बाधायें जब तक किसी के सामने आकर खड़ी नहीं हो जातीं तब तक किसी के भी हटाने से प्रवृत्ति मार्ग छोड़ा नहीं जाता। यह तो अपने अनुभव से ही शिक्षा मिलने पर छूटता है और तब निवृत्ति आकर ज्ञान की उत्पत्ति कर देती है। प्रवृत्ति से जिज्ञासा होती है और निवृत्ति से ज्ञान हो जाता है। यों आप उन प्रवृत्तिमार्गियों को व्यर्थ फँसा हुआ मत समझो। इस संसार नाम की पाठशाला में सभी अपनी अपनी शक्ति के अनुसार शिक्षण ले रहे हैं। इसमें जल्दी का प्रश्न थोड़ा सा भी नहीं है। उन्हें तो उनके अधिकार के अनुसार कर्म या उपासना में ही लगा देना श्रेयस्कर होगा। हर किसी को आत्मानन्द की बात बताना ठीक नहीं है। आवश्यकता से पहले दी हुई चीज़ से लाभ के स्थान में हानि होती है। हां,

जो तो मन्दप्रज्ञ जिज्ञासु हों उनको निम्न रीति से आत्मानन्द का बोध करा देना चाहिए। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी इसी श्रेणी की थी। याज्ञवल्क्य ने उसे जिस रीति से समझाया था उस ही रीति से उसको भी समझा देना पर्याप्त होगा। याज्ञवल्क्य ने कहा था कि—अरे मैत्रेयी! अपने जी से ही पूछ लो—तुमको स्वयं पति के लिए तो पति प्रिय नहीं होता है। पति, पत्नी, पुत्र, वित्त, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, वेद, भूत, और सभी कुछ अपने मतलब से ही तो प्रिय हो जाते हैं। इनमें से एक भी तो पदार्थ स्वरूप से प्यारा नहीं है। जितनी भी प्रीतियां हैं वे सब एकपक्षीय [एकतर्फा] होती हैं—जब किसी पत्नी को भोग की इच्छा होती है तब ही वह अपने पति से प्यार करने लगती है। परन्तु उसका पति भूखा हो, किसी काम में लगा हो, रोगग्रस्त हो, तो वह उसे नहीं चाहता। तब उसे प्रेम का उत्तर नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में तो पत्नी का प्रेम एकपक्षीय सिद्ध होता है। उसका यह प्रेम, पति के लिए है ही नहीं। यह तो स्वार्थ के लिए ही है। यदि उसका यह प्रेम पति के लिए होता तो पति किसी भी अवस्था में होकर उस प्रेम का अभिनन्दन [स्वागत] करता। उधर पति का भी यही हाल होता है—वह भी जब अपनी पत्नी से प्रेमालाप करता है तब अपने ही मतलब से करता है। उसका प्रेम भी पत्नी के निमित्त नहीं होता। जब तो दोनों ओर से एक साथ ही प्रेम उमड़ पड़ा हो, तब भी यही उपर्युक्त विश्लेषण काम दे सकता है। दोनों ही प्रेमी अपनी इच्छा को लेकर प्रवृत्त हुआ करते हैं। देखा जाता है कि—डाढ़ी मूँछ की कीलें चुभ रही हैं, बालक रो रहा है, तौ भी प्रेमी पिता बालक को चूमता ही जाता है। उसके चिल्लाने पर भी उसे छोड़ना

नहीं चाहता। क्या कोई भी इस प्रेम को बालक के लिए किया हुआ प्रेम कह सकेगा? पिता का यह प्रेम स्पष्ट ही एकपक्षीय प्रेम है। यह तो अपनी तुष्टि के लिए ही किया गया है। जिस जड रत्न को कुछ भी इच्छा नहीं है, उसकी जब यत्न से रक्षा की जाती है तब इस प्रेम को भी तो स्वार्थ ही समझ लो। क्या कोई इस प्रेम को रत्नार्थ प्रेम कह सकता है? बैल नहीं चाहता कि मैं बोझ ढोऊँ। हमने उसे जबरदस्ती इस काम के लिए कैद कर रक्खा है। उस बैल पर हम प्रेम करते हैं। क्या इस प्रेम को कोई बैल के लिए किया हुआ प्रेम कह सकेगा। यह प्रेम तो स्पष्ट ही हमारे लिए है। ब्राह्मणत्वमूलक पूजा से जब हमें प्रसन्नता होती है तब यह सन्तुष्टि ब्राह्मण जाति की नहीं स्वयं अपनी ही होती है। जब हम स्वर्ग या ब्रह्मलोक को पाना चाहते हैं तब हमारा उद्देश्य इन लोकों का उपकार करना नहीं होता। किन्तु अपना भोग ही उसका लक्ष्य होता है। हम विष्णु आदि देवताओं की पूजा अपने पापनाश के लिए करते हैं। निष्पाप देवताओं को तो उसकी कुछ दर्कार ही नहीं होती। यह तो स्वार्थ के लिए ही की जाती है। 'हम व्रात्य न हो जायँ' इसी उद्देश्य से तो हम वेदों को पढ़ते हैं, वेद तो व्रात्य हो ही नहीं सकते। स्थान, तृषा, पाक, शोषण और अवकाश की आवश्यकता होती है इसी से तो हम पांचों भूतों को चाहते हैं। यहाँ भी हमारा स्वार्थ (मतलब) ही मुख्य होता है। कहाँ तक कहते जायँ, सभी कुछ अपने मतलब से प्रिय होता है। जब सब कामों में अपनी ही प्रधानता है तब यह हमारा स्पष्ट कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपने आपे के बारे में ही बुद्धि को दृढ़ कर डालें।

अब प्रश्न होता है कि—यह उपर्युक्त आत्मप्रेम कैसा है?

यह राग तो है नहीं, वह तो स्त्री आदि नियत विषयों में ही होता है। वह श्रद्धा भी नहीं है, वह तो यागादि में ही परिमित रहती है। वह भक्ति भी नहीं है, भक्ति तो गुरु देवादि तक ही चलती है। वह इच्छा भी नहीं है, इच्छा तो अप्राप्त पदार्थ की ही होती है? इसका समाधान यह है कि—वह आत्मप्रेम तो एक प्रकार की केवल सुख ही को विषय करने वाली सात्विक वृत्ति ही है। उस प्रेम को तो सत्वगुण से बनी हुई केवल सुख के साथ नथी हुई अन्तःकरण की वृत्ति समझ लो। इस प्रीति को इच्छा नहीं कह सकते, क्योंकि प्राप्त, नष्ट और अप्राप्त तीनों ही विषय में यह रहती है। इच्छा तो केवल अप्राप्त की ही रहती है। अन्नपान आदि हमारे सुख के साधन हैं, इसलिए जैसे वे प्रिय हैं, आत्मा को भी यदि इस प्रकार से सुख का साधन होने से ही प्रिय मानोगे, तो यह बताना पड़ेगा, कि यह आत्मा किस के सुख का साधन है? इस आत्मा से किसको खुश करना है? आत्मा स्वयं ही आत्मा को प्रसन्न करे, इसमें अपने कन्धे पर चढ़ बैठने वाला 'कर्मकर्तृविरोध' आता है। विषयजन्य जितने भी सुख हैं उनमें तो साधारण सी प्रीति प्राणी को होती है, परन्तु आत्मा तो अतिप्रिय होता है। यह प्रीति विषयसुख में कभी कभी नहीं भी रहती—कभी कभी विषयसुख को छोड़ कर चली भी जाती है—परन्तु आत्मा में प्रीति न रहे यह तो कभी हो ही नहीं सकता। प्राणी का स्वभाव है कि वह एक विषयसुख से प्रेम करना छोड़ देता है दूसरे विषयसुख से नेह का नाता जोड़ लेता है। परन्तु यह आत्मतत्त्व तो छोड़ा या पकड़ा जाने वाला ही नहीं है। फिर उसमें प्रेम का व्यभिचार कैसे हो? लेना या छोड़ना जिसमें नहीं है, उसकी कोई उपेक्षा ही कैसे कर सकेगा?

वह तो उपेक्षा करने वाले का स्वरूप ही है। इस कारण आत्मा उपेक्ष्य कभी नहीं हो सकता। रोग या क्रोध से दुःखी होकर जो प्राणी मरना चाहते हैं, वे भी इस देह को ही छोड़ना चाहा करते हैं, आत्मा को छोड़ देना तो उनके बस की बात नहीं होती। हम सब किसी से प्रेम तभी तो करते हैं जब उसे निश्चित रूप से आत्मार्थ समझ लेते हैं। परन्तु आत्मप्रेम करते समय ऐसा कोई विचार होना संभव ही नहीं है। वहाँ तो यह प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो एक स्वाभाविक प्रेम ही है, यह बात यहाँ तक सिद्ध हो चुकी। लोक में भी देखते हैं कि पिता को पुत्र के मित्र से पुत्र ही अधिक प्यारा लगता है। इस प्रकार जो सब पदार्थ केवल अपने सम्बन्धी हो जाने के कारण ही प्रेम के पात्र बन गये हैं, उन सब की अपेक्षा से यह आत्मा ही अत्यन्त प्रिय होता है। आइये इस विषय में अपने अनुभव की भी साक्षी ले लें कि वह क्या कहता है—प्रत्येक प्राणी अपने को सदा यही अशीष देता है कि 'भगवान् करे मैं सदा ही बना रहूँ।' इस अनुभव से भी आत्मा में निरतिशय प्रेम सिद्ध होता है।

यों आत्मप्रेम के सर्वाधिक प्रेम सिद्ध हो जाने पर भी, बहुत से अभागे लोग आत्मा को ही पुत्रादि का शेष [अंग] मान बैठे हैं। इस विषय में वे बहुत से प्रमाणाभास देते हैं। वे यह भी कहते हैं कि जभी तो प्रत्येक मनुष्य ऐसा प्रबन्ध किया करता है कि जिससे उसके मर जाने पर भी उसके पुत्रादि सुभीते से जीवन निर्वाह कर सकें। परन्तु इतने मात्र से यह आत्मा किसी का अंग सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसे लोगों को यह मालूम हो जाना चाहिए कि—आत्मा तीन तरह का होता है—एक गौण आत्मा, दूसरा मिथ्या आत्मा, तीसरा मुख्य आत्मा। पुत्रादि तो

ऐसे ही आत्मा हैं, जैसे देवदत्त को कोई शेर कह दे और वह शेर कहाने लग पड़ा हो। क्योंकि उनका भेद तो प्रत्यक्ष ही भास रहा है। इस कारण पुत्रादि को 'गौण आत्मा' मानना चाहिए। साक्षी और पांच कोश अलग अलग हैं ही, परन्तु यह भेद हर किसी को मालूम नहीं है। जैसे ठूठ का ही मिथ्या चोर हो जाता है ऐसे ही ये कोश 'मिथ्या आत्मा' बन गये हैं। अब तीसरे आत्मा को भी सुन लीजिए—साक्षी का भेद है भी नहीं और भासता भी नहीं। क्योंकि वह साक्षी सर्वान्तर है। वही साक्षी 'मुख्य आत्मा' कहाता है। यहाँ तक आपको यह तो स्पष्ट मालूम हो ही गया कि—तीन तरह का आत्मा होता है। अब इतना और जान लीजिए कि जिस व्यवहार में इन तीनों में से जिसका आत्मा होना ठीक जंच पड़े, उस प्रसंग के लिए उसी को मुख्य आत्मा मान लो। शेष को उसका अंग मान लो। जो मरने लगा है, उसे घर की रक्षा के लिए तो गौण आत्मा [पुत्रादि] ही चाहिए। क्योंकि मिथ्या आत्मा [शरीर] तो मरने ही लगा है तथा मुख्य आत्मा [साक्षी] इन बखेड़ों में पड़ता ही नहीं है। इस कारण मरते समय पुत्रादि ही मुख्य आत्मा माने जाते हैं। जब कोई कमजोर होकर पुष्टिकर अन्न खाना चाहता है, तब उसे देहात्मा को ही खिलाना होगा! वह पुष्टिकारक अन्न पुत्र को खिला बैठेगा तो पुष्टि कैसे होगी? तथा मुख्यात्मा कुछ खायेगा ही नहीं। ऐसे स्थलों में 'मिथ्या आत्मा'—यह देह—ही मुख्य आत्मा हो सकता है। जब कोई शरीर को सुखाने वाला घोर तप करता है तब वह लोकान्तर में जाने वाले विज्ञानमय को आत्मा मान रहा है। जब तो कोई मुक्ति चाहता है तब चैतन्य ही आत्मा होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यही

है कि—जिस जिस व्यवहार में जो जो आत्मा उचित होता है उस उस व्यवहार में उसी उस आत्मा में सर्वाधिक प्रेम हो जाता है। जो पदार्थ तो आत्मा भी नहीं होता और आत्मा का अंग भी नहीं होता, उसमें किसी भी तरह का प्रेम नहीं होता। ऐसी चीजें दो तरह की पायी जाती हैं—एक 'उपेक्ष्य' जैसे मार्ग में पड़े हुए तिनके आदि। दूसरे 'द्वेष्य' जैसे व्याघ्र या सर्प आदि। ये सब मिल कर संसार के पदार्थों की चार मुख्य श्रेणियां हो गयीं। (एक) आत्मा (दूसरी) उसका शेष [अंग-सहायक] तीसरी) उपेक्ष्य और (चौथी) द्वेष्य। इन चारों में यह नियम नहीं किया जा सकता कि अमुक पदार्थ 'उपेक्ष्य' ही रहेगा या यह 'द्वेष्य' ही रहेगा। प्रसंगानुसार इनमें परिवर्तन भी हो जाता है—'उपेक्ष्य' पदार्थ 'द्वेष्य' या शेष हो जाते हैं—'द्वेष्य' पदार्थ 'उपेक्ष्य' या 'शेष' हो जाते हैं। लोक में भी देख लो कि वही डरावना व्याघ्र जंगल में सामने से आता मिले तो 'द्वेष्य', परे को जाता दीखे तो 'उपेक्ष्य', सिखा पढ़ा लें तो अनुकूल होकर विनोद की चीज बन कर 'शेप' हो जाता है। इन सब की व्यवस्था कि 'कौन सा द्वेष्य है तथा कौन सा उपेक्ष्य है' केवल लक्षण मिला कर ही करनी पड़ती है। जिसमें जब जो लक्षण मिले उसे तब वही मान लो। जो जब अनुकूल हो उसे तब 'शेष' समझो। जो जब प्रतिकूल हो पड़े उसे तब 'प्रतिकूल' मानो। जो जब अनुकूल या प्रतिकूल कुछ भी न हो उसे तब 'उपेक्ष्य' कह लो। अब संक्षेप यों समझो कि आत्मा 'प्रेयान्' [अत्यधिक प्रिय] है, उपकारक पदार्थ 'प्रिय' होते हैं, शेष रहे पदार्थ या तो 'द्वेष्य' होते हैं या फिर 'उपेक्ष्य' हो जाते हैं। इन चार विभागों के कारण ही लोक की व्यवस्था चल रही है।

यह तो लौकिक दृष्टि से विचार करने का परिणाम हुआ। अब

ज़रा श्रौती विचार दृष्टि से देखें तो प्रतीत होता है कि सच्चा आत्मा तो यह साक्षी ही है। उससे भिन्न और कुछ भी आत्मा नहीं है। पांचों कोशों को नारियल के छिलके की तरह ज्ञान के चाकू से चीर कर अन्दर की रसमयी वस्तु से विवेक की आंखें भिड़ा देने को ही तो हम श्रौती विचार दृष्टि कह रहे हैं। 'जागरण' 'स्वप्न' और 'सुषप्ति' ये तीनों अवस्थायें आती हैं और चली जाती हैं, यह बात हमको जिस तत्व के सहारे से पता चलती है, वही स्वयं प्रकाश चेतन पदार्थ आत्मा है। शेष तो प्राण से लेकर धनपर्यन्त पदार्थ न्यूनाधिक भाव से उसके आस पास लगे रहते हैं। उसी न्यूनाधिक भाव के लिहाज़ से उनमें न्यूनाधिक प्रेम हो जाता है। देखते हैं कि—धन से तो पुत्र, पुत्र से शरीर, शरीर से इन्द्रिय, इन्द्रिय से प्राण, और प्राण से आत्मा अधिक प्रिय होता है। तत्वज्ञानी को तो इस स्थिति का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। परन्तु मूर्ख लोग समझते हैं कि प्रियतम तो पुत्रादि ही हैं, हम तो केवल उन को भोगने के लिये ही बने हैं। इस आत्मा को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ को जो प्रिय कहने लगा है, उसे समझाना चाहिये कि—तू जिस चीज़ को प्रिय समझेगा वही तो तुझे संसार में बांध रखने का खूंटा बन जायगी। तू पुत्र को प्रिय समझता है तो देख उसके साथ तुझे कितने अनिष्ट प्रसंग देखने पड़ेंगे—जब वह उत्पन्न न होगा तब तुझे दुःख होगा। जब गर्भपात होगा तब भी तुझे बड़ा कष्ट पहुँचायेगा, जब प्रसव होगा तो अनन्त प्रसववेदना होगी, फिर रोगी होगा, मूर्ख रह जायगा, विवाह न हो सकेगा, परस्त्रीगमन करने लगेगा, निःसन्तान होगा, सन्तान वाला होकर भी दरिद्र होगा, धनी होकर भी मर जायगा, यों तुम्हारे क्लेशों का अन्त कभी भी नहीं हो सकेगा। इस कारण अपने से भिन्न किसी

को प्रिय मानना ही छोड़ दो और यह निश्चय कर लो कि परम प्रीति तो अपने आत्मा में ही होती है। ऐसा निश्चय करके दिन रात इसी आत्मप्रेम की ओर को देखते रहो। जो तो किसी प्रकार के आग्रह में आकर इस पक्ष को न छोड़ेगा, उसे अनेक योनियों में घूम घूम कर इस का प्रायश्चित करना पड़ेगा। जो तो आत्मा को ही निरतिशय प्रेम का पात्र समझ कर सदा आत्मा की ही सेवा में लगा रहता है, उसके प्रिय आत्मा के नष्ट होने का प्रसंग कभी भी नहीं आता। यहां तक सिद्ध हो चुका कि परम प्रेम का स्थान होने से यह आत्मा परमानन्दरूप है। देखा जाता है कि—ज्यों ज्यों प्रीति बढ़ती जाती है त्यों त्यों सुख भी बढ़ता जाता है। राजा को अपने उपकरणों में अधिक प्रेम होता है तो उसे सुख भी अधिक ही मिलता है।

अब एक विचार उठता है कि—यदि चैतन्य की तरह सुख भी इस आत्मा का स्वभाव होता तो वह भी सब बुद्धिवृत्तियों में आना ही चाहिए था। इसका समाधान यह है कि सब स्वभावों का आना आवश्यक नहीं होता। देखते हैं कि दीपक उष्ण और प्रकाश दो रूप का होता है, उसकी प्रभा जब किसी मकान में फैलती है तब उसकी उष्णता नहीं फैलती। इसी प्रकार चैतन्य की ही अनुवृत्ति होती है सुख की नहीं होती। एक विचार यह भी है कि—जैसे एक पदार्थ में गन्ध, रूप, रस और स्पर्श सभी होते हैं, परन्तु एक एक इन्द्रिय इन में से एक एक को ही ग्रहण कर सकती है, सब को नहीं, इसी प्रकार चैतन्य और आनन्द दोनों की ही अनुवृत्ति होती तो है, परन्तु अशुद्ध मन से केवल चैतन्य का ही भास होता है, आनन्द का नहीं होता। सात्विकवृत्ति बड़ी निर्मल होती है, इस कारण उसमें चैतन्य और सुख दोनों ही

प्रतीत हो जाते हैं परन्तु तब ये दोनों एक ही पदार्थ दीखते हैं। रजोवृत्तियों के मलिन होने के कारण, इनमें सुख भाग के दर्शन नहीं हो पाते। लोक में देखते हैं कि इमली का फल बहुत खट्टा होता है, परन्तु नमक मिलाने पर उसकी खटाई छिप जाती है इसी तरह रजोवृत्तियों के मिश्रण से आनन्द छिप जाता है।

अब एक बड़ा गम्भीर प्रश्न यह होता है कि यों प्रियतम होने के कारण आत्मा की परमानन्दरूपता जान भी ली जाय तो भी ऐसे थोथे 'विवेक' से क्या होगा ? मुक्ति का साधन-योग जब तक न किया जायगा, तब तक अपरोक्ष ज्ञान कैसे हो सकेगा ? इस का उत्तर यही है कि—जो फल 'योग' से मिलना है वही फल इस 'विवेक' से भी मिल जायगा। गीता में तो स्पष्ट ही कहा है कि—'सांख्यमार्गी' को जो स्थान मिलता है 'योगी' भी उसे ही पाते हैं। जानने योग्य बात इस प्रसंग में इतनी ही है कि किसी के लिए योग मार्ग से चलना असाध्य होता है और किसी को ज्ञान का निश्चय होना असम्भव हो जाता है। मनुष्य स्वभाव की इन कमज़ोरियों को जानने वाले परमेश्वर ने इसीलिए 'योग' और 'सांख्य' [विवेक] नाम के दो मार्ग कह दिये हैं। 'योगी' और 'विवेकी' दोनों को ही एक समान ज्ञान हो जाता है। दोनों एक समान ही रागद्वेष से हीन होते हैं। देह के प्रतिकूल पदार्थों से द्वेष भी दोनों को समान ही होता है। व्यवहार काल में द्वैत का भान जैसे 'योगी' को होता है, वैसे ही 'विवेकी' को भी हुआ करता है। समाधि करते समय 'योगी' को द्वैत का भान जैसे नहीं होता वैसे ही जब 'विवेकी' अद्वैततत्व का विवेक करने बैठता है तब उसे भी द्वैत का भान नहीं होता। जो सदा आत्मा-नन्द को देखने लगा है, जिसे द्वैत का दीखना ही बन्द हो चुका

है, वह तो एक प्रकार से 'योगी' ही है, ऐसा यदि कोई समझे तो वह भी ठीक ही समझ रहा है। पहले ही कहा जा चुका है कि अन्त में जाकर तो 'योग' और 'विवेक' एक ही हो जाते हैं। यों मन्दाधिकारियों पर अनुग्रह करने के लिए आत्मानन्द का विवेक इस प्रकरण में किया है।

[१३]
ब्रह्मानन्दान्तर्गत अद्वैतानन्द का संक्षेप

'ब्रह्मानन्द' के प्रथम अध्याय में जिसे 'योगानन्द' कहा था उसी को आत्मानन्द' समझना चाहिए। दो अध्यायों को देखकर उसमें भेद मानना ठीक नहीं है। इस प्रतीयमान भेद का कारण तो यह है कि वह 'ब्रह्मानन्द' जब योग के द्वारा साक्षात्कार में आता है तब उसे 'योगानन्द' कह देते हैं, जब ,तो इस योग की विवक्षा नहीं रहती तब तो सीधे सादे उपाधिरहित शब्दों में उसे 'ब्रह्मानन्द' या 'निजानन्द' ही कहने लगते हैं। इसी प्रकार गौण आत्मा कौन है ? मिथ्या कौन से हैं ? मुख्य आत्मा किसे समझना चाहिए ? इस प्रकार के आत्मविवेचन के बाद जिस आनन्द का भान हुआ करता है उसे 'आत्मानन्द' कह दिया जाता है। असल में तो योगानन्द' और 'आत्मानन्द' एक ही है। जिस के द्वारा वह आनन्द प्रकट होता है उसी नाम से उस का नाम रख लिया गया है।

अब विचार यह होता है कि—इस 'आत्मानन्द'के साथ तो पुत्र स्त्री आदि 'गौण आत्मा' देहेन्द्रियादि 'मिथ्या आत्मा' तथा आकाश आदि 'अनात्मपदार्थ' लगे ही हुए हैं। ऐसे सद्वितीय पदार्थ को हम 'ब्रह्मानन्द' कैसे मान लें ? क्योंकि 'ब्रह्मानन्द' तो अद्वितीय होना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि यह सब जगत् उस अद्वयानन्द से ही उत्पन्न हुआ है, इस कारण वह उससे पृथक् कुछ भी नहीं है—उससे पृथक् इसकी कोई भी सत्ता नहीं है—यों उस की अद्वितीयता इतने बखेड़े के बाद अब भी अक्षुण्ण बनी

हुई है। यह अद्वितीय आनन्द इस जगत् का ऐसा ही उपादान है जैसा कि मिट्टी घड़े का उपादान होती है। श्रुति ने अपने मुख से इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय को आनन्द से ही होने वाला माना है। 'विवर्ती' 'परिणामी' और 'आरम्भक' तीन प्रकार के उपादान लोक में होते हैं। निरवयव पदार्थ 'परिणामी उपादान' या 'आरम्भक उपादान' नहीं हो सकता। वह तो 'विवर्ती' उपादान ही हो सकता है। अपनी पहिली अवस्था भी न छूटे और साथ ही दूसरी भी दीखने लगे तो इसी को 'विवर्त' कहते हैं। जैसे कि रज्जु अपना रस्सीपन भी नहीं छोड़ती और सर्पाकार भी धारण कर बैठती है। ऐसा विवर्त सावयव पदार्थों में ही होता हो सो बात नहीं है। वह तो निरवयव पदार्थों में भी पाया जाता है। देखते हैं कि—आकाश निरवयव पदार्थ है उस में तल और नीले पन की कल्पना [उस के स्वरूप को न जानने वाले] लोग कर ही लेते हैं। इस दृष्टान्त की विद्यमानता में यह मानने में अब हमें कुछ भी संकोच नहीं है कि निरवयव आनन्द तत्व में यह जगत् भी विवर्त ही है। इस जगत् के कल्पक की तलाश हो तो ऐन्द्रजालिक की शक्ति के समान इस आनन्द की जो अपनी माया शक्ति है उसको ही कल्पना करने वाली मान लो। शक्ति की कुछ ऐसी विचित्र अवस्था है कि वह न तो शक्तिमान् से पृथक् ही होती है [क्योंकि वह किसी को पृथक् दीखती नहीं] और न वह अपृथक् ही पायी जाती है। क्योंकि यदि वह उससे अभिन्न हो तो बताओ मणिमन्त्रादि के प्रताप से जब अग्नि से दाह होना रुक जाता है तब वह किसका प्रतिबन्ध होता है? यह शक्ति वैसे तो किसी को दीखा नहीं करती, कार्य को देखकर उसका तो अनुमान किया करते हैं।

फिर जब कारण होने पर भी कार्य न होता हो तब प्रतिबन्ध को मानना पड़ जाता है। जब आग जल रही हो और दाह न होता हो तब समझ लो कि किसी उपाय से अग्नि की शाक्ति का प्रतिबन्ध कर दिया गया है। इस शक्ति के विषय में श्वेताश्वतर उपनिषद् के ही शब्दों में कहना पर्याप्त होगा कि—मुनि लोगों को जब इस जगद्रचना के कारण को जानने की इच्छा हुई और अपनी ध्यानयोग की प्रयोगशाला में वे बैठे, तब उन्हें इस स्वयंप्रकाश तत्त्व की शक्ति दिखाई पड़ी—वह शक्ति अपने गुणों अर्थात् अपने कार्यों किंवा शरीरों में निगूढ़ भाव से निवास कर रही थी, इसीसे किसी को दीख नहीं पड़ती थी—ध्यान योग के दूर वीक्षण यन्त्र [दूरवीन] को लगाकर उनकी दृष्टि उस तक पहुँच गयी। जगत् को बनाने वाली ब्रह्म की उस परा शक्ति को उन्होंने तीन रूप में पाया। उन्होंने उसको कहीं तो क्रियारूप में पाया, कहीं ज्ञानरूप में देखा और कहीं इच्छा रूप में उसका दर्शन किया। कभी कभी दो या तीनों रूपों में उसका साक्षात्कार हुआ। वसिष्ठ मुनि ने भी कहा है कि वह परब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, नित्य है, पूर्ण है, अद्वितीय है, परन्तु यदि शक्ति की सहायता उसे न मिलती तो उसके इन गुणों का उल्लास कैसे होता? उसे कोई कैसे जानपाता? उसकी इस निगूढ महिमा को जना देना ही तो इस शक्ति का परम उद्देश्य है। जब जब जिस जिस शक्ति के कारण वह परब्रह्म विकास को प्राप्त हो जाता है तब तब तो वह शक्ति हम पर भी प्रकट हो जाती है। हे राम, तुम देखलो कि देवता पशु पक्षी तथा मनुष्यादि के शरीरों में उसी चिच्छक्ति का विकास हो गया है जिससे ये मिट्टी के पुतले चेतन दीखने लगे हैं। वायु में उसकी स्पन्द शक्ति, पत्थरों में दार्ढ्यशक्ति, जलों में द्रवशक्ति,

अग्नि में दाहशक्ति, आकाश में शून्यशक्ति का विकास हो गया है। बहुत कहां तक कहें अण्डे में महासर्प की तरह यह जगत् आत्मा में छिपा बैठा है। छोटे वटबीज में फल पत्र पुष्प शाखा विटप और मूल सहित इतना बड़ा वृक्ष जैसे रहता है ऐसे ही यह समस्त त्रिभुवन अपने ब्रह्मबीज में रहता है। भूमि में बहुत से बीज पड़े रहते हैं परन्तु वे सब एक साथ जम कर खड़े नहीं हो जाते। किंतु किसी देश और किसी ऋतु में किसी किसी बीज से अंकुर निकल पड़ते हैं। हे राम ! वह आत्मा सर्वत्र विद्यमान है, नित्य प्रकाशमान् है—वह देश या काल या वस्तु की मर्यादा में बंधने कभी नहीं आता। परन्तु जब वही आत्मतत्व मननशक्ति को धार लेता है तब बस उस समय उसे 'मन' कहने लगते हैं। मन के बनते ही 'बन्ध' और 'मोक्ष' की कल्पना जाग कर खड़ी हो जाती है। उसके बाद पर्वत, नगर, नदी, समुद्रादि प्रपंच जिसे भुवन भी कहते हैं बनकर तैयार हो जाते हैं। असल में तो इस त्रिभुवन रूपी भवन की नींव कल्पना ही है, परन्तु तौ भी क्या करें प्राणियों के हृदय में तो यह ऐसी जम गयी है कि कुछ कहते ही नहीं बनता। छोटे बच्चों के विनोद के लिए कोई कुत्ते बिल्ली की झूठी कहानी उन्हें सुना दी जाय और वे उसे सच्ची मानकर आपस में व्यवहार करने लगें—एक दूसरे को सुनाने लगें—वैसी ही अवस्था इन प्राणियों की हो गयी है। कुत्ते बिल्ली की जो कहानी बालकों को सुनादी जाती है वे जैसे उसे ही ठीक मान बैठते हैं, ऐसे ही, विचार करने का सामर्थ्य जिन में नहीं होता, उन के मन में इस संसाररचना के सच होने के भ्रामक विचार जमकर बैठ गए हैं। इस जगत् को बनाने वाली यह शक्ति अपने कार्य और अपने आश्रय दोनों से ही विलक्षण होती है। क्योंकि कार्य के धर्म

मुटाश आदि और आश्रय के धर्म शब्द आदि इस शक्ति में पाये नहीं जाते। इसीसे इस शक्ति को अचिन्त्य या अनिर्वचनीय भी कह दिया जाता है। कार्य [घट आदि] जब तक उत्पन्न नहीं होता तब तक यह शक्ति मिट्टी आदि में ही छिपी रहती है। कुम्हार आदि की सहायता से यही शक्ति विकार की सूरत में आ जाती है। जो लोग तत्व का विश्लेषण करना नहीं जानते वे मोटे और गोल कार्य [घट] तथा शब्दस्पर्शादि रूपी मिट्टी,दोनों को मिलाकर दोनों का ही एक नाम [घड़ा] रख लेते हैं। यदि वे विश्लेषण कर सकें तो उन्हें 'घट' नाम की कोई वस्तु ही वहां न दीख पड़े। कुम्हार ने जब तक क्रिया नहीं की थी उससे पहले जो भाग था वह तो 'घट' था ही नहीं। कुम्हार ने आकर जब ठोक पीटकर मोटी और गोल सी एक वस्तु बना कर तैयार की तब कहीं तो 'घट' हुआ। उस घड़े को हम मिट्टी से भिन्न नहीं कह सकते। क्योंकि मिट्टी को हटा कर देखें तो वह घट दीख नहीं सकता। उस घड़े को हम मिट्टी से अभिन्न भी नहीं कह सकते? क्योंकि जब तक पिण्ड-दशा थी तब तक तो वह दीखता ही नहीं था। यों जैसे शक्ति अनिर्वचनीय पदार्थ है इसी तरह घट भी अनिर्वचनीय पदार्थ ही है। शक्ति के गुण इस घट में भी पाये जाते हैं, इसी से तो इस घट को शक्ति से उत्पन्न हुआ मानते हैं। भेद केवल इतना ही है कि जब तक अव्यक्त अवस्था थी तब तक जिस वस्तु को हम शक्ति कहते थे,व्यक्त अवस्था आने पर उसी का तो नाम घट पड़ गया है। केवल इसी का नहीं संसार में जिसे जिसे'माया'कहते हैं, सभी का यही हाल है—ऐन्द्रजालिक की माया भी प्रयोग करने से पहले पहले प्रकट अवस्था में नहीं होती—पीछे से तो गन्धर्व-सेना आदि नानारूपों में निकल कर व्यक्त हो जाती है और लोगों

को चकित कर देती है। इसी सब अभिप्राय को लेकर श्रुति ने मायामय होने के कारण विकारों को अनृत कहा है और विकारों का आधार जो मिट्टी है उसी को सत्य माना है। उसका मतलब है कि ये जो विकार दीख रहे हैं ये वाणी से बोले जाने वाले नाम ही तो हैं, इन सब में सत्य पदार्थ तो मिट्टी ही है। 'व्यक्त' 'अव्यक्त' और इनका 'आधार' ये तीन ही तो पदार्थ संसार में होते हैं। इन तीनों में पहले दोनों जो 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' हैं वे तो काल-भेद से पर्याय से होते रहते हैं अर्थात् कभी कार्य होता है और कभी शक्ति होती है। इनका यह कभी कभी होना ही तो इनके मिथ्यापन को सिद्ध कर रहा है। किन्तु इन तीनों का जो आधार है वह वस्तु तो इन दोनों ही अवस्थाओं में रहती है—वह [मिट्टी] कार्यावस्था में भी रहती है और शक्ति काल [कारणावस्था] में भी रहती है। यों सदा रहने वाली होने के कारण वही सत्य वस्तु है। जो निस्तत्व होकर भी भासने लगे उसे हम 'व्यक्त' कहते हैं। उसके उत्पत्ति और नाश दोनों ही होते हैं। वह जब उत्पन्न होता है तब मनुष्य उनके कुछ नाम रख लेते हैं। क्योंकि वह व्यक्त पदार्थ जब नष्ट भी हो जाता है तब भी यह नाम तो मनुष्यों की वाणी पर चढ़ा रह जाता है। इस कारण कहते हैं कि उस नाम से निरूपणीय [जाना जाने वाला] जो कोई व्यक्त पदार्थ है वह नामात्मक ही है। यदि वह व्यक्त पदार्थ नामात्मक न होता तो अब उसका व्यवहार नाम से क्यों कर होता। व्यक्त पदार्थ का वह रूप भी सत्य नहीं है। क्योंकि वह तो निस्तत्व है,विनाशी है,और वाणी से बोला हुआ एक शब्द ही शब्द तो है। यदि यह आकार [रूप] असत्य न होता तो जैसे मिट्टी आदि निस्तत्व नहीं है, विनाशी नहीं है, या केवल नाममात्र ही नहीं है, ऐसे ही ये भी

होते। मिट्टी नाम की जो चीज है वह व्यक्तकाल में या उससे पहले, या उसके बाद, सदा एकरूप ही रहती है, सदा सतत्व और अविनाशी होती है, इससे उसे ही 'सत्य' कहते हैं। सत्य पदार्थ का बोध जब किसी को हो जाता है तब घटादि अनृत पदार्थों की निवृत्ति हो ही जाती है—अर्थात् उन्हें सत्य समझना छूट जाता है। ज्ञान से जैसी निवृति हम आध्यात्मिकलोग चाहते हैं वह तो यही है कि—उन पदार्थों की सत्यता का विचार मन में से जाता रहे। वे प्रतीत होने [भी] बन्द हो जांय, ऐसी आशा बोध से हम कर बैठेंगे तो हमें निराश ही हो जाना पड़ेगा और ज्ञान में अश्रद्धा करनी पड़ जायगी। जो पुरुष पानी के किनारे नीचे को मुंह किये खड़ा है उसे जल में उलटा आदमी दीखता तो है परन्तु वह वहां होता नहीं है। किनारे पर खड़े हुए मनुष्य को ही जैसे सच्चा समझा जाता है वैसे उसे [पानी के छायामनुष्य को] कोई सच नहीं समझता। वह समझ लेता है कि जलरूपी उपाधि के कारण ऐसी भ्रान्त प्रतीति हो रही है। जब तक जलरूपी उपाधि बनी है तब तक ऐसी मिथ्या प्रतीति होती ही रहेगी। इसी प्रकार सब का कारण जो आत्मतत्व है उस का ज्ञान जब हो जाता है तब विवेकी पुरुष इस प्रतीयमान् जगत् को मिथ्या मान लेता है। उसके बाद फिर जब उसे यह जगत् भासता है तब वह इसे इन्द्रियोपाधिक भ्रम समझ कर टालता रहता है। वह जान लेता है कि जब तक ये इन्द्रियां बनी है तब तक ऐसी प्रतीति होती ही रहेगी। भले ही होती रहो, वह फिर इसको सत्य मानकर कोई भी व्यवहार नहीं करता। जितने भी सोपाधिक भ्रम होते हैं उन सभी का यही हाल होता है। उनमें मिथ्या प्रतीति होती तो रहती है परन्तु उस पर से विश्वास उठ जाता है। ऐसा शुद्ध और असंग

बोध हो जाने पर ही अद्वैतवादी अपने को कृतकृत्य समझता है। प्रकरणगत बात तो यही हुई कि—घट की मिट्टी ने, घट बन जाने पर भी, अपने मृद्रूप का परित्याग नहीं किया, इस कारण यह घट मिट्टी का 'विवर्त' है। अब मिट्टी का ज्ञान हो जाने पर घट के सत्य होने का विचार जाता रहेगा। विवर्त उपादानों में यही होता है कि घट और कुण्डल के बन जाने पर भी उनका मृद्भाव या सुवर्णभाव बना ही रहता है। आरुणि ने भी मिट्टी, सोना और लोहे के तीन दृष्टान्त इसी अभिप्राय से दिये हैं कि बहुत से पदार्थों में कार्यों का अनृत होना देखकर साधक लोग सभी भूतभौतिकपदार्थों के मिथ्यापन की वासना अपने जी में दृढ़ता से बैठा लें। इन भूत भौतिक पदार्थों में जितना अनृत भाग है उसके जानने का तो कुछ भी उपयोग नहीं होता। क्योंकि तत्व का ज्ञान तो किसी काम आ सकता है, अनृत का ज्ञान किसी भी उपयोग में नहीं आता। कार्य घटादियों में जितना सच्चा भाग है उतना कारणस्वरूप ही है, ऐसा जो लोग जान जाते हैं, उन लोगों को तो इस बात से कुछ विस्मय नहीं होता। परन्तु जो अज्ञ हैं—जिन्हें तत्व ज्ञान नहीं हो पाया है—उनको ऐसी बात सुनकर बड़ा ही विस्मय हुआ करता है। जिन लोगों को ऐसे संस्कार नहीं होते, वे जब यह सुनते हैं कि एक ऐसी वस्तु भी है कि जिसे जानकर सभी पदार्थों का ज्ञान होजाता है तब इनको बड़ा विस्मय होता है। परन्तु उन्हें गम्भीर होकर विचार करने का निमन्त्रण हम देते हैं—वे समझें कि एक के ज्ञान से सर्व-बोध की जो बात कही है, उसका यह मतलब नहीं है कि उसके ज्ञान में व्यक्तिगत रूप से संसार के सभी पदार्थ आ जाते हैं। अद्वैत ज्ञान की ओर उन्हें आकृष्ट करना ही इस का मुख्य भाव है। मिट्टी के एक पिण्ड को यदि कोई जान लेता है उसके बाद जब वह

मिट्टी के बने किसी भी पदार्थ को देखता है तब सभी को जान लेता है कि यह भी मिट्टी का बना है और यह भी मिट्टी का। इसी प्रकार ब्रह्मनाम के सर्वानुगत एक-तत्व का परिज्ञान जब किसी को हो जाता है, तब उसी से बने हुए इस सकल जगत् का ज्ञान भी उसे हो ही जाता है। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है और यह जगत् नामरूपात्मक है। यह जगत् पहले अव्याकृत था, इसे व्यक्त करते समय इसका कुछ 'नाम' और कुछ 'आकार' बना दिया गया है। अव्याकृत से हमारा अभिप्राय ब्रह्म में रहने वाली इस अचिन्त्य-शक्ति माया से ही है। अविक्रिय ब्रह्म में रहने वाली वह माया ही अनेक रूप हो जाती है—सबसे पहले उसका आकाश बनता है, वह भी 'अस्ति' 'भाति' और 'प्रिय' अर्थात् 'सत्' 'चित्' और 'आनन्द' स्वरूप ही होता है। उसका अपना खास रूप तो 'अवकाश' ही है। वही बिचारा मिथ्या है, वे तीनों [सच्चिदानन्द] मिथ्या नहीं हैं। इस अवकाश पर जरा विचार का प्रयोग करके देखिये—यह अवकाश व्यक्त होने से पहले नहीं था, नष्ट हो जाने के बाद भी यह अवकाश नहीं रहेगा। यह तो बीच में कुछ काल के लिये पानी के बुलबुले की तरह व्यक्त हो गया है। आदि और अन्त में न होने के कारण यह तो वर्तमान में भी नहीं है। परन्तु यह बात बुद्धियोग से ही जानी जा सकती है। ऊपर जिन सच्चिदानन्दों का वर्णन किया है वे घड़े आदि में मिट्टी की तरह सदा सब कार्यों में ही अनुगत रहते हैं। बताओ, जब तुम अवकाश को भूल जाते हो तब तुम्हें क्या भासा करता है। उस समय तुम्हें जो तत्व भासता है, उस तत्व को कुछ न कुछ तो कहना ही होगा। ऐसे समय उदासीनावस्था होने के कारण उस तत्व को 'सुख' ही कहना चाहिये। जो अनुकूल भी प्रतीत न हो और प्रतिकूल भी न लगे

वही तो निजसुख होता है। जब कोई अनुकूल पदार्थ दीखता है तब हर्ष होता है, प्रतिकूल जान पड़े तब दुःख हो जाता है, जब तो अनुकूल भी न हो और प्रतिकूल भी न हो तब तो 'निजानन्द' का भान शुरू हो जाता है। यह निजानन्द एक स्थिर चीज है। हर्ष और शोक तो क्षण क्षण में बदलने वाले पदार्थ हैं। इन दोनों हर्ष शोकों को तो मानस ही मान लेना ठीक है। क्योंकि मन भी क्षणिक है। उसके परिवर्तन से ही हर्ष और शोक होते हैं। इतने विवेचन से आकाश में आनन्द होने की बात मन में बैठ गयी होगी। सत्ता और भान को तो सभी मानते हैं, इस कारण उसका वर्णन हम नहीं करेंगे। वायु से लेकर देहपर्यन्त पदार्थों में भी यह बात समझ लेना। गति और स्पर्श वायु के, दाह और प्रकाश अग्नि के, द्रवता जल का, और कठिनता भूमि का अपना निजी आकार है। इन सब के नाम तो अवश्य अनेक या विभिन्न हो रहे हैं, परन्तु इनमें सच्चिदानन्द तो एक रूप से ही रहते हैं। इनमें जो अलग अलग नाम और रूप [आकार] हैं वे निस्तत्व हैं। क्योंकि इनके जन्म और नाश बराबर होते रहते हैं। अपने संस्कारी मन की सहायता से इन नामरूपों को समुद्र के बुलबुले की तरह समझा करो। ज्यों ही कोई अधिकारी इस सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म को [चाम की आँखों से नहीं अपितु] बुद्धियोग से देख लेगा तब वह धीरे धीरे इन नामरूपों की अवहेलना स्वयमेव करने लगेगा। ज्यों ज्यों यह अवहेलना बढ़ने लगेगी त्यों त्यों ब्रह्म के दर्शन होने लगेंगे। और ज्यों ज्यों ब्रह्म के दर्शन होंगे त्यों त्यों नामरूप छूटने लगेंगे। इस ब्रह्माभ्यास [द्वैतावहेलना और ब्रह्मदर्शन] से जब अधिकारी की 'विद्या' स्थिर हो जायगी तब वह इस जीवन के रहते ही मुक्त हो जायगा। फिर उसका शरीर प्रारब्धा-

नुकूल कैसे भी रहा करो उसकी जीवन्मुक्ति को कोई रोक नहीं सकेगा। उसी का चिंतन, उसी का कथन, उसी की बातचीत और उसी में तत्पर हो जाना 'ब्रह्माभ्यास' कहा जाता है। ऐसा ब्रह्माभ्यास जब दीर्घकाल तक निरन्तर तथा श्रद्धापूर्वक किया जायगा तब अनादिकाल से हृदय में घुसी हुई वासनायें नष्ट हो जायँगी।

मिट्टी की शक्ति घट शराव आदि अनेक मिथ्या पदार्थों को बना देती है, इसी प्रकार ब्रह्मशक्ति भी अनेक अनृत पदार्थों को बना डालती है। अथवा इसे यों समझना चाहिये कि जीव की निद्राशक्ति अनेक दुर्घट सुपनों को घड़ डालती है, इसी प्रकार ब्रह्म की मायाशक्ति सृष्टि आदि अनेक कार्यों का सर्जन कर लेती है। निद्रा से तो यहां तक हो जाता है कि—कभीआकाश में उड़ान मारना दीखता है, कभी अपना सिर कटने की बात दीखती है, कभी क्षणमात्र में सैकड़ों वर्ष बीत जाते हैं, कभी मरे हुए पुत्रादि देखने मिल जाते हैं। उस सुपने में 'यह ठीक है और यह ठीक नहीं' यह व्यवस्था नहीं की जा सकती। वहां तो जो जैसा दीखे, वह वैसा ही ठीक होता है। ध्यान देने की बात है कि—जब जीव की निद्राशक्ति की ऐसी अद्भुत महिमा है कि वह अपने में तर्क शास्त्र को चलने नहीं देती है, तब फिर ब्रह्म की मायाशक्ति की महिमा अचिन्त्य हो तो इसमें अचम्भा क्यों करते हो ? पुरुष सोया पड़ा होता है उधर निद्राशक्ति अपना काम जारी रखती है—वह अनेक प्रकार के सुपनों को बना बना कर तैयार करती रहती है उससे पूछती तक नहीं कि क्या मैं यह सब कर डालूँ ? ठीक इसी प्रकार ब्रह्मदेव निर्विकार भाव से विराज रहे हैं, यह श्रीमती माया शक्ति अनेक आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ब्रह्माण्डलोक, प्राणी और पर्वत समुद्र आदि को घड़ घड़ कर खड़ा करती जाती है। यों तो ये सभी विकार मायाशक्ति ने उत्पन्न किये हैं, परन्तु प्राणियों

में इतनी विशेषता होती है कि उनमें चैतन्य की छाया प्रतिबिम्बित हो गयी है और वे चेतन हो गये हैं, जिन में चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सका वे जड रह गये हैं । क्या चेतन और क्या अचेतन सभी में ब्रह्म का सच्चिदानन्द रूप समान ही होता है । भेद केवल इतनाही होता है कि उनके नाम और रूप (शकल)अलग अलग हो गये हैं। ये नाम रूप ब्रह्म में ऐसे हैं जैसे कपड़े पर कोई चित्र बना दिया गया हो। जब कोई उन नामरूपों की अपेक्षा कर सके तभी उसे सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म तत्व के दर्शन हों। पानी में अपना देह अधोमुख दीख रहा हो तो उस देह को छोड़ कर अपने तीरस्थ देह में ही ममता होती है, इसी प्रकार जगत् के दीखने वाले नामरूपों का परित्याग कर देने पर सच्चिदानन्द में ही ज्ञानी की ममता हो जाती है। मनोराज्य हज़ारों होते रहते हैं तौ भी जैसे उनकी सदा ही उपेक्षा करदी जाती है इसी प्रकार विवेकी लोग हज़ारों प्रकार से दीख पड़ने वाले नामरूपों की उपेक्षा करते रहते हैं । मनोराज्य जिस प्रकार क्षण क्षण में बदलता जाता है, इसी प्रकार वह बाह्य व्यवहार भी क्षण क्षण में बदलता है और जो बीत जाता है वह लौटकर कभी भी नहीं आता। देखते हैं कि जवानी में बचपन ढूंढे भी हाथ नहीं लगता, बुढ़ापे में जवानी की भी यही गति हो जाती है। मरा हुआ पिता फिर देखने को नहीं मिलता। बीता हुआ दिन लौटकर नहीं आता। जो लौकिक पदार्थ क्षणध्वंसी है उन में और मनोराज्य में फ़र्क़ क्या है वही तो हमारी समझ में नहीं आता। इस लिये, हम तो यही कहेंगे कि लौकिक पदार्थ भले ही भासा करें उनके सत्य होने का वृथा विचार सर्वथा छोड़ दो। जब लौकिक पदार्थों की उपेक्षा कर दीजायगी तब ब्रह्मचिन्तन का कांटा जाता रहेगा। फिर तो वह बुद्धि ब्रह्मचिन्तन में ही जुट जायगी। इस पर प्रश्न हो सकता है कि

फिर ज्ञानी लोग व्यवहार कैसे करें ? इसका उत्तर यह है कि नाटक करने वाले नट लोग जैसे बनावटी आस्था से अपना काम कर गुज़रते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी लोग भी लौकिक कामों को बनावटी आस्था से निभा लेजाते हैं। ऊपर पानी बहता रहता है परन्तु नीचे बैठी हुई बड़ी शिला जैसे शान्त भाव से पड़ी रहती है इसी प्रकार नामरूपी रूपी जल ऊपर बहता भी रहो परन्तु कूटस्थ ब्रह्मरूपी शिला ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। ज्ञानी लोग संसार के साथ वह नहीं जाते। दर्पण के अन्दर कोई छेद नहीं होता, जिसमें कोई वस्तु छिप रही हो परन्तु ऐसा मालूम हुआ करता है मानो दर्पण में अनगिनत वस्तु से परिपूर्ण बड़ा लम्बा चौड़ा आकाश ही हो। ठीक इसी प्रकार नाना जगत् से परिपूर्ण यह आकाश उस सच्चिद्घन अखण्ड ब्रह्मरूपी दर्पण में प्रतीत हो रहा है। पहले दर्पण दीख लेता है तब उसके अन्दरकी वस्तु देखी जा सकती है। इसी प्रकार पहले सच्चिदानन्द वस्तु दीख चुकती है उसके बाद नामरूपात्मक जगत् का भास होता है। अब होशियार साधकों को चाहिये कि ज्यों ही उन्हें सच्चिदानन्द वस्तु का भान हो चुके त्यों ही अपनी बुद्धि को रोक कर खड़े होजांय और बार बार उसी का भान होते रहने दें। यदि उनकी मति आगे नामरूप की तरफ को चलने का प्रयत्न करती हो तो उसे वैसा न करने दें। जानते हो ये साधक अब कहां पहुंच चुके हैं ? इन्होंने कितना रास्ता तै कर लिया है ? सुनो ! ये लोग चलते चलते जगत् से हीन सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मधाम में खड़े हुए हैं। इसी को तो 'अद्वैतानन्द' कहा जाता है। मुमुक्षु लोग इस 'अद्वैतानन्द' में चिरकाल तक विश्राम करें यही हमारी अभिलाषा है।

जगत् के मिथ्या भाव का चिन्तन करने से जो आनन्द जाग उठता है वही 'अद्वैतानन्द' होता है।

[१४]

ब्रह्मानन्दान्तगर्त विद्यानन्द का संक्षेप

योग से, आत्मा के विवेक से, अथवा द्वैत के मिथ्यापन की चिन्ता करने से, जब किसी को ब्रह्मानन्द दीखने लगा हो, तब उस समय के 'ज्ञानानन्द' का वर्णन इस प्रकरण में है। जिस प्रकार विषयानन्द एक प्रकार की बुद्धिवृत्ति है इसी प्रकार यह विद्यानन्द [ज्ञानानन्द] भी एक प्रकार की बुद्धिवृत्ति ही है। यह चार प्रकार का होता है, प्रथम दुःखाभाव, फिर कामाप्ति। फिर कृत-कृत्यता और उसके पश्चात् प्राप्तप्राप्यता। दुःख दो तरह का होता है—एक इस लोक का दूसरा परलोक का। बृहदारण्यक में कहा है कि ज्ञानानन्दी को ऐहिक दुःख नहीं रहते। ऐहिक दुख तो कामना ही है। परन्तु जब किसी को आत्मज्ञान हो जाय तब फिर वह किस चीज़ की चाहना से और किसके लिये शरीर के दुःखों से दुःखी होता फिरे! पहले प्रकरणों में बता आये हैं कि जीवात्मा और परमात्मा ये दो भेद आत्मा के हैं। यह आत्मा तीनों देहों के साथ जब तादात्म्य कर बैठता है तब यह जीव बन जाता है और तब ही इसमें 'भोक्तापन' आ जाता है। उधर परात्मा का भी हाल सुन लीजिये—वह सच्चिदानन्द होकर भी जब नामरूप के साथ तादात्म्य करने की खिलवाड़ कर बैठता है तब 'भोग्य' हो जाता है। अब यदि 'भोक्ता' और 'भोग्यपन' के बखेड़े को हटाना चाहो तो उन तीनों शरीरों और उन नामरूपों से उस आत्मतत्व का विवेक कर डालो। भोक्ता और भोग्यपन को हटाकर शुद्ध के दर्शन करलो। यही तो होता है कि 'भोक्ता' के

लिये किसी 'भोग्य' पदार्थ को चाहता है तो [शरीर के साथ] दुःखी होने लगता है। क्योंकि ये तीनों शरीर तो ज्वरों [संतापों] के निवासमन्दिर ही हैं। आत्मतत्व को कभी कोई ज्वर नहीं होता। देखलो—वात, पित्त,कफ़ नामक धातुओं में जब विषमता आ जाती है तब इस स्थूल शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते हैं। काम क्रोधादि विकार जब उदय हो जाते हैं तब ये ही सूक्ष्म शरीर में रहने वाले ज्वर कहे जाते हैं। परन्तु इन दोनों प्रकार के ज्वरों की जड़ तो कारण शरीर [अज्ञान] में ही रहती है। पिछले अद्वैतानन्द प्रकरण में कही रीति के अनुसार जब परात्मतत्व को पहचान लिया जायगा, तब ज्ञानी को सच्चा 'भोग्य' दीखेगा ही नहीं। फिर बताओ वह परात्मतत्व को जानने वाला ज्ञानी कौन से 'भोग्य' को चाह सकेगा? आत्मानन्द प्रकरण में कही रीति से जीवात्मा के असंग कूटस्थ स्वरूप का निश्चय, जब हो जायगा तब 'भोक्ता' ही कोई न रहेगा। अब आप सावधान होकर विचार कीजिये कि 'भोग्य'-और 'भोक्ता' दोनों ही विवेक की आंच के सामने मोम के पुतले की तरह पिघल गये हैं। शेष बचे हुए इस विचारे जड देह को तो कोई ज्वर होना ही क्यों है।

यहां तक ऐहिक दुःखों का विचार किया गया। अब आमुष्मिक दुःखों की पड़ताल भी कर लीजिये—पाप और पुण्यों की चिन्ता ही आमुष्मिक [पारलौकिक] दुःख होता है। पहले अध्याय में कह ही चुके हैं कि—ज्ञानी को पुण्य पाप की चिन्ता नहीं सताती जैसे कमल के पत्ते पर पानी नहीं चिपटता इसी प्रकार ज्ञान हो जाने के कारण, ज्ञानी में आगामी कर्मों का सम्बन्ध नहीं हो पाता। सरकण्डे की रूई जिस प्रकार क्षण भर में जल जाती है इसी प्रकार ज्ञानी के संचित कर्म ज्ञानाग्नि से सहसा जल जाते हैं। गीता में भी

कहा है कि—हे अर्जुन जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि ईंधन को जला देती है इस प्रकार [विधि पूर्वक सुलगाई हुई] यह ज्ञानाग्नि सब कर्मों को राख कर देती है। जिस ज्ञानी को अहंकारयुक्त भाव नहीं रहता, जिस ज्ञानी की बुद्धि संसार में लिप्त नहीं रहती, वह यदि इन सब लोकों को भी मार दे तौ भी उसे मारने वाला मत समझो। इतने गुरुतर अपराध से भी वह किसी बन्धन में नहीं आयेगा। इतने से ज्ञानी को आमुष्मिक दुःख या परलोक की चिन्ता नहीं रहती वह आप समझ गये होंगे।

अब क्रमानुसार सर्वकामाप्ति का विचार करेंगे—जैसे ज्ञानी को दुःखाभाव हो जाता है इसी प्रकार उसे सर्वकामाप्ति भी हो ही जाती है। ऐतरेय श्रुति ने प्रायः इन्हीं शब्दों में कहा है कि—यह ज्ञानी सब कामों को पाकर अमर हो चुका है। छान्दोग्य में कहा है कि—खाता, खेलता, स्त्रियों से रमण करता, सवारियों पर बैठता तथा भोगों को भोगता हुआ भी ज्ञानी शरीर को भूला रहता है। वह आत्म-सागर में इतना रमा रहता है कि फल वाले पेड़ों को जैसे फल देने का या नदी को बहने का ज्ञान नहीं होता इसी प्रकार उसे शरीर की चेष्टाओं तक का भी ज्ञान नहीं रह जाता। उस समय उसका प्राण ही उसके प्रारब्ध कर्मों के अनुसार उस शरीर को जीवित रखता है। तैत्तिरीय में कहा है कि—ज्ञानी लोग संसार की संपूर्ण कामनाओं को एक ही साथ पा लेते हैं। दूसरे अज्ञानियों की तरह इसे कर्मों से जन्म लेना नहीं पड़ता। अज्ञानी लोग जैसे क्रमानुसार भोगों को भोगा करते हैं, ज्ञानी को उस तरह भोग नहीं मिलते, वह तो संसार के सब भोगों को एक साथ, बिना ही किसी क्रम के, भोगा करता है। पूर्ण युवा हो, रूपवान् हो, विद्यावान् हो, नीरोग हो, दृढचित्त हो, बड़ी सेनावाला हो, धन्यधान्य पूर्ण पृथिवी

पर शासन कर रहा हो, मनुष्यों को मिल सकने वाले सभी भोग प्राप्त हों, ऐसे तृप्त राजा को जो आनन्द मिलता है, उस आनन्द को एक ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी होने के नाते से ही पा लेता है। मर्त्य लोगों के भोगों की इच्छा इन दोनों को ही नहीं है, इस कारण दोनों को ही तृप्ति एकसी रहती है। हां, इतना भेद भी है कि राजा तो भोगों को पाकर निष्काम हो सका है। परन्तु दूसरे की निष्कामता तो अद्भुत ही ढंग की है। वह तो अपने विवेक के प्रताप से निष्काम हो गया है। क्योंकि वह श्रोत्रिय है, इस कारण वेद शास्त्रों में जो भोगों के दोष लिखे हैं उनका उसे पूरा पूरा ध्यान रहता है। देह के दोष, चित्त के दोष, तथा भोग्य पदार्थों के दोष, उसे सदा याद रहते हैं। कुत्ते ने जिस खीर को वमन कर दिया हो उसको जैसे कोई खाना नहीं चाहता, इसी प्रकार विवेकी पुरुष दुष्ट भोगों की कामना नहीं करता। यद्यपि श्रोत्रिय और राजा दोनों ही समान भाव से निष्काम हो गये हैं, परन्तु राजा उन साधनों का संचय करने में काफ़ी तकलीफ़ उठा चुका है और अब भोगों के भावी नाश को याद करके भी डर रहा है। श्रोत्रिय को ऐसा कोई कष्ट उठाना नहीं पड़ता। यही कारण है कि श्रोत्रिय का आनन्द उस के आनन्द से अधिक है। एक यह भी बात है कि विवेकी को अब किसी ऊँचे पद की अभिलाषा नहीं रही है। राजा को तो यह भी आशा लगी हुई है कि यदि कोई इससे ऊँचा पद [गन्धर्व आदि का] हो तो वह भी मुझे मिल जाय तो अच्छा हो। सार्वभौम राजा से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी उत्तरोत्तर पद की कामना किया करते हैं। परन्तु यह जो आत्मानन्द है यह मन वाणी से अगम्य है! यही कारण है कि वह इन सबसे ऊँचा है। ये सब पदवी-धारी लोग जिस किसी सुख को चाहते या चाह सकते हैं, श्रोत्रिय

[ज्ञानी] को उन किसी भी सुखों की इच्छा तक नहीं होती—वह उन सब सुखों की ओर से पहले ही निःस्पृह हो गया होता है। सो उन सबको अलग अलग जितना सुख होता है उतना अकेले श्रोत्रिय को हो जाता है। वे सब उन उन कामनाओं को पूरा करके भी तो जब कुछ काल के लिये अपने आपको निःस्पृह कर लेते हैं तभी वे आनन्दी हो सकते हैं। उनकी यह निःस्पृहता उन उन कामनाओं के अधीन होती है। उन उन कामनाओं के पूरा किये विना उन्हें आनन्द मिल ही नहीं सकता। इसके विपरीत विवेकी को तो कुछ कामना ही नहीं होती। वह तो सदा ही निःस्पृह बना रहता है। यों वह सदा ही आनन्द को लूटा करता है। इसी कारण विवेकी का दर्जा सबसे ऊँचा है। मनु ने भी कहा है कि जो तो इन सब कामों को प्राप्त करले और जो केवल इन्हें छोड़ ही भर दे, सब कामों के पाने से सबका परित्याग करने में बहुत बड़ा महत्व है। बस यही ज्ञानी की 'सर्वकामाप्ति' है।

ज्ञानी की सर्वकामाप्ति की एक यह भी रीति है—कि जैसे वह अपने देह में आनन्दाकार बुद्धि का साक्षी होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों के देहों में जो जो भोग भोगे जा रहे हैं और उनसे उनको जो जो आनन्द आ रहे हैं, उन सबका साक्षी बनना उसे आ जाता है। अथवा यों कहो कि उन सब भोगों का साक्षी बनकर उन सब भोगों को अकेला ही भोगने लगता है। इस रीति से भी ज्ञानी को 'सर्वकामाप्ति' हो जाती है।

वैसे तो अज्ञानी भी सबका साक्षी होता है परन्तु इस निगूढ तत्व का ज्ञान न होने से उसे वैसी तृप्ति नहीं हो पाती। श्रुति ने तो यह बात स्पष्ट ही कही है कि—जो इस महातत्व को पहचान जाता है वही सब कामों को भोग सकता है। इस तत्व को न जानने वालों

को इस महालाभ से वंचित ही रहना पड़ता है। वह तो इस एक ही क्षुद्र शरीर के द्वारा छनकर आने वाले आनन्दकण को चाट चाट कर उपवासी से रहकर आशा ही आशा में दिन काटा करते हैं।

ज्ञानी की 'सर्वकामाप्ति' का तीसरा प्रकार यह भी है कि जब उसे अपनी सर्वात्मकता का दिव्य अनुभव हो जाता है तब फिर उसके हृदय-मन्दिर में सदा एक ही गूँज रहने लगती है कि मैं ही अन्न हूँ मैं ही अन्न हूँ मैं ही अन्न हूँ और मैं ही अन्नाद हूँ और मैं ही अन्नाद हूँ और मैं ही अन्नाद हूँ।

अब ज्ञानी की कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्यता की बात भी सुन लीजिये—जब तक यह अज्ञानी था तब तक इसे परलोक और इस लोक के लिये या मुक्ति पाने के लिये बहुत कुछ करना था। परन्तु अब आत्मज्ञान हो जाने पर तो इसने वह सब कुछ कर डाला। क्योंकि अब उसे कुछ करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती अब तो वह कृतकृत्यता में रुकावट डालने वाली पहली अवस्था को याद करके यों तृप्त हुआ करता है कि—दुःखी अज्ञानी लोग पुत्रादि की दुरभिलाषा में फँसकर संसाररूपी झाड़ में उलझे पड़े रहें, मैं भी कभी ऐसे ही उलझा पड़ा था, परन्तु परमानन्द पूर्ण हो चुकने वाला मैं, भला कौन सी इच्छा को लेकर संसार में फँसा रहूँ ? परलोक जाने वाले लोग कर्म करते हैं तो करें, कभी मैं भी ऐसे ही किया करता था। परन्तु सर्वलोकस्वरूप बन चुकने वाला मैं अब यह सब बखेड़ा क्यों करूँ ? नींद और भिक्षा स्नान और शौच की न मुझे चाह है और न मैं करता ही हूँ। देखने वाले मुझे करता हुआ समझते हैं तो वे समझा करें। दूसरों के समझने से क्या होता है। जिन गुंजाओं को दूसरों ने आग मान लिया हो तो क्या वे यथार्थ ही जलाने लगती हैं ? इसी तरह दूसरों ने जिन संसारधर्मों का आरोप

इस मरे हुए शरीर को देखकर मुझ में कर लिया है वे सब धर्म मुझ में नहीं है। जिन्होंने तत्व को सुना नहीं है वह सुनते फिरें, तत्व को जान चुकने वाला मैं भला क्यों सुनूँ? जिन्हें संशय हो वे मनन करें, जिस मुझे संशय ही नहीं रहा वह मैं मनन क्यों करने लगूँ? जिसे विपर्यास हो वह निदिध्यासन करे, जब मुझे विपरीत ज्ञान ही नहीं रहा तब मैं ध्यान ही क्यों और किस बात का करूँ? मुझे तो अब कभी यह मालूम ही नहीं होता कि मैं देह हूँ। मैं जो कभी कभी यह कह देता हूँ कि 'मैं मनुष्य हूँ' सो तो अनादिकाल की वासनाओं के प्रभाव से कह बैठता हूँ। जब मेरा प्रारब्ध-कर्म नष्ट हो जायगा तब निश्चय ही यह व्यवहार भी नहीं रहेगा। जब तक मेरे प्रारब्धकर्म क्षीण न हो जायंगे तब तक हजार ध्यान करने पर भी यह व्यवहार रुक नहीं सकेगा। जो व्यवहार को कम करना चाहते हों उन्हें यह ध्यान भले ही पसन्द हो, मुझे तो अब यह व्यवहार बाधक ही प्रतीत नहीं होता। फिर मैं ध्यान क्यों करूँ? विक्षेप भी अब मुझे नहीं होता इस कारण समाधि भी नहीं होती। विक्षेप और समाधि ये दोनों तो विकारी मन को ही होते हैं। मैं आत्मानुभव करने भी क्यों बैठ जाऊँ? मैं तो नित्यानुभवरूप ही हूँ। मुझ से पृथक् और अनुभव क्या होगा? मुझे अब निश्चय हो गया है कि जो करना था सो कर डाला और जो पाना था सो पा चुका। अब लौकिक, शास्त्रीय या और किसी तरह का भी व्यवहार मेरे प्रारब्धानुकूल चलता रहो, मैं तो अकर्ता और अलेप हो गया हूँ। या फिर जिस मार्ग पर चलकर मुझे कृतकृत्यता मिली है वह मार्ग औरों के लिये भी बना रहो इसलिये लोकसंग्रह का ध्यान रख कर मैं शास्त्रीय मार्ग पर ही चलता रहूँगा इसमें भी मेरी कोई हानि नहीं है। लोगों को दिखाने और सिखाने के लिये मेरा शरीर देवार्चन

स्नान शौच तथा भिक्षायात्रा जप या वेदान्त का पाठ किया करो, यह मेरी बुद्धि विष्णु का ध्यान करो या ब्रह्मानन्द में गोता लगाकर बैठ जाओ, मैं तो साक्षी हूँ मैं कुछ करता या करवाता नहीं हूँ। कृत-कृत्यता और प्राप्तप्राप्यता की खुशी जब उसके अन्दर नहीं समाती है तब मन में यह विचार किया करता है कि मैं धन्य हूँ क्योंकि मैं अपने नित्य आत्मतत्व को ठीक ठीक समझ गया हूँ। मैं धन्य हूँ क्योंकि मुझे आज स्पष्ट ही ब्रह्मानन्द समुद्र दीख पड़ रहा है। मैं धन्य हूँ क्योंकि मुझे आज कोई भी सांसारिक दुःख दीखता नहीं है। मैं धन्य हूँ क्योंकि आज मेरा अज्ञान दिगन्त को पलायन कर गया है। मैं धन्य हूँ क्योंकि जो मुझे प्राप्तव्य था वह आज सभी सिद्ध हो गया है। मैं धन्य हूँ क्योंकि आज मेरे समान धन्य कौन निक-लेगा ? मैं धन्य हूँ मैं धन्य हूँ मैं वार वार धन्य हूँ। ओहो ! आज मेरे पुण्यों के ढेर एक साथ ही फल पड़े हैं। पुण्यों की इस महती सम्पत्ति के कारण आज मैं कृतकृत्यता की झूल में पड़ा हुआ झोटे ले रहा हूँ। मुझे ज्ञान कराने वाले शास्त्र, मुझे मार्ग दिखाने वाले गुरु, मेरा वह ज्ञान और मेरा वह आनन्द जिनके कारण आज यह धन्य अवस्था मुझे हाथ आयी है, सभी धन्य हैं। वे सबके सब आज मुझे मेरा पद देकर समुत्तीर्ण हो गये। उनकी महिमा गाने के लिये मैं शब्दों को कहां से लाऊँ ? ऊपर कहा हुआ ऐसा विद्यानन्द (ज्ञानानन्द) जब तक न उमड़ पड़े तब तक ब्रह्माभ्यास करते ही जाना चाहिये।

[१५]

ब्रह्मानन्दान्तर्गत विषयानन्द का संक्षेप

अब ब्रह्मानन्द के ही एक अंश बने हुए विषयानन्द का निरूपण इसलिये करेंगे कि वह भी तो ब्रह्मज्ञान को समझने का ही एक लौकिक द्वार है। श्रुति ने स्वयं उसको ब्रह्मानन्द का ही एक अंश बताया है। वह कहती है कि—शेष सब प्राणी उसी ब्रह्मानन्द की मात्रा [कण] को चाट रहे हैं। मन की 'शान्त' 'घोर' तथा 'मूढ' ये तीन तरह की वृत्तियां होती हैं। वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि 'शान्त' वृत्तियां कहाती हैं। तृष्णा, स्नेह, राग तथा लोभ आदि 'घोर' वृत्तियां मानी जाती हैं। सम्मोह और भय आदि 'तामस' वृत्तियां बतायी जाती हैं। इन सभी वृत्तियों में ब्रह्म का केवल चित्स्वभाव आ गया है। शान्तवृत्तियों में इतनी और अधिकता है कि इनमें ब्रह्मतत्व का सुख भी प्रतिबिम्बित हो गया है। 'रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि श्रुतियों का भी यही अभिप्राय है कि वह आत्मतत्व किसी में चैतन्य रूप से और किसी में चैतन्य तथा सुख दोनों रूपों से और किसी में सत्ता चैतन्य और सुख तीनों रूपों से समाकर उन उनके प्रतिरूप बन गया है। यह भी कहा है कि—भूतात्मा एक ही है वही सब भूतों में व्यवस्थित हो रहा है। वह एकरूप से उन्हें दीखता है जो ज्ञानी हों। परन्तु जिन्हें तत्व का पता नहीं होता उन्हें तो वह जलों के चाँदों की तरह बहुत रूपों में दीखा करता है। कीचड़ वाले जल में वही चांद अस्फुट दीखता है, निर्मल जल में वही चांद सुस्पष्ट दीखने लगता है। ठीक उसी प्रकार ब्रह्मतत्व भी शुद्ध और अशुद्ध

वृत्तियों में दो तरह का हो जाता है। इसी को विस्तार से यों समझो कि मलिन होने के कारण 'घोर' और 'मूढ' वृत्तियों में ब्रह्म का सुखभाग ढका रहता है—दीखता नहीं। उनमें क्योंकि थोड़ी सी ही निर्मलता रहती है इस कारण केवल चिदंश का ही प्रतिबिम्ब पड़ा करता है। दूसरा उदाहरण यह भी है कि निर्मल जल में अग्नि की गरमी तो आ जाती है प्रकाश नहीं आता। इसी तरह 'घोर' और 'मूढ' वृत्तियों में केवल चेतनभाग का ही उद्भव होता है सुखभाग का नहीं होता। काष्ठ में जैसे उष्णता और प्रकाश दोनों ही उद्भूत हो जाते हैं, इसी तरह 'शान्त' वृत्तियों में सुख और चैतन्य दोनों ही उद्भूत हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर तो हम यही देंगे कि इनका स्वभाव ही ऐसा है। इनके इस स्वभाव को देखकर नियामक को ढूँढ निकालो। देखते हैं कि—'घोर' या 'मूढ' कोई सी भी अवस्था जब हो—उस समय सुख का अनुभव होता ही नहीं। यह भी देखा जाता है कि—'शान्त' वृत्तियों में तो सुखानुभव होता ही है। घर या खेत आदि की कामना जब किसी के मन में जाग जाती है तब वह राजस काम, घोर होने से सुख को उद्भूत होने ही नहीं देता। देखलो कि—यह मेरा काम सिद्ध होगा या नहीं? यह विचार जब आता है तब दुःख होने लगता है। जब काम सिद्ध नहीं होता तब दुःख बढ़ने लगता है। जब कोई उस काम में रुकावट डालता है तब क्रोध आने लगता है। जब अपनी कामना के विरुद्ध बात देखनी पड़ जाती है तब उससे द्वेष होने लगता है। जब वह उसका कुछ इलाज नहीं कर सकता तब उस समय जो विषाद होता है वह 'तामस' है। इन क्रोधादियों में तो बड़ा ही दुःख होता है। इनमें सुख की तो थोड़ी सी भी संभावना नहीं होती। काम्य पदार्थ का लाभ जब किसी को हो जाय

उस समय जो हर्षवृत्ति उत्पन्न होती है, उसमें बड़ा सुख होता है। उसका भोग करना मिल जाय तो और भी बड़ा सुख होता है। उस काम्य पदार्थ के मिलने की सभावना हो जाय तो थोड़ा सा ही सुख होता है। उसकी ओर से वैराग्य हो जाय तो बहुत ही बड़ा सुख होता है—जिसका वर्णन हमने विद्यानन्द नाम के प्रकरण में विस्तार पूर्वक किया है। क्रोध को भगा देने वाली क्षमा और लोभ को मार-भगाने वाली उदारता में भी बड़ा सुख होता है। परन्तु यह बात कभी न भूलनी चाहिये कि जो भी कोई सुख होता है वह सब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने के कारण ब्रह्म ही है। इष्ट भोग जब मिलता है और प्राणी की वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब वह ब्रह्मतत्व उन अन्तर्मुख वृत्तियों में निर्विघ्नता के साथ प्रतिबिम्बित हो जाया करता है। बस यही तो प्राणियों का 'सुख' कहाता है। 'सत्ता' चैतन्य और 'सुख' ये ब्रह्म के तीन स्वभाव हैं। मिट्टी और पत्थर आदियों में केवल सत्ता ही प्रकट होती है, चैतन्य और सुख नहीं। 'घोर' और 'मूढ' बुद्धिवृत्तियों में 'सत्ता' और 'चैतन्य' दो गुण प्रकट हो जाते हैं। 'शान्त' वृत्तियों में तो 'सत्ता' 'चैतन्य' और 'सुख' तीनों ही व्यक्त हो जाते हैं। प्रपंच में मिश्रित ब्रह्मतत्व का निरूपण यहां तक किया गया। उस ब्रह्म को यदि कोई अमिश्ररूप में देखना चाहे तो 'ज्ञान' और 'योग' से ही उसे देखा जा सकता है। उन दोनों का वर्णन पहले आ चुका है—ब्रह्मानन्द के प्रथम अध्याय में 'योग' का वर्णन है। ब्रह्मानन्द के दूसरे [आत्मानन्द] तथा तीसरे [अद्वैतानन्द] अध्याय में 'ज्ञान' का बखान किया गया है। 'असत्ता' 'जडता' और 'दुःख' ये तीनों ही माया के रूप हैं। 'असत्ता'[मिथ्यापन] मनुष्य के सींग आदि पदार्थों में है। 'जडता' काष्ठ पाषाण आदि में पायी जाती है। घोर और मूढ वृत्तियों में दुःख पाया जाता है। यों सब जगह

माया का राज्य विस्तृत हो रहा है। बुद्धि की जो शान्त वृत्तियां हैं उनके साथ एकता को प्राप्त हुआ हो जाने से उसको 'मिश्रब्रह्म' कहा है।

ब्रह्म की स्थिति तो हमने साफ़ साफ़ समझा दी है। अब जो कोई पुरुष ब्रह्म का ध्यान करना चाहे, वह नृशृंग आदि जैसे पदार्थों की तो उपेक्षा करता जाय और फिर जो तत्व शेष रह गया हो, उसी का यथायोग्य रीति से ध्यान करे। वह यों कि—शिला आदियों में नाम और रूपों [आकारों] को छोड़कर केवल सन्मात्र की ही चिन्ता किया करे। घोर और मूढ बुद्धियों के दुःख-भाग को छोड़कर उनमें के सत् और चित् के चिन्तन में लग जाय। शान्त वृत्तियों में तो सच्चिदानन्द नामक तीनों की ही चिन्ता करने लगे। ये उक्त तीन प्रकार की चिन्तायें क्रम से 'कनिष्ठ' 'मध्यम' और 'उत्कृष्ट' चिन्ता कहाती हैं।

जिन मन्दलोगों को निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने का अधिकार ही नहीं है, वे लोग व्यवहार काल में भी मिश्र ब्रह्म का चिन्तन करें, तो उनके लिये यही उत्कृष्ट बात है। ऐसा मिश्रब्रह्मचिन्तन बताने के लिये ही विषयानन्द नाम का यह प्रकरण लिखा गया है।

उदासीन अवस्था में जब बुद्धिवृत्ति ढीली पड़ जाती हैं, तब तो विना वृत्ति का ध्यान होने लगता है। वह ध्यान सब ध्यानों से ऊँचे दर्जे का है। इस विषयानन्द नाम के प्रकरण में यहां तक चार प्रकार का ध्यान बताया जा चुका। तीन तरह का तो सवृत्तिक ध्यान तथा एक विना वृत्ति का ध्यान, यों चार प्रकार का ध्यान हो गया। जड पदार्थों में सत्ता, मूढ़वृत्ति में सत्ता तथा चैतन्य, सात्विकवृत्ति में सत्ता चैतन्य तथा आनन्द, यों तीन तरह का सवृत्तिक ध्यान हो जाता है।

इस ब्रह्मानन्द नाम के पांच अध्याय वाले ग्रन्थ में 'ज्ञान' और 'योग'के द्वारा जिस ध्यान का वर्णन किया है, वह ध्यान तो ब्रह्मविद्या ही है। उसका वर्णन तो हमने यों किया है कि ध्यान से जब चित्त एकाग्र हो जाता है तब उस चित्त में ब्रह्मविद्या स्थिर हो जाती है। ब्रह्मविद्या के स्थिर हो जाने पर ये 'सत्' 'चित्' 'आनन्द' पहले की तरह अलग अलग नहीं दीखते। तब तो ये अखण्ड एकरस होकर दीखने लगते हैं। क्योंकि उस समय भेद करने वाली उपाधियां नहीं रहतीं। भेद करने वाली उपाधियें तो ये शान्त घोर वृत्तियां और शिलादि पदार्थ ही हैं। इन उपाधियों को यदि कोई हटाना चाहे तो 'योग' या 'विवेक' से ही ऐसा कर सकता है। जब उपाधिरहित स्वयं प्रकाश अद्वैत ब्रह्मतत्व भासने लगता है तब यह प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाली त्रिपुटी नहीं रह जाती। यही कारण है कि तब उसे 'भूमानन्द' भी कह देते हैं।

ब्रह्मानन्दान्तर्गत विषयानन्द का वर्णन समाप्त हुआ। मन्दाधिकारी लोग इसी को द्वार बनाकर आत्मधाम में घुस जांय।